



24/H

139/c



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

[वर्ष १०]  [अङ्क ३

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

पौष २०१४ जनवरी १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३३
तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५७

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं०६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—वेदवाणी प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के पैसे अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ वा ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६

ओ३म्

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।
अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, पौष सं० २०१४ वि०, जनवरी १९५८ ई० { अङ्क ३

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

स्तुति विषय

हम विज्ञान वाले हों !!

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम, राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे, वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ ऋग्० १।७।६।१

(सः ईश्वरः)	वह ईश्वर	राजा[1]	शासक और स्वामी
हि	अकेला ही	कम् (=कः)	(तथा) सुखदाता
भुवनानां	अनेक लोक लोकान्तरों का (all the heavenly bodies)	अभिश्रीः[2]	और सर्वोपरि रचने वाला और शोभा युक्त बनाने वाला है

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. राजते प्राप्तो भवतीति राजा । भूपतिश्चन्द्रमा वा । उ० १।१५६; व्यु० राजृ दीप्तौ—भ्वा० to govern, to be first

२. श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः । ईश्वररचना शोभा वा—उ० २।५७; व्यु० श्रीञ् पाके—क्र्यादि० ।

...न और कर्तव्य की नयी जिम्मेदारी को लिए हुए उदय होता है। हम अनुभव करें सामीप्य भगवान् का दोनों संध्या समय प्रतिदिन, तो हम अवश्य रहेंगे कार्यक्षम, दक्ष। हमारा जीवन होगा सुन्दर और हम कृतकार्य होंगे। अपनी अमर चेतन सत्ता में दृढ़ निश्चय और पूर्ण विश्वास हो, तभी मनुष्य का भगवान् में विश्वास होता है। मनुष्य ने अपनी उन्नति अपनी प्रगति, अपना विश्वास स्वयं करना है और जो काम मनुष्य अकेला नहीं कर सकता, उस में संगठित होकर मिलकर कार्य करने में मनुष्य अवश्य सफल होता है। भगवान उसका सहायक है जो पुरुषार्थी है, जो प्रयत्न शील है। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त सहयोग और संगठन का महत्व कैसी सुन्दरता से व्यक्त कर रहा है!

हम वेदोदधि में से कुछ चुने हुए मोती इस लेख में दे रहे हैं:—

स्वावलंबन

स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न संनशे ॥ यजु० २३।१५

हे समर्थ! स्वयं अपने आप अपने शरीर को शक्ति-युक्त कर, स्वयं अपने कार्य का विस्तार कर, स्वयं तू अपने आप अपने सत्कर्मों का अनुष्ठान कर, तू स्वयं अपने आप धर्म निभा, स्वयं अपने आप उन्नत हो, प्रसन्न रह। तेरी महिमा किसी दूसरे द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। किसी अन्य के पुरुषार्थ से तुझे महत्ता मिलनी अशक्य है।

स्वावलंबन की कैसी उत्तम शिक्षा है, परावलम्बी सदा दीन रहता है। हम स्वावलंबी रहते हुए एक दूसरे से सह-योग करें जैसे कि चार इकाई एक साथ खड़ी एक हजार एक सौ ग्यारह कहे जाते हैं। हम सब प्रयत्नशील हों, और मिलकर आपस में सहयोग कर के सर्वहित के कार्य करें तो वह यज्ञ सबके अभ्युदय में सहायक होता है। आलसी, प्रमादी लोग उन्नत नहीं होते, उन्नति का मूल है स्वावलम्बन और पुरुषार्थ और परस्पर की सद्भावना।

स्वयन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ अथर्व०४।१४।४॥

जो उत्तम विद्वान् सब प्रकार से पालन पोषण करने वाले सत्कर्मों को भली प्रकार फैलाते हैं, वे दोनों लोकों में से प्रकाशमय ऊपर होते हुए धाम पर चढ़ते हैं और अपने तेज को फैलाते हुए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते।

[शेष पृ० ३१ पर]

स्वावलंबन में सामर्थ्य है। अपनी उन्नति के लिए कोई मनुष्य दूसरे पर निर्भर न रहे, पर सभी यह अपना कर्तव्य समझें कि उन्नति के कार्य में सभी मिलकर कार्य करें। स्वेच्छा से सहयोग करना सब के लिए हितकर है। अपनी उन्नति के लिए दूसरे पर निर्भर न होना चाहिये। जो स्वयं प्रयत्नशील है, वही यशस्वी होता है।

उन्नति और प्रगति की प्रेरणा

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्योः पड्वीशमव-मुञ्चमानः। मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥ अथर्व० ८।१।४।

हे पुरुष! इस वर्तमान अवस्था से आगे बढ़, नीचे मत गिर, मृत्यु के पाश को तोड़ता हुआ आगे बढ़, इस लोक से अग्नि रूप सूर्य के तेज से अलग मत हो।

वर्तमान अवस्था से अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करना हर एक का कर्तव्य है। विशुद्ध वीर्य धारण करते हुए, सोम-रस अपने में पचाते हुये हम मृत्यु से न डरें, हम अमर यश प्राप्त करें। हम कभी बुरा चिंतन अथवा कभी गिरने का कार्य न करें, हम चिरकाल तक सूर्य के प्रकाश में नीरोग रहें और उन्नत होवें।

नेता कैसा हो?

सभी सर्वमंगल के कार्य मिलकर नेता के नेतृत्व में संपन्न किये जाते हैं। नेता का चुनाव सावधानी से किया जाना चाहिये। नेता के चुनाव में असावधानी हो तो पीछे पछताना पड़ता है और यज्ञ भी संपन्न नहीं होता।

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद् रेवतो मदः॥ ऋ० १।४।२॥

हमारे सवनों में अत्यंत निकट आ, हमारे सर्व मंगल के कार्यों में आ, हे वीर्यवान् वर्चस्वी मनुष्य, तू अपने विशुद्ध वीर्य को सोम में परिणत कर, तेरे मस्तिष्क के केन्द्र इस रस से सरस होवें, तू समर्थ होकर जीवन का विकास कर। सोमरस ऐश्वर्य लाने वाला और वाणी को समर्थ करने वाला है। यह रस प्रज्ञा में रहता है और वाणी को प्रभावशाली बनाता है।

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन् मन्दयत् सखम्॥ ऋ० १।४।७॥

शीघ्र कार्य सम्पादन के लिये यहां शुभ कार्य की शोभा बढ़ाने में, उसमें सुव्यवहार लाने में समर्थ, प्रभावशाली

वेदों की कुछ पहेलियां

[ले०—श्री पं० रामनाथजी वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।]

(२)

'वेदवाणी' के वेदाङ्क में वेदों की कुछ पहेलियों का दिग्दर्शन कराया गया था । आइये, आज कुछ अन्य वैदिक पहेलियों का रसास्वादन करें। सबसे पूर्व तीन केशधारी साधुओं का दर्शन करते हैं।

तीन केशधारी साधु

त्रयः केशिनं ऋतुथा विचक्षते
संवत्सरे वपत एकं एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिः
ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥

ऋग्० १।१६४।४४

(त्रयः केशिनः) तीन केशधारी साधु हैं, (ऋतुथा विचक्षते) वे हर ऋतु में प्राणियों पर कृपा-दृष्टि रखते हैं। (एक एषाम्) इनमें से एक ऐसा है जो (संवत्सरे वपते) वर्ष भर बीज बोता और फसल काटता रहता है। (एकः) दूसरा ऐसा है जो (शचीभिः विश्वम् अभिचष्टे) अपनी क्रियाओं से विश्व को चमकाता है। (एकस्य ध्राजिः ददृशे न रूपम्) एक ऐसा है जो सदा दौड़ता रहता है, पर आश्चर्य यह कि उसकी गति तो मालूम होती है, किन्तु रूप दिखाई नहीं देता। पहचानिये, ये तीन साधु कौन से हैं।

निरुक्तकार हमें बताते हैं कि ये तीन केशधारी साधु क्रमशः अग्नि, सूर्य और वायु हैं। अग्नि के धूमरूपी केश होते हैं। वह वर्ष भर जलाने का कार्य करता रहता है (वपते)। यहाँ वप् धातु में श्लेष है, वप् का अर्थ बीज बोना और काटना भी होता है तथा वेद में जलाना अर्थ भी होता है। दूसरा साधु सूर्य है, उसके किरणरूपी केश हैं। वह अपनी प्रकाशप्रदानादि क्रियाओं से निरन्तर सौर जगत् को प्रकाशित करता रहता है। तीसरा साधु वायु है, जिसके रजःकण या जलकण रूपी केश हैं, जो सदा दौड़ता रहता है और जिसकी गति को तो हम अनुभव करते हैं, पर रूप नहीं देख पाते।

अथवा ये तीन साधु जीव, प्रकृति तत्त्व और ब्रह्म हैं। इनकी अपनी अपनी शक्तियाँ ही इनके केश हैं। बीज बोने और फसल काटने वाला साधु जीव है, क्योंकि वह निरन्तर कर्म करता हुआ अच्छे या बुरे संस्कारों का बीज बोता रहता है और वैसी ही अच्छी या बुरी फसल काटता अर्थात् अच्छे-बुरे फल भोगता रहता है। दूसरा साधु प्रकृति तत्व है। जो अपने गुण-कर्मों से (शचीभिः) विश्व को रूपयुक्त करता है (अभिचष्टे) । तीसरा साधु ब्रह्म है, जिसकी संसार में क्रिया (ध्राजिः) तो दृष्टिगोचर होती है, परन्तु रूप दिखाई नहीं देता।

अब एक अद्भुत बैल का वर्णन सुनिए।

चार सींग और तीन पैरों का बैल

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥

ऋग्० ४।५८।३, यजु० १७।९१

(वृषभः) एक बैल है जिसके (चत्वारि शृङ्गा) चार सींग हैं, (त्रयो अस्य पादा) उसके तीन पैर हैं, (द्व शीर्षे) दो सिर हैं, (सप्त हस्तासो अस्य,) सात उसके हाथ हैं, (त्रिधा बद्धः) तीन स्थानों से बँधा हुआ वह (रोरवीति) जोर से डकरा रहा है। वह साधारण बैल नहीं, किन्तु (महो देवः) महान् देव है (मर्त्यान् आविवेश) जो सब मनुष्योंको प्राप्त हुआ है।

देखिए, वेद ने पहेली भी कह दी और उसका अता-पता भी दे दिया कि वह बैल सब मनुष्यों के पास स्थित है।

निरुक्त की व्याख्यानुसार यह बैल यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं। तीन सवन तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द सात हाथ हैं। वह यज्ञरूपी

... मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प इन तीनों से बँधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस बैल का जोर से बोलना है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने इस पहेली को यों बूझा है—यह बैल शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ही इस बैल के चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन काल इसके तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। यह शब्दरूपी बैल उरस्, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बँधा हुआ बोल रहा है, क्योंकि यह तीनों स्थानों की सहायता से उच्चरित होता है।

सायण, महीधर प्रभृति भाष्यकारों ने इस पहेली की कुछ अन्य व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं जो बहुत कुछ उक्त व्याख्याओं से मिलती-जुलती ही हैं। सायण का कथन है कि इस मन्त्र के अग्नि-सूर्य, अप्, गो और घृत ये पाँच देवता हैं, अतः यह पहेली पाँच प्रकार से व्याख्यात हो सकती है।

अस्तु. इस पहेली की अन्य व्याख्याएँ हम पाठकों की कल्पना के लिये छोड़ कर आगे बढ़ते हैं। अब चार चोटियों वाली एक युवति का शृंगार देखिये।

चार चोटियों वाली युवति

चतुंष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुः
यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥
ऋग्० १०।११४।३

(युवतिः) एक युवति है, (चतुष्कपर्दा) उसकी चार चोटियाँ हैं, (सुपेशाः) वह बहुत सुन्दर है, (घृतप्रतीका) उसने मुख पर घृत लगाया हुआ है, (वयुनानि वस्ते) वह वयुन' की साड़ी पहने है, (तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुः) उस युवति के सिर पर वर्षा करने वाले दो पक्षी बैठे हैं, (यत्र देवा दधिरे भागधेयम्) उसी युवति के द्वारा देव अपना-अपना भाग प्राप्त करते हैं।

भाष्यकार सायण के अनुसार यह युवति यज्ञ-वेदि है। चतुष्कोण होने से वह चार चोटियों वाली है, अलंकृत होने से सुन्दर है, घृतहवि से युक्त होने के कारण घृतप्रतीका है। वयुन अर्थात् वेदमन्त्र या यज्ञविधियां ही उसकी साड़ी हैं। उस वेदी पर बैठे दो पक्षी हैं याज्ञिक पति-पत्नी या 'यजमान और ब्रह्म' जो दोनों ही हवि की वर्षा करते रहते हैं। उस वेदी द्वारा ही अग्न्यादि देव अपने-अपने हविर्भाग को पाते हैं।

अथवा इसी भाष्यकार की दूसरी व्याख्या को लें तो यह युवति औपनिषदी वाक् है। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ही उसकी चार चोटियाँ हैं। देदीप्यमान वर्णावयवों वाली होने से वह घृतप्रतीका है (घृत = दीप्त, घृ क्षरणदीप्त्योः)। वयुन अर्थात् ब्रह्मज्ञान उसकी साड़ी है। उस पर स्थित दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं, जिनका वह वर्णन करती है।

अब एक चक्र की चर्चा सुनिये।

एक विलक्षण चक्र

द्वादशारं नहि तज्जराय
वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥
ऋग्० १।१६४।११

(चक्रम्) एक चक्र है, (द्वादशारम्) जिसमें बारह अरे लगे हैं, (नहि तत् जराय) वह टूटता नहीं है, (द्यां परि वर्वर्ति) आकाश में चक्कर काट रहा है, (अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः) इसके ऊपर इसके सात सौ बीस पुत्र-पुत्रियाँ बैठे हुये हैं।

बताइये, सात सौ बीस पुत्र-पुत्रियों का पिता बन उन्हें अपने कन्धे पर बैठा कर आकाश की सैर कराने वाला यह चक्र कौन सा है? यह चक्र है आदित्य या संवत्सर। बारह महीने ही उसके बारह अरे हैं। वर्ष के तीन सौ साठ दिन और तीन सौ साठ रात्रियाँ ही उसके सात सौ बीस पुत्र-पुत्रियाँ हैं। यह चक्र ऋत का चक्र है (ऋतस्य चक्रम्), रूसी उपग्रह के समान कृत्रिम चक्र नहीं ॥

वेदान्त दर्शन का स्वाध्याय

[ले०—श्री पं० भवानीलाल जी 'भारतीय' एम. ए सिद्धान्तवाचस्पति, देहली]

वेदान्त दर्शन के प्रथम चार सूत्र बड़े महत्त्व के हैं। इन्हें चतुःसूत्री कहा जाता है। प्रथम सूत्र है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

इसका सीधा सादा अर्थ है, अब हम ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं। शंकराचार्य अपने भाष्य में यहाँ ज्ञान और कर्म का विवाद छेड़ देते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म-जिज्ञासा के अधिकारी के लिये वेदाध्ययन आदि कर्मों की कोई आवश्यकता नहीं है। रामानुज का भाष्य शंकर के अर्थों से कहीं अधिक संगत है, जहाँ वे कहते हैं कि पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुसार वेदोक्त कर्मकाण्ड का भली प्रकार आचरण कर लेने के अनन्तर ही ब्रह्म की जिज्ञासा के लिये वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ करते हैं।

द्वितीय सूत्र में ब्रह्म को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण बताया है। सूत्र इस प्रकार है—

जन्माद्यस्य यतः ।

और तृतीय सूत्र में उसी ब्रह्म को शास्त्रों का कारण भी बतलाया है।

शास्त्रयोनित्वात् ।

शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में ब्रह्म को ही ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण माना है, परन्तु शास्त्रों को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ मानने पर भी अपने मायावाद की सिद्धि के लिये उन्हें मिथ्या कहने का साहस करते हैं। चतुर्थ सूत्र में इस बात को स्पष्ट किया है कि उसी ब्रह्म की सिद्धि में सब वेदान्त शास्त्र में कथित वाक्यों का समन्वय करना चाहिये।

तत्तु समन्वयात् ।

उपनिषदों ने अपनी विभिन्न शैलियों में उसी एक ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।

वेदान्त दर्शन का प्रथम अध्याय समन्वयाध्याय कहलाता है। इसमें उपनिषदों में आये हुये ब्रह्मबोधक विभिन्न वाक्यों का एक ही परमात्मा के प्रतिपादन में समन्वय किया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी सूत्र में जीव और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इसके विपरीत **'नेतरोऽनुपपत्तेः'** तथा **'भेदव्यपदेशाच्च'** जैसे सूत्रों में तो स्पष्टतया जीव और ईश्वर के पृथक्त्व का उल्लेख है। शंकर ने इस भेद को अविद्याकृत माना है, परन्तु सम्पूर्ण अधिकरण में इसका कहीं उल्लेख नहीं हुआ कि यह भेद अविद्या जन्य है।

उपनिषदों ने परम ब्रह्म को आकाश, प्राण, ज्योति, भूमा आदि विविध नामों से पुकारा है। ये सब नाम परमात्मा के ही वाचक हैं यह सिद्ध करने के लिये सूत्रकार ने **आकाशस्तल्लिंगात्** तथा **अत एव प्राणः** आदि सूत्र रचे हैं। इसी प्रकार **अत्ता चराचरग्रहणात्** (१।२।९) से परमात्मा को चराचर जगत् का संहर्ता तथा १।२।२४ में उसी ब्रह्म को 'वैश्वानर' कहा है।

प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में प्रसिद्ध **अपशूद्राधिकरण** है। जिसमें शूद्रों के वेदाधिकार की चर्चा हुई है। शंकर, रामानुज आदि साम्प्रदायिक भाष्यकारों ने इन सूत्रों का अनर्थ करने में कुछ नहीं उठा रक्खा। उन्होंने गौतम धर्म-सूत्र तथा अन्य अनार्ष स्मृति ग्रन्थों का उल्लेख करते हुये शूद्रों के वेद पठन एवं श्रवण करने पर जिह्वाच्छेद, शरीरभेद तथा कानों को सीसे से पूरने जैसे पाशविक विधानों का उल्लेख किया है। महर्षि दयानन्द का हमें धन्यवाद करना चाहिये कि उन्होंने इन अनार्ष वचनों का तिरस्कार किया और शास्त्रों का प्रामाणिक आधार लेकर शूद्रों के वेदाधिकार का प्रतिपादन किया। वस्तुतः शूद्र वही है जिसे पढ़ाने और समझाने से भी कुछ न आवे। ऐसे ही शूद्र के लिये सूत्रकार ने **'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च'** जैसे सूत्र लिख कर उनको वेदाधिकार से वंचित किया है।

छन्दोज्ञान का वेद के अर्थ ज्ञान में उपयोग*

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, देहली]

हम आरम्भ में लिख चुके हैं कि छन्दः शास्त्र काव्य-वाङ्मय का प्राण है। इसके ज्ञान के विना नवीन काव्य-सर्जन तो असम्भव है ही, पूर्वतः विद्यमान वैदिक तथा लौकिक काव्यों में अप्रतिहत गति भी अशक्य है, कवि के सूक्ष्मतम अभिप्रायों तक पहुँचना बहुत दूर की बात है, विशेषकर वैदिक काव्यों में[1]। इसलिये छन्दःशास्त्र का, शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से काव्यवाङ्मय के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध है।

काव्यों के दो भेद:—संस्कृत वाङ्मय में प्रधानतया दो प्रकार के काव्य ग्रन्थ हैं। एक वैदिक, दूसरे लौकिक। वेद तथा शाखान्तर्गत मन्त्र वैदिक काव्य के अन्तर्गत हैं और रामायण, महाभारत, पुराण तथा भास और कालिदास आदि की कृतियां लौकिक काव्यान्तर्गत।

शास्त्र-काव्य—इन दोनों के अतिरिक्त जो प्राचीन आर्षशास्त्र पद्यबद्ध हैं, उनको कई विद्वान् वैदिक विभाग में रखते हैं, कई लौकिक विभाग में। इनमें मन्त्रों के समान अक्षर छन्दों का उपयोग नहीं होता, अतः इनकी गणना वैदिक काव्यों में नहीं हो सकती। इन शास्त्रों में लौकिक छन्दों का प्रयोग होने पर भी इनकी रचना लौकिक काव्यों के समान इतिवृत्त-निदर्शनार्थ अथवा प्ररोचनार्थ नहीं हुई, इसलिये इनको लौकिक काव्य भी नहीं माना जा सकता। इस कारण ये अपने ढंग के निराले ही शास्त्र-काव्य हैं।

छन्दः शास्त्र के दो विभाग:—संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त छन्दों के दो विभाग हैं—वैदिक और लौकिक। इस दृष्टि से उन उन छन्दों के विधायक शास्त्र भी दो विभागों में विभक्त होते हैं—वैदिक छन्दोविधायक और लौकिक छन्दोविधायक। इन दोनों प्रकार के छन्दों का अनुशासन करने वाले ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं। एक वे हैं जो केवल लौकिक छन्दों के विषय में लिखे गये, यथा 'छन्दोमञ्जरी' 'वृत्तरत्नाकर' आदि। दूसरे वे हैं जिनमें केवल वैदिक छन्दों का प्रतिपादन है, यथा 'निदानसूत्र' और 'उपनिदानसूत्र' आदि। तीसरे प्रकार के वे हैं जिनमें लौकिक और वैदिक उभयविध छन्दों का विधान है, यथा पिङ्गल का छन्दःशास्त्र और जयदेव की 'छन्दोविचिति' आदि।

लौकिक छन्दःशास्त्र के प्रति धारणा—चिरकाल से कवियों की धारणा है कि छन्दोज्ञान का उपयोग केवल नवीन काव्य-सर्जन तक ही सीमित है, उसका काव्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। श्लोक के छन्द का ज्ञान हो अथवा न हो, उसका श्लोक के अर्थ की प्रतीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वैदिक छन्दःशास्त्र के प्रति धारणा—यतः नूतन वैदिक काव्य का सर्जन संभव ही नहीं, अतः वैदिक छन्दों का ज्ञान लौकिक छन्दोज्ञान के समान नवीन वैदिक काव्य सर्जन में भी उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिये वैदिक छन्दोज्ञान का कोई ऐहलौकिक प्रयोजन नहीं है।

वैदिक छन्दोज्ञान अदृष्टार्थ—वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ-कर्म में विनियुक्त मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान केवल यजन-याजन कार्य के लिये आवश्यक माना गया है। उसके अभाव में दोषसंकीर्तन किया है[2]। इसलिये वैदिक छन्दोज्ञान कर्म-काण्ड में उपयुक्त होकर दोष की अनुत्पत्ति अथवा केवल अदृष्ट को उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में वह केवल अदृष्टार्थ है, ऐसा वैदिकों का सिद्धान्त है।

स्कन्दस्वामी और वैदिक छन्दोज्ञान—ऋग्वेद-भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने अपने ऋग्भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

तत्रार्षदैवतयोरर्थावबोधे उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्।

---

* प्रस्तुत लेख लेखक के मुद्र्यमाण ग्रन्थ "वेदार्थ में छन्दःशास्त्र की उपयोगिता" से लिखा गया है॥

१. 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' (अ० १०।८।३२) इस आथर्वण श्रुति में वेद के लिये साक्षात् काव्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

२. 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा पद्यति, प्रवामीयते, पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति'। दुर्ग निरुक्तटीका के आरम्भ में उद्धृत। इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में।

अर्थात्—ऋषि[1] और देवता मन्त्रार्थ के ज्ञान में उपयोगी हैं अतः भाष्य में उन दोनों का निदर्शन कराया जायगा। छन्दों का नहीं, क्योंकि वह वेदार्थ में उपयोगी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी वेदार्थ में छन्द को उपयोगी नहीं मानता। अतः उसके मत में मन्त्रों के छन्दों का जानना केवल अदृष्टार्थ है।

उक्त धारणाएँ भ्रान्तिमूलक—लौकिक और वैदिक छन्दों के उपयोगविषयक उक्त धारणाएं सर्वथा भ्रान्तिमूलक हैं। उभयविध छन्दों का ज्ञान न केवल नवीन काव्यसर्जन के लिये उपयोगी है, अपितु उसका अर्थ के साथ भी गहरा संबन्ध है। छन्दोज्ञान के विना कवि के वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचना प्रायः असम्भव है। परन्तु लौकिक काव्यों में यह सिद्धान्त रामायण महाभारतादि काव्यों में ही चरितार्थ हो सकता है, कालिदास आदि के काव्यों में नहीं। इसकी विवेचना आगे की जायगी।

लौकिक काव्य के दो भेद—हमारी पूर्वलिखित धारणा को समझने के लिए वर्तमान में उपलब्ध लौकिक काव्यवाङ्मय को दो विभागों में बांटना होगा। प्रथम विभाग में उन काव्यों की गणना करनी चाहिए, जिनके रचनाकाल में संस्कृत लौकिक व्यावहारिक भाषा थी और दूसरे विभाग में उन काव्यों का समावेश होगा, जिनके रचनाकाल में संस्कृत व्यावहारिक भाषा न थी। केवल शास्त्रीय भाषा रह गई थी। इस दृष्टि से प्रथम विभाग में रामायण और महाभारत का ही समावेश होगा। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त उपलब्ध काव्य ग्रन्थ दूसरे विभाग में समाविष्ट होगे। हां, रामायण महाभारत के अतिरिक्त वे समस्त आर्ष शास्त्र जो छन्दोबद्ध हैं, तथा वायु आदि पुराणों के प्राचीनतम अंश, इनका समावेश प्रथम विभाग में ही होगा।

व्यावहारिक तथा केवल शास्त्रीय भाषा में भेद—जो भाषा नैत्यिक व्यवहार के लिए लोक में व्यवहृत होती है और जो व्यवहार-दशा को छोड़कर केवल ग्रन्थ-रचना तक सीमित रह जाती है, उन दोनों में महान् अन्तर होता है। इसलिए हम इन दोनों का अन्तर अति संक्षेप से आगे दर्शाते हैं। इसके विना छन्दोज्ञान की अर्थज्ञान में उपयोगिता समझ में नहीं आ सकती।

व्यावहारिक भाषा—वक्ता भाषा का प्रयोग अपने अभिप्राय को श्रोता के प्रति यथार्थ रूप में प्रकट करने के लिये करता है[2]। इसलिये जो भाषा लोक की व्यावहारिक भाषा होती है, उसके द्वारा अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाला वक्ता पदावली का उस ढंग से प्रयोग करता है, जिससे उसका वास्तविक अभिप्राय वक्ता पर व्यक्त हो जाये[3]। इस नियम का महत्त्व उस भाषा में और भी अधिक वृद्धिगत हो जाता है, जिसमें अतिसूक्ष्म अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता हो, पदों में स्थान परिवर्तन मात्र से उदात्तादि स्वरों की स्थिति बदल जाती हो और उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो जाता हो[4]। इसलिये जो ग्रन्थ उस भाषा के उस काल में लिखे जाएँगे जब वह लोक-व्यवहार की भाषा हो तब उन ग्रन्थों में, चाहे वे गद्यबद्ध हों अथवा पद्यबद्ध, कवि अपनी अर्थविवक्षा को प्रधानता देगा और उसीके अनुकूल उचित पद-विन्यास करने का प्रयत्न करेगा।

केवल शास्त्रीय भाषा—जब कोई भाषा अपने व्यावहारिक स्वरूप को छोड़कर केवल ग्रन्थ-निबन्धन तक ही सीमित हो जाती है तब वह भाषा केवल शास्त्रीय भाषा बन जाती है। उस समय व्यावहारिक काल में अर्थानुकूल प्रयुक्त होने वाले पद-क्रम-विन्यास का महत्त्व दृष्टि से ओझल हो जाता है। पदों के आगे पीछे प्रयोग

१. ऋषि मन्त्रार्थ में कैसे उपयोगी हैं यह अभी विवेचनीय है।

२. अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। महाभाष्य।

३. हमारी व्यावहारिक भाषा के 'देवदत्त जा गाँव को, देवदत्त गाँव को जा' इत्यादि वाक्यों में पदक्रम भेद से व्यक्त होने वाले सूक्ष्म अर्थ-भेद की प्रतीति स्पष्ट है।

४. प्राचीन संस्कृत भाषा में उदात्तादि स्वर लोक भाषा में व्यवहृत थे, प्राचीन लौकिक साहित्य भी सस्वर था, पद-क्रम भेद से उदात्तादि स्वरों में क्या अन्तर होता है और स्वर-भेद से अर्थों में क्या अन्तर हो जाता है, इन सब विषयों की मीमांसा के लिये हमारा "वेदार्थ में स्वरशास्त्र की आवश्यकता" ग्रन्थ का चतुर्थ और पञ्चम अध्याय देखना चाहिये।

..ने से वाक्यार्थ में जो सूक्ष्म अन्तर होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिये उस काल के विद्वान् 'अर्थं प्रत्याययिष्यमीति शब्दः प्रयुज्यते' (अर्थ को जनाऊंगा इसलिये शब्द का प्रयोग होता है) इस नियम के स्थान पर 'यथा स्वज्ञानोत्कर्षः प्रख्यापितो भवति तथा पदं प्रयोक्ष्यामि' (जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का उत्कर्ष प्रसिद्ध हो उस प्रकार के पदों का प्रयोग करूंगा) का अवलम्बन करता है। इसलिये भाषा में चाहे वह गद्यबद्ध हो चाहे पद्यबद्ध, भाषा की स्वाभाविकता (जो व्यवहार काल में होती है) नष्ट हो जाती है, और उसमें कृत्रिमता आ जाती है। जिस कवि में स्वज्ञानोत्कर्ष के प्रख्यापन की मात्रा जितने अंश में अधिक होती है, उसी अनुपात से उसके काव्य की भाषा में स्वाभाविकता की मात्रा न्यून और कृत्रिमता की मात्रा अधिक होती है (कालिदास और हर्ष की भाषा इस तारतम्य का विस्पष्ट चित्र उपस्थित करती है)। इसलिये वासवदत्ता, कादम्बरी, भट्टि और नैषध आदि ग्रन्थों की भाषा का तो कहना ही क्या, जिनकी रचना केवल स्वपाण्डित्योत्कर्ष के प्रख्यापन के लिये हुई है। इस कारण इन ग्रन्थों की शब्दरचना कवियों ने लोकोपकार बुद्धि से प्रेरित होकर अर्थ विशेष को व्यक्त करने के लिये नहीं की, अपि तु स्वकाव्यनिबन्धचातुर्य अथवा भाषासौष्ठव (उस समय के मापदण्ड के अनुसार) के प्रदर्शन के लिये की है[1]। यतः इन ग्रन्थों में शब्दों का पौर्वापर्य अर्थविशेष-प्रख्यापन की दृष्टि से न करके केवल छन्दोरचना की दृष्टि से किया गया है, इसलिये इन काव्यों में छन्दोज्ञान अर्थज्ञान में सहायक नहीं होता।

प्राचीन काव्यकालीन संस्कृत भाषा—जिस काल में भगवान् ऋक्ष (गोत्र नाम वाल्मीकि) ने रामायण की और कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्यों ने महाभारत की रचना तथा परिवर्धन किया, उस समय संस्कृत भाषा भारत के विस्तृत भू-खण्ड और उससे बाहर भी क्वचित् व्यावहारिक भाषा थी और वह पाणिनि के संक्षिप्त व्याकरण के आधार पर सम्प्रति अनुमानित संकुचित संस्कृत की अपेक्षा बहुत विशाल थी।[2] पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभी लेखक इस विषय में सहमत हैं कि पाणिनि के काल तक व्यावहारिक संस्कृत भाषा में उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता था।[3] इस लिये उससे पूर्व काल में रचे गये लौकिक ग्रन्थ भी सस्वर थे।[3]

उदात्त आदि स्वरों का शब्दार्थ के साथ सम्बन्ध—उदात्त आदि स्वरों का शब्दार्थ के साथ जो संबन्ध है, वाक्य में पदों के आगे पीछे प्रयोग करने से स्वरों में जो परिवर्तन होता है, तथा उस स्वरपरिवर्तन से अर्थ पर जो सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है, इन सबकी मीमांसा हमने 'वेदार्थ में स्वर-शास्त्र की आवश्यकता' नामक निबन्ध में विस्तार से की है। इसलिए यहां इन विषयों की चर्चा न करके उन्हें सिद्धवत् स्वीकार कर अगला प्रसङ्ग लिखा जाता है।

स्वर और छन्द का पारस्परिक संबन्ध—स्वर शास्त्र का सामान्य वाक्यरचना के साथ जिस प्रकार का घनिष्ठ संबन्ध है, वैसा ही उसका छन्दोरचना के साथ भी घनिष्ठ संबन्ध है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने इस संबन्ध पर भी कुछ प्रकाश डाला है। यथा—

१—पाणिनि का एक सूत्र है—

अनुदात्तं सर्वमपादादौ। अ० ८।१।१८॥

अर्थात्—यहां से आगे [५६ सूत्रों में] 'अनुदात्त' 'सर्व' और 'अपादादि में' इन पदों का अधिकार है।

इस का यह अभिप्राय है कि अगले ५६ सूत्रों में जिस कार्य का विधान होगा वह पद से परे होगा और वह सारा अनुदात्त होगा, यदि वह पाद = चरण के आदि में न हो अर्थात्—चरण के आदि में होने पर वह कार्य न होगा। इस नियम के अनुसार आ त्वा कण्वा अहूषत (ऋ० १।१४।२) में पद से परे श्रूयमाण अहूषत क्रिया तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) नियम से सारी अनुदात्त हो गई, परन्तु इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः (ऋ० १।७।१०) में पाद के आरम्भ में होने से हवामहे क्रिया सारी अनुदात्त नहीं हुई।

२—पाणिनि ने दूसरा नियम इस प्रकार दर्शाया है—

प्रसमुपोदः पादपूरणे। अ० ८।१।६॥

---

१. देखो—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया'। हर्षचरित के आरम्भ में। व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्। भट्टि० २२।३४॥ इसी प्रकार अन्य काव्यों के विषय में भी समझें।

२. देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १, अध्याय १।

३. देखो हमारा 'वेदार्थ में स्वरशास्त्र की आवश्यकता' अध्याय ४।

अर्थात्—जहां द्विर्वचन (द्वित्व) करने से पाद की पूर्ति हो, वहां प्र सम् उप उत् इनको द्वित्व होता है [और द्वितीय (परला) अनुदात्त हो जाता है]।

२—स्वर शास्त्र का एक और नियम है—

यथेति पादान्ते। फिट् सूत्र ४।१७॥

अर्थात्—'यथा' पद जब पाद के अन्त में प्रयुक्त होता है, तब वह [सारा] अनुदात्त होता है। यथा—भ्राजन्तो अग्नयो यथा (ऋ० १।५०।३)।

जब 'यथा' पद पाद के आदि अथवा मध्य में प्रयुक्त होता है, तब वह आद्युदात्त होता है। यथा—यथा नो अदितिः करत् (ऋ० १।४३।२), देवयन्तो यथा मतिम् (ऋ० १।६।६)।

इन नियमों से स्पष्ट है कि स्वर शास्त्र का छन्दोरचना के साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

अब हम छन्दोरचना का अर्थ के साथ क्या संबन्ध है इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

छन्दोरचना का अर्थ के साथ संबन्ध

इस ग्रन्थ में संस्कृत भाषा की छन्दोरचना के विषय में लिखा जा रहा है। संस्कृत भाषा अपने व्यवहार काल में उदात्त आदि स्वरों से युक्त थी। उसमें पद-क्रम-विन्यास के भेद से पद के स्वरों में भेद होता था और स्वर भेद से अर्थ-भेद। इसलिए वक्ता अपने विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये तदनुकूल विशिष्ट पद-क्रम का उपयोग करता था। यह नियम जहां लोक व्यवहार में उपयुक्त होता था वहां ग्रन्थलेखन में भी, चाहे वह गद्यबद्ध हो चाहे पद्यबद्ध, प्रयुक्त होता था। इस लिये रामायण, महाभारत आदि में छन्दों के ज्ञान से उनके अर्थ वैशिष्ट्य पर प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए। परन्तु रामायण महाभारत आदि काव्य-ग्रन्थों में सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते, अतः लौकिक छन्दों के ज्ञान से इन काव्यों के श्लोकार्थज्ञान में क्या सहायता मिलती है अथवा उससे अर्थ में क्या विशेषता प्रतीत होती है इसका स्पष्ट प्रतिपादन करना कठिन है। इसलिये हम प्रथम उन वैदिक काव्यों के उदाहरण देंगे, जिनमें स्वरचिन्ह इस समय भी उपलब्ध हैं।

वेद में छन्दोरचना अर्थ की दृष्टि से है। इसमें हम प्राचीन आचार्यों के कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—जैमिनि ने अपने मीमांसा दर्शन में ऋक्=बद्ध मन्त्र का लक्षण करते हुये लिखा है—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। २।१।३५॥

अर्थात् उन [मन्त्रों] में ऋक् वह है जिनमें अर्थ के अनुरोध से पाद की व्यवस्था हो। यथा—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१)।

इस पर शबरस्वामी लिखता है—

यद्यर्थवशेन इत्युच्यते, यत्र वृत्तवशेन तत्र न प्राप्नोति—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः (ऋ० १।१।२)।

अर्थात्—यदि [ऋग्लक्षण में] अर्थ के वश से पाद-व्यवस्था कहते हो तो जहाँ छन्दोवश से पादव्यवस्था होगी वहाँ ऋग्लक्षण उपपन्न नहीं होगा। जैसे—अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः।

कुमारिल भट्ट की व्याख्या—शाबर भाष्य की व्याख्या करता हुआ भट्ट कुमारिल लिखता है—

"क्रियानुपादानात् 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यपर्यवसितेऽर्थे वृत्तवशेन पादव्यवस्था। ननु च 'अग्निमीळे' इत्यपि समस्ताया ऋच एवार्थवत्वान्नैव प्रतिपादमर्थः पर्यवस्यति इति न वाच्यम्, अर्थवशेन पादव्यवस्था इति। कथं न वाच्यम्? 'अग्निमीळे' इति तावत्प्रत्यक्ष समाप्तोऽर्थो दृश्यते। परयोः पादयोरसमाप्त इति चेन्न, आख्यातानुषङ्गेण समाप्तेः सिद्धत्वात्। तस्मात् साधूक्तम् इहार्थवशेनेति"।

अर्थात्—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः' पाद में क्रिया का उपादान न होने से अर्थ के परिसमाप्त न होने पर भी छन्दोवश पादव्यवस्था है।

प्रश्न—'अग्निमीळे' इसमें भी समस्त ऋचा के अर्थवान् होने से प्रतिपाद अर्थ समाप्त नहीं होता, अतः [सूत्र में] 'अर्थवश पादव्यवस्था' नहीं कहना चाहिये। [उत्तर] क्यों नहीं कहना चाहिये, जबकि 'अग्निमीळे' में [क्रिया का निर्देश होने से] प्रत्यक्ष अर्थ की समाप्ति दिखाई पड़ती है। अगले दोनों पादों में [क्रिया का निर्देश न होने से] अर्थ समाप्त नहीं हुआ यह भी कहना ठीक नहीं, आख्यात [ईळे] के अनुषङ्ग से अर्थ समाप्त हो जायगा। इसलिये ठीक कहा है 'अर्थवशेन'।

शबर और कुमारिल की भ्रान्ति—शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट के पूर्व उद्धृत वचनों से स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य 'अग्निमीळे पुरोहितम्' पाद में क्रिया के

...ठित होने से अवान्तर अर्थ की परिसमाप्ति स्वीकार करते हैं और उत्तर पादों में इसी 'ईळे' क्रिया का अनुषङ्ग [संबन्ध] मानकर उनमें भी अर्थ की परिसमाप्ति स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु **'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः'** में क्रिया का योग न होने से इसमें अवान्तर अर्थ-समाप्ति न मानकर इसे वृत्तवश पादव्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार इनके मत में सूत्र में पठित **'अर्थवशेन'** पद प्रायिक है।

वस्तुतः यहां शबर और कुमारिल दोनों ही भ्रान्त हुए हैं। उन्हें अपने शास्त्रीय सिद्धान्त का भी ध्यान नहीं रहा मीमांसा शास्त्र का सिद्धान्त है कि जहां अर्थपरिसमाप्ति न होती हो, वहां अनुषङ्ग अथवा वाक्यशेष के सम्बन्ध से प्रतिवाक्य अर्थपरिसमाप्ति समझ लेनी चाहिये। **अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्** (२।१।४८) सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी स्वयं लिखता है—

अपि साकांक्षस्य सन्निधौ परस्तात् पुरस्ताद्वा परिपूरणसमर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति।

अर्थात्—साकांक्ष पदसमुदाय के समीप में परे अथवा पूर्व में श्रूयमाण अर्थपूरक वाक्य शेष होता है।

इस नियम के अनुसार 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' साकांक्ष पाद के समीप में उत्तर पाद में श्रूयमाण पदपूरक **ईड्यः** पद का संबन्ध जोड़ने से 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' पाद का भी अवान्तर अर्थ परिसमाप्त हो जाता है, इसलिये यहां भी अर्थवश पादव्यवस्था बन जाती है। कभी कभी तृतीय और चतुर्थ पाद में श्रूयमाण क्रिया से भी पूर्व पादों को निराकांक्ष किया जाता है।

यदि उत्तर पाद पठित क्रिया का पूर्व साकांक्ष समुदाय के साथ संबन्ध न जोड़ा जाये तो माध्यन्दिन संहिता अ० ३० कण्डिका ५ के **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्** से लेकर कण्डिका २१ के **'रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्'** पर्यन्त अनेक साकांक्ष पद-समुदायनिरर्थक हो जाएं, क्योंकि इनमें कहीं क्रिया पठित नहीं है। **आलभते** क्रिया २२ वीं कण्डिका में पढ़ी है।

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि जैमिनि के लक्षण में शबर और कुमारिल आदि ने जो दोष दर्शाया है, वह उन्हीं के सिद्धान्त के विपरीत है। जैमिनि का लक्षण सर्वथा युक्त है। तदनुसार पादबद्ध मन्त्रों में अर्थवश पादव्यवस्था होती है, यह सिद्धान्त सर्वथा युक्त है।

२—**निदानसूत्रव्याख्याता तातप्रसाद**—निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति का व्याख्याता तातप्रसाद **'अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति। विश्वेषां हित इति** सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

नन्वत्र शौनकेन—
उत्तरोत्तरिणः पादा षट् सप्ताष्टाविति त्रयः।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति।
(ऋक्प्राति० १६।२४)

पादकल्पनेन द्वितीयपादस्य सप्ताक्षरत्वावगमात् कथमस्य पञ्चाक्षरत्वनिर्णयः। उच्यते 'होता' इति पदस्य पूर्वत्रान्वयमभ्युपगम्य द्वितीयः पादः पञ्चाक्षर इत्याह। आचार्यशौनकस्तु 'होता' इत्यस्य विश्वेषामित्यत्रान्वयमभ्युपेत्य सप्ताक्षर इत्यवोचत्। 'अर्थवशेन पादव्यवस्था' इति न्यायविदः।

अर्थात्—शौनक ने क्रमशः छ सात और आठ अक्षरों वाले पाद जिसमें हों, उसे वर्धमान गायत्री कहा है। जैसे **त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने।** (ऋ० ६।१६।१)। यहां निदान सूत्र में द्वितीय पाद को पञ्चाक्षर कैसे कहा?

उत्तर—'होता' पद का पूर्व के साथ अन्वय मानकर पतञ्जलि ने द्वितीय पाद को पञ्चाक्षर कहा है। आचार्य शौनक ने 'होता' का 'विश्वेषां' के साथ अन्वय मानकर इसे सप्ताक्षर पाद कहा। **अर्थ के अनुरोध से पादव्यवस्था होती है**, यह न्यायविदों (मीमांसकों) का सिद्धान्त है।

इस विवेचना से भी स्पष्ट है कि छन्दोविचिति के व्याख्याता भी ऋङ् मन्त्रों में अर्थ के अनुरोध से पादव्यवस्था स्वीकार करते हैं।

३—ऋग्भाष्यकार वेङ्कट माधव भी लिखता है—

पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः। छन्दोनुक्रमणी ८।१४।

अर्थात्—पाद पाद में समाप्त होते हैं प्रायः अवान्तर अर्थ। वेङ्कट ने भी पाद पाद में अवान्तर अर्थ की समाप्ति मानते हुए 'प्रायः' पद का निर्देश किया है। इस कारण वह भी कहीं कहीं वृत्तवश पादव्यवस्था मानता है।

४—पाणिनि का एक सूत्र उद्धृत कर चुके हैं—**अनुदात्तं सर्वमपादादौ।** इस सूत्र के अनुसार जब क्रियापद पाद के आरम्भ में प्रयुक्त होता है, तब वह उदात्त स्वर वाला

होता है और मध्य अथवा अन्त में प्रयुज्यमान अनुदात्त।

उदात्त और अनुदात्त स्वर से अर्थ-भेद--हम अपने 'स्वरशास्त्र की वेदार्थ में आवश्यकता' निबन्ध में भले प्रकार दर्शा चुके हैं कि वाक्य में जो पद उदात्तवान् होता है, उसका अर्थ प्रधान होता है और अनुदात्त का गौण।

तदनुसार—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः। देवेभिरग्न आ गहि। ऋ० १।१४।२।

मन्त्र में प्रथम और तृतीय पाद की क्रियायें अनुदात्त होने से इनका अर्थ गौण होगा और द्वितीय पाद के आरम्भ में श्रूयमाण 'गृणन्ति' क्रिया के उदात्तवान् होने से इसका अर्थ प्रधान होगा। अत: इस ऋचा का अर्थ होगा—

सब ओर से तुझे कण्व बुलाते हैं, स्तुति करते हैं हे विप्र तुम्हारी बुद्धिमान, देवों के साथ हे अग्ने आओ।

इस मन्त्र में तीन क्रियायें हैं–बुलाना, स्तुति करना और आना। इन तीनों क्रियाओं में **स्तुति करना** मुख्य है। इसी के आधीन अग्नि को **बुलाना** और उसका **आना** सम्भव है अतः ये दोनों गृणन्ति की दृष्टि से गौण हैं। इस कारण अहूषत और गहि क्रियायें अनुदात्त हैं और **गृणन्ति** उदात्त।

५–फिट्सूत्रकार का **यथेति पादान्ते** (४।१७) पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। इस सूत्र के द्वारा पाद के अन्त में वर्तमान यथा का अनुदात्तत्व दर्शाया है और अन्यत्र (पाद-के आदि वा मध्य में) **निपाता आद्युदात्ताः** (४।) से यथा आद्युदात्त होता है।

जहाँ यथा पद उदात्त होता है वहाँ उपमा की प्रधानता और उपमेय की गौणता अर्थात् श्रेष्ठोपमा जानी जाती है। तथा जहाँ यथा पद अनुदात्त होता है वहाँ उपमा की गौणता और उपमेय की प्रधानता-उत्कृष्टता अर्थात् हीनोपमा जानी जाती है। यथा—

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ ऋ. ५।७८।८

अर्थात्—जैसे वायु [वेग से गति करता है] जैसे वन वेग से काँपता है] जैसे समुद्र [वेग से] गति करता है वैसे तू हे दशमास के गर्भ साथ गतिकर (= बाहर निकल) जरायु के।

यहाँ उपमेय दशमास्य गर्भ है, उपमा वात, वन और समुद्र से दी गई है, अतः यहाँ उपमा की श्रेष्ठता प्रधानता व्यक्त है।

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा। ऋ. १।५०।३॥

अर्थात्—देखती हैं इस [सूर्य] की किरणें, विविध [दीप्ति युक्त] रश्मियाँ उत्पन्न हुए जगत् को क्रम से। प्रकाशित हुई अग्नियाँ जैसे।

यहाँ उपमेय सूर्य है, उपमा प्रकाशमान अग्नियों से दी है। स्पष्ट ही यहाँ उपमेय की उपमा की गौणता = हीनता है।

पाणिनि और फिट्सूत्रकार के पाद के आदि मध्य और अन्त में वर्तमान पदों के विविध स्वरों का निर्देश करने से व्यक्त है कि ये दोनों आचार्य स्वर-शास्त्र के अनुसार पाद २ का पृथक् अवान्तर अर्थ स्वीकार करते थे। अन्यथा उनका विविध-स्थिति भेद से पदों के उदात्तत्व और अनुदात्तत्व का विधान निरर्थक हो जाता है।

इन चार प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋक् = पादबद्ध मन्त्रों में प्रतिपाद अवान्तर अर्थ करना चाहिये, यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है। पूरे मन्त्र का एक साथ अन्वय से अर्थ नहीं करना चाहिए। प्रतिपाद अवान्तर अर्थ करने के लिये छन्दोज्ञान होना अत्यावश्यक है। बिना छन्दोज्ञान के पादविभाग का ज्ञान नहीं होगा और पादविभाग के ज्ञान के बिना अवान्तर अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसलिये वेदार्थ के सूक्ष्म ज्ञान के लिये छन्दोज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

६—निरुक्तकार यास्क मुनि ने, अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों में दैवत ज्ञान कैसे करना चाहिये, इसके विषय में लिख कर देवों के भक्तिसाहचर्य का विधान किया है। तदनुसार अग्नि देवता का गायत्री, इन्द्र का त्रिष्टुप् और आदित्य का जगती छन्द के साथ संबन्ध दर्शाया है।

यास्क का इस भक्ति साहचर्य का यह अभिप्राय है कि यदि किसी मन्त्र का देवता स्पष्ट ज्ञात न होता हो तो इस भक्ति साहचर्य के अनुसार दैवत ज्ञान करना चाहिये। तदनुसार अनिर्दिष्ट-देवताक गायत्री छन्द वाले मन्त्र का अग्नि, त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र का इन्द्र और जगती छन्द

...त भाष्य लिखा। और वर्तमानकालिक साधारण ...नों के लिये जो बिना अन्वय के पृथक् अर्थ ज्ञान में असमर्थ हैं, उनके लिये अन्वयानुसारी संक्षिप्त एकदेशी भाष्य पृथक् रचा। इस प्रकार उन्होंने मन्त्रपदानुसारी भाष्य की पृथक् रचना करके प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखा और साधारण लौकिकजनों के लाभार्थ प्रचलित अन्वयानुसारी अर्थ भी दर्शा दिया।

रामायण महाभारत आदि प्राचीन काव्य—हम पूर्व लिख चुके हैं कि इन ग्रन्थों की जिस काल में रचना हुई थी, उस काल में सस्वर संस्कृत भाषा लोकव्यवहार की भाषा थी। अतः इनका भी उसी प्रकार अर्थ करना चाहिये जैसे हमने ऊपर मन्त्रों का दर्शाया है। अर्थात् इसका अर्थ भी श्लोक पद क्रमानुसार ही करना चाहिये। ऐसा करने पर ही इनका वास्तविक कविसम्मत अर्थ अक्षुण्ण रह सकता है, अन्यथा नहीं।

कुरान का आयत पदानुक्रम-अनुवाद—कुरान के जो प्राचीन प्रामाणिक अनुवाद हैं, उनमें आयत के पदानुसार ही अनुवाद उपलब्ध होता है। उनके यहां प्राचीन वैदिक परम्परा का यह अंश कैसे सुरक्षित रहा, यह आश्चर्य की बात है।

क्या पुरानी अरबी सस्वर थी?—अरबी भाषा में संस्कृत के समान तीन वचन हैं। उसमें अनेक पद अभी तक वैसे ही सुरक्षित हैं, जैसे वे वेद में मिलते हैं। कुरान की अनुवादशैली भी प्राचीन मन्त्रार्थ शैली से मिलती है, इससे सन्देह होता है कि संस्कृत से साक्षात् विकृत प्राचीन अरबी[1] में उदात्त आदि स्वरों का सद्भाव रहा हो और उसी के कारण कुरान की अनुवाद शैली सुरक्षित रही हो। अस्तु यह एक महत्वपूर्ण विवेचनीय विषय है। इस पर अति गम्भीरता से विचार होना चाहिये॥

---

१. 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ९१,९२ संस्करण २।

वैदिक अग्नि-तत्व

[ले०—श्री पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री, पोरबन्दर]

वेद की चारों संहिताओं में और समस्त वैदिक साहित्य में अग्नि का विशद वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। जब मन्त्रों पर आधिदैविक रूप से विचार किया जाता है तो अग्नि एक ऐसे महान् तत्व, नहीं नहीं वैज्ञानिक तत्व के रूप में मिलता है कि पाश्चात्यों की एतत्सम्बन्धी धारणायें झूँठी सिद्ध होने लगती हैं। हमारे विद्यार्थियों को विज्ञान पढ़ाया जाता है, उसमें यह बताया जाता है कि पहले आदिम मानव जंगली अवस्था में था और उसे जीवन संघर्ष करते हुए अग्नि का ज्ञान कठिनाई से प्राप्त हुआ। वह ज्ञान उसका प्रारम्भिक अवस्था का ज्ञान था और वह पत्थर से अग्नि निकालता था। वेद और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें अध्ययन के पश्चात् इस धारणा पर पहुँचाते हैं कि सृष्टि के आदि से लेकर मनुष्य को अग्नि का प्राञ्जल ज्ञान प्राप्त था। अग्नि को वह विशेष रूप में जानता था और प्रयोग में लाता था। विकासवाद के प्रभाव से जनित पाश्चात्यों की धारणा बिल्कुल निराधार है। वैसे तो चारों वेदों में अग्निविषयक इतने मन्त्र हैं कि यदि वे एकत्र कर दिये जावें तो अग्नि पर इतनी वैज्ञानिक सामग्री मिलेगी जो अभी तक लोगों को परिज्ञात भी नहीं हैं। इनके देखने से यह मालूम पड़ता है कि परमात्मा की इस सृष्टि में अपने कार्यों से अग्नि समस्त ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है। परन्तु यहाँ पर संक्षेप में ही कुछ लिखने का प्रयत्न किया जाता है। प्रसंगतः नमूने के रूप में कुछ मंत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

(१) त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छि-
श्रियाणं वने वने। स जायसे मथ्यमानः सहो
महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥ ऋ.५।११।६

अर्थ—प्रत्येक की गुहा में निहित इस वैज्ञानिक तत्व अग्नि को अग्निविद्या-विशारद वैज्ञानिक वनस्पति के विविध प्रकारों में प्राप्त करते हैं। यह अग्नि लकड़ी अथवा पाषा...

आदि के घर्षण से भी उत्पन्न होता है और महान् तेज वाला है तथा इसे विद्वज्जन तेज का पुत्र कहते हैं।

(२) त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ऋ. ६।१६।१३।

अर्थ—कुशाग्रबुद्धि विद्वान् इस अग्नि को सबके वाहक विश्व की मूर्धा अन्तरिक्ष और जल से मंथन कर निकाल लेता है।

(३) त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि। त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ ऋ. २।१।१।

अर्थ—यह अग्नि सूर्य की किरणों से प्रकट होता है। यही चपल विद्युत् के रूप में देखने में आता है, यही जल से बिजली के रूप में पैदा होता है, यही पत्थर से निकलता है, यही वनस्पतियों और ढाख की लाख आदि औषधियों से भी पैदा होता है।

(४) त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा। तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ ऋ. १।३१।१।

अर्थ—सृष्टिरचनाकाल में व्यापनशील प्रथम अंगार रूप में यही अग्नि प्रगट होता है। यही समस्त प्राकृतिक भूतों का कल्याणकर साथी है। इसी के नियंत्रण में जल कणों से युक्त, प्रकाश को फैलाने के साधनभूत, शब्द वाहक मरुत् वायुएँ भी प्रकट होती हैं।

(५) दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान-मेनं जरते स्वाधीः॥ ऋ. १०।४५।१।

अर्थ—प्रथम अग्नि सूर्यरूप से द्युलोक में उत्पन्न होता है, दूसरा पार्थिव रूप में जातवेदस् नाम से पृथ्वी पर विद्यमान है और तीसरा मानव के प्रयोग के लिये विद्युद्रूप में अन्तरिक्ष में विद्यमान है। इस अग्नि की विविध प्रकार की प्रयोगात्मक शक्ति का विद्वज्जन वर्णन करते हैं।

(६) यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि। येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥ यजुः १३।४५।

अर्थ—हे विद्वन्! जो अग्नि प्रजापति परमेश्वर के समिद्ध तप से उत्पन्न होता है, और पुनः पृथिवी और द्युलोक के ताप से पैदा होता है। जिसको साधन बनाकर परमेश्वर ने समस्त प्रजा को पैदा किया, उस अग्नि की र[illegible] एवं प्रयोग में किसी प्रकार की उपेक्षा न हो।

(७) अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति॥ यजुः १५।२०।

अर्थ—पृथिवी का पालक, द्युलोक की महान् शक्ति अर्थात् सूर्य रूप है। यह मूर्धा है अर्थात् समस्त मूर्त पदार्थ इसमें धारण किये जाते हैं और यह ही जल के परमाणुओं को गति देता है।

इन मंत्रों में अग्नि की विविध सम्पत्तियों और उसके सृष्टिगत विविध कार्यों का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका बहुत उच्च स्तर का पल्लवन मिलता है। अग्नि शब्द की निरुक्ति को लेकर निरुक्त ७।४।१५ के आधार से निम्न प्रकाश मिलता है।

१—अग्रणी होने से इसका नाम अग्नि है। क्योंकि यह यज्ञ में भी आगे रहता है और साथ ही सृष्टि रचना में भी मुख्य पदार्थ होने से अग्रवर्ती है।

२—अङ्गं नयति—अर्थात् सबको अपना अङ्ग बनाता है और सभी पदार्थों में अङ्गरूप में विद्यमान रहता है।

३—अक्नोपनो भवति—वस्तु को सुखा देता है—अर्थात् तापप्रधान है।

४—यह इण् धातु के "अकार" अञ्जु धातु के रूप से "ग" अथवा 'दह' धातु के रूप से "ग" तथा "नी" धातु के रूप से "नि" लेकर अग्नि पद बनता है, जिसका अर्थ है—जो गति का साधन है, तापशील और दाहक है तथा वाहक है।

निरुक्त की निरुक्तियों के आधार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं. अतः निरुक्त के इस उपर्युक्त भाव के समर्थन में शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।११ तथा २।२।४।२ पर क्रमशः निम्न उद्धरण मिलते हैं—

स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निः इत्याचक्षते परोक्षम॥ ६।१।१।११—एनमग्रे देवानां प्रजापतिरजनयत्। तस्मादग्निर्ह वै नामैतदग्निरिति—२।२।४।२।

अर्थात्—प्रजापति के द्वारा यह अग्नि सृष्टि में सब देवों की अपेक्षा पूर्व उत्पन्न किया गया, अतः यह 'अग्रिः' होते हुये 'अग्नि' कहा जाता है। पुनः तैत्तिरीय २।१।६ में लिखा

...कि प्रजापति ने देवों की रचना करते हुये देवों में सर्व-प्रथम अग्नि को उत्पन्न किया। इस सम्बन्धी वाक्य निम्न प्रकार का है—

प्रजापतिः देवताः सृजमानः। अग्निमेव देवतानां प्रथमसृजत्॥

शेष निरुक्त की निरुक्तियां ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये अग्नि के विभिन्न अर्थों से चरितार्थ होती हैं।

इस सृष्टि में अग्नि की महत्ता

सृष्टि में अग्नि की महत्ता को दिखलाते हुये ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध प्रकार का वर्णन मिलता है। इन सभी की ऊहापोह करने पर ज्ञात होता है कि इनके पीछे एक प्रशस्त वैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। अग्नि देवों की क्रमिक स्थिति में पृथ्वीस्थानी होने से नीचे है और विष्णु अर्थात् सूर्य द्युस्थानी होने से सबसे ऊपर है। इसलिए ऐतरेय १।१ में कहा गया है—**अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः**। अग्नि का सृष्टिगत समस्त प्राकृतिक दैवी पदार्थों से सम्बन्ध है, अतः इसे 'सर्वा देवता" कहा गया है। **अग्निर्वै सर्वा देवताः**। ऐतरेय २।३, तैत्तिरीय १।४।४।१०; तथा **सर्वदेवत्योऽग्निः**—शतपथ ६।१।२।२२—वाक्य इस विषय की पुष्टि करते हैं। यज्ञकार्यों में इस सर्वदेवत्व सिद्धान्त का ऊँचा महत्व है। क्योंकि समस्त देवों सम्बन्धी यज्ञ में अग्नि का कार्य विशेष है। वायु, इन्द्र, सूर्य आदि प्राकृतिक दैवी पदार्थ इस अग्नि के शरीर रूप हैं। क्योंकि इन सबमें अग्नि किसी न किसी रूप में कार्य कर रहा है। इस भाव की पुष्टि में ऐतरेय ३।४ में तथा शतपथ १४।३।२।५ में निम्न वाक्य कहे गये हैं:—**अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेताः**। ऐतरेय ३।४ **अग्निर्वै देवानामात्मा**—श. १४।३।२।५।

अग्नि ठोस, तरल, विरल पदार्थों को परस्पर रूपान्तरित करने में माध्यम है। तथा प्रलय काल में यह समस्त सृष्टिगत पदार्थों को खा जाता है, अर्थात् कारणरूप में कर देता है। इस लिए यह "जठर" है और महाशनतम है। इन तथ्यों का उद्घाटन करते हुये शतपथ में, तैत्तिरीय और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में क्रमशः निम्न वाक्यों का प्रयोग दृष्टिगत होता है—**सर्वं वा इदमग्नेरन्नम्**—श० १०।१।४।१३, **अग्निर्वै देवानां जठरम्**। तै० २।७।१२।३; **एष उ ह वाव देवानां महाशनतमो यदग्निः**। जै० उ० २॥

वैज्ञानिक जगत् में जहाँ यह अग्नि अन्न अर्थात् समस्त पदार्थों को खाने वाला है, वहाँ यह उनका पालक और उत्पादक भी है। ऐतरेय १।८ और तैत्तिरीय १।७।२।३ के नीचे लिखे प्रमाण इस दिशा में मिलते हैं—

अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः। ऐ० १।८; **अग्निः प्रजानां प्रजनयिता** तै० १।७।२।३।

यजुर्वेद में **स्वर्णघर्मः स्वाहा, स्वर्णार्कः स्वाहा** आदि वाक्यों का प्रयोग मिलता है। इस पर शतपथ ब्राह्मण ९।४।२।२५ में लिखा है कि ये सब अग्नि के नाम हैं। इस वाक्य में अग्नि के नामों में घर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति, सूर्य आदि का सन्निवेश है। वाक्य निम्न प्रकार है—**यद्वेवाह स्वर्णघर्मः स्वाहा, स्वर्णार्कः स्वाहेत्यस्यैतानि नामानि अग्नेर्मानि॥** इनके अतिरिक्त पवमान, पावक और शुचि भी गुणों के अनुरूप अग्नि के ही भेद हैं तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकों में इस अग्नि के यथाक्रम तीन शरीर हैं। इन का स्पष्ट उल्लेख श० २।२।१।१४ में मिलता है। उस स्थल पर इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग मिलता है—**स एताः (पावमानपावकशुच्याख्याः) तिस्रः तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त॥** वैदिक साहित्य में गुणों की विशेषता और उनके प्रधानगौणभाव के कारण अग्नि के ही मित्र, वरुण, भरत और ब्रह्म आदि नाम हैं। तिरछी लपट जब शान्त होने की अवस्था में होती है तब इस अग्नि का मित्र नाम है। जब यह प्रदीप्ततर होता है तब इसे वरुण कहा जाता है। देवों के लिये हवि को धारण करने की अवस्था में इसी का नाम भरत है। जब इसके अङ्गारे चमकते हैं, तब इसकी ब्रह्म संज्ञा है। इन भावों को व्यक्त करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न वाक्य मिलते हैं—

यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीनार्चिः संशाम्यन् भवति तर्हि एष भवति मित्रः। श० २।३।२।१२।

अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति। तर्हि हैष भवति वरुणः। श० २।३।२।१०।

एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुः॥ श० १।४।२।२।

अथ यत्रैतदङ्गारश्चकाश्यन्त इव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म। श० २।३।२।१३।

अग्नि के सहस्र "भरतों" का वर्णन ऐतरेय १।२८ में पाया जाता है।

एष ह वास्य (अग्नेः) सहस्रं भरता यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति १।२८।

अग्निविषयक अन्य प्रसंगों का वर्णन करते हुये ब्राह्मण-ग्रन्थकार अन्य विविध बातों पर भी प्रकाश डालते हैं। शतपथ ब्राह्मण ९।२।३।३९ (द्यौर्वा अस्य परमं जन्म) में द्युलोक को अग्नि का परम स्थान माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अग्नि की अत्यधिक मात्रा का स्थान द्युलोक है। शतपथ ६।१।३।३० (सर्वाणि हि चित्राण्यग्निः) में समस्त चित्रों अर्थात् रंगों को अग्नि कहा गया है। अग्नि का गुण रूप है, अतः रूप ७ प्रकार का है, यह इस वाक्य से नितराम् ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त एक महान् तथ्य शतपथ ७।१।१।२३ (आदित्यो वाऽस्य दिवि वर्चः) में खोला गया है। यहाँ पर सूर्य को अग्नि का द्युलोक में होने वाला तेज कहा गया है। जैमिनीय उपनिषद् में अग्नि को अब्रन्धु कहा गया है। 'अग्नि ह वा अब्रन्धु' जै० ३।६।७।

तैत्तिरीय १।१।३।२ में वर्णन किया मिलता है कि अग्नि देवों से भाग कर चूहे का रूप बना कर पृथिवी में घुस गया। यह वर्णन सर्गकाल का मालूम पड़ता है। द्यु आदि लोकों से अग्नि के पृथ्वी में आने का यह वर्णन है। तैत्तिरीय के वाक्य निम्न प्रकार हैं—अग्निर्देवेभ्यो निलायत। आखूरूपं कृत्वा स पृथ्वीं प्राविशत्। पुनः तैत्तरीय १।४।३।१२ में यह वर्णन मिलता है कि मरुतों (वायुओं अथवा किरणों) ने जलों से अग्नि को चाहा। उसके हृदय का छेदन किया और वही अशनि हुआ। यहाँ पर मेघ की बिजली की प्रक्रिया वर्णित है। संस्कृत वाक्य निम्न प्रकार है—

मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन् तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन् साऽशनिरभवत्। तै. १।४।३।१२। स्वर्ण भी अग्नि का आयतन है इस तथ्य का उद्घाटन तैत्तिरीय ३।११।७।३। (हिरण्यं वा अग्नेर्नाचिकेतस्यायतनं प्रतिष्ठा) में किया गया है। धातुएँ आग्नेय हैं यह एक वैज्ञानिक बात है। स्वर्ण आग्नेय है यह यहाँ पर स्पष्ट भासित कराया जा रहा है। अग्नि विश्वकर्मा भी है, क्योंकि इससे विश्व में कर्म सिद्ध होते हैं। साथ ही सृष्टि प्रक्रिया के कर्म में इसका महत्तम भाग है, अतः इसे विश्वकर्मा कहना सुतराम् सार्थक है। शतपथ ९।२।२।२ (विश्वकर्मायमग्निः) में इस भाव को अच्छी प्रकार व्यक्त किया गया है। अग्नेर्वा एषा तनूः। तै. ३।२।५।७ में उन ओषधियों को अग्नि का शरीर कहा गया है। वाक् इन्द्र अग्नि परम धाम है। अग्नि की स्थिति वाणी में पायी जा[ती] है। यही कारण है कि अग्निदेव का सम्बन्ध वाणी के सा[थ] उपनिषदों में भी बताया गया है। थर्मामीटर ज़बान पर लगाने से अग्नि का ताप स्पष्टतया ज्ञात होता है। कभी कभी तो मरने के बाद भी ज़बान के नीचे दो तीन मिनट तक थर्मामीटर (लगता है) ऐतरेय ६।७ और गोपथ उत्तरार्ध ५।१३ में इस सम्बन्ध में निम्न वाक्य मिलता है—एतद्ध वा इन्द्राग्न्योः प्रियं धाम यद्वागिति ॥ अग्नि के छः पाद अर्थात् गमन या संसार के स्थान माने गये हैं। इन में ही अग्नि का प्रगटीकरण होता है। ये छः पाद वायु पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, आपः, ओषधि, वनस्पति तथा ये समस्त प्राणी। गोपथ पू० २।९ में इस प्रकार लिखा है—

अग्नेः षट् पादास्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरापः ओषधिर्वनस्पतयः इमानि भूतानि पादाः—गो० ५.२।९ इसी प्रकार यजुर्वेद में (१७।१५) में अग्नि की सात समिधाओं और सात जिह्वाओं (ज्वालाओं) का वर्णन मिलता है ये सप्त ज्वालायें हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता सुधूमवर्णा, विस्फुलिङ्गिनी, रूपवती और मुण्डकोपनिषद् में इनका परिगणन भी मिलता है! शतपथ ६।७।४।४ में यह बतलाया गया है, यह अग्नि पहले जलों से उत्पन्न हुआ। उसके वाक्य ये हैं—

अद्भ्यो वा एष प्रथममाजगाम।

कुछ उच्च वैज्ञानिक धारणायें

कौषीतकी ब्राह्मण में अग्नि को—त्रिवृत् कहा गया है ये त्रिवृत् उसके अंगारा, अर्चिः और धूम हैं। त्रिवृद्वा अग्निरंगारा अर्चिर्धूम इति। कौ० २८।५। शतपथ ब्राह्मण ३।५।१।१३ स्थल पर सृष्टि प्रक्रिया के एक रहस्य की ओर प्रकाश डालता है। उसमें कहा गया है कि प्रथम दो प्रकार के ही तत्व विकसित हुए। एक प्रकार अदिति के रूप का था और दूसरा प्रकार आंगिरस रूप में था। इन्हीं से सृष्टि का विकास हुआ। यह वस्तुतः दैवी सृष्टि का प्रकार है। शतपथ के वाक्य इस प्रकार हैं—द्वयो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः। आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च—श० ३।५।१।१३ वस्तुतः इतिहास का गठन करके सृष्टि के विकास की प्रक्रिया को समझाने वालों की दृष्टि में यह देव-सृष्टि का क्रम माना जाता है। इसे ही यास्क ने "पूर्वदेवयुगम्" कह के पुकारा है। वस्तुतः यह इतिहास नहीं। अदिति का

... प्रकृति है। उसे ही कल्पित-इतिहास बनाकर कहने वालों ने 'देवमाता' कहते हैं। उससे होने वाले सृष्टिक्रम को देव-सृष्टिक्रम कहते हैं। नैरुक्त और सांख्य लोग इसे ही प्रकृति कहते हैं। इसके होने वाले विकास क्रम का वर्णन सांख्य प्रक्रिया के नाम से कहा जाता है। इसका वर्णन मैंने "Vedic Digest" के अपने एक लेख में अंग्रेजी में किया है। इस आंगिरसी प्रजा का वर्णन कई स्थलों पर पाया जाता है। महाभारत उद्योग पर्व (८५।१३०-१३१) में इनका वर्णन पाया जाता है। वहाँ पर इन्हें वारुण भी कहा गया है। बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, सवर्त्त तथा सुधन्वा-ये आठ आंगिरस पुत्र हैं। वस्तुतः कहना चाहिये कि आठ समष्टि अग्नि से उत्पन्न विशेष अग्नि-तत्व हैं। महाभारत का उद्धरण निम्न प्रकार है—**अष्टौ आङ्गिरसस्पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः । बृहस्पतिरुतथ्यश्च पयस्यः शान्तिरेव च। घोरो विरूपः, संवर्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः।** ये वारुण कहे गये हैं अतः इसके नाम से ही प्रकट है कि ये अग्नि के रूपान्तर हैं जिनका न्यूनाधिक मात्रा में आपःसंयुक्त अग्नि तत्व से सम्बन्ध है। अंगिरा क्या पदार्थ है ? इस पर ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न वर्णन मिलता है—

(१) ये अंगारा आसंस्तेऽगिरसोऽभवन्-ऐ. ३।३४

(२) अंगारेभ्योऽङ्गिरसः—शतपथ ४।५।१।८

(३) तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योऽगेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते। गो० पू० १।७

(४) ये (प्रजापते रेतः पिण्डा दग्धाः सन्तः) अंगारा आसन्स्तेऽङ्गिरसोऽभवन्यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पतिरभवत्। ऐ. ३।३४

अर्थात् जो अंगारायें में थीं वे ही अंगिरा हुये। अंगारों से ही अंगिर हुये। वरुण को श्रान्त, तप्त और संतप्त करने से उसके सभी अङ्गों से जो रस टपका वही अङ्गरस है और उसी को अङ्गिरा कहते हैं। वरुण वस्तुतः आपोरूप में पिघला हुआ आग्नेय तत्व है। प्रजापति के रेतः पिण्ड जो जल रहे थे वे ही अङ्गार थे और वे ही पुनः अङ्गिरा हुये और जब अङ्गार शान्त होकर पुनः प्रदीप्त हुये तब वे ही बृहस्पति हुये। इस बृहस्पति का आठ अंगिरसों में नाम पाया जाता है। यहाँ पर स्पष्ट है कि अङ्गिरा आग्नेय तत्व का नाम है।

प्रजापति इस प्राथमिक अवस्था में विराट् का नाम है। क्योंकि गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि परमेश्वर ने पुरुषमे... कर के विराट् नाम को धारण किया। ('स पुरुषमेधेने... विराडिति नामाधत्त' गो. पू. ५।८) अतः यहाँ विराट् अवस्... को प्रजापति कहा जा रहा है। प्रकृतितत्व की साम्यावस्... भंग कर परमेश्वर ने उसे अपने अभीद्ध तप से सर्वत्र ता... दिया। पुनः संकर्मार की भाँति उन तत्वों को तपा ... पिलपिला किया। उससे अङ्गिरा का पूर्व प्रकाशमा... समष्टि रूप प्रकट हुआ जो विराट के रूप में विद्यमान हु... उससे जो चमकने वाले रेतः रूप अङ्गारे थे वे ही आङ्ग... कहलाये। ये प्रकृति के बृहत् आपोमय रूप के अङ्ग... से निकले थे। जब ये अङ्गारे शान्त हुये और पुनः रूपान्त... से प्रकाशमान हुये तब ये बृहस्पति आदि आंगिरस त... कहलाये। ये ही आठ आंगिरस हैं जो वस्तुतः अग्नि ... ही रूपान्तर हैं। इस विराट् में से जो पुंज पृथक् रूपान्त... से प्रकाशमान हुआ वह आदित्य कहलाया और दूसरा ... पुंज था वह भृगु कहलाया। वरुण ने इसे ग्रहण कर लि... अतः इसका नाम वारुणी भृगु हुआ और जब पृथ्वी ने ... ग्रहण कर लिया तब इसे और्व भृगु कहा गया। इसलि... ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं—तस्य यद्रेतः प्रथमसुदद... तदसौ आदित्योऽभवद्, द्वितीयमासीत्तद्भृगुरभव... वरुणो न्यगृहीत तस्माद् स भृगुर्वारुणिः। ऐतरेय ३... ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यः (अद्भ्यः) यद्... आसीत्तदामृज्यत यदमृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्... गोपथ पूर्वार्ध १।३। यहाँ यह स्पष्ट है कि भृगु और बृ... स्पति आदि भी अग्नि के ही रूपान्तर हैं।

रुद्र (अग्नि)

यह अग्नि ही रुद्र नाम से भी पुकारा जाता है। इस... नव नाम हैं। विभिन्न गुणों और आग्नेय संपत्तियों के का... ये नाम पड़े हैं।

ये नव नाम—रुद्र, सर्व = शर्व, पशुपति, उग्र, अश... भव, महान् देव, और ईशान हैं तथा नवम नाम कुम... है। ये अग्नि के रूप हैं। ब्राह्मणों में इनका निम्न प्रक... से वर्णन मिलता है—

(१) तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः शा० १।१।३।१८

(२) अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व ... यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीक...

पशूनां पति रुद्रोऽग्निरिति । तान्यस्याशान्तानि एवेतराणि नामान्यग्निरेत्येव शान्ततमम् ।

(३) रुद्रोऽग्निः । ता० १२।४।२५

(४) अथ यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति धूप्यत एव तर्हि हैष भवति रुद्रः । श० २।३।९।९

(५) शिवः शिव इति शमयत्येवैनम् । श० ६।७ ३।१५—अर्थात् ये अग्नि के ही आठ रूप हैं। शर्व नाम से प्राच्य लोग पुकारते हैं और भव नाम से वाहीक लोग। पशुपति भी अग्नि ही है। इसके आठ नाम अशान्त हैं, केवल अग्नि ही शान्ततम है। जब यह प्रथम समिद्ध होता है, तब इसे रुद्र कहते हैं। शिव नाम इसके शान्त रूप का द्योतक है। यहां पर यह समस्या भी स्पष्ट हो गयी कि रुद्र के जो नव नाम हैं वे भी अग्नि के ही रूप हैं। पौराणिक दृष्टि से जो आठ मूर्तियाँ एवं शरीर रुद्र के माने जाते हैं, वे इनकी कल्पना का नहीं सिद्ध कर सकते हैं। क्योंकि ये मूर्तियाँ इनकी मूर्तियों की भांति नहीं हैं। ये तो उनसे सर्वथा विपरीत हैं। कालिदास ने इन आठों का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के मंगलाचरण में वर्णन किया है। पौराणिक दृष्टि से जो महत्व इस कल्पना को दिया जाता है वह निराधार है। हाँ, ये आठ संघात एवं माध्यम हैं जिनसे अग्नि के कार्यों एवं संपत्तियों का प्रकटीकरण होता है। वे आठ हैं—आपः, अग्नि, अन्न, यजमान, पृथिवी, वायु, चन्द्र-सूर्य, आकाश।

दार्शनिक दृष्टि से इन तथ्यों पर विचार करने पर अग्नि चार प्रकार का ठहरता है। वह भौमाग्नि, दिव्याग्नि, औदर्याग्नि और आकरजाग्नि। पृथिवीस्थ अग्नि, द्युस्थाग्नि, उदरस्थाग्नि आदि खान आदि में होने वाली अग्नि सगृहीत प्रकार हैं। शरीर एवं बाह्य सभी अंगियों में विद्यमान होने से भी अग्नि को अङ्गिरा कहा जा सकता है। शरीर के समस्त कार्य और संसार के कार्यों में अग्नि का महान् स्थान है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में अग्नि अर्थात् ताप विद्यमान रहकर उसे कायम रख रहा है। जब तक यह ताप मौजूद है तब तक पदार्थों की स्थिति है। इसके समाप्त होते ही समस्त जगत् प्रलय के आवर्त में विलीन हो जावेगा। इसी कारण यह अग्नि भूतपति है। साथ ही यह पशुपति भी है। यह पशुओं, मनुष्यों आदि सभी का पालक है। जाठराग्नि इसका हो रूप है। हमारे नित्य अस्तित्व के इस शरीर में आने के साथ ही साथ ९८ अंश का ताप भी इसमें स्थित हुआ। क्योंकि यह अग्नि पुरोहित और 'अग्नि' भी। यह जब तक कायम है तब तक हमारा जीवन है। न्यू[illegible] और अधिकता दोनों में ही विनाश है। शरीर की सारी क्रियाओं में इस अग्नि का सहयोग है। पित्त के रूप में भी यही अग्नि हमारे अन्दर मौजूद है। भोजन को पचाने वाले पित्त का नाम पाचक अग्नि है। यकृत् और प्लीहा में जो पित्त है उसकी रंजक अग्नि संज्ञा है। हृदयस्थ पित्त का नाम साधक अग्नि है। नेत्र में जो पित्त है उसकी आलोचक अग्नि संज्ञा है। त्वचा में जो पित्त है उसका नाम भ्राजक अग्नि है। यह वर्णन सुश्रुत अध्याय २१।५ में मिलता है। इसीलिये तो यह पशुपति है।

चरक आदि आयुर्वेदिक शास्त्रों में ज्वर की उत्पत्ति के विषय में एक कल्पना का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है कि दक्ष के द्वारा किये गये अपमान से रुद्र को क्रोध आया और उससे ज्वर की उत्पत्ति हुई। रुद्र अग्नि है–ऐसा मानने पर यह कल्पना भी सार्थक और वैज्ञानिक मालूम पड़ती है। दक्ष प्रजापति है। यह "पार्वतिः" है। इसका अर्थ आत्मा भी हो सकता है और दूसरा भी कई लोग इससे आत्मा ही अर्थ लेते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ में इसके अर्थ के लिये निम्न संकेत प्राप्त हैं—

स (प्रजापतिः) वै दक्षो नाम । श० २।४।४।२।

" क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधि" (ऋ० ८।४२।३) इति वीर्यं प्रज्ञानं वरुण संशिशाधीति । ऐ० ११।१३।

अर्थात् प्रजापति ही दक्ष है। अथवा वीर्यशक्ति दक्ष है। प्रजापति के भी प्रासंगिक अर्थ निम्न पाये जाते हैं—

१—अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः । श० २।५।१।८।

२—तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे। त्वगिति द्वेऽसृगिति द्वे, मेद इति द्वे, माᳫंसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, मज्जेति द्वे, ताः षोडश कला अथ य एतदन्तरे प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः। श० १०।४।१।१७।

३—तस्मा एतस्मै सप्तदशाय प्रजापतये। एतत्सप्तदशमन्नᳫंसंस्कुर्वन् य एष सौम्योध्वरोऽथ या अस्य ताः षोडश कला एते ते षोडशर्त्विजः। श० १०।४।१।१९।

४—द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः । श० १।३।५।१०।

अर्थात्—अग्नि देवताओं का मुख है और वही प्रजापति नों। लोम, त्वग्, असृक्, मेद, मांस, स्नावा, अस्थि और मज्जा—में दो दो अक्षर हैं अतः ये १६ कलायें हैं। इनमें विचरने वाला "प्राण" ही १७ वां तत्त्व है जो प्रजापति है। इस १७ वें तत्त्व प्रजापति के लिये ये जो अन्न का पाचन करते हैं यही सौम्य यज्ञ है तथा इस यज्ञ की ये षोडश कलायें ऋत्विज् हैं। बारह महीने, शिशिर और हेमन्त को एक मानकर ५ ऋतुयें ये १६ हैं और संवत्सर १७ वां प्रजापति है। इस प्रकार प्रजापति के अर्थ यहां पर अग्नि, प्राण और संवत्सर हुये। यहां पर वीर्यशक्ति, आत्मा, संवत्सर, प्राण किसी भी अर्थ को लेने पर ज्वरोत्पत्ति की कल्पना ठीक होगी। शरीर में पाचन आदि क्रिया का जो कार्य चल रहा है यह दक्ष आत्मा का यज्ञ है। इसमें यदि किसी प्रकार की विषमता हो जावे तो रुद्र जाठराग्नि कुपित हो जाती है और ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है। अगर समष्टि अग्नि जो पित्त रूप में विद्यमान है जिसे अग्नि नाम से प्रजापति कहा जा सकता है उस चल रहे कार्य में किसी प्रकार का वैषम्य आ जावे तो रुद्ररूपी औदर्य अग्नि कुपित हो जाती है। और ज्वर की उत्पत्ति संभव हो जाती है। वीर्य शरीर में एक महती शक्ति है। इसी पर सब कुछ निर्भर है। खाये पीये हुये का परिपाक होकर अत्यन्त सूक्ष्म भाग सप्तम धातु के रूप में वीर्य बनता है। उससे पुनः ओज बनता है। इसी के लिये यह शरीर में सौम्य अध्वर चल रहा है। इस में हमारे व्यवहार से यदि कोई विषमता आ जावे तो अग्नि-मांद्य होने से ज्वर आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राण भी इस यज्ञ का कर्ता है। यदि इस यज्ञ में खाने पीने रूप आहुतियों की विषमता आजाती है तो रुद्रदेव अर्थात् जाठराग्नि कुपित हो जाते हैं। उससे ज्वरादि विकार उत्पन्न होते हैं। संवत्सर का अपना एक यज्ञ चल रहा है। उसमें मास और ऋतुयें समय समय पर अपने क्रम से आ रहे हैं और जा रहे हैं। इस सम्वत्सर का हमारे शरीर से सम्बन्ध है। वर्ष में ऋतु-चर्या के अनुसार खान पान आदि व्यवहार न करने पर अग्नि में विषमता आ जाती है और उससे ज्वर की उत्पत्ति होती है। दक्ष का 'पार्वति' होना भी सार्थक है, क्योंकि शरीर में प्लेक्सस हैं जो गाँठ रूप में शरीर के साथ लगे हैं। उन में निवास होने से अथवा उनसे सम्बन्ध रखने से ये पूर्व कहे गये आत्मा आदि दक्ष सभी 'पार्वति' कहे जा सकते हैं। यह रुद्र यद्यपि नाम से और विषमता के कारण होने वाले परिणामों में भयंकर है, परन्तु इसकी नीति जिसे ही इसकी "तनू" कहा जाता है, वह शिव, अघोर और दुरितों को दूर करने वाली है। क्योंकि यह शंकर और शिव है। जब बाह्य जगत् में विषमता हो जाती है। तो वातावरण में किसी प्रकार के दूषण से यह रुद्र कुपित हो जाता है। विद्युन्मयी इस शक्ति के प्रकोप से अनेकों बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं प्लेग भी इसी का परिणाम है। इस प्लेग का प्रभाव चूहे पर प्रारम्भ होता है अतः यही उस रुद्र का पशु है। इस प्रकार अग्नि के विषय में विविध विचार हमें वैदिक साहित्य में मिलता है। इसको जानकर वेदमन्त्रों के अर्थ करने में सरलता होती है।

बात बस इतनी थी

[ले०—श्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०, प्रयाग]

श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक का एक लेख वेदवाणी के (जून ५७ के) अंक में निकला। पब्लिक प्रापर्टी समझकर मैंने उसे पढ़ा और उसको पढ़कर जो विचार मन में उठे उनको वेदवाणी के (अगस्त ५७) अंक में 'स्वर के प्रश्न' के रूप में दे दिया। मेरी इच्छा श्री मीमांसक जी से लोहा लेने की न थी। केवल शंकाओं को समक्ष लाना था। यत्न तो गहरे पैठने का ही किया गया था। परन्तु गहरा पैठने के लिये शक्ति भी चाहिये। यदि श्री मीमांसक जी गहरे समुद्र की गहरी से गहरी तह में पैठ कर मौक्तिक जगत् का आनन्द लेते हैं, एक मोती मेरी ओर भी फेंक देते तो मुझे सन्तोष होता। परन्तु दुर्भाग्य से उस ज्योति पुंज की एक किरण भी मुझे प्राप्त न हुई। और मेरा अन्धकार ज्यों का त्यों रह गया। श्री मीमांसक जी रुष्ट हो गये। उनके प्रत्युत्तर के शीर्षक "स्वर का प्रश्न या अज्ञान

से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'प्रश्न' के अन्तर्गत 'अज्ञान' तो होता ही है। सुविज्ञ प्रश्न नहीं करता। परन्तु प्रश्न में अज्ञान के साथ २ जिज्ञासा भी होती है। 'अज्ञान' का शब्द जोड़ कर श्री मीमांसक जी यह दिखाना चाहते हैं कि मैं अज्ञानी तो हूँ, पर जिज्ञासु नहीं।

मैंने जो कुछ लिखा 'प्रासंगिक' समझ कर ही लिखा। जो भाग सीधा प्रासंगिक न था वह 'आनुषङ्गिक' अवश्य था, क्योंकि मेरी धारणा है कि जो मनुष्य वेदों का अध्ययन करेगा उसके हृदय में ऋषि, देवता, छन्द और स्वर के विषय में प्रश्न उठेंगे ही। चाहे गलत हों चाहे ठीक! यदि उनको स्पष्ट मोटे मोटे शब्दों में समझा दिया जाय तो भ्रान्ति दूर हो जाय। मुझे अपने विद्वानों से यह शिकायत है कि जब कोई कुछ पूछ बैठता है तो उसकी उपेक्षा करते हैं, उपहास करते हैं, और उसके 'अज्ञान' का इतना विश्लेषण करते हैं कि उसे 'मूर्ख' बना कर छोड़ते हैं। भारतीय पंडितों में कई शताब्दियों से यह प्रवृत्ति चली आ रही थी। ऋषि दयानन्द ने इस को तोड़ा और चीजों को पेचीदा और जटिल बनाने के स्थान में खोल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि लाखों नरनारी भ्रान्तियों से मुक्त होकर, वैदिक संस्कृति के श्रद्धालु बन गये। हमारे कतिपय उच्च श्रेणी के आर्य विद्वान अभी वही मध्य-कालीन प्रवृत्ति रखते हैं और चीजों को ऐसा पेचीदा बनाते हैं कि रहस्यवादियों को भी मात कर देते हैं। श्री मीमांसक जी ने छोटी सी बात पर मुझे 'निग्रहस्थान' के गर्त में दबोच दिया। जब श्री मीमांसक जी गुरुमुख से न्याय-सूत्रों का अध्ययन कर रहे होंगे और आचार्यवर उनको सूत्रों का रहस्य समझा रहे होंगे तो शायद उन्होंने एक सूक्ष्म बात भी बताई होगी। वह यह कि न्याय दर्शन का अन्तिम भाग जो निग्रहस्थान से सम्बन्ध रखता है, केवल उन प्रतिवादियों के लिये है जो विजिगीषा के भाव से ताल ठोंक कर अखाड़े में कूदते हैं। यह अमोघ अस्त्र साधारण ताछ करने वालों की गर्दन मरोडने के लिये नहीं है।

जब श्री मीमांसक जी ने मेरी अप्रासंगिकता का उल्लेख किया तो मुझे ऐसा लगा कि जिस प्रकार उच्च कोटि का कलाकार किसी भौंडी कृति को देखकर स्वभावतः नाक भौं चढ़ाता है, उसी प्रकार श्री मीमांसक जी की साहित्यिक मर्मज्ञता को मेरे अनर्गल प्रलाप से आघात पहुँचा। परन्तु आगे चल कर पता चला कि प्रसंग की सीमा को उल्लंघन करके स्वच्छन्द विचरने से श्री मीमांसक जी को परहेज नहीं है। एक नई बात मालूम हुई, बिल्कुल नई कि श्री मीमांसक जी को मुझ से बहुत पुरानी शिकायत है। मैंने 'शांकरभाष्यालोचन' लिखकर, ऐतरेय ब्राह्मण का भाषानुवाद करके, 'आर्य्योदय काव्य' लिखकर अनधिकारी होते हुये उच्च साहित्य के पवित्र मंडल को दूषित कर दिया। इस विषय में मेरा इतना ही निवेदन है कि श्रीमान् जैसे विद्वानों की ज्ञान-वृद्धि के लिये यह पुस्तकें नहीं लिखी गई। मैंने तो इन अकिंचन कृतियों को श्रीमान् की सेवा में भेंट करने का भी साहस नहीं किया और अपनी त्रुटियों के भय से सम्मति तक नहीं मांगी। हां एक बात अवश्य है। इस अपराध में वे बीसियों आर्य विद्वान् भी शामिल हैं जो श्री नारायण स्वामी जी तथा महात्मा हंसराज से लेकर आज तक मुझे प्रोत्साहन दिलाते रहे और मेरी पीठ ठोंक कर कहते रहे, "शाबाश ऐसे ही लिखते रहो" इसके अतिरिक्त हजारों नरनारी मेरे इन तुच्छ ग्रन्थों को पढ़कर यह स्वीकार करते हैं कि इनकी मोटी मोटी व्याख्या द्वारा उनको ऋषि दयानन्द के उपदेशों को समझने में सहायता मिली है।

अच्छा! अब मैं इस बहस को बढ़ा कर सर्वसाधारण के मनोविनोद का साधन बनना नहीं चाहता। यदि विस्मृति ने पथभ्रष्ट न किया तो मुझ से श्री मीमांसक जी के प्रति ऐसी धृष्टता न होगी॥



...यक धारा—

पंजाब में लोकतन्त्र की अग्निपरीक्षा

(ले०—श्री अवनीन्द्रकुमारजी विद्यालंकार)

पश्चिमी पाकिस्तान के समान पंजाब में भी लोकतन्त्र का परीक्षण विफल रहा है। यह ठीक है कि इस प्रश्न में पिछले दस वर्षों में दो बार सार्वजनिक चुनाव हुये हैं, किन्तु इसके साथ यह भी ठीक है कि देश के इस भाग में राष्ट्रपति का शासन भी स्थापित करने के लिये केन्द्रीय सरकार दो बार बाध्य हुई है। अब पुनः पंजाब के कुछ एम० एल० ए० ने राष्ट्रपति से अनुरोध किया है कि पुनः पंजाब में राष्ट्रपति का शासन स्थापित किया जाय। यही नहीं, कांग्रेस विधान सभा पार्टी के पचास से अधिक सदस्यों ने अपने हस्ताक्षरों से प्रधान मंत्री को एक स्मृतिपत्र दिया है कि वर्तमान कैरों मन्त्रिमण्डल जमींदारों का पक्षपाती है और प्रस्तावित भूमि-सुधार कानून किसानों के लिये घातक है। प्रश्न यह है कि पंजाब के अन्दर इस प्रकार दो विभिन्न प्रवृत्तियां क्यों दिखाई देती हैं? इसके लिये उत्तरदायी कौन है?

मौलाना आजाद ने अपने एक स्मरणीय भाषण में कहा था कि देश-विभाजन की घोषणा और भारत के दो भागों में विभक्त होने के बाद दोनों का आरम्भ अमृतसर से हुआ और उसका प्रारम्भ सिखों ने किया। इन सिखों के नेता और कोई नहीं मास्टर तारा सिंह थे। आज वही मास्टर तारा सिंह बम्बई से धमकी दे रहे हैं कि यदि 'हिंदी रक्षासमिति' की बात मानकर क्षेत्रीय फार्मूले में परिवर्तन किया गया तो बड़े परिमाण में साम्प्रदायिक दंगे होंगे और उनकी यह घोषणा अरब सागर की लहरों के साथ सारे देश में गूंज गई, लेकिन किसी राष्ट्र नेता ने मास्टर तारा सिंह की निंदा में एक शब्द भी कहना उचित नहीं समझा, परन्तु ६ मास पुराने आंदोलन का सत्याग्रह की निंदा करने में प्रधान मंत्री से लेकर अदना से अदना व्यक्ति भी अपनी शक्ति की पराकाष्ठा कर रहा है। क्यों? क्योंकि उन्होंने भी मास्टर तारा सिंह द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण किया है और पुराना 'लिबरल' नेताओं का वैधमार्ग नहीं अपनाया है। किंतु ये लोग भूल जाते हैं कि जो प्रधानमन्त्री आज आर्यसमाज की ९० प्रतिशत मांगे स्वीकार हो जाने की घोषणा करते हैं और कहते हैं कि शेष १० प्रतिशत मांगें भी बात-चीत द्वारा पूरी हो सकती है, वे ही प्रधान मन्त्री आर्यसमाज के नेताओं से इस विषय में बात करने को भी तैयार नहीं थे, यद्यपि उन लोगों ने भी स्वातन्त्र्य-संग्राम में अनेक साल जेल काटे थे, किंतु ये ही स्वाधीनता पताका के बल्लम पर साम्प्रदायिक हो गये हैं, क्योंकि उन्होंने तारासिंह—नेहरू करार को मानने से इनकार कर दिया। जो लोग वैधमार्ग से आंदोलन करने और अपनी बात मनवाने के लिये आग्रह करते हैं, क्या उन्होंने यह भी सोचा है कि देश के गवर्नमेन्ट आज के शासक साधारणजनों की बात सुनने तक को तैयार नहीं हैं। उनकी ओर वे उपेक्षा और तिरस्कार से देखते हैं। इनके बनाये शतरंज के मोहरे और कठपुतलियां मन्त्रिगण कहते हैं कि इस देश में हिंदुओं का अल्पमत है। क्या यह रवैया लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हो सकता है?

११ वोटों के लिये

राजनीति नाम ही समझौतों का है। विशुद्ध आदर्श के दर्शन यहां दुर्लभ हैं। इसलिये यदि सारे देश से भिन्न पंजाब में कोई बात दिखाई दे तो मानना चाहिये। बहुत सी बुराइयों में से कमसे कम घातक और अधिक से अधिक निर्दोष बुराइयों को चुनना था। इसलिये यह अलग दिखाई देती है।

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पंडितः।'

अतः यदि पंजाब में हिंदू-हरिजनों से भिन्न सिख हरिजनों को भी (सिख पंथ में अस्पृश्यता के लिये कोई स्थान नहीं है,) हिंदू हरिजनों के समान विशेषाधिकार और विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं तो उसको भी अपवाद मानना चाहिये। यद्यपि यह सत्य है कि दक्षिण में ईसाइयों में भी ईसाई हरिजन हैं और उनको भी सिख हरिजनों के समान वे सुविधाएं और संरक्षण मिलने चाहिये थे, जो हिंदू हरिजनों को प्राप्त हैं। किंतु उनको मांगने पर भी नहीं मिले, क्योंकि उनमें मोल-तोल करने की शक्ति नहीं थी। इधर अकाली और मास्टर तारा सिंह साम्प्रदायिक और पृथक् निर्वाचन प्रणाली

का त्याग करने के लिये उद्यत नहीं थे जो कि अंग्रेज उनको कृपा करके दे गया था। संयुक्त निर्वाचन प्रणाली सारे देश में हो यह आवश्यक था। सिख-हरिजनों को हिंदू-हरिजनों के समान सुविधा और संरक्षण देकर यदि पंजाब में संयुक्त निर्वाचन प्रणाली जारी की जा सकती है तो अन्य हरिजनों को वह रियायत देने में क्यों आपत्ति हो ? हिन्दू देश में बहुसंख्यक हैं, यद्यपि पंजाबी बोली के क्षेत्र में अल्पसंख्यक हैं और ४४ प्रतिशत हैं और सिख ५६ प्रतिशत हैं। फलतः मास्टर तारा सिंह ने कुछ लेकर ही छोड़ा।

२—भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। इस देश की सरकार किसी चर्च और धर्म को स्वीकार नहीं करती और भगवान् बुद्ध का यदि जन्म दिन मनाया तो वह भी इस कारण कि वे एक महान् भारत-सन्तान थे। किन्तु इस देश की सरकार 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' को स्वीकार करती है और इसके निमित्त सरकार प्रति वर्ष २५ लाख रुपया मास्टर तारा सिंह को देती है, जिसके 'ग्रन्थी' अपने नेता की बात गांव-गांव में पहुँचा देते हैं। मास्टर तारा-सिंह की शक्ति में 'ग्रन्थी' (ग्रंथ साहब का पाठ करने वाले) हैं। पुरोहिताई और पण्डई की निन्दा करने वालों ने एक शब्द भी इस 'गुरुडम' के विरुद्ध, साम्प्रदायिकता के इस गढ़ के विरुद्ध कभी नहीं कहा। क्यों ? सिख बरों का छत्ता हैं, उनको छेड़ना क्या बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता का काम कहा जा सकता है ? फिर यह उनको अंग्रेज ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ करने के बदले इनाम के रूप में दे गया है। उसको क्या आज छीनना सम्भव है ? क्या आज के शासकों में इतनी हिम्मत है ? यही क्यों ? दूसरा भी कोई माई का लाल सुप्रीमकोर्ट के पास नहीं पहुँचा कि संविधान के विरुद्ध देश के एक भाग में कार्रवाई हो रही है और इसको रद्द किया जाय।

३—यदि सिख हरिजनों को हिन्दू हरिजनों के समान सुविधाएं और संरक्षण प्राप्त नहीं होते तो कौन हिन्दू हरिजन फिर सिख होगा ? यही क्यों ? सिखों को भय था कि सिख हरिजन भी दाढ़ी मुड़ाकर हिन्दू हो जायंगे। इस अवस्था में पंजाबी बोली के क्षेत्र में वे ४० प्रतिशत भी बचे रह जायंगे, यह संदिग्ध था। किन्तु संविधान ने सिख हरिजनों को हिन्दू हरिजनों के समकक्ष मानकर सिखों की एक भारी चिन्ता दूर कर दी, लेकिन सिख इतने से सन्तुष्ट नहीं रह सकते। १९४७ के दंगों में वे जो प्राप्त न कर सके उसका दूसरा मार्ग ढूंढ़ना चाहिये था। वह क्या है ? पंजाबी बोली के क्षेत्र में आज भी गांवों में १५-१६ लाख हिन्दू हरिजन शेष हैं। यदि ये हिन्दू हरिजन सिख हो जायं तो पंजाबी बोली का क्षेत्र 'सिखमय' हो जायगा और 'खालसा-स्थान' बनाने में कोई कठिनाई न रहेगी। यह अवस्था उत्पन्न होने पर मुस्लिमलीग–अकाली गठबन्धन के समान पाक-खालसा गठबन्धन होना सम्भव है। यदि यह कहीं हो गया तो भारत की सीमा रावी से खिसककर सक्खर नदी पर आ जायगी और भारत की राजधानी फिर नागपुर या उज्जैन होगी। यह भय है किन्तु इस ओर किसी राष्ट्र नेता का ध्यान नहीं गया और सिखों को हिन्दू हरिजनों के मध्य प्रचार करने के लिये खुली छूट दे दी गयी।

४—गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी संघटित है। वे एक नेता के बोल पर काम करने को उसी प्रकार तैयार हैं, जैसे वे 'कड़ाह' प्रसाद छकने को तैयार हैं। दूसरी ओर कोई संघटित धर्म और पन्थ नहीं है। पंजाबी बोली के गांवों में सवर्ण हिन्दू नहीं ही रहे हैं। क्योंकि वे सिखों से अपनी जानमाल और इज्जत की सुरक्षा इसी में समझते है कि वे गांवों को छोड़ दें। फिर नम्बरदार, पटवारी आदि से लेकर जिला अधिकारी तक अधिकांश अधिकारी सिख हैं। यदि कानून सहायक न हो तो गांवों में बचे हिन्दू सिखों की प्रसन्नता के लिये गुरुमुखी पढ़ने को बाध्य हैं। गुरुमुखी पढ़ने के साथ दाढ़ी भी बढ़ने लगती है। फलतः इस प्रदेश को 'खालसा-स्थान' बनाने की ओर पहला कदम है कि प्रत्येक को बाधित रूप से पंजाबी पढ़ायी जाय। जिन लोगों ने इस पर दस्तखत किये, जिन्होंने इसके आधार पर कानून बनाया और आज जो इसकी रक्षा कर रहे हैं वे सब राष्ट्रवादी और प्रगतिशील कहलाये, पर जो भारत की सीमा को रावी तक कायम रखने का उद्योग कर रहे हैं और जो यह मांग कर रहे हैं कि आज जो अंग्रेज़ी को स्थान है वह जगह हिन्दी को दी जाय, वे साम्प्रदायिक कहलाये ! क्या इससे अधिक विधिविडम्बना और कोई दूसरी हो सकती है ? सम्भवतः ऐसी ही परिस्थितियों को देखकर भीष्मपितामह ने विवश हो कर कहा था—काल बलवान् है।

५—'सच्चर-फार्मूला' पिछले डेढ़ साल से भी अधिक समय से देश के राजनीतिक गगन में सुनाई दे रहा है

केन्द्रीय मन्त्रिगण और कांग्रेस के अध्यक्ष तक यह कहते हुये नहीं थकते कि 'सच्चर-फार्मूला' दो जातियों, दो धर्मों, दो समाजों के मध्य हुआ एक पवित्र समझौता और करार है। इसके विरुद्ध कहने वाले की जीभ गिर जायगी, लेकिन कोई भी व्यक्ति इस निन्दित, अनर्थों की जड़ फार्मूले के इतिहास में जाने को तैयार नहीं है। क्या यह एक आश्चर्य का विषय नहीं है?

सच्चाई क्या है? मास्टर तारा सिंह की अनुमति से ज्ञानी कर्तार सिंह के नेतृत्व में पहले चुनाव से पहले अकाली पार्टी कांग्रेस विधानसभा पार्टी में एक दल के रूप में सम्मिलित हो गयी थी। ज्ञानी कर्तार सिंह के हाथ में 'पासंग' था और ग्यारह वोट थे। डाक्टर गोपीचन्द भार्गव और श्री भीमसेन सच्चर दोनों व्यक्ति मुख्यमन्त्री बनने के लिये ये ग्यारह वोट चाहते थे। श्री भीमसेन सच्चर (आंध्र प्रदेश के राज्यपाल) ने उस पर सर्वप्रथम दस्तखत कर दिये। डाक्टर भार्गव ने देखा कि वे ग्यारह वोट इस रीति से खो देंगे और यह क्षति सहने में समर्थ न होने के कारण उन्होंने भी कर्तार सिंह फार्मूले पर दस्तखत कर दिये। मुख्य मन्त्री पद पाने की होड़ में इन दोनों व्यक्तियों ने जिस ज्ञानी कर्तार सिंह के फार्मूले पर दस्तखत किये थे, उसको दो समाजों का समझौता कहना 'करार' शब्द का क्या परिहास करना नहीं है? किन्तु फिर भी क्षेत्र-परिषदों की स्थापना के लिये राष्ट्रपति द्वारा ज्ञापित और घोषित पत्रक में 'सच्चर फार्मूले' को स्थान दिया गया है और इस प्रकार विधिविहित करार दिया गया? क्या इसको लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया कहा जा सकता है? यह होते हुए भी इसको बदलने के लिये माँग करने पर कहा जाता है छोटी छोटी बातों में उलझने की जरूरत नहीं है।

यदि इससे भी लोग सन्तुष्ट न होंगे तो कहा जायगा कि यह आन्दोलनकारी साम्प्रदायिक हैं, निर्वाचन में पराजित हो जाने के कारण अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उन्होंने यह ढंग निकाला है और जनता के मनोभावों को भड़का कर प्रान्त और प्रदेश की शान्ति भङ्ग कर रहे हैं और दो सम्प्रदायों और समाजों के बीच विद्वेष फैला रहे हैं।

यद्यपि हमारे देश की मान्यता है कि यदि बच्चा भी कोई सत्य बात कहे तो उसको ग्रहण करने में पेशोपेश न न करना चाहिये।

'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्'

किन्तु संसदीय प्रणाली के समर्थक और लोकतन्त्र की दुहाई देने वाले भी यह नहीं देखते कि जो बात कही जा रही है उसमें कुछ सत्यांश है या नहीं। इसके विपरीत पहले वे देखते हैं कि कहने वाला कौन है, किस पक्ष का है। यदि वह विरोधी पक्ष का है तो घोषणा करने में देर न की जायगी कि यह साम्प्रदायिक लोगों का आन्दोलन है और सत्य बात के विरुद्ध दूषित वातावरण उत्पन्न करने की सारी शक्ति से कोशिश की जाती है। क्या 'हिन्दी रक्षा समिति' के आन्दोलन के साथ यही व्यवहार नहीं किया गया है?

मन्त्रित्व के लिए

कहते हैं कि मास्टर तारा सिंह ने भारत सरकार से कहा है कि वह उनको केन्द्रीय सरकार की पुलिस दे और और जिन चार व्यक्तियों को वे गिरफ्तार करने को कहते हैं उनको पुलिस गिरफ्तार कर ले तो पञ्जाब की सीमा पर 'तस्कर व्यापार' एक दिन में बन्द हो सकता है। लेकिन इस दिशा में कोई कदम अभी तक नहीं उठाया गया। परन्तु जो आन्दोलन एक बड़े नेता के इशारे पर 'मन्त्रित्व' पाने के लिए प्रारम्भ किया गया था, वह जब उसको वापस लेने का संकेत आया तब उसके हाथ से निकल कर साधारण जनता के हाथों में पहुच गया था। फलतः जनता को शिक्षा देने के लिए 'फिरोजपुर जेल काण्ड' सदृश लोमहर्षक काण्ड किया गया और शासन सत्ता ने अपनी बीभत्स पाशविक शक्ति का परिचय दिया। मा० जस्टिस कपूर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि अखबार पढ़ रहे लोगों, सोते हुए लोगों को ही नहीं, टट्टी में बैठे लोगों को भी पीटा गया। लेकिन क्या इस प्रदर्शन की असन्दिग्ध शब्दों में राष्ट्रनेताओं ने निन्दा की? लोकतन्त्र को अपना मार्ग किन शिलाओं, चट्टानों के बीच से निकालना पड़ रहा है, उसका यह एक उदाहरण है। पाकिस्तान में भी इसी तरह होता है, उधर हमारी दृष्टि भी जाती है, किन्तु हमारे ही देश के एक भाग में जो हो रहा है और जिस रीति से लोकतन्त्र का मार्ग रोका जा रहा है उस ओर कितने लोगों की दृष्टि जाती है?

दोषी कौन है?

प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल की ९ नवम्बर १९५ की पंजाब यात्रा (चण्डीगढ़ यात्रा) विशाल पुलिस

अत्यधिक कड़े बन्दोबस्त में क्यों हुई और उसके पहले प्रत्याशित अनुकूल वातावरण क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? वे क्या कारण हुए जिनसे बाध्य होकर 'सार्वदेशिक भाषा स्वातन्त्र्य-समिति' के मुख्याधिकारी श्री घनश्याम सिंह गुप्तने आंदोलन बन्द करने का निश्चय करके भी अन्तिम समय बदल दिया ?

समझौते की प्रतिलिपि देखने और मान लेने के बाद मुख्य मन्त्री सरदार प्रताप सिंह ने लुधियाना में भाषण किया कि आर्यसमाज की कमर टूट चुकी है, आन्दोलन निष्प्राण है, आर्यसमाज अपनी इज्जत बचाने का कोई बहाना ढूँढ़ रहा है। पंजाब सरकार के प्रवक्ता ने इसका भाष्य करते हुए कहा कि 'सच्चर फार्मूले में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जबतक सिख उसको स्वीकार करने को तैयार न हों। सरकार, आर्यसमाज और सिख मिलकर परस्पर विचार विनिमय कर सकें, इनके लिये अपनी सेवाएँ देने को तैयार है, बशर्ते आर्यसमाज अपना आन्दोलन बिना किसी शर्तके वापस लेले।

सरदार प्रताप सिंह का वक्तव्य क्षोभपूर्ण था, किन्तु इससे भी अधिक एक विचित्र बात हुई। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल सिद्धान्ततः सामूहिक रूप से काम करता है और एक मन्त्री क्या सोचता है, क्या कहता है और क्या करता है, यह दूसरे को पता तक नहीं चलता। प्रधानमन्त्री और समझौता करने वालों के मध्य क्या बातचीत हो रही है और किस स्थिति पर पहुँची है, यह अन्य मन्त्रियों को पता न था। ऐसे ही एक मन्त्री ने, कहा जाता है कि एक पत्र लिखा कि आर्यसमाज के आन्दोलन को कुचल दिया जाय। यह पत्र दुर्भाग्य से आर्य-नेताओं के हाथ पड़ गया। इस पत्र ने समझौते की बातचीत कराने वालों और मध्यस्थता की स्थिति रखने वालों को भी भद्दी स्थिति में डाल दिया। सामूहिक रूप से चिन्तन और विचार न कर, एकांगी विचार करने और कार्य करने का यह प[illegible] था। प्रश्न यह है, क्या यही लोकतन्त्र है जिसके लिए [illegible] पीटा जा रहा है ?

विभक्त पंजाब

बम्बई भी द्विभाषी राज्य है, किन्तु वहाँ क्षेत्रीय परिषदों का संगठन नहीं किया गया। लेकिन पंजाब में किया गया है। क्यों ? क्योंकि सिखों का यह अहंभाव सन्तुष्ट करना आवश्यक समझा गया कि पंजाबी बोली का सूबा किसी न किसी रूप में बनना चाहिये, और वह इस प्रकार बन गया। काश्मीर आज जिस प्रकार विभक्त है, लगभग उसी के समान पंजाब भी विभक्त है। अन्तर इतना है कि विभक्त पंजाब के दोनों भाग भारत संघ में हैं और आस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के समान इन दोनों की संयुक्त और अलग-अलग विधिसभाएँ हैं। ये विधिसभाएं चौदह विषयों में पूर्ण रूप से कानून बना सकती हैं। १९१७ और १९२१ में जिस कांग्रेस ने द्वैध शासन (डाइ आर्की) को परित्याज्य बनाया था, उसी को पंजाब में स्थापित किया जा रहा है। धर्म और मज़हब के आधार पर एक राज्य स्थापित करने की ओर यह क्या पहला कदम नहीं है ? लेकिन यह मास्टर तारा सिंह के साथ मिलकर सरकार ने निर्णय किया है, फिर यह कैसे अराष्ट्रीय हो सकता है ? यह समझौता करते हुए दूसरे पक्ष की राय जानने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी ? इस अवस्था में क्या लोकतन्त्र का रथ सरलता से आगे बढ़ सकता है ? जिस सत्ता में विरोधी दल को अस्पृश्य माना जाता हो, क्या उस सत्ता के काल में वैध मार्ग द्वारा अन्याय को दूर कराने की आशा की जा सकती है ? यदि इस अवस्था में 'हिन्दी रक्षा समिति' ने सत्याग्रह का मार्ग अपनी बात सुनाने के लिए ग्रहण किया तो क्या उसको दोषी ठहराया जा सकता है ?

["आज" से साभार]

[पृ० ६ का शेष]

योग्य व्यक्ति को नियुक्त करो, और सब मित्रों को प्रसन्न रखने वाले, प्रसन्नता बढ़ाने वाले योग्य व्यक्ति को नियुक्त करो।

सर्वमंगल के कार्यों के लिये नेता वह चुनना चाहिये, जो सब से मित्रभाव रखे, जो अपना प्रभाव प्रेम और स्नेह से बढ़ावे, जिसमें साथियों के साथ मिल जुलकर उनकी सम्मति से कार्य करने का स्वभाव हो।

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणाभभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ऋ० १।४।८ ॥

हे सैकड़ों कार्य करने का सामर्थ्य रखने वाले मानव ! तू इस जीवनरस सोम को पीकर, ऊर्ध्वरेतस् होकर, विघ्न बाधाओं, रुकावटों को दूर करने वाला हो और संघर्षों में अपने सामर्थ्य की रक्षा कर।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।
धनानामिन्द्र सातये ॥ ऋ० १।४।९ ॥

हे सैकड़ों कार्य करने में समर्थ, ऐश्वर्यसम्पन्न मानव उस तुम संघर्षों में विजय प्राप्त कराने वाले समर्थ पुरुष की हम नियुक्ति करें और संघर्षों में तुझ विजयशील शक्तिसंपन्न नेता का सामर्थ्य बढ़ावें, तुझ समर्थ नेताको उत्साहित करते रहें ऐश्वर्य और विजय को प्राप्ति के लिये ॥

विविध समाचार

यौगिक क्रियाओं से स्वस्थता

पूना—१ दिस०। महाराष्ट्रीय व्यायाम मण्डल के प्रदर्शन में भाषण करते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू जी ने यहाँ बताया कि मेरी पूर्ण स्वस्थता का सारा श्रेय यौगिक क्रियाओं को ही है। नेहरूजीने बताया कि मैं भी कुछकुछ योगासन किया करता हूँ, जिससे मैं आज तक स्वस्थ एवं रोग मुक्त हूँ।

द्विलिपीय टंकणयन्त्र का भारतीय आविष्कार

कानपुर—१७ दिस०। यहाँ के एक युवक लिपिक ओ० पी० माथुर ने एक ऐसे टंकणयन्त्र (टाइप राइटर) का आविष्कार किया है, जिस पर हिन्दी और अंग्रेजी लिपियाँ सुविधापूर्वक अङ्कित की जा सकती हैं। यन्त्र ठीक उसी आकार का है, जैसा कि वर्तमान में प्रचलित है और उस पर निर्माण व्यय भी प्रचलित यन्त्र जितना ही बैठता है। आपने इस सम्बन्ध में भारत सरकार और टंकणयन्त्रनिर्माता कम्पनियों से लिखा-पढ़ी की है ॥

ब्रिटेन द्वारा कृत्रिम सूर्य का निर्माण

लन्दन—१९ दिस०। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री मैक-मिलिन ने संसद में भाषण देते हुए कहा कि 'जेटा' मशीन के आशाजनक परिणाम सामने आये हैं। इससे वैज्ञानिक मण्डली को विश्वास हो गया है कि ब्रिटेन ने कृत्रिम सूर्य बना लिया है और वह वैज्ञानिक प्रगति में किसी से पीछे नहीं।

रूस में कृत्रिम भूकम्प

लन्दन—२३ दिस०। मास्को रेडियो ने कल घोषित किया है कि रूसी वैज्ञानिकों ने उजबेक मरुस्थल के एक सुदूर क्षेत्र में पृथ्वी में १३० फुट नीचे १००० टन विस्फोटक पदार्थों का विस्फोट कर कृत्रिम भूकम्प पैदा किया है। यह विस्फोट खानों के सम्बन्ध में चल रहे प्रयोगों के सिलसिले में किया गया है और इसके फलस्वरूप वहाँ २०० गज व्यास का ज्वालामुखी का मुख तैयार हो गया है, इसका उपयोग अब जल-खाते के रूप में किया जायेगा।

रूसी भाषा में हिन्दी-व्याकरण तैयार

मास्को—२४ दिस०। रूसी समाचार समिति 'तास' का समाचार है कि प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य स्वर्गीय श्री कामता प्रसाद गुरु रचित हिन्दी व्याकरण का रूसी भाषा में अनुवाद किया जा चुका है। अनुवाद की गई मूल प्रति का संस्करण सन् १९५२ में बनारस से प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी-रक्षा सत्याग्रह के समाचार।

१९ दिसम्बर—पंजाब में सत्याग्रहियों की आंशि[क] रिहाई का आदेश। लुधियाना जेल से १२५ सत्याग्रही मुक्त पं० पंत के पंजाब आने से पूर्व अन्य सत्याग्रही भी मु[क्त] होंगे। चण्डीगढ़ में २४, करनाल में ५ सत्याग्रही गिरफ्तार २० दिसम्बर ४०० से अधिक सत्याग्रही मुक्त। मुक्तसत्याग्र[ही] पुनः सत्याग्रह के लिये उद्यत। २१—पंजाब के विभि[न्न] स्थानों में १९६ हिन्दी प्रेमी गिरफ्तार। २२—सभी हिन्[दी] सत्याग्रही एक सप्ताह में छोड़ दिये जाँय, केन्द्र का पंजा[ब] सरकार को निर्देश। श्रीकप्तान केशव चन्द्र, वीरेन्द्र, शेरसिं[ह] आदि ने सत्याग्रहियों के साथ जेल अधिकारियों के दुर्व्यवह[ार] पर रोष प्रदर्शन के लिये अनशन प्रारम्भ कर दिया।

२३—पं० पन्त ने पंजाब के अपने त्रिदिवसीय दौरे [के] अन्तर्गत लुधियाना में सार्वजनिक सभा में भाषण करते हु[ए] कहा कि फिरोजपुर जेलकाण्ड सबके लिये लज्जाजनक है इससे मुझे बहुत खेद व दुःख है। भाई बहनों को जेल [में] रखना हमें पसन्द नहीं। आपसी सद्भावना से भाषा सम[स्या] का हल निकालना चाहिये।

२४—रविवार को पंजाब में ३०० व्यक्ति गिरफ्तार अमृतसर में हिन्दी प्रेमियों पर निर्मम लाठीचार्ज। एक द[र्जन] देवियाँ घायल। हिन्दी आन्दोलन बन्द होने का कोई प्र[श्न] नहीं, सरकारी नीति में परिवर्तन का विश्वास होने पर स्थ[गित] सम्भव।

२७—सरकार द्वारा प्रदर्शित सद्भाव के फलस्व[रूप] सार्वदेशिक भाषा स्वातन्त्र्य समिति के प्रधान मा. श्री घन[श्या]मसिंह गुप्त ने आज पंजाब में सात मास में चले [आ] रहे हिन्दी रक्षा सत्याग्रह को तत्काल स्थगित करने [की] घोषणा कर दी। आपने संवाददाताओं को बताया [कि] पंजाब के भाषा विवाद के हल के लिये मैं अधिकारियों [से] बातचीत जारी रखूँगा। आप ने कहा कि सरकार ने हि[न्दी] सत्याग्रहियों की रिहाई करके जो सद्भावना दिखायी उससे सन्तुष्ट होकर मैंने २ दिन पहले सत्याग्रह स्थ[गित] करने का निश्चय कर लिया था।

आपने आशा व्यक्त की कि अधिकारियों की सद्भा[वना] और हृदय परिवर्तन का यह रुख आगे भी बना रहेगा [और] सारे प्रश्न शान्ति-पूर्ण ढंग से हल हो जायेंगे। श्री गु[प्त] आर्यसमाज से शान्ति, एकता बनाये रखने की अपील [की]।

पंजाब सरकार ने भी तमाम सत्याग्रहियों की रिहाई [की] आज्ञा जारी करदी। एक व्यक्ति की रिहाई नहीं हो[गी] जिस पर हिंसा का आरोप है ॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

१०]



[अङ्क ४

इस अङ्क के लेख

क—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

०१४ वि०, फरवरी १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३३
सृष्टि संवत् १९७२९४९०५७

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं०१

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न प… तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक… ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीका… किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है।।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क… विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क… ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, त… ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जा…

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलि… चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पा… अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही… छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी न…

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से…

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सक…

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (माताझील) बनारस नं०…

[पृष्ठ २९ का शेष]

किसी रहस्यमय अज्ञात समय में गंगा और यमुना पश्चिमाभिमुख बहती थी और सरस्वती नदी में जाकर मिलती थी। यह सरस्वती नदी समुद्र में जाकर मिला करती थी। इस सम्बन्ध में मंत्र का उल्लेख न करते हुए भी पता तो देही दिया है ७–९५–१२। मंत्र निम्न लिखित है:—

एकां चेतत् सरस्वती नदीकां
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेः
घृतं पयो दुदुह्र नाहुषाय॥

उक्त ऋचा में गिरिभ्यः = पर्वतों से आसमुद्रात् = समुद्र तक यती = जाती हुई सरस्वती का स्पष्ट वर्णन है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि वेदों में इस समय की पूर्व-वाहिनी गंगा-यमुना का वर्णन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। इन पूर्ववाहिनी नदियों की गणना ऋचाओं में पश्चिम-वाहिनी नदियों के ही साथ की गयी है और वह भी एक विशेष क्रम से। किन्तु किसी पार्थिव उत्पात—सम्भवतः भयंकर भू-विस्फोट के कारण सरस्वती लुप्त हो गयी; और भगीरथ के कठिन प्रयत्न से गंगा को पूर्वाभिमुख बहाया गया। श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने उक्त ग्रन्थ में बड़ी ही सुन्दर रीति से प्रबल युक्तियों के सहारे इस तथ्य… कर दिया है। साथ ही साथ पौराणिक गाथाओं से… स्थापित करने का आश्चर्यजनक किन्तु सफल प्र… है। यह घटना बारह या तेरह लाख वर्ष पूर्व… है। और अब तक जितने प्रमाण वेदों की प्रा… लिये दिये गये हैं उनमें कोई भी प्रमाण इसके… दशमांश तक भी नहीं पहुँच सका।

शब्दों के साथ बालकों का-सा खिलवाड़ न… श्री उदयवीर-शास्त्री ने जो निष्कर्ष निकाला है व… जनक होने के साथ मनोरंजक भी है और मह… वैदिक संस्कृति के प्रति उनका यह उपकार किसी… भूलने योग्य नहीं है। उनके स्थापित सिद्धा… अनादि ही रहते हैं और भारतीय संस्कृति का… उद्गम स्थान उत्तरी ध्रुव अथवा मध्य एशिया… भारत ही ठहरता है। उसके साथ ही उसकी प्रा… अद्भुत रीति से बढ़ जाती है। शास्त्री जी द्वारा… अर्थ इतने अधिक अकाट्य हैं कि पाश्चात्य पद्धति… करने वाले उसका कठिनता से उत्तर दे पावेंगे व… रूप से विवादास्पद ही बना रहेगा॥

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १० } काशी, माघ सं० २०१४ वि०, फरवरी १९५८ ई० { अङ्क ४

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

स्तुति विषय

सबका रक्षक इन्द्र

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः।

स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋग्वेद १।७।१०।१५।

दण्डान्वयटीका

न देवा[1] न द्विज (= योगी = परमात्मा के ही) (न)देवता = देवत्वम् न ऐसों की शक्तियाँ वशीभूत (= God-illumined and God directed) न मर्ता न साधारण मनुष्य (न) आपः[2] च और न सुख देनेवाले वायु जलादि पदार्थ

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. व्यु० दिवु = क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु—दिवा०। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरुक्ते, अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा हो और ईश्वर सदैव साथ भी रहे इस भावना से अनेक गुणों को धारण करने वाले और उनसे दूसरों का उपकार करने वाले स्त्री-पुरुष।

२. आप्यते सुखं यया सा आपः उ० ४। २०८।

न शवसः[3]	न परिवर्तनशील पदार्थ
यस्य अन्तं	जिसकी शक्ति की इयत्ता को
आपुः	पासकते हैं
सः	वह
मरुत्वान्	वायु के समान बलवान्
इन्द्रः	परमैश्वर्य से युक्त
प्ररिका	अच्छी तरह व्यापक होके
त्वक्षसा[4]	अपनी शक्ति से
क्ष्मः[5]	पृथिवी को
दिवश्च	और पृथिवी के आकर्षक
(धारयन्)	सूर्य को धारण करता हुआ
नः ऊती भवतु[6]	जीवन के चादर का ताना बाना तनकर हमारी सहायता करे।

ऋषिव्याख्यान—

हे अनन्तबल! "न यस्य" जिस परमात्मा के और उसके बलादि सामर्थ्य का "देवाः" इन्द्रिय "देवता" विद्वान् सूर्य्यादि तथा बुद्ध्यादि "न मर्ताः" [न] साधारण मनुष्य "आपश्च" प्राण वायु, समुद्र इत्यादि सब 'न शवसः अन्तम् आपुः" पार कभी न पा सकते किन्तु "प्ररिका" प्रकृष्टता से इनमें व्यापक होके अतिरिक्त[7] (इनसे विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है। "सः" सो "मरुत्वान्" अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा "त्वक्षसा" शत्रुओं के बल का छेदक बल से[8] "क्ष्मः" पृथिवी को "दिवश्च" स्वर्ग[9] को धारण करता है सो "इन्द्रः" परमात्मा "नः ऊती" हमारी रक्षा के लिये "भवतु" तत्पर हो।

---

३. व्यु० शव = गतौ—भ्वा० । To alter, to chang.
४. व्यु० त्वक्षू = तनूकरणे भ्वा० ।
५. पृथिवीनामधेयम् निघ० १ । १ ।
६. व्यु० अव = रक्षणे—भ्वा० । वेञ् = तन्तुसन्ताने—भ्वा०।
७. अतिरिक्तः भिन्नः = बिलकुल अलग रह कर ।
८. शत्रुओं के बल का छेदक बल से = अर्थात् बहुत बड़ी शक्ति से ।
९. स्वर्ग = सूर्य

[पृ० १ का शेष]

भी अपने चारों रूपों में प्रमुखतः ज्ञान और कर्म का ही साधक है।

ज्ञान और कर्म आत्मारूपी पक्षी के दो पंख हैं जिन्हें फड़फड़ाता हुआ यह सहस्रों वर्षों से इस ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहा है। ज्ञान और कर्म ही ऐसे अस्त्र हैं, जिनसे यह राक्षसों का वध कर सकता है। इन्हीं के द्वारा यह सुकृतियों के लोक तक उड़ सकता है जहां इससे प्रथम पुरातन ऋषि पहुँचते रहे हैं।

गोपाल कृष्णरूपी आत्मा के पास यही गौएं हैं। इसकी इन्द्रियां वस्तुतः उसकी शक्तियां हैं। गौका अर्थ इन्द्रिय लोक-प्रसिद्ध भी है। पर इन इन्द्रियों में साधारण गौओं से विशेषता यही है कि ये अपने इन्द्र का साथ कभी नहीं छोड़तीं। इनका गोपति आत्मा इन इन्द्रियरूपी गौओं के साथ सदैव संयुक्त रहता है।

गोपाल कृष्ण का यह आध्यात्मिक रूप है। उनका जो ऐतिहासिक रूप है, उससे इस आध्यात्मिक रूप से कई अंशों में भिन्नता है। इस भिन्नता का उल्लेख प्रारंभ में केवल संकेत रूप में किया गया है। इन दो रूपों के अतिरिक्त इनका एक काल्पनिक रूप भी है जिसका वर्णन कविजन बार-बार करते हैं। कल्पना में कई अनुभव एक होकर नवीन रचना रचते हैं। इस रूप में कल्पना सामूहिक रूप से नहीं, अपने अंशों और अवयवों में सत्य होती है। कृष्ण का अर्थ आकर्षण करने वाला है। गोपाल कृष्ण अपने आध्यात्मिक, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक तीनों रूपों में परम आकर्षणकारी है॥

मानवजीवन के वैदिक आदर्श

[ले०—श्री० पं० लालचन्द जी, मेरठ]

मानव जीवन के वैदिक आदर्श बहुत उज्ज्वल, कान्तिमय और महान् हैं। मानवीय विकास का जो चित्र वेद में मिलता है वह अनुपम है। व्यक्तित्व की विशालता, समाज में व्यक्ति का कार्य, व्यक्ति और समाज का परस्पर दायित्व, कुटुम्ब में परस्पर आदर सम्मान, प्रेम और उदार व्यवहार, नेतृत्व शक्ति, नेता की योग्यता और क्षमता, प्रजा का राजा से संबंध, प्रजा की उन्नति और समुन्नति, मनुष्य का अधिकार और कर्तव्य, मनुष्य का भगवान् से नित्य संबंध, अनुकूल जीवनचर्या द्वारा भगवान् का सामीप्य, भगवान् से मानव को जीवन, ज्योति, तेज, ओज आदि की प्राप्ति, भगवान् की आराधना, भगवान और भक्त का आत्मीय संबंध—(पिता पुत्र का संबंध, माता पुत्र का संबंध, सखा भाव) ऐश्वर्य संपन्न होने का आदेश, तेज, ओज और सामर्थ्य की प्राप्ति के साधन आदि-आदि अनेक विषयों पर वेद के आदेश जैसे सुन्दर और सरल तथा सीधे हैं, उनसे अच्छे अन्य धार्मिक ग्रन्थों में नहीं मिलते।

वेद मानव समाज को ऐश्वर्य संपन्न, समर्थ, सशक्त बनाता है; और आपस में एक दूसरे का परम हित करने का सुस्पष्ट और उत्तम तथा प्रभावशाली आदेश देता है। वेद के मानव जीवन को सुफल और सुयश संपन्न बनाने के आदेश ऐसे सीधे सादे हैं कि मनुष्य उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

वेद को जीवन व्यवहार में न लाकर भारतीय लोगों ने कई शताब्दियों तक अपना ह्रास ही किया है। भारतीयों को तो ऋषिदयानन्द का अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने प्राचीन भारतीय परंपरा को भारतीय लोगों को बतलाया और भारतीयों में आत्म-सम्मान, आत्मगौरव, और देशाभिमान पुनः जागृत किया। ऋषिदयानन्द यदि वेदों का महत्व न प्रकट करते तो भारतीय लोग तो भारतीय वैदिक संस्कृति से अनभिज्ञ होने के कारण विदेशी विचार-धारा में बहे जा रहे थे और वैदिक शिक्षा भूल ही गए थे। वेद के मंत्रों में मानव जीवन को परम उन्नत समृद्ध और समर्थ बनाने की क्षमता है। ऋषिदयानन्द तो संस्कृत ही जानते थे। उन्होंने वेदभाष्य करके और वैदिक आदर्शों की पूर्ति के लिए आर्य्यसमाज स्थापित करके मानव जाति का विशेषतः भारतीय जनता का महान् उपकार किया है।

हम अपने इस लेख में कुछ एक विषयों पर ही वेद के आदेश दे रहे हैं और सविनय निवेदन करना चाहते हैं कि पाठक वेद का स्वाध्याय करें और वेद के अनुसार अपनी जीवन चर्या करें तो सबका अभ्युदय और निःश्रेयस होगा—

गृहस्थ जीवन

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

ऋ० १०। ८५। ४२॥

हे दम्पती! इस घर में ही रहो, एक दूसरे से वियुक्त मत हो, अपने इस घर में पुत्र-पौत्र और नातियों के साथ खेलते हुये आनन्द से सारा जीवन बिताओ।

हमें पूर्ण आयु भर धर्माचरण करते हुये तथा अपने कर्तव्य निभाते हुये रहना चाहिये—

इमे जीवा विमृतैराववृत्रन्,
अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय,
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

ऋ० १०। १८। ३॥

ये लोग मर्त्यल बन्धुओं से घिरे हुये न रहें। आज हमें कल्याणकारी दिव्य संदेश प्राप्त हुआ है। हम नृत्य और हास्य के लिये दीर्घतर और प्रकृष्टतर आयु धारण करते हुये आगे आये हैं।

हमारी जीवनचर्या और आपस का व्यवहार ऐसा सच्चा, सीधा, शुद्ध, और उत्तम होना चाहिये कि हम लगातार उन्नत होते हुये सदा आनंद प्रसन्न रहें। हमारे कार्य ऐसे हों जिनसे हमारा अभ्युदय हो और लोककल्याण भी हो। हमारे मनोरंजन खेल कूद आदि भी जीवन को विकसित करने वाले हों, हम पुष्पों की भांति खिले रहें और हम घरों में सुगन्धिमय रहें। हमारा आचरण ऐसा सुन्दर हो कि उसमें सौरभ हो। हम उत्तम वीर्यसंपन्न होकर जीवन में अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करें और हम सदा आशावादी बने रहें। हम में आत्मविश्वास हो और हम हंसी खुशी से रहते हुये सज्जनों के प्रेमपात्र बने रहें।

कस्ये मृजाना अतियन्ति रिप्रम्,
आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन,
अधस्याम सुरभयो गृहेषु ॥

अथर्व० १८। ३। १७॥

आत्मा की छाननी में शुद्ध बनकर अशुद्धि और मल को परे हटा कर हम मृत्यु से परे जाते हैं और नये जीवन को धारण करते हुये दीर्घ आयु को धारण करते हैं। पश्चात् हम सब सुसन्तान और ऐश्वर्ययुक्त होकर अभ्युदय को प्राप्त होते हुये अपने घरों में सुगन्धिमय बनकर रहें।

हम सब में चरित्र बल हो और ऋताचार के कारण हमारा जीवन सुगन्धिरूप हो। मनुष्य अपने दोष जाने और उन्हें भले लोगों के संग में रहकर दूर करे, छाननी से छान कर जैसे अनाज साफ करते हैं, वैसे हम शुद्ध परिष्कृत हों और अपने घरों का वातावरण ऐसा आशापूर्ण बनाएं कि कभी विषाद और अवसाद न हो।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

अथर्व० ३। ३०। २॥

पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करने वाला हो, पुत्र माता के साथ अनुकूल मन हो, पत्नी अपने पति के साथ मीठा और शान्तियुक्त वचन बोले।

पुत्र अपने माता पिता की इच्छा के अनुकूल कार्य करे, पत्नी अपने पति से लड़े नहीं, विरोध न करे। पति पत्नी परस्पर प्रेम से एक दूसरे का सम्मान करते हुए रहें और आपस का व्यवहार मधुर और शान्तिमय हो। पुत्र पिता के अनुव्रत हो। जिस व्रत को जिस कार्य को पिता ने आरंभ किया है, पुत्र उसे संपन्न करे। पुत्र माता का कभी मन ना दुखावे, सदा माता का आदर करे और शुभ भावों से ही माता से वर्ताव करे। पति पत्नी का वार्तालाप सुमधुर हो, जिससे घर का वातावरण सन्तान के लिये उत्तम रहे और सब को उन्नति का अवसर मिले और सभी प्रसन्न रहें।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

अथर्व०—३। ३०। ३

भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे अर्थात् भाई बहिन आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार करें और एक दूसरे का सम्मान करें, सब मिलजुल कर एक कार्य करने वाले होकर आपस में कल्याणकारी वचन बोलें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अथर्व० ३। ३०। ४

जिससे दिव्य जन विरोध नहीं करते तथा परस्पर द्वेष भी नहीं करते उस उत्तम ब्रह्म ज्ञान का उपदेश आप के घर के सब पुरुषों (सभी मनुष्यों) के लिए करते हैं, जिस ज्ञान से आपस का विरोध नहीं बढ़ता और जिससे आपस का वैर भाव घटता है और आपस का वैमनस्य दूर होता है वह उत्तम एकता का ज्ञान है, वह सबसे महान् ज्ञान घर में रहने वाले स्त्री पुरुषों में फैलाया जाय।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ। इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥

ऋ०—१०। १८। ६॥

आप लोग जरावस्था को दूर करते हुए दीर्घ आयु प्राप्त करें और पहले समय के वृद्ध अनुभवी जनों की भान्ति संयम से रहते हुए और सन्मार्ग में यत्नवान् होते हुए उत्तम जीवन बनाओ, ब्रह्मचय के जीवन में रहो। इस लोक में सब जगत् का विधाता प्रभु आप सब से प्रेम का व्यवहार करने वाला, आप सब उत्तम कुलों में उत्पन्न साधन सम्पन्न जनों की सुन्दर जीवन के लिए उत्तम दीर्घ आयु करे। आप सब जीवनज्योतियुक्त समर्थ बनो, जीवन का रहस्य-जानकर अपनी आयु की वृद्धि करो। आप सब सुन्दर जीवन के लिए प्रयत्न करो। वृद्ध अवस्था विकसित शक्तियों के अनुभव प्राप्त पितरजनों की स्थिति है। वह वांछनीय है हमें जरावस्था को दूर करना चाहिये और सदा शक्तिसंपन्न, समर्थ रहना चाहिये। यह स्थिति सात्विक आहार विहार और सात्विक कर्मों में संलग्न रहने से सुसाध्य है। प्रत्येक मनुष्य को पूर्णायु प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये और अपने गृहस्थ का पारिवारिक जीवन ऐसा समन्वय और सामजस्य का बनाना चाहिये जिससे कि अपना घर शान्तिधाम हो और उसमें रहते हुए हर प्रकार की आत्मोन्नति हो सके।

ऐश्वर्य की कामना

ऐश्वर्य की कामना वेदविहित है। परम ऐश्वर्य-वान् परमेश्वर का उपासक ऐश्वर्यहीन अकिञ्चन संपद-रहित, साधनहीन कैसे हो सकता है? भगवान के दिव्य गुण अपनाने से ही तो मनुष्य उपासक होता है, उसे भगवान का सामीप्य प्राप्त होता है। ऐसा साधक अवश्य ही ऐश्वर्यसंपन्न, साधनसंपन्न समर्थ होगा। जो ऐश्वर्य की अवहेलना करते हुए अपने आप को विनयशील और नम्र ईश्वरभक्त कहते हैं वे नितांत भूल में हैं। भगवान का उपासक अवश्य ही समृद्ध और ऐश्वर्यवान् होना चाहिये, क्योंकि उसका उपास्य देव परम शक्तिमान् सर्वसमर्थ और परम ऐश्वर्यवान् है। ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए साधन न करना और अकर्मण्य रहकर भाग्य के भरोसे पर रहना अवैदिक है। वैदिक समाज का आधार ऋत और सत्य है। वैदिक समाज पूर्ण नैतिकता पर स्थिर है और उन्नतिशील है। हम ऋताचारी और सदाचारी रहते हुए ऐश्वर्य प्राप्त करें और साधन संपन्न होवें। वेद में अनेक मंत्र इस विषय में स्पष्ट आदेश दे रहे हैं—

एना विश्वानि अर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्।
सिषासन्तो वनामहे ॥

यजु० २६।१८

मनुष्यों के जो भी ऐश्वर्य हैं, उन सबको (अर्य) भगवान् हमें प्राप्त करावें। दान की इच्छा करते हुए हमें उनकी चाहना है।

मर्यादा से ऐश्वर्य का भोग तथा दान, ये दो ही ऐश्वर्य के सद्व्यय के ढंग हैं। जो कृपण व्यक्ति ऐश्वर्यवान् होता हुआ भी न तो ऐश्वर्य का भोग करता है और न ही अपने ऐश्वर्य में से किसी की आवश्य-कता पूरी करता है अथवा श्रेष्ठ सर्वहित के कार्यों में अपने ऐश्वर्य का कुछ भाग नहीं लगाता, उसका ऐश्वर्य उसकी चिन्ता का हेतु बनकर उसीका निरंतर ह्रास और अन्ततःनाश करता है।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

ऋ० १०।१२१।१०॥

हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों के स्वामी हों। हम ऐश्वर्यों के स्वामी हों, ऐश्वर्य हमारे स्वामी न हो जायें। जब धन, ऐश्वर्य मनुष्य पर अपना अधिकार जमा लेता है और मनुष्य धनलोलुप हो जाता है तो ऐसा व्यक्ति स्वार्थ और लोभवश धन का दास हो जाता है। वह धन उपार्जन करना ही अपना ध्येय समझने लगता है।

त्वं हि अंग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेषु अवद्यानि भूरि।
मो षु पणीँरभ्येतावतो भून्मा त्वावोचन्नराधसं
जनासः ॥ अथर्व० ५।११।७॥

हे परमप्रिय सर्वश्रेष्ठ भगवन्! आपका यह आदेश है कि केवल धनके ही लिये धन कमाने वाले लालची लोगों में निन्दा योग्य दोष होते हैं। हमें अनुभव है कि ऐसे कलुषित व्यवहार वाले लोगों में तू भी अपने स्वरूप को प्रकट नहीं करता। लोग तुझे अरा-धस ऐश्वर्यहीन कभी न कहें।

कंजूस लोग कभी भगवान् के गुण नहीं अपनाते, भगवान् परम उदार है, वे कभी भी उदारता से दान

नहीं देते। या तो दान देते ही नहीं और या तिरस्कार करके दान फेंक देते हैं, ऐसे लोगों का धर्माचरण भी दिखावे ही का होता है, ये धर्मध्वजी होते हैं और धर्मके ऊपरी यज्ञयागादिक कर्म का ढोंग ही करते हैं, ऐसे धर्मध्वजो पाखण्डी लोगों से वास्तव में धर्म भी दूर ही रहता है, ऐसे लोग मिथ्याचारी होते हैं। ऐसे दूषित व्यवहार वाले लोग केवल अपने ही पेट की पूर्ति करना जानते हैं अथवा दम्भ और दिखावे के लिये धन देते हैं। लोभी और स्वार्थी लाग भगवान् से भी सदा धन धान्य संपद तथा व्यापार की याचना करते रहते है, कभी भगवान् के लिये अपने आपको समर्पण नहीं करते और ना ही भगवान् के दिव्यगुण कभी अपनाते हैं। ऐसे दम्भी, अभिमानी लोग धनलोलुप होते हैं और सदा चिन्ता में निमग्न रहते हैं, इनका वैभव इनके सुखका हेतु नहीं बनता।

स विश्वा दाशुषे वसु सोमो दिव्यानि पार्थिवा। पवतामान्तरिक्ष्या ॥ ऋ० ९। ३६। ५॥

वह प्रभु उदार चरित दानशील व्यक्ति के लिये आकाश पृथिवी और आन्तरिक्ष तीनों लोकों में उत्पन्न सारे धनों और वसने योग्य स्थानों को स्वच्छ पवित्र और सुखदायी बनाता है।

ज्यों ज्यों मनुष्य उदार होता जाता है, अपनी धर्म से प्राप्त कमाई में से दीनजनों की सहायता करता है और दान किये बिना अपने ऐश्वर्य को नहीं भोगता, त्यों त्यों वह अधिकाधिक धन ऐश्वर्य प्राप्त करता है। जनता जनार्दन की पूजा में निःस्वार्थजन सेवा में धन लगाने से धनकी हानि नहीं अपितु वृद्धि ही होती है। जनसेवा में धन व्यय करने से धन पवित्र होता है और दानशील व्यक्ति सदा समृद्ध रहता है।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥
अथर्व० ७। १७। २॥

सबका धारणकर्ता पालक पोषक प्रभु अपने आपको समर्पण करनेवाले उदारता से दान देने वाले मनुष्य के लिये अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली अक्षय जीवन शक्ति देता है। हम सब सकल ऐश्वर्य सम्पन्न प्रकाश स्वरूप देवकी सुमति को धारण करते हैं।

विश्वनायक भगवान् की सुमति

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम। यजु० २६।७

हम विश्वनायक की सुमति में रहें।

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वोरायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा।
यजु० २२।२१

सभी लोग सर्व नियन्ता, परम सुहृद् परमेश्वर के सख्य को प्राप्त करें। सभी लाग उस परम प्रभु की मित्रता लाभ करें। सभी लोग भगवान् के अनुकूल जीवनचर्या करके उसका सख्य चाहें। सभी जन दिव्य ऐश्वर्य की चाहना करें और सब लोग पुष्टि के लिये अन्न की वृद्धि करें और यशस्वी होवें।

कर्तव्यपालन द्वारा भगवान् की पूजा

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते,
त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे,
त्वं पायुर्दमे यस्ते ऽविधत् ॥
ऋ० २। १। ७

हे अग्निदेव! तू उसे, जो अपने कर्तव्यों से सुन्दरता से संपन्न करता है, ऐश्वर्य देनेवाला है, प्रेरक देव है, हे मनुष्यों के संरक्षक! तू ऐश्वर्यरूप और ऐश्वर्यों का प्रभु है, तू ही घर के अन्दर संरक्षक होता है उसका जो कि अपने कर्तव्यों से तेरी आज्ञा पूरा करता है।

भगवान् की पूजा कर्तव्यपालन द्वारा की जाती है। केवल वाणी द्वारा उसके गुणगान करना उसकी आराधना है। जो मनुष्य उसके अनुकूल कर्म करने वाला अपने आपको भागवत कार्यों के प्रति पूर्णतः निवेदन कर देता है, जो मनुष्य जनार्दनपूजा जो कि निःस्वार्थ जन सेवा है, उस पुनीत कार्य में तन मन धन से अपने आपको पूरी तत्परता से लगा देता है अतएव अपने आपको समर्पण कर देता है, वह परमेश्वर जो कि स्वयं ऐश्वर्यस्थ और सारे ऐश्वर्यों का स्वामी है, उसे ऐश्वर्य संपन्न बना देता है। भगवान् की पूजा और स्तुति वास्तव में भगवान के गुण अपने

से और अपने आपको पूरी लग्न से भगवान् के कर्मों में ही समर्पण कर देने से होती है।

वैदिक जीवनव्यवहार इतना सुन्दर है कि उससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वैदिक जीवनचर्या से परिवार, समाज और राष्ट्र में तेज, ओज, बल, पराक्रम, सामर्थ्य, ऐश्वर्य अवश्य प्राप्त होते हैं। वैदिक आदर्श को अपनाने से मनुष्य में आत्मविश्वास विकसित होता है और उसमें अपनी तथा समाज की उन्नति करने की रुचि दृढ़ होती है और इस प्रकार राष्ट्र उन्नत होता है॥



उन्नयथा:=ऊपर उठें

[ले०—श्री० पं० वेंकटेश्वर जी शास्त्री आचार्य गुरुकुल घटकेश्वर, हैदराबाद]

संसार में कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो ऊंचा उठना नहीं चाहता हो, उन्नत पद प्राप्त करने की अभिलाषा न रखता हो। ऐसा कोई पुरुष नहीं, जो भवबन्धनों में ही लिप्त रहना चाहता हो। आवागमन के चक्र में ही पड़ा रहना चाहता हो। दुःखों की निवृत्ति, सुखप्राप्ति की इच्छा न रखता हो। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी वृत्ति में क्यों न हो, किसी भी स्थिति में क्यों न हो, वह बढ़ना चाहता है, ऊपर उठना चाहता है। चाहे कोई व्यक्ति पापी हो या पुण्यात्मा, इस काम में दोनों एक समान हैं। प्राकृतिक धर्म और मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कभी अपनी स्थिति पर संतुष्ट नहीं होता। आबाल वृद्ध पर्यन्त प्रत्येक में यही भावना रहती है कि मैं अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठूँ। सामान्य श्रेणी से मध्यम श्रेणी में आऊं, मध्यम श्रेणी से उत्तम श्रेणी में, उत्तम श्रेणी से भी आगे बढ़कर उत्तमोत्तम बनूं।

मूर्धाऽहं रयीणाम् मूर्धा समानानां भूयासम्।
अथर्व० १६।३।१

अर्थात् मैं ऐश्वर्यशालियों में अग्रणी बनूं, समान वालों में श्रेष्ठ बनूं। ऊपर उठने के लिये प्रतिदिन हम प्रातः सायं संध्या में यही प्रार्थना करते हैं कि "उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्"। हे परमेश्वर! हम ऊपर उठें, अन्धकार से परे हावें, देवों के देव उत्तम प्रकाशस्वरूप आप सूर्य को प्राप्त करें। गीता में भी कहा है 'उद्धरेदात्मनात्मानं' हम अपने आपको ऊपर उठाने का यत्न करें और भगवान् से भी प्रार्थना करें कि हे सवितर्देव! आप हमारे दुर्गुणों को दूर करो, जो भद्र हैं उन्हें हमें प्राप्त कराओ। जिससे हमें ऊपर उठने का, उत्तम बनने का अवसर मिले। यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि केवल प्रार्थना से काम नहीं चलेगा। तदनुकूल आचरण भी करना चाहिये। तभी हम ऊपर उठ सकते हैं। कहा भी है, 'सुचिंतितमौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम्' अर्थात् अच्छी प्रकार से ओषधि के सम्बन्ध में चिंतन करने मात्र से रोगी नीरोग नहीं होगा। वैसे तो आज कल प्रार्थना भी बहुत कम ही लोग करते हैं। धन्य हैं वे भाग्य शाली जो कम से कम प्रार्थना तो करते हैं।

हमारे ऊपर उठने का एक मूल मंत्र है, वह मूल मंत्र यह है कि मनुष्य सदा 'मनसा वाचा कर्मणा' एक होकर 'यद् मनसा ध्यायेत् तद्वाचा वदेत् यद्वाचा वदेत तत् कर्मणा कुर्यात्'—अर्थात् जो मन से सोचे वही वाणी से बोले वही कर्म करे। परन्तु यह बात कहने, लिखने, पढ़ने में जितनी आसान है, करने में उतनी सरल नहीं किन्तु असंभव या असाध्य भी नहीं। निरन्तर साधना से क्या नहीं हो सकता? साधना सत्त्व गुण पर निर्भर रहती है। बिना सत्त्व गुण के हम साधना नहीं कर सकते और बिना साधना के हम ऊपर नहीं उठ सकते।

नहीं देते। या तो दान देते ही नहीं और या तिरस्कार करके दान फेंक देते हैं, ऐसे लोगों का धर्माचरण भी दिखावे ही का होता है, ये धर्मध्वजी होते हैं और धर्मके ऊपरी यज्ञयागादिक कर्म का ढोंग ही करते हैं, ऐसे धर्मध्वजी पाखण्डी लोगों से वास्तव में धर्म भी दूर ही रहता है, ऐसे लोग मिथ्याचारी होते हैं। ऐसे दूषित व्यवहार वाले लोग केवल अपने ही पेट की पूर्ति करना जानते हैं अथवा दम्भ और दिखावे के लिये धन देते हैं। लोभी और स्वार्थी लोग भगवान् से भी सदा धन धान्य संपद तथा व्यापार की याचना करते रहते है, कभी भगवान् के लिये अपने आपको समर्पण नहीं करते और ना ही भगवान् के दिव्यगुण कभी अपनाते हैं। ऐसे दम्भी, अभिमानी लोग धनलोलुप होते हैं और सदा चिन्ता में निमग्न रहते हैं, इनका वैभव इनके सुखका हेतु नहीं बनता।

स विश्वा दाशुषे वसु सोमो दिव्यानि पार्थिवा। पवतामान्तरिक्ष्या ।। ऋ० ९। ३६। ५॥

वह प्रभु उदार चरित दानशील व्यक्ति के लिये आकाश पृथिवी और आन्तरिक्ष तीनों लोकों में उत्पन्न सारे धनों और वसने योग्य स्थानों को स्वच्छ पवित्र और सुखदायी बनाता है।

ज्यों ज्यों मनुष्य उदार होता जाता है, अपनी धर्म से प्राप्त कमाई में से दीनजनों की सहायता करता है और दान किये बिना अपने ऐश्वर्य को नहीं भोगता, त्यों त्यों वह अधिकाधिक धन ऐश्वर्य प्राप्त करता है। जनता जनार्दन की पूजा में निःस्वार्थजन सेवा में धन लगाने से धनकी हानि नहीं अपितु वृद्धि ही होती है। जनसेवा में धन व्यय करने से धन पवित्र होता है और दानशील व्यक्ति सदा समृद्ध रहता है।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ।।

अथर्व० ७। १७। २॥

सबका धारणकर्ता पालक पोषक प्रभु अपने आपको समर्पण करनेवाले उदारता से दान देने वाले मनुष्य के लिये अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली अक्षय जीवन शक्ति देता है। हम सब सकल ऐश्वर्य सम्पन्न प्रकाश स्वरूप देवकी सुमति को धारण करते हैं।

विश्वनायक भगवान् की सुमति

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम। यजु० २६।७

हम विश्वनायक की सुमति में रहें।

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वोराय‌ऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥

यजु० २२।२१॥

सभी लोग सर्व नियन्ता, परम सुहृद् परमेश्वर के सख्य को प्राप्त करें। सभी लोग उस परम प्रभु की मित्रता लाभ करें। सभी लोग भगवान् के अनुकूल जीवनचर्या करके उसका सख्य चाहें। सभी जन दिव्य ऐश्वर्य की चाहना करें और सब लोग पुष्टि के लिये अन्न की वृद्धि करें और यशस्वी होवें।

कर्तव्यपालन द्वारा भगवान् की पूजा

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते,
त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे,
त्वं पायुर्दमे यस्ते ऽविधत् ॥

ऋ० २। १। ७॥

हे अग्निदेव! तू उसे, जो अपने कर्तव्यों को सुन्दरता से संपन्न करता है, ऐश्वर्य देनेवाला है, तू प्रेरक देव है, हे मनुष्यों के संरक्षक! तू ऐश्वर्यरूप है और ऐश्वर्यों का प्रभु है, तू ही घर के अन्दर संरक्षक होता है उसका जो कि अपने कर्तव्यों से तेरी आज्ञा पूरा करता है।

भगवान् की पूजा कर्तव्यपालन द्वारा की जाती है। केवल वाणी द्वारा उसके गुणगान करना उसकी आराधना है। जो मनुष्य उसके अनुकूल कर्म करने वाला अपने आपको भागवत कार्यों के प्रति पूर्णतया निवेदन कर देता है, जो मनुष्य जनार्दनपूजा जो कि निःस्वार्थ जन सेवा है, उस पुनीत कार्य में तन मन धन से अपने आपको पूरी तत्परता से लगा देता है, अतएव अपने आपको समर्पण कर देता है, वह परमेश्वर जो कि स्वयं ऐश्वर्यस्थ और सारे ऐश्वर्यों का स्वामी है, उसे ऐश्वर्य संपन्न बना देता है। भगवान् की पूजा और स्तुति वास्तव में भगवान् के गुण अपनाने

से और अपने आपको पूरी लग्न से भगवान् के कर्मों में ही समर्पण कर देने से होती है।

वैदिक जीवनव्यवहार इतना सुन्दर है कि उससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वैदिक जीवनचर्या से परिवार, समाज और राष्ट्र में तेज, ओज, बल, पराक्रम, सामर्थ्य, ऐश्वर्य अवश्य प्राप्त होते हैं। वैदिक आदर्श को अपनाने से मनुष्य में आत्मविश्वास विकसित होता है और उसमें अपनी तथा समाज की उन्नति करने की रुचि दृढ़ होती है और इस प्रकार राष्ट्र उन्नत होता है॥



उन्नयथा:=ऊपर उठें

[ले०—श्री० पं० वेंकटेश्वर जी शास्त्री आचार्य गुरुकुल घटकेश्वर, हैदराबाद]

संसार में कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो ऊंचा उठना नहीं चाहता हो, उन्नत पद प्राप्त करने की अभिलाषा न रखता हो। ऐसा कोई पुरुष नहीं, जो भवबन्धनों में ही लिप्त रहना चाहता हो। आवागमन के चक्र में ही पड़ा रहना चाहता हो। दुःखों की निवृत्ति, सुखप्राप्ति की इच्छा न रखता हो। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी वृत्ति में क्यों न हो, किसी भी स्थिति में क्यों न हो, वह बढ़ना चाहता है, ऊपर उठना चाहता है। चाहे कोई व्यक्ति पापी हो या पुण्यात्मा, इस काम में दोनों एक समान हैं। प्राकृतिक धर्म और मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कभी अपनी स्थिति पर संतुष्ट नहीं होता। आबाल वृद्ध पर्यन्त प्रत्येक में यही भावना रहती है कि मैं अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठूँ। सामान्य श्रेणी से मध्यम श्रेणी में आऊं, मध्यम श्रेणी से उत्तम श्रेणी में, उत्तम श्रेणी से भी आगे बढ़कर उत्तमोत्तम बनूं।

मूर्धाऽहं रयीणाम् मूर्धा समानानां भूयासम्।
अथर्व० १६।३।१

अर्थात् मैं ऐश्वर्यशालियों में अग्रणी बनूं, समान वालों में श्रेष्ठ बनूं। ऊपर उठने के लिये प्रतिदिन हम प्रातः सायं संध्या में यही प्रार्थना करते हैं कि "उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्"। हे परमेश्वर! हम ऊपर उठें, अन्धकार से परे होवें, देवों के देव उत्तम प्रकाशस्वरूप आप सूर्य को प्राप्त करें। गीता में भी कहा है 'उद्धरेदात्मनात्मानं' हम अपने आपको ऊपर उठाने का यत्न करें और भगवान् से भी प्रार्थना करें कि हे सवितर्देव! आप हमारे दुर्गुणों को दूर करो, जो भद्र हैं उन्हें हमें प्राप्त कराओ। जिससे हमें ऊपर उठने का, उत्तम बनने का अवसर मिले। यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि केवल प्रार्थना से काम नहीं चलेगा। तदनुकूल आचरण भी करना चाहिये। तभी हम ऊपर उठ सकते हैं। कहा भी है, 'सुचिंतितमौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम्' अर्थात् अच्छी प्रकार से ओषधि के सम्बन्ध में चिंतन करने मात्र से रोगी नीरोग नहीं होगा। वैसे तो आज कल प्रार्थना भी बहुत कम ही लोग करते हैं। धन्य हैं वे भाग्य शाली जो कम से कम प्रार्थना तो करते हैं।

हमारे ऊपर उठने का एक मूल मंत्र है, वह मूल मंत्र यह है कि मनुष्य सदा 'मनसा वाचा कर्मणा' एक होकर 'यद् मनसा ध्यायेत् तद्वाचा वदेत् यद्वाचा वदेत् तत् कर्मणा कुर्यात्'—अर्थात् जो मन से सोचे वही वाणी से बोले वही कर्म करे। परन्तु यह बात कहने, लिखने, पढ़ने में जितनी आसान है, करने में उतनी सरल नहीं किन्तु असंभव या असाध्य भी नहीं। निरन्तर साधना से क्या नहीं हो सकता? साधना सत्त्व गुण पर निर्भर रहती है। बिना सत्त्व गुण के हम साधना नहीं कर सकते और बिना साधना के हम ऊपर नहीं उठ सकते।

अतः जो ऊपर उठना चाहते हैं, जो उत्तम बनना चाहते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे सात्विक बनें तभी वे ऊँचा उठ सकते हैं। उत्तम बन सकते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा भी है "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था" अर्थात् सात्विक जन ऊपर जाते हैं।

यह सात्विक बनना क्या है ? सत्व का अर्थ होता है, उत्तम, श्रेष्ठ, शक्ति, प्राण या गुण। मनुष्य को चाहिये कि वह सदा उत्तमाचरण करे। सद्गुणों का संचय करें। ज्यों २ वह सद्गुणों का धारण करेगा त्यों २ उसका आचरण सरल और पवित्र होता जायगा। और वह शरीर, इन्द्रिय, मन से स्वस्थ होगा। शरीर से तपस्वी बनेगा, मन से मनस्वी, और आत्मा से जितेन्द्रिय बनेगा। यही उसका सत्वस्थ होना या सात्विक बनना है।

मनुष्य जितना २ सत्व गुणों को धारण करता जाता है, उतना उतना उसका जीवन निर्दोष बनता जाता है, निर्मल व निष्पाप होता है। जब वह इन मलों के भार से मुक्त हो जाता है, तभी वह ऊपर जाता है।

गोपाल

[ले०—श्री प्रो० मुंशीराम जी शर्मा, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्०, कानपुर]

गोकुल के गोपाल का जीवन गोपों, गोपियों और गौओं के बीच व्यतीत हुआ। आज न वह गोकुल रहा, न गोप रहे, न गोपियां और न गौएँ। जिन द्वादश वनों में गौएं हरित दूर्वांकुरों को चरतीं, हुम्बारव से दिग्दिगन्त को आल्हादित करतीं और दुग्धधार से गोपों के शरीरो को पुष्ट किया करती थीं, वे वन भी आज दृष्टिगोचर नहीं होरहे हैं।

विशिष्ट देश और काल की वस्तुयें कुछ समय तक अपना रंग रूप स्थिर रखती हैं, परन्तु वे सनातन नहीं होतीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्तित्व ऐसे अवश्य होते हैं, जिनकी छाप समय के ऊपर गहरी पड़ती है। भगवान् श्री कृष्ण जिन्हें गोपाल भी कहते हैं, ऐसाही महाप्राण व्यक्तित्व रखते हैं। पर अपने जन्म के पूर्व वे भी इस व्यक्तित्व से शून्य थे। नीचे हम वेद के आधार पर ऐसे गोपाल और गौओं का वणर्न करते हैं जो थे, हैं और सदैव रहेंगे।

ऋग्वेद मंडल ६ सूक्त २८ में यह मत्रं आता है :

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

इस मंत्र में एक गोपति अर्थात् गोपाल है. जिसकी गौएँ कभी नष्ट नहीं होतीं, चोर जिन गौओं को चुरा नहीं सकता। (गोपाल की गौआं को तो ब्रह्मा चुरा भी ले गये थे और वे अपने गोष्ठों से भी दूर २ भाग जाया करती थीं) शत्रुकृत व्यथा जिनका घर्षण नहीं कर सकतीं (गोपाल कृष्ण को जरासंध के १७ बार के आक्रमणों से मथुरा छोड़नी पड़ी थी और वे द्वारिका में जाकर रहने लगे थे। उनकी गौओं को भी धेनुक, प्रलम्ब, केशी आदि दैत्यों ने व्यथित किया था) जिन गौओं द्वारा देवयजन किया जाता है और अन्त में जो देवों को ही समर्पित कर दी जाती हैं, उन गौओं के साथ गोपाल सदैव संयुक्त रहता है। अध्यात्म में ये गौएं इन्द्रियाँ हैं और गोपाल आत्मा है। आत्मा से इन्द्रियाँ कभी वियुक्त नहीं होतीं। शरीर के गोलक तो जन्म के साथ प्रादुर्भूत और मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं, परन्तु इन्द्रियें जो वस्तुतः इन्द्रः = आत्मा की ही शक्तियाँ हैं, सदैव उसके साथ बनी रहती हैं। मृत्यु के उपरान्त प्राणों के साथ ही ये चली जाती हैं और मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का साथ नहीं छोड़तीं। शक्ति अपने शक्तिमान् से पृथक् हो ही नहीं सकती।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं बाह्य और आभ्यन्तर। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य हैं, क्योंकि इनका मुख बाहर को खुला है। ये बाहर भरे हुए ज्ञानामृत में डुबकी मार कर उसका कुछ न कुछ अंश आत्मा के पास सदैव लाया करती हैं। आभ्यन्तर इन्द्रियाँ अन्तःकरण कहलाती हैं और चार हैं, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इनका अन्तर जगत् के साथ सम्बन्ध है।

बाहर का ज्ञान मन में जाकर पचता और अपनी विभिन्न रूपता छोड़कर एकाकार बनता है। यह एकता बुद्धि में जाकर सगुण सत्तामात्र रह जाती है। चित्त में नानाजन्मों के वासनापुंज एकत्र हैं। अहंकार इन सब का संचालक है।

इन्द्रियों के उभय प्रकार जगत् सम्बन्ध से अपने विशुद्ध शक्ति रूप का परित्याग कर बैठते हैं। अतः अभ्यास द्वारा साधक इसका परिष्कार किया करते हैं। यह परिष्कार दोनों प्रकार की इन्द्रियों में तीन रूप धारण करता है। अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र में इनका वर्णन इस प्रकार है।

प्रजापतेः आवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्। अथर्व० १७। १। २७॥

बाह्य इन्द्रियों का परिष्कार शुक्र के संयम से होता है और वर्चस्व में उसकी अभिव्यक्ति होती है। जो साधक कृतवीर्य है, भोजन के सात धातुओं में पकने के उपरान्त जो शुक्र की स्थिति आती है, वह स्थिति जिसके अधिकार में है, उसकी इन्द्रियाँ प्राणमयी, शक्तिमयी तथा यशोमयी बनती हैं, उसकी वाणी में ओज, दर्शन में प्रखरता तथा श्रवण में आशुग्राहिता व्याप्त हो जाती है। वह कर्मकौशल का धनी बन जाता है। उसके अवयव पुष्ट एवं सक्षम होते हैं। वह अपने कार्य के साथ दूसरों को भी सहायता प्रदान करता है। यह वर्चस्व प्राणशक्ति के साथ उसके समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जो कृतवीर्य नहीं है, जिसने अपने शुक्र की सावधानी से सुरक्षा नहीं की है, उसके मुखमंडल पर यह वर्चस्व दिखाई नहीं देता।

वर्चस्वी अंगों के अन्दर मन कश्यप की ज्योति से परिपूर्ण होना चाहिये। यह आन्तरिक साधना है। कश्यप अपने मूलरूप में पश्यक है, जिसतक पहुँचने के लिये मनन-रूपी सोपान पर चढ़ना होता है। मनन और चिन्तन का स्थान श्रवण से ऊपर है। मनन ही मन को ज्योतिष्मान् बनाता है और यह ज्योति ही उसे पश्यक अर्थात् द्रष्टा का पद प्रदान करती है। बाह्य इन्द्रियाँ भी ज्योति की साधिका हैं, परन्तु मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जब इसे पश्यक की ज्योति प्राप्त हो जाती है, तब समस्त मनन और चिन्तन देवीरूप धारण कर लेते हैं। कश्यप ज्योति के ऊपर प्रजापति का ब्रह्म है, ज्ञान है, ज्ञान स्वयं ज्योति है। यह महत्तम शक्ति है। यह अभेद्य कवच है जिससे आवृत होकर साधक अदब्ध, अवेध्य तथा अपराजित हो जाता है। जिस साधक ने वर्चस्, ज्योति और ज्ञान के कवचों से अपने को ढक लिया वह सहस्र वर्षों जैसे दीर्घकाल तक जीवन व्यतीत करता हुआ सुकृत का धनी बन जाता है। वह वस्तुतः गोपाल होता है, अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है। उसकी इन्द्रियरूपी गौएं हँसती हुई मोदमान, तेजस्विनी तथा शक्तिशालिनी होती हैं।

वर्चस्व और प्राणवत्ता परस्पर संबद्ध हैं। प्राणों का आह्वान करते हुये वैदिक ऋषि कहते हैं।

आरुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन। इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे। ऋ० ५। ५७। १॥

प्राण! आओ, तुम रुद्र हो, रोगों को दूर करनेवाले हो, निर्बलता को रुलानेवाले हो। तुम इन्द्रवन्त हो, आत्मा तुम्हारे साथ रहती है, जहां तुम हो, वहीं आत्मा है, जहां तुम नहीं हो, वहां आत्मा भी निवास नहीं करती। तुम्हारे प्रयाण के साथ आत्मा भी प्रयाण कर जाती है, तुम्हें छोड़ कर आत्मा रह नहीं सकती। तुम अनुपम स्नेही और सेवा करनेवाले हो। तुम्हारी गति निश्चित रूप से रमणीय है अथवा वह रमणीयता के साथ हितसाधन करने वाली भी है। मेरा सुवित, उत्तम रक्षण, तुम्हारे ऊपर ही अवलम्बित है। अतः प्राण! आओ, मेरी मति आज तुम्हारी वैसी ही कामना कर रही है, जैसी प्यासे चातक के अन्दर दैवी जलधाराओं की कामना होती है।

जब आत्मशक्ति से समवेत प्राण शरीर में संचार करते हैं, तो प्राणी अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करता है। उसकी उमंग, उसका उत्साह, उसकी स्फूर्ति उसकी कार्य-तत्परता, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा देखते ही बनती है। एक अद्भुत तेज उसके मुखमण्डल को प्रदीप्त करता रहता है, मस्तक पर श्री और अंग अंग में मण्ड की आभा विराजमान हो जाती है, वह सक्रियता का मूर्तिमान् रूप धारण करलेता है।

इस प्राण को ज्योतिर्मय मन सहायता पहुँचाता है। प्राण बलवान् भी हो, पर यदि उसे मन की ज्योति का सहारा न मिले, तो वह नितान्त पङ्गु है। मन की ज्योति ही उसे गतिशील बनाती है। धनुर्धर अर्जुन की समस्त प्राणवत्ता मन की कातरता के साथ निर्मूल हो चली थी, द्रोणाचार्य जैसे महारथी मन के पुत्रशोक से आक्रान्त होते

ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो रथ में लेट गये थे। दूसरी ओर मन की ज्योति के जाग्रत होते ही चंदवरदायी पृथ्वीराज को पराधीन अवस्था में भी स्वाधीन कर सका, छत्रपति शिवाजी औरंगज़ेब के चंगुल से और सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेजों के दूतजाल से बाल-बाल बचकर निकल गये।

मन की दिव्यता, ज्योतिर्मयता के संबंध में यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के वे ६ मन्त्र पढ़ने और विचारने योग्य हैं जिनका अन्तिम चरण : 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' : से समाप्त होता है। यहां हम अथर्ववेद का एक मन्त्र उद्धृत करते हैं जो दैवी मन की प्रशंसा में लिखा गया है।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तद् इन्द्रस्य अहन्यागते ॥ अथर्व० ७। ५२। २॥

हम दैवी मन से कभी पृथक् न हों, मनकी दिव्यता ही सम्यक् ज्ञान और विमर्ष की ओर ले जाती है, यह ज्ञान और विमर्ष ही हमें ऐसा सामर्थ्य प्रदान करते हैं, जिससे हम कष्टों का पहाड़ टूटने पर भी नहीं घबराते और अत्यधिक प्रसन्नता के अवसरों पर फूल के कुप्पा नहीं हो जाते, अपने आपेसे बाहर नहीं हो जाते, अपनी सीमा में बने रहते हैं, यह संतुलन की अवस्था दैवी मन द्वारा ही सम्पादित और सिद्ध होती है, अंधकार और प्रकाश, दुख और सुख, जन्म और मरण में अविचलित अथवा वेद के शब्दों में अया बने रहना दैवी मनकी ही करामात है, मनकी ज्योति का ही चमत्कार है।

मनकी ज्योति का स्रोत दैवी बुद्धि का आदेश है। यदि बुद्धि आसुरी है, स्वार्थलिप्त है, तो वह कल्याणपथ का निर्देश कर ही नहीं सकती, यदि प्रकाश का ही तम आवृत करले, तो कहां का दर्शन और कहां की नीति? अन्धता ही अन्धता चतुर्दिक् फैलेगी, उसीका शासन चलेगा। सत्य, अहिंसा, तप, दान, यज्ञ, आदि सभी दैवी भाव अपना सा मुँह लिये खड़े खड़े रुदन करेंगे, फिर मानव को श्रेय का नहीं, घोर निर्ऋति, कृच्छ्रापत्ति का सामना करना पड़ेगा जिसमें सत्, शुभ और भद्र धाय-धाय करके जलने लगते हैं, अतः साधक दैवी बुद्धि का ही पल्ला पकड़ता है, आसुरी बुद्धि का तिरस्कार करता हुआ वह यज्ञिय बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करता है, उसे अपना भद्र इसी में निहित दिखाई देता है।

दैवी बुद्धि को अंगीकार करने के लिये ऋषि देवों का आह्वान करते हुये कहते हैं—

आवो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह। सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ऋ० १०। १०१। ९॥

देवो! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है, पवित्र है, उससे सदैव यज्ञ कर्मों का ही विस्तार होता है, ऐसी आपकी पवित्र, पूज्य बुद्धि को आज मैं भी अपने अन्दर स्थापित करना चाहता हूँ, इसीसे मेरी रक्षा होगी। यही मेरे लिये सहस्र धाराओं में दुग्ध देनेवाली महीयसी गौ का कार्य करेगी। बड़ी गौ का सहस्रधारोष्ण दुग्ध जैसे पुष्टिकारी है, वैसी ही पुष्टिकारिणी आपकी बुद्धि होगी। देव अपनी यही बुद्धि मुझे दे दो।

बड़ी श्यामा गौ सरल, चिक्कण, सतोगुणी जौ का सेवन करती है। देवों की बुद्धि सदैव सतोगुण प्रधान याज्ञिक अनुष्ठानों का अनुसरण, सेवन और उनमें रमण करती है। यजनशीलता मानों दैवी बुद्धि का ही अपर नाम है। क[illegible] शब्द का उच्चारण करते ही देवभाव आकर उपस्थित हो जाता है। आर्जवप्रधान देवों की धी, सरल, प्रकाशमय, सत[illegible] सम्पन्न देवों की सुमति हमें क्या नहीं दे सकती? उनकी सुमति और प्रेरणा में रहते हुए हम उनके सखाभाव [illegible] ही प्राप्त कर लेते हैं। देवों का सखा! आह! यह कै[illegible] स्पृहणीय, उदात्त उपलब्धि है।

यह जीवन देवताओं का ही दिया हुआ है। अ[illegible] उन्हीं की सेवा में इसे समर्पित भी होना चाहिये। आँ[illegible] दिव्यता की ओर चलें, कान भद्र का श्रवण करें, मन दे[illegible] के प्रकाश का वरण करे और बुद्धि देव-यजन में प्रवृत्त [illegible] तो मानों हमने अपनी गौरूप इन्द्रियों को सर्वाकर्षक[illegible] देवों की चरण-सेवा में लगा दिया। गोपियाँ और गौ[illegible] कृष्ण भगवान् की ओर आकर्षित होती थीं, हमारी इन्द्रि[illegible] का आकर्षण दिव्यता की ओर हो, केन्द्रस्थ देवाधि[illegible] कृष्ण की ओर हो, यही अभिवांछित है।

बाह्य इन्द्रियों के दो भाग हैं। ज्ञानेन्द्रिय तथा क[illegible] न्द्रिय। अन्तःकरण चतुष्टय में बुद्धि विशुद्ध ज्ञान की साधक[illegible] और चित्त जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों का उपचय, ज्ञानोपलब्धि में सहायता देता है। मन कर्मों का प्र[illegible] और अहंकार सबका संचालक है। इस प्रकार अन्तःक[illegible]

[शेष पृष्ठ २ पर]

वेद का अर्थ

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, नई देहली]

वेदवाणी के गतवर्ष (नवम्बर १९५६) के वेदाङ्क में उदात्त आदि स्वरों की वेदार्थ में उपयोगिता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाल चुके। वेद का अर्थ प्रतिपाद्य विषय क्या है? इस विषय में हम यहां अति संक्षेप से निर्देश करते हैं[१]

वेद की महत्ता—भारतीय प्राचीन वाङ्मय में वेद का स्थान सर्वोपरि है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद समस्त विद्याओं के आकर ग्रन्थ हैं[२]। सम्प्रति संस्कृत वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके प्रवक्ता ऋषि मुनि और आचार्य सबका एक स्वर से कथन है कि उनके ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विद्याओं का आदि स्रोत वेद है[३]। इस कारण वेदार्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

वेदार्थ के विभाग—प्राचीन आचार्यों ने वेद के उक्त महान् क्षेत्र को स्थूलतया दो विभागों में बांटा है। एक है आधिदैविक और दूसरा अध्यात्म।

प्रथम क्षेत्र—आधिदैविक क्षेत्र स्थूलतया द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के भेद से त्रिधा विभक्त है। तदनन्तर प्रत्येक लोक में विविध भौतिक तत्त्व=देव विद्यमान हैं, जिनका वेद में वर्णन है।

द्वितीय क्षेत्र—आधिदैविक जगत् के तीनों लोक अध्यात्म (शरीर) में भी निहित हैं। इस तत्त्व का निर्देश भगवती श्रुति इस प्रकार करती है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥
य० ७। ५॥

अर्थात्—भीतर तुम्हारे द्युलोक और पृथिवीलोक को स्थापित करता हूँ, भीतर स्थापित करता हूँ विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को साथ देवों के अवरों और परों के[४], [इस] अन्तर्याम [द्युलोकरूपी[५] ग्रहपात्र] में हे मघवन् (इन्द्र=जीव) हर्षित हो।

यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे—वेद द्वारा प्रतिपादित तथ्य का निर्देश प्राचीन तत्त्वदर्शी मनीषियों ने यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे सूत्र द्वारा किया है। इस पिण्ड में शिरोभाग द्युलोक, नाभि पर्यन्त मध्य भाग अन्तरिक्षलोक और उससे नीचे का भाग पृथिवीलोक स्थानीय है।

वेद में प्रधानतया इन्हीं आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न विभागों में निहित देवताओं का वैज्ञानिक वर्णन है।

वैदिक देवताओं का विभाग—वेद में जिन तत्त्वों का प्रतिपादन है उन्हें वैदिक परिभाषा में देव अथवा देवता कहते हैं[६]। उनमें ग्यारह प्रधान देवता हैं। इन्हें रुद्र भी कहा जाता है। इनके व्याकुलित होने अथवा अपने अपने क्षेत्र से निकल जाने पर न केवल वही क्षेत्र अपितु समष्टिरूप से सम्पूर्ण आधिदैविक और आध्यात्मिक

---

१ इस विषय के लिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध भी देखना चाहिए।

२ सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु २। ७॥ मेधातिथि की व्याख्या। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है—स्वामी दयानन्द सरस्वती।

३ 'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित्प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्'। महाभारत अनु० १२२।४॥ तथा देखिये, हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध, पृ० ४|५।

४. ये 'पर' और 'अवर' देव शरीर में ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां हैं। इन्हीं पर और अवर देवों को ऋ० १। १। २ में पूर्व और नूतन ऋषि कहा है। वैदिक वाङ्मय में ऋषि शब्द इन्द्रियों के लिए बहुधा प्रयुक्त है। यथा अथर्व १०। ८। ९॥ बृ० उ० २। २। ३॥

५ असौ [द्यौः] एवान्तर्यामः। शत० ४। १। २। २७॥ यज्ञ में अन्तर्याम एक सोमपात्र की संज्ञा है।

६ या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वा २। ५॥ यो देवः सा देवता। निरुक्त ७। १४॥

जगत् डावांडोल हो उठता है। कभी कभी उसकी स्थिति भी संशयापन्न हो जाती है। अतएव इन ग्यारह प्रधान देवों को वैदिक परिभाषा में रुद्र कहते हैं[1]।

देवों का त्रिवृत्त्व—वेद में जिन देवों का वर्णन है, वे आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के पूर्वोक्त तीनों क्षेत्रों में त्रिधा रूप से विद्यमान हैं। इसलिये देवों को त्रिवृत्[2] कहा जाता है। ऋग्वेद १।१३९ के ग्यारहवें मन्त्र में ग्यारह प्रधान देवों का त्रिवृत्त्व (तीनों लोकों में रहना) स्पष्ट दर्शाया है। यथा—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥

अर्थात्—जो देव द्युलोक में ग्यारह हैं, पृथिवी लोक में ग्यारह हैं, और अन्तरिक्ष लोक में निवास करने वाले अपनी महिमा से ग्यारह हैं, वे देव इस यज्ञ का सेवन करें।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में कतिपय देवों का त्रिवृत्त्व (तीन लोकों में निवास) स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है। यथा—

वायु का त्रिवृत्त्व—शतपथ ८।४।१।९ में लिखा है—

वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्, स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते।

अर्थात्—वायु ही शीघ्रगामी त्रिवृत् है, वह इन तीनों लोकों में वर्तता है।

अग्नि का त्रिवृत्त्व—तै० ब्रा० १।५।१०।४ में कहा है—

अग्निर्वै त्रिवृत्।

अर्थात्—अग्नि निश्चय से त्रिवृत् है।

ऋग्वेद १०।८८।१० में अग्नि का त्रिवृत्त्व अत्यन्त स्पष्ट रूप से दर्शाया है। मन्त्र है—

तमू अकृण्वंस्त्रेधा भुवेकम्।

यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। निरुक्त ७।२८॥

अर्थात्—उस [अग्नि] को किया, तीन प्रकार में होने के लिए। पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में, यह शाकपूणि का मत है।

बृहद्देवता १।६५ में शौनक कहता है—

अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।

अर्थात् अग्नि बन कर ठहरा तीन प्रकार से।

अब हम देवों के त्रिवृत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए कुछ उदाहरण देते हैं। यथा—

१. वैश्वानर अग्नि—वैश्वानर उस अग्नि का नाम है, जिसमें ताप (उष्णता) तो हो, परन्तु ज्वाला न हो।[4] यह वैश्वानर संज्ञक अग्नि द्युलोक में सूर्यरूप से विद्यमान है,[5] अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से[6] और पृथिवी में भूमि गर्भस्थ ताप के रूप में।[7] यही वैश्वानर अग्नि अध्या

---

१. यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः। शतपथ ११।६।३।७॥

२. त्रिवृत् यस्त्रिधा वर्तते। स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्य १५।१०॥

३. इन तीनों लोकों के ग्यारह ग्यारह देवों की पृथक् पृथक् गणना करने पर ३३ संख्या होती है। ये ही मूल वैदिक ३३ देव हैं। शतपथ १४। ६।९।३-६, ऐ० ब्रा० २। १८, कौ० ब्रा० १२।६, गो० प्र० २।१३ में कहे १२ आदित्य ११ रुद्र और ८ वसु ये तैंतीस देव वेदानुसारी नहीं हैं। तीनों स्थानों में रहने वाले ग्यारह देव कौन से हैं, यह हमें अभी ज्ञात नहीं हुआ।

४. अथ ह वा अग्निर्वैश्वानर इत्थमेवास, यथेमेऽङ्गाराः। जै० ब्रा० ३।१६५॥

५. एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। मै० सं० १। ६।६॥ असौ (वैश्वानरः) आदित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। निरुक्त ७।२३॥ स्तुता वैश्वानरो दिवि। बृहद्देवता १।६७॥

६. तत्को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः। निरुक्त ७।२२॥

७. वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम् अथर्व०।१२।१।८॥

में द्युलोकस्थानीय शिरोभाग (मस्तिष्क)[१] में जीव रूप से,[२] अन्तरिक्ष लोक रूप मध्यभाग में जाठराग्नि के रूप से[३] और पृथिवी लोकरूप अधोभाग में वीर्य रूप से निहित है।

इन्हीं आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों अग्नियों का प्रतिनिधित्व यज्ञ में आहवनीय, दक्षिण और गार्हपत्य नामक अग्नियां करती हैं। आचार्य शौनक ने स्पष्ट लिखा है—

त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्तबर्हिषः।
बृहद्देवता १।६५॥

२. जातवेदस् अग्नि—जातवेदस उस अग्नि का नाम है जो उत्पन्न होते ही सबको जाने, देखे, अथवा प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान हो।[४] जातवेदस् अग्नि का त्रिवृत्त्व निरुक्त ७।२१ में स्पष्ट दर्शाया है।[५] वहां त्रिस्थानीय जातवेदस् अग्नि के लिए मन्त्र भी उद्धृत किये हैं। यही जातवेदस अग्नि शरीर के शिरोभाग में जीव रूप से विद्यमान है। इसके शरीर में प्रकट होते ही अन्य देव=इन्द्रियाँ ज्ञान से युक्त होती हैं[६]। इसी प्रकार मध्य भाग में जाठराग्नि के रूप से और अधोभाग में वीर्यरूप से स्थित है। अथर्ववेद ४।३४।२ में कहा है—

नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः।

अर्थात्—उनकी उपस्थेन्द्रिय को नहीं जलाता जातवेदस्।

३. इन्द्र—विभिन्न रूपों में विद्यमान पूर्वनिर्दिष्ट अग्नि ही परमैश्वर्य युक्त महान् गुण से युक्त होने के कारण इन्द्र भी कहाता है[७]। यतः इन्द्र भी तीनों लोकों में विद्यमान है, अतः वेद में उसे त्रित भी कहा है[८]। त्रितपद का व्याख्यान करते हुए यास्क ने स्पष्ट लिखा है—**त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः**[९] (निरुक्त ९।२५)।

४. सप्त-सिन्धु = सात नदियाँ—वेद में नदियों की उत्पत्ति इन्द्र से कही है[१०]। यतः आधिदैविक जगत् में इन्द्र सूर्य विद्युत् और अग्नि के रूप में तीनों लोकों में विद्यमान होनी चाहिए। नदियों की संख्या अनन्त है, परन्तु इनके सात प्रधान भेद हैं। ये इन्द्र से उत्पन्न नदियाँ द्युलोक में सूर्य से प्रसूत होने वाली सप्तविध रश्मियाँ हैं, अन्तरिक्ष लोक में विद्युत् के तारतम्य से विभक्त सप्तविध मेघ हैं।[११] और पृथिवीलोक में अग्नि और सोम के न्यूनाधिक्य से युक्त सात प्रकार की पार्थिव नदियाँ हैं। ऋग्वेद दशम मण्डल के प्रसिद्ध नदी सूक्त (७५) के प्रथम मन्त्र में सूक्तप्रतिपाद्य नदियों के त्रिस्थानत्व का प्रतिपादन स्पष्ट रूप में किया है। वह मन्त्रांश इस प्रकार है—

---

१. शरीर में जीवात्मा का निवास मस्तिष्कान्तर्गत ब्रह्म गुहा नामक स्थान में है। देखिए, 'वेद प्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवास स्थान' नामक हमारा लेख। वेदवाणी (काशी) कार्तिक सं० २०१०, वर्ष ६ अंक १, तथा परिवर्धित—सरस्वती (लखनऊ) मई १९५६ में।

२. मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते। महाभारत शान्ति० १८७।३१॥ शिर एव वैश्वानरः। शत० ६।६।१।९॥

३. अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। शत० १४।८।१०।१॥ अहं वैश्वानरो भूत्वा .....पचाम्यन्नं चतुर्विधम्। गीता १५।१४॥

४. जातानि वेद, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो जातप्रज्ञानः।

५. स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते।

६. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत। ऋ० २।१२।१।

७. द्रष्टव्य—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्......। ऋ० १।१६४।४६।

८. इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद् बलस्य परिधींरिव त्रितः। ऋ० १।५२।५।

९. यह त्रित इन्द्र=जीव अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्न चमस=कूप बृहदारण्यक २।२।३॥ अथर्व १०।८।९ में पठित है, जब वह मेधा से सांसारिक विषयों से तर जाता है=पार हो जाता है, तब उसे ब्रह्म=अपना अथवा परब्रह्म का ज्ञान होता है। त्रित कूपे पतितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ......त्रितस्तीर्णतमो मेधया (निरुक्त ४।६)।

१०. इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुः ऋ० ३।३३।६।

११. वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते.....पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति। तै० आ० १।९।४, ५॥ इन्हें सप्तरश्मि भी कहते हैं। द्रष्टव्य ऋग्वेद २।१२।१२ सायणभाष्य। वराह और वराहु मेघ के विशेष विवरण के लिए देखिए 'वेदवाणी' वेदाङ्क कार्तिक २०१३ में श्री पं० भगवद्दत्त जी का 'वैदिक वराह का वैज्ञानिक स्वरूप' लेख।

प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः ।

अर्थात्—सात सात नदियाँ [स्थान भेद से] तीन प्रकार से गति करती हैं।

इस मन्त्र में प्रतिपादित तीनों लोकों में विद्यमान सप्तविध नदियों के नाम इसी नदी सूक्त में लिखे हैं। वे हैं—सिन्धु, गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, मरुद्वृधा और आर्जीकीया[1]। सिन्धु शब्द वेद में नदी सामान्य का भी वाचक है। अतः वेद में इन सप्तविध नदियों को अन्यत्र सप्तसिन्धु भी कहा है[2]।

पाश्चात्य विद्वानों की भूल—पाश्चात्य तथा उनका अनुकरण करने वाले एतद्देशीय विद्वानों ने ऋग्वेद के इस सूक्त में पठित गङ्गादि शब्दों से भारतीय नदी-विशेषों की कल्पना कर सप्तसिन्धु प्रदेश की मिथ्या प्रकल्पना की है। हम इस सूक्त के प्रथम मन्त्र को उद्धृत करके स्पष्ट दर्शा चुके हैं कि इस सूक्त में पठित सात नदियाँ द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में भी हैं। अतः ऋग्वेद के इस नदी सूक्त में उल्लिखित गङ्गादि नदियों को भारतवर्षीय नदियाँ मानना नितान्त मिथ्या है[3]। समझ में नहीं आता 'प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः' पदों के स्पष्ट विद्यमान होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसी अनर्गल कल्पना कैसे की।

प्रतिस्थानीय देवता का त्रिवृत्त्व—सब देवता आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के प्रत्येक विभाग में विद्यमान होने से त्रिवृत् हैं, यह हम पूर्व दर्शा चुके। उसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक स्थान में विद्यमान देवता के भी तीन-तीन स्वरूप हैं। इसलिये प्रत्येक क्षेत्र का देव भी त्रिवृत् है। यथा—

पार्थिव अग्नि का त्रिवृत्त्व—कौषीतकि ब्राह्मण २८।५ में कहा है—**त्रिवृद्वाऽग्निः, अङ्गारा अर्चिर्धूम इति।**

अर्थात्—अग्नि के तीन रूप हैं—अंगारा, ज्वाला और धुवां।

अन्तरिक्षस्थ अग्नि (विद्युत्) का त्रिवृत्त्व—शतपथ ब्राह्मण ११।२।७।२१,२२ में विद्युत् के कर्मभेद से अशनि, ह्रादुनि और उल्कुषी तीन रूप दर्शाये हैं। शीघ्र व्याप्ति से अशनि, शब्द के कारण ह्रादुनि, और दाह धर्म के कारण उल्कुषी कहा जाता है। ऋ० १।१६४।२९ में अन्तरिक्षस्थ अग्नि के शब्द, भय और प्रकाश ये तीन कार्य कहे हैं।

द्युलोकस्थ अग्नि का त्रिवृत्त्व—द्युलोकस्थ अग्नि=सूर्य के भी तीन रूप हैं—प्रकाशक मण्डल, कृष्णमण्डल और किरणें। सूर्य के चारों ओर का मण्डल प्रकाशरूप है, उसके मध्य का भाग काला है। जैमिनि ब्राह्मण में लिखा है—

असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत् सर इति।

अर्थात्—वही संवत्सर है जो यह तप रहा है। उसका जो भाग चमकता है, वह संवत् है और जो मध्य में कृष्ण मण्डल है, वह सर[4] है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का वृथा अभिमान

आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक और उनके अनुयायी समझते हैं कि विज्ञान में हमने जितनी उन्नति की है और कर रहे हैं, वह अभूतपूर्व है। परन्तु सत्य इतिहास से अनुमोदित वास्तविक तथ्य यह है कि प्राचीन ऋषियों, देवों और असुरों की विज्ञान में जहां तक पहुँच थी, उसका शतांश भी अभी आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक नहीं जान सके। सूर्यमण्डल के चारों ओर का घेरा प्रकाशक है और मध्य भाग कृष्ण है तथा ये काले धब्बे सरकते रहते हैं, एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते। यह तथ्य पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अभी अभी ज्ञात हुआ है। परन्तु भारत के महान् ऋषि जैमिनि ने आज से ५००० वर्ष पूर्व इन तीनों तथ्यों को स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। काले धब्बे गतिशील हैं इस तथ्य को घोषित करने के लिये काले धब्बों के लिये सरः शब्द का प्रयोग किया है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थ ऐसे

१. इन सात प्रकार की नदियों की व्याख्या हम अन्यत्र करेंगे।

२. अवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून्। ऋ० २।१२।१२ इत्यादि। अध्यात्म में २ चक्षु २ श्रवण १ घ्राण १ रसना और १ त्वक् ये सप्तसिन्धु हैं। इन्हें ही अथर्व १०।८।९। बृ० उ० २।२।३ में सप्त ऋषि कहा है। इन्हें सप्त प्राण भी कहते हैं। विस्तार भय से हमने अध्यात्म पक्ष का यहां उल्लेख नहीं किया।

३. इन्हीं नामों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में सप्तसिन्धु प्रदेश के वर्णन की जो कल्पना की है, वह भी नितान्त प्रलाप मात्र है।

४. सूर्य के काले धब्बे गतिशील हैं, एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते। अतः इन्हें सर (सृ गतौ) कहा है।

वैज्ञानिक संकेतों से भरे पड़े हैं। आवश्यकता है उनके अनुसन्धान की[1]।

वेदार्थ का तृतीय क्षेत्र—हम पूर्व लिख चुके हैं कि वेदार्थ के वास्तविक क्षेत्र आधिदैविक और अध्यात्म हैं। परन्तु इनके साथ वेदार्थ का एक गौण क्षेत्र यज्ञ भी है। मनुष्यों की बुद्धि का ह्रास देखकर ऋषियों ने त्रेता-युग के आरम्भ में आधिदैविक और अध्यात्म के अतीन्द्रिय परम सूक्ष्म रहस्य को समझाने के लिये दर्शपौर्णमास आदि विविध श्रौत यज्ञों की[2] प्रकल्पना की[3]। इसलिये आधिदैविक तथा अध्यात्म जगत् के वर्णन करनेवाले मन्त्रों का **एक** स्थूल अर्थ यज्ञपरक भी होता है।

उत्तर काल में वेद के वास्तविक आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ लुप्त हो गये और गौण याज्ञिक अर्थ ही प्रधान बन गया[4]। इस कारण विविध विज्ञान के आकर ग्रन्थ वेद केवल कर्मकाण्ड के ग्रन्थ माने जाने लगे।

याज्ञिक अर्थ के गौणत्व में यास्क का प्रमाण—

यतः यज्ञों की प्रक्रिया का आरम्भ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की रचना के ज्ञान के लिए हुआ, अतः वेद का याज्ञिक अर्थ परार्थ होने से गौण है, और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान हैं। इन दोनों में भी आधिदैविक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ मुख्य है। वेद के इन त्रिविध अर्थों का तारतम्य अथवा गौण-प्रधान-भाव यास्क ने इस प्रकार दर्शाया है—

याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।
निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—यज्ञसंबन्धी ज्ञान पुष्पस्थानीय है और दैवत (आधिदैविक) ज्ञान फलस्थानीय। इसी प्रकार दैवत ज्ञान पुष्पस्थानीय है और अध्यात्म ज्ञान फलस्थानीय। पुष्पोद्गम फल के लिए होता है, अतः वह फल की अपेक्षा गौण है। इसी प्रकार यज्ञ प्रक्रिया का ज्ञान दैवत ज्ञान के लिए है, अतः वह आधिदैविक ज्ञान की अपेक्षा गौण है, उसकी अपेक्षा दैवत ज्ञान मुख्य है। किन्तु जब दैवत (आधिदैविक) ज्ञान हो जाता है, तब उससे अध्यात्म = शरीर के ज्ञान में सहायता मिलती है। अतः आधिदैविक ज्ञान अध्यात्म ज्ञान की अपेक्षा गौण होता है, और अध्यात्म ज्ञान प्रधान होता है—अर्थात् अध्यात्म ज्ञान सर्वोपरि है।[5]

वेद का मुख्यतर प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म है। इसका स्पष्टीकरण कठश्रुति में इस प्रकार किया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। २। १५॥

अर्थात्—संपूर्ण वेद जिस पद (प्राप्तव्य तत्त्व) का बार बार निर्देश करते हैं।

इसी की प्रतिध्वनि गीता (१५।१५) के **'वेदैश्च सर्वै-रहमेव वेद्यः'** वचन में सुनाई पड़ती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक और आध्यत्मिक तत्त्व हैं। याज्ञिक अर्थ तो मन्त्रों के साथ ऊपर से जोड़ा गया, जैसे तुलसीदास ने रामायण की रचना रामचरित ज्ञान के लिए की। रामायण लिखते समय तुलसीदास के मन में यह भाव नहीं था कि रंगमंच पर रामलीला खेलने वाले पात्र मेरी चौपाइयों का पाठ करें। परन्तु काशी आदि स्थानों में रामलीला करते समय तत्तत् पात्र रामायण की कतिपय चौपाइयाँ पढ़ते हैं। यह चौपाई और रामलीला के पात्रों का विनियोग = संबन्ध जैसा कल्पनिक है उसी प्रकार यज्ञकर्म में मन्त्रों का तत्तत् क्रिया में विनियोग और उसके आधार पर किया गया अर्थ भी काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। वेद का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिए नहीं हुआ। भारतीय इतिहासानुसार यज्ञों की कल्पना त्रेतायुग में हुई, वेद उससे भी सहस्रों वर्ष पूर्व विद्यमान थे॥[6]

---

१. इस विषय का श्री पं० भगवद्दत्तजी का सर्व प्रथम ग्रन्थ 'वेद और विज्ञान' शीघ्र मुद्रित होगा।

२. यतः श्रुति में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का ही वर्णन है, अतः उनके आधार पर जिन यज्ञों की कल्पना की गई वे श्रौत यज्ञ कहाए। ये ही यज्ञ प्रधान हैं। गृह्यसूत्रों और धर्म सूत्रों में उल्लिखित यज्ञ और सस्कार स्मार्त कहाते हैं, क्योंकि श्रुति में उनका साक्षात् उल्लेख नहीं है।

३. यज्ञों की उत्पत्ति कब और किस लिये हुई। उसमें उत्तरोत्तर किस प्रकार परिवर्तन हुए इसके लिये हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध देखना चाहिये।

४. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। वेदाङ्ग ज्योतिष के अन्त में।

५. अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। गीता १०।३२॥

६. इस विषय पर विशद प्रकाश हम 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध में कर चुके हैं।

वेदमन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन

[वेदाङ्क से आगे]

[ले०—श्री पं० धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड, गुरुकुलकांगडी हरिद्वार]

ऋग्वेद १। १२६ के अन्तिम मन्त्र पर भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना यहां उपयोगी होगा जिसके अर्थ का स्कन्द स्वामी, सायणाचार्य, दुर्गाचार्यादि मध्यकालीन भाष्यकारों ने घोर अनर्थ करके वेदों को कलङ्कित किया है। उदाहरणार्थ स्कन्द स्वामी ने उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥ ऋग्० १।१२६।७।

इसका भाष्य निम्न रूप से किया है:—

(मे) मम (दभ्राणि) अल्पानि उत्तरत्र रोमश्रवणाद् रोमाणि (मा) (मन्यथाः) मंस्था इत्यर्थः। (सर्वा अहम् अस्मि) भवामि वर्त (रोमशा) उपस्थकक्षादिषु स्थानेषु रोमवतो जातेत्यर्थः। अतः संभोगयोग्यां सतीं किं मामुपेक्षस इत्यर्थः। अस्योपमा (गन्धारीणामिवाविका) गन्धार इति उत्तरापथे क्वचिद् देशाभिधानम्। अतो गन्धारीणां सम्बन्धिनीति तत्र जाता (अविका) ऊर्णिका। सा ह्यतिशय सूक्ष्मदीर्घघनमृदुरोमा सेव। अथवा पुंसः सकाशात् स्त्रियाभिगम्यमानत्वाद् गमिति गर्भ उच्यते गंधारयतीति गर्भिणी स्त्री (अविका) इत्यवतेः प्रीत्यर्थस्य प्रीतिकरत्वादुपस्थ उच्यते। यथा गर्भिणीनाम् उपस्थो रोमशस्तद्वदित्यर्थः। स हि तासां समाचारः, यद् गर्भिण्यः स्त्रियो रोमाणि नोत्खिदन्तीति।

(स्कन्दस्वामिकृत निरुक्तभाष्य पृ० १८९)

स्कन्द स्वामी के अनुसार परिहास करते हुये पति भावयव्य को रोमशा की यह उक्ति है कि मेरे बालों को आप छोटा न समझें। मैं गन्धार देश की भेड़ अथवा गर्भधारिणी स्त्रियों के उपस्थ (योनि) की तरह सम्पूर्णतया रोमयुक्ता हूँ अतः आप मेरा समीपता से स्पर्श करें इत्यादि।

सायणाचार्य का अश्लील भाष्य:—

सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र का स्कन्द स्वामी के समान लगभग इन्हीं शब्दों में भाष्य किया है, जो निम्न है:—

रोमशा नाम बृहस्पतेः पुत्री ब्रह्मवादिनी परिहसन्तं स्वपतिं प्राह भोः पते! (मे) मां द्वितीयार्थे चतुर्थी (उपोप) द्वितीय उपशब्दः पादपूरणः। उपेत्य (परामृश) सम्यक् स्पृश भोगयोग्याम् अवगच्छेत्यर्थः। यद्वा मे मम गोपनीयमङ्गम् (उपोप परामृश) अत्यन्तमान्तरं स्पृश। परामर्शाभावशङ्कां निवारयति (मे) मदङ्गानि रोमाणि (दभ्राणि) (मा मन्यथाः) मा बुध्यस्व। अदभ्रत्वमेव विशदयति अहं (रोमशा) बहुरोमयुक्ता अस्मि यतोऽहमीदृशी अतः (सर्वा) सम्पूर्णावयवास्मि। रोमशत्वे दृष्टान्तः। गन्धारीणाम् अविका इव। गन्धारा देशाः तेषां सम्बन्धिनी अविजातिरिव। तद्देशस्था अवयो मेषा यथा रोमशाः तथा अहमस्मि। यद्वा (गन्धारीणाम्) गर्भधारिणीनां स्त्रीणाम् अविका अत्यन्तं तर्पयन्ती योनिरिव। तासाम् आप्रसवं रोमादि विकर्तनस्य शास्त्रे निषिद्धत्वात् यानि रोमशा भवति अतः सा उपमीयते। यतोऽहमीदृशी अतो माम् अप्रौढां मा अवबुध्यस्वेत्यर्थः ॥

(सायणभाष्यसहिता ऋग्वेद संहिता)

तिलक वैदिक संस्थान प्रकाशिता खण्ड १ पृ० ८०१

अत्यन्त अश्लील होने के कारण इसका भाषानुवाद देना मुझे अरुचिकर प्रतीत होता है। सायण के अनुसार परिहास करते हुए पति के प्रति रोमशा की यह उक्ति है कि आप मेरे गोपनीय अङ्गों का अच्छी प्रकार से स्पर्श करें। उन्हें छोटा न समझें। मैं बड़े बड़े रोमों वाली अतः सम्भोग योग्या हूँ इत्यादि। जो एक विशेष बात सायण के इस मन्त्र तथा अन्य मन्त्रों के भाष्य में द्रष्टव्य है वह यद्वा अथवा की भरमार है। उसे अपने किसी अर्थ का निश्चय नहीं प्रतीत होता। अटकलपच्चू कई तरह के अर्थ करने में उसे संकोच नहीं होता। मैंने तो सायणाचार्य के भाष्य में यद्वा की भरमार देखकर उसका नाम ही 'यद्वाभाष्य' रख छोड़ा है। यह अनिश्चयात्मकता ऋषिदृष्टि के अभाव को स्पष्टतया सूचित करती है। एक मन्त्र के कई अर्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से

सकते हैं किन्तु उन २ पक्षों में उनकी सङ्गति लगानी चाहिये। जैसे कि महर्षि दयानन्द ने अनेक सूक्तों के भाष्य में लगाई है। यद्वा या अथवा के प्रयोग की भरमार तो केवल अनिश्चयात्मकता को ही घोषित करती है। ऊपर उद्धृत मन्त्र के ही सायण भाष्य को देखिये कि कैसे पहले तो वह 'मे' का प्रयोग माम् के स्थान पर मान कर कहता है कि द्वितीया के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग यहाँ किया गया है, फिर यद्वा कह कर वह 'मे' को षष्ठी का प्रयोग मान लेता है और 'गोपनीयं अङ्गम्' इसका अध्याहार करता है जिसका मन्त्र में कहीं निर्देश तक नहीं। 'गन्धारीणामिवाविका' का भाष्य करते हुए पहले वह गन्धार देश की भेड़ों की उपमा मानकर अर्थ करता है और फिर संभवतः स्वयम् अपनी प्रारम्भिक भूमिका में मीमांसा शास्त्र के आधार पर प्रतिपादित वेदों की नित्यता और पौरुषेयता को दृष्टि में रखते हुए उसका गर्भधारिणी स्त्रियों की योनिपरक अर्थ करता है। ऐसी अनिश्चयपूर्ण आनुमानिकता सायण भाष्य में बहुत अधिक पाई जाती है जो निष्पक्ष विचारशील पाठकों को बहुत खटकती है।

वेंकट माधव कृत अश्लीलार्थः—

वेंकट माधव ने इस तथा इस से पूर्व मन्त्र के सम्बन्ध में श्लोकों में जो कथा दी है, उसका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ। उसके अनुसार 'उपोप मे परामृश' यह वचन रोमशा का अपने पति भावयव्य के प्रति नहीं, अपि तु इन्द्र के प्रति है जो उसके पति का मित्र था जिसने उसके चरणस्पर्श करने पर रोमशा से पूछा कि तेरे रोम आ चुके हैं वा नहीं और उसने बालभाव से उत्तर दिया कि तू मेरे अङ्गों का समीपता से स्पर्श कर।

इन्द्रः सखित्वादथ तामुवाच
रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि।
सा बालभावादथ तं जगाद
उपोप मे शक्रः परामृशेति॥

मन्त्र का अर्थ वेंकटमाधव के शब्दों में निम्न प्रकार है:—

त्वं ममाङ्गानि उपपरामृश। मा मे अल्पानि रोमाणि मंस्थाः। सर्वाङ्गा अहम् अस्मि रोमशा। गंधारयो नाम जनपदास्तत्र भवत्यूर्णा। यथा गंधारीणां सम्बन्धिनी अविकेति। (ऋगर्थदीपिका भाग २ डा० लक्ष्मण स्वरूप सम्पादित पृ० ४७)।

अर्थ ऊपर दिया ही जा चुका है। इस अर्थ को मानने पर इन्द्र और रोमशा दोनों की सदाचारभ्रष्टता और अनैतिकता प्रकट होती है, जिस पर अधिक टिप्पणी करना अनावश्यक है। कितने दुःख और आश्चर्य की बात है कि वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय वाणी तथा पवित्र धर्मग्रन्थ मानते हुये भी इन मध्यकालीन भाष्यकारों को मन्त्रों के ऐसे असङ्गत अश्लील ऊटपटांग अर्थ करते हुये ज़रा भी संकोच न हुआ।

दुर्गाचार्यकृत अर्थः—

दुर्गाचार्य ने भी अपने ३।२० के निरुक्त भाष्य में इस मन्त्र का ऐसा ही अश्लील अर्थ किया है, यथा—

भावयव्यमेव सा (रोमशा) भर्तारं तेनानुपेयमाना ब्रवीति हे राजन्! (उप) उपगम्य (उप) उपश्लिष्य च (मे) मम (परामृश) संस्पृश। यो यः प्रदेशः पुरुषेण स्त्रियाः स्प्रष्टव्यस्तं तं सर्वमेव यथेच्छं संस्पृश। अथ त्वम् अलोमकाऽल्पवयस्कासि कथं स्प्रष्टव्येति प्रत्युक्तेवाह। (मा मे दभ्राणि मन्यथाः) लोमानीति शेषः। दभ्राणि—अल्पानि (निघ० ३–२) लोमानि मे मन्यथाः। जानेऽहमेतत् यथा अलोमिकाया उपगम—प्रतिषेध उक्तः स्मृतौ 'नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत्' इति। यतस्ते वेदयामि (सर्वाहमस्मि रोमशा) सर्वेष्वेवावयवेषु ममोत्पन्नानि रोमाणि येषु स्त्रीणाम् उत्पद्यन्ते। कथं च पुनरहमस्मि रोमशा (गंधारीणामिवाविका) गांधार [खंधार] देशजातानामवीनां मध्ये यथा (अविका) ह्रस्वा अविः तस्या रोमाणि सघनानि मृदुलानि च भवन्ति एवमहमस्मीति निःशङ्कमुपगच्छ मामिति भावः॥

(दुर्गाचार्यकृत निरुक्त व्याख्या निर्णयसागरप्रेस बम्बई १९३० ई० पृ० १४८)।

यहां दुर्गाचार्य स्मृति का वचन उद्धृत करते हुये कहते हैं कि छोटी आयु की पत्नी के साथ सम्भोग न करना चाहिये यह मैं भी जानती हूँ किन्तु मैं अब रोमयुक्ता हूं अतः आप मेरे सब अङ्गों का समीपता से स्पर्श करें इत्यादि। इस कथा को सत्य मानने पर ध्वनि यह निकलती है कि विवाह के समय रोमशा छोटी आयु की थी और उसके पति को भी यह ज्ञात न हुआ था कि वह ऋतुमती हो चुकी है, अतः उसने पूर्व मन्त्र द्वारा उसका उपहास किया था। यह सब कल्पना सर्वथा अमान्य और असङ्गत

है। वेद यौवनावस्था में ही स्वयंवर विवाह का प्रतिपादन करते हैं इस बात के सैंकड़ों प्रमाण हैं। ऋ० १०।८५ के जिन मन्त्रों से विवाह संस्कार आज तक भी प्रचलित हैं उनमें 'सूर्या यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्'। मं. ९ भाष्य में सायण ने भी स्पष्ट लिखा है कि 'पत्ये शंसन्तीम् पतिं कामयमानाम्–पर्याप्त यौवनाम्' इत्यर्थः ॥

अर्थात् पति की कामना करनेवाली—'युवावस्था प्राप्ता युवती। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमावदासि' ॥ मं० २६ ॥

इत्यादि से स्पष्ट है कि कन्या विवाह के समय युवती होती है जिसे कहा जाता है कि अब तुम पति के घर में जाकर वहां घर की मालकिन बनों और सब को वश में रखते हुए उचित आदेश दो तथा ज्ञान का प्रसार करो। अतः दुर्गाचार्यादिकृत उपर्युक्त व्याख्या नितान्त असङ्गत है।

ऐसा ही अर्थ अंग्रेजी में विल्सन और श्रीपद्मनाभ ऐयंगार ने किया है। इन अनुवादों को ही ठीक मानकर भारतीय विद्याभवन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'वैदिक एज' नामक पुस्तक के लेखकों ने पृ० ३४८ पर इस सूक्त (ऋ० १। १२६) के विषय में टिप्पणी दी है कि 'This dismal hymn ends with two more verses notabb only for their buthus extreme obscenity (Vedic Age P.348)।

अर्थात्—इस निराशाजनक सूक्त की समाप्ति दो मन्त्रों से होती है जो अश्लीलता की पराकाष्ठा के लिये कुख्यात हैं। यदि 'वैदिक एज' के विद्वान् लेखक महर्षिदयानन्दकृत अर्थ को देख लेते तो ऐसी भ्रान्तिपूर्ण टिप्पणी करने का वे दुस्साहस न करते।

महर्षि दयानन्द कृत अर्थः—

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया हैः—

पुना राज्ञी किं कुर्यादित्याह—हे पते राजन्! याऽहं (गन्धारीणाम् इव अविका) पृथिवीराज्यधर्त्रीणां मध्ये रक्षिका (रोमशा) प्रशस्तलोमा सर्वा अस्मि तस्या मे गुणान् (परामृश) विचारय (मे) (दभ्राणि) अल्पानि कर्माणि (मा) (उपोप) अति समीपत्वे (मन्यथाः) जानीथाः ॥

भावार्थः—राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयात् अहं भवतो-न्यूना नास्मि। यथा भवान् पुरुषाणां न्यायाधीशोऽसि तथाहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि ॥

अर्थात्—रानी राजा से कहती है कि आप भी मेरे गुणों का विचार करें और मुझे कभी तुच्छ न समझें और न मेरे कामों को तिरस्कार की दृष्टि से देखें। मैं आप से न्यून नहीं हूँ। जैसे आप पुरुषों के लिये न्यायकारी हैं, वैसे मैं भी स्त्रियों के लिये न्यायकारिणी होती हूँ। मैं सदा स्त्रियों का न्याय करने में तत्पर रहूं।

इस में अश्लीलता की क्या बात है? यह तो स्त्रियों का पुरुषों के समान स्थान बताया गया है और उनका कभी अपमान न करने का आदेश है जिसको सुसभ्य जगत् की देन माना जाता है। रानी का काम स्त्रियों का न्याय करना। अर्थात् मैजिस्ट्रेट वा जज् आदि का स्थान भी स्त्रियों को दिया जाना चाहिये और उनको कभी तुच्छ न समझना चाहिये, यह कितनी उच्च व्यावहारिक शिक्षा मन्त्र में पति पत्नी के संवाद के रूप में दी गई है। इनको पढ़ते हुये तो सुप्रसिद्ध विचारक रस्किन के इन शब्दों का स्मरण हो आता है, कि

"We are foolish and without excuse foolish in speaking of the superiority of the one sex to the other. Each completes the other and is completed by the other-The happiness and refection of both depends on each asking and receiving from the other what the other only can give."

(Sandwo and lilie by John Raskin P. 73.

अर्थात्—हम पुरुष और स्त्री में से किसी एक को दूसरे से ऊँचा सिद्ध करने का यत्न करते हुए अक्षन्तव्य मूर्खता करते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं। दोनों की प्रसन्नता और पूर्णता एक दूसरे को यथाशक्ति देने और उससे लेने में है, इत्यादि।

ऐसे उच्चभावद्योतक मन्त्रों को विना सोचे समझे अश्लीलता की पराकाष्ठा के सूचक मान लेना कितना बड़ा दुस्साहस है?

महर्षि दयानन्द के इस अत्युत्तम संस्कृति और सभ्यता-सूचक अर्थ की स्कंदस्वामी, वेंकट माधव, सायणाचार्य और दुर्गाचार्य आदि भाष्यकारकृत अश्लील अर्थ के साथ तुलना करने पर उसका महत्त्व हृदय पर और भी अधिक अङ्कित होता है। द्वैतमतप्रचारक श्री मध्वाचार्य (स्वा. आनन्द तीर्थ) ने वेदार्थ के सम्बन्ध में एक बड़ी अच्छी बात लिखी है कि 'गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि। प्रयोजकत्वान्यस्य फलाभावात् तदर्थता'॥ अर्थात् वेद का वास्तविक अर्थ वही समझना चाहिये जिस में अधिक गुण अथवा गौरव प्रकट हो, क्योंकि व्यर्थ वा निष्प्रयोजन वेद का वाक्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भी जो सब आस्तिकों के लिये मान्य है महर्षि दयानन्द जी की बुद्धिसंगत भाष्यशैली की ही सर्वोत्तमता ज्ञात होती है। विस्तारभय से अभी इस तुलनात्मक अनुशीलन को यहीं समाप्त करता हूँ। (क्रमशः)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का पहला श्लोक

[ले—श्री० पं० उदयवीरजी शास्त्री, विद्याभास्कर, बीकानेर]

बरेली से एक स्नेही बन्धु ने लिखा है, कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन में प्रो० घनश्यामदास लिखित संस्कृत में मुद्रित एक ग्रन्थ उनके पास है। उसमें बताया गया है, कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम श्लोक में जो विशेषण ब्रह्म के दिये गये हैं, वे सब व्यर्थ और पुनरावृत्त हैं, केवल पदों का संग्रह कर लिया गया है, उनका प्रयोजन कुछ नहीं, यह बताकर वहाँ ऋषि का उपहास किया गया है।

बरेलवी बन्धु ने इस विषय में अपना एक सुझाव दिया है, और मुझे आदेश किया है, कि उसके अनुसार इस श्लोक के सम्बन्ध में मैं अपने विचार प्रकट करूँ। इस प्रकार इस लेख में मूल सुझाव बरेलवी बन्धु का और कलेवर मेरा है। भूमिका का वह आद्य श्लोक इस प्रकार है—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥

इस श्लोक में सबसे पहला 'ब्रह्म' पद विशेष्य पद है, उसके आगे आठ उसके विशेषण पद दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—अनन्तम्, अनादि, विश्वकृत्, अजम्, सत्यम्, परम्, शाश्वतम् निगमभृत्। आगे प्रकारान्तर से एक अवान्तर वाक्य द्वारा ब्रह्म के नित्य ज्ञान-वेद की आवश्यकता प्रकट कर ब्रह्म को नमस्कारपूर्वक वेद के भाष्य विस्तार का निर्देश किया गया है। भूमिका के समालोचक का कहना है, कि ब्रह्म के ये विशेषण निरर्थक ही यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं, और बार बार उसी एक अर्थ को दुहरा दिया गया है।

विचार करना चाहिये, कि सचमुच वेदभाष्य का प्रारम्भ करते हुए ऋषि ने इस आद्य मांगलिक श्लोक में ही क्या इतना गोता खाया है, कि वह उपहास का पात्र बनाया जावे। क्या यह 'प्रथमग्रास एव मक्षिकापातः' का उदाहरण कल्पना किया जा सकता है? पर वस्तुतः जब इस पद-विन्यास पर गंभीरता से विचार किया जाता है, तो यही प्रतीत होता है, कि उस समालोचक महानुभाव पर तरस आना चाहिये, जो इस रचना के आधार पर ऋषि का उपहास करने की विडम्बना का शिकार हो रहा है। आईये, जरा इस पर विचार करें।

श्लोक का स्पष्ट अर्थ समझने के लिये आद्य विशेष्य पद के साथ 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार कर लीजिये। छोटा सा वाक्य बना-'ब्रह्म अस्ति'—ब्रह्म है। यह कहने पर या बतलाने पर स्वभावतः जिज्ञासा होती है, कि वह कैसा है? यह निश्चित है, कि किसी स्थूल द्रव्य की तरह अंगुली का संकेत करके या उसके किसी अङ्ग को पकड़ छूकर ब्रह्म को बताया नहीं जा सकता। गाय को बताने के लिये हम अंगुली का इशारा कर देते हैं—यह गाय है। यदि गाय हमारी पालतू है, और उसके स्वभाव से हम परिचित हैं, तो उसके सींग, कान, पूँछ पकड़ कर या उसकी पीठ पर हाथ रख या फेरकर बता सकते हैं—यह गाय है। परन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसी क्रिया संभव नहीं। फिर भी अल्पज्ञ

स्वभाव मानव ने अपनी भावनाओं के अनुसार अपने ही समान ब्रह्म अथवा ईश्वर की कल्पना कर डाली है। उनके विचार से ईश्वर चौथे अथवा सातवें आसमान पर रहता है, वहीं उसका दिव्य सिंहासन है, अथवा वह कैलाश पर्वत पर निवास करता है, कभी अन्य किसी लोक विशेष (गोलोक, विष्णु लोक आदि) में और कभी क्षीरसागर में। इन सब मिथ्या धारणाओं के अपाकरण के लिये ऋषि ने ईश्वर का स्वरूप बतलाने में सब से पहला विशेषण दिया है—

अनन्तम्—ब्रह्म अनन्त है। उसका अन्त अर्थात् उसकी सीमा कहीं नहीं है। उसे दैशिक सीमा में बांधा नहीं जा सकता। वह सर्वत्र व्याप्त है, और अन्तर्यामी है, एक एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं में भी विद्यमान वह समस्त विश्व का नियन्त्रण करता है, उसे किसी मकान या देशविशेष में नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। पर चिरकाल से मानव अनायास ऐसे ईश्वर की कल्पना करता आया है, इसीलिये ऋषि ने सब से प्रथम इस विशेषण पद का निर्देश किया। दूसरा पद है—

अनादि—विचार कीजिये, कि यही विशेषण यहां क्यों रक्खा गया? कारण स्पष्ट है। प्रथम विशेषण के द्वारा ईश्वर को दैशिक सीमाओं से रहित बताया गया है। दैशिक सीमाओं से रहित वही पदार्थ हो सकता है, जो कालकृत सीमाओं से बंधा न हो। जो वस्तु किसी काल विशेष में ही अपने अस्तित्व में आती है, वह निश्चित रूप से देश की सीमाओं में बंधी रहती है। वह वस्तु अनन्त अथवा सर्वत्र व्याप्त नहीं हो सकती। इसलिये ब्रह्म की अनन्तता को स्पष्ट करने के लिये दूसरा विशेषण 'अनादि' दिया गया है। यह ब्रह्म की कालकृत सीमा का निराकरण करता है। पहले वह कभी नहीं था, और फिर हो गया, ऐसा अस्तित्व ब्रह्म का नहीं है। ये दोनों विशेषण ब्रह्म को देश और काल की सीमाओं से रहित बताते हैं।

चिरकाल से बहुत सा मानवसमुदाय यह कल्पना करता आया है, कि यह जीवात्मा ही कालान्तर में परमात्मा बन जाता है। आर्हत सम्प्रदाय में इस विचार का आदर है। वेदान्त के एकदेशी आचार्यों ने भी इसको मान्यता दी है। कतिपय आधुनिक विद्वानों का ऐसा कहना है, कि कुछ सांख्याचार्य भी इस मत को मानते रहे हैं। पर जिस किसी की भी ऐसी मान्यता रही हो, वह संगत व प्रमाण-सिद्ध नहीं कही जा सकती, द्वितीय विशेषण से इसी भाव को स्पष्ट किया है। जीवात्मा ही कालान्तर में शक्ति-सम्पादन करके परमात्मा नहीं बन जाता, इस अर्थ को स्पष्ट और दृढ़ करने के लिये तीसरा विशेषण दिया गया है—

विश्वकृत्—परमात्मा समस्त जगत् को बनाने वाला है। अब यदि यह मान लिया जाय, कि जीवात्मा ही परमात्मा बन जाता है, तो उसमें जगत्कर्तृत्व की संभावना नहीं की जा सकती। वस्तुतः कोई भी आत्मा, उसी समय जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है, जब उसका स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है। प्राणधारण क्रिया [जीव प्राणधारणे, पाणिनि] से ही आत्मा की जीव संज्ञा होती है, यह क्रिया स्थूल शरीर के सहयोग में ही संभव है। प्राण, करणों के वृत्तिमात्र हैं, और यह वृत्तिलाभ आत्मा का स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर ही होता है। इस प्रकार किसी भी जीवात्मा की इस अवस्था के पहले ही सृष्टिरचना तो हो चुकी होगी, यह मानना ही पड़ेगा। अन्यथा स्थूल शरीर का अस्तित्व ही प्रकट में नहीं आ सकता। इसी महती आपत्ति को देखकर आर्हत सम्प्रदाय के विद्वानों ने कहा है, कि जगत् की रचना ही कभी नहीं होती। यह जगत् इसी प्रकार का अनादि काल से चला आ रहा है। न यह कभी बना है, और इसीलिये न कोई इसका बनाने वाला है। उनके शास्त्र में कहा है—

कर्त्ताऽस्ति नित्यो जगतः स चैकः,
स सर्वगः सन् स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाः कुविडम्बनाः,
स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥

पर वस्तुतः जगत् की स्थिति को देखते हुये यह कहना ही महती विडम्बना है, कि यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है। इसमें आये दिन विविध परिणाम देखे जाते हैं, परिणामी वस्तु का अनादि या नित्य माना जाना किसी भी शास्त्रीय तर्क के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। जब यह सिद्ध है कि जगत् अनित्य है, और इसकी रचना अवश्य हुई है, तो इसके रचयिता को तो मानना ही होगा। कोई भी बनने वाली जड़ वस्तु बनाने वाले के बिना स्वयं बन नहीं सकती। इसलिये वह ब्रह्म 'विश्वकृत्' कहा गया है। ऋषि ने इस विशेषण का यहां बहुत ही उपयुक्त प्रयोग किया है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता है, इस सिद्धान्त को सब वैदिक दार्शनिकों ने आरभटी के साथ प्रमाणित

किया है। आचार्य उदयन ने एक ही पद्य में उन हेतुओं का इस प्रकार उल्लेख कर दिया है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

इसके व्याख्यान की यहां आवश्यकता नहीं, इच्छुक महानुभाव 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के पञ्चम स्तवक में इसकी विस्तृत व्याख्या देख व समझ सकते हैं। फलतः 'विश्वकृत्' विशेषण देकर ऋषि ने उस विचारधारा का निराकरण किया है, जहां जगत् को नित्य मानकर जगत् के कर्त्ता की अनावश्यकता को दिखाते हुये ईश्वर का निषेध किया गया है।

आशंका हो सकती है कि ईश्वर अनन्त है, अनादि है और विश्व का कर्त्ता है, यह ठीक है। पर वह सर्वशक्तिमान् है, तब क्या वह अपनी शक्ति से शरीर भी धारण कर सकता है? ऋषि का उत्तर है—नहीं। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अगला विशेषण दिया गया—

अजम्—वह ब्रह्म 'अज' है, कभी उत्पन्न नहीं होता। अन्य जीवात्माओं के समान वह कभी शरीरबन्धन में आता है, ऐसा संभव नहीं। इस विशेषण के द्वारा मानव रूप में ब्रह्म के अवतार की कल्पना का निराकरण किया गया है। वेदादि सत्य शास्त्रों व दर्शनों में कहीं भी ऐसा प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता, जहां ब्रह्म के शरीर बन्धन में आने का निर्देश किया गया हो। इसके विपरीत यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में ब्रह्म को अकाय [शरीर बन्धन से रहित], अव्रण [शरीरसम्बन्धी रोगों से रहित, जब भौतिक शरीर ही न होगा तो रोग कहां से होंगे], और नस नाड़ी आदि से रहित बताया गया है, इसीलिये वह नितान्त शुद्ध और पापरहित है, त्रिकालदर्शी ज्ञानसम्पन्न चेतन सर्वव्यापक स्वयम्भू सर्वशक्तिमान् परमात्मा अन्तर्यामी होकर क्षण क्षण कण में व्याप्त हो रहा है। उसने ही सकल प्रजाओं के लिये जगत् रूप में इन विविध विभूति व ऐश्वर्यों का सर्जन किया है। यद्यपि वेदों में ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन मिलता है, उसमें समस्त ब्रह्माण्ड को ही उसका शरीर कल्पित किया गया है, इससे स्पष्ट है, कि ब्रह्म मानव के समान किसी शरीर में बद्ध, अवतीर्ण नहीं होता। ऐसे वर्णनों से उसकी सर्वशक्तिमत्ता व अन्तर्यामिता का ही प्रतिपादन किया गया है, जो देहबन्धन में रहते असंभव है। फलतः 'अजम्' विशेषण उस विचारधारा का निराकरण करता है, जो ब्रह्म को शरीरबन्धन में आने का प्रतिपादन करती है।

बौद्ध दार्शनिकों ने इस प्रकार के परमात्मा में अपना अविश्वास प्रकट किया है। उनका कहना है कि इस जगत् के पीछे कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, जो इसका नियन्त्रण करनेवाली या प्रेरणाप्रद कही जा सके। वस्तुतः विश्वमात्र का पर्यवसान शून्य में है, केवल अभाव में। अभाव से ही यह अद्भुत रचना भावरूप में उठ खड़ी होती है, जो वस्तुतः तुच्छ है। इस भावना के प्रत्याख्यान के लिये ऋषि ने पांचवां विशेषण दिया है—

सत्यम्—ब्रह्म सत्य है, सद्रूप है, वास्तविक है, उसे तुच्छ या अभाव नहीं कहा जा सकता। समस्त व्यक्त विश्व का पर्यवसान अपने उपादान कारण अव्यक्त में होता है। उस अव्यक्त को अनेक नामों से कहा गया है—प्रधान, प्रकृति, अजा, अदिति, स्वधा, माया आदि। वह भी वास्तविक सद्रूप तत्त्व है, तब उसका नियन्ता व प्रेरयिता चेतन तत्त्व वास्तविक सत्य न हो, यह कैसे कहा जा सकता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में—जहां प्रलय और सर्ग का प्राञ्जल वर्णन है—स्पष्ट कहा गया है, कि जब यह समस्त दृश्यमान जगत् प्रलय अवस्था में न था, तब 'स्वधा' के के साथ वही एक चेतन निर्विकार तत्त्व अवस्थित था—'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'। उस अनन्तशक्ति चेतन तत्त्व का अभाव या शून्य में पर्यवसान कहना सर्वथा असंगत है, यह इस 'सत्यम्' विशेषण से स्पष्ट किया गया है।

अभी कहा गया, कि ब्रह्म के समान प्रकृति का भी अस्तित्व है, वह भी सत्य है, तो क्या इन दोनों का एक ही स्तर है? इसकी निवृत्ति के लिये छठा विशेषण दिया गया—

परम्—ब्रह्म पर अर्थात् उत्कृष्ट है। प्रकृति और ब्रह्म यद्यपि दोनों सत्य हैं, पर प्रकृति की अपेक्षा ब्रह्म के उत्कर्ष का समस्त साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने दिल खोलकर वर्णन किया है। उसके मूल आधाररूप यह बताया गया है, कि प्रकृति जड़ और ब्रह्म चेतन है। ब्रह्म की प्रेरणा के बिना प्रकृति कुछ भी करने में असमर्थ रहती है। चेतन का उत्कर्ष सर्वमान्य है, ब्रह्म प्रकृति पर हावी रहता है, प्रकृति कभी ब्रह्म को दबा नहीं पाती। जिन विचारकों ने ऐसा माना है, कि प्रकृति अथवा माया ब्रह्म को लपेट लेती या अपने चंगुल में फँसा लेती है, उनके विचारों का निराकरण ऋषि ने इस विशेषण के द्वारा किया है। कठ उपनिषद् के सन्दर्भों में चेतन के परत्व या उत्कर्ष का वर्णन है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

कठ उपनिषद् के ही [२।६।७-८] प्रसंग को देखिये। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी प्रलय अवस्था में प्रकृति के साथ अद्वितीय चेतन तत्त्व के अस्तित्व को बताकर कहा है—'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' उस एकमात्र तत्त्व परमात्मा से 'पर' और कोई नहीं है। गीता में भी—जो उपनिषदों का सार कहा जाता है—परमात्मा को सब से श्रेष्ठ पुरुष बताया गया है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

इस प्रकार परमात्मा की उत्कृष्टता का वर्णन शास्त्रों में विस्तार के साथ किया गया है। ऋषि ने इस विशेषण के द्वारा उन विचारों का निराकरण किया है, जिनमें जगत्कर्ता ईश्वर को ऐसा नहीं माना जाता। वेदान्त की नवीन विचारधारा में सृष्टिकर्ता ईश्वर की ऐसी ही कल्पना की गई है। वहां ईश्वर को 'कारणोपाधि' मानकर उपहित तत्त्व के रूप में कल्पना कर उसको अपनी उत्कृष्ट स्थिति से नीचे पटक दिया गया है।

अति प्राचीन काल से एक मानव समुदाय यह सोचता समझता और कहता चला आया है, कि ये जो विशेषताएं तथाकथित ईश्वर की कही जाती हैं, वे सब प्रकृति में संभव हैं। प्रकृति अनादि अनन्त है, संसार उसी से बनता है, वह स्वयं 'अजा' है, सत्य है, और क्योंकि वही सब कुछ है, इसलिये पर है। इस जड़वादमूलक विचार के निराकरण के लिये सातवां विशेषण ऋषि ने दिया—

शाश्वतम्—ब्रह्म शाश्वत है, नित्य है, निरन्तर एकाकार है, उसमें कभी कोई किसी तरह का विकार या परिणाम नहीं होता। वही पदार्थ शाश्वत है, जो परिणामी न हो। प्रकृति परिणामिनी है। प्रकृति की नित्यता परिणामिनित्यता कही जाती है। परन्तु ब्रह्म अपरिणामि-नित्य है, इसलिये वह शाश्वत है, साधारण रूप से यह पद नित्य अर्थ को कहता है, पर वस्तुतः इसका अर्थ अपरिणामिनित्य है। यदि कोई साधारण अर्थ के लिये ही आग्रह करे, तो ऋषि ने ब्रह्मस्वरूप का संकेत करने के लिये आठवां विशेषण दिया—

निगमभृत्—ब्रह्म आम्नाय का धारण करने वाला है, अर्थात् अनन्त नित्यज्ञान का भण्डार है। वेद उसीका ज्ञान है, जो आदि ऋषियों के मस्तिष्क में उसी की प्रेरणा से प्रतिभात हुआ। वही ज्ञान उपदेश परम्परा द्वारा आज हमारे सन्मुख है। वह निर्दोष नित्य वेद ज्ञान सबके कल्याण के लिये है, अज्ञान का नाशक है। परन्तु प्रकृति जड़ होने से ज्ञानशून्य है, वह ब्रह्म का स्थान नहीं ले सकती। इस प्रकार आदि मानव सृष्टि के साथ ही वेद-ज्ञान का आविर्भाव होने से कोई भी व्यक्ति उसके ज्ञान से वञ्चित नहीं रहना चाहिये। वेद को जानने का प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है, और उसे जानना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। ऋषि ने इस कथन से जड़वाद के साथ अन्य समस्त अवैदिक मतों का भी निराकरण कर दिया है। क्योंकि वहां जिस पुस्तक या तथाकथित ज्ञान को ईश्वरीय कहा गया है, यह अखिल मानव समाज के लिये कल्याणप्रद संभव नहीं। तथा सौभाग्यप्रद न होकर वह संघर्ष का ही उत्पादक, वर्द्धक है, एवं अन्य अनेक दोषों से पूर्ण है।

ब्रह्म के विमल ज्ञान—वेद को भी अल्पज्ञ व्याख्याकारों ने दूषित करने का प्रयास किया है, उस सबके अपाकरण के लिये पूर्वोक्त ब्रह्म का प्रतिक्षण स्मरण करते हुए विमल वेद की व्याख्या करने की शुद्ध भावना से यह भाष्य प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के प्रथम श्लोक का प्रत्येक पद सार्थक है और एक दूसरे से सुसम्बद्ध है, यह प्रकट करने का यहां अल्प प्रयास किया है। पाठक स्वयं विचार करेंगे, कि इस रचना को निरर्थक या इसमें प्रयुक्त पदों को पुनरुक्त या व्यर्थ कहना अपने अज्ञान का ही विजृम्भण हो सकता है॥



ऋग्वेद में इन्द्राणी शची

[ले०—श्रीमती ज्ञान साहनी एम० ए०]

वैदिकोत्तर साहित्य में विशेषकर रामायण महाभारत और पुराण साहित्य में इन्द्राणी देवराज इन्द्र की पत्नी के रूप में पाई जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि इन्द्र जहाँ इन्द्रियलोलुप, विलासी तथा कुत्सित प्रवृत्तियों का स्वार्थी व्यक्ति दिखलाया गया है, वहाँ इन्द्राणी अपने कुल शील तथा रूप और अपने पति के बल, पराक्रम तथा पौरुष पर गर्व करनेवाली एक सती साध्वी त्रैलोक्येश्वरी के रूप में हमारे सामने आती है। इस देवी का वैदिक स्वरूप क्या है और उसका रूपान्तर पौराणिक स्वरूप में किस प्रकार हुआ, यह एक मनोरंजक विषय है और उसको समझने के लिये हमें मानव जाति के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की छान-बीन करनी पड़ेगी।

इन्द्राणी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल पाँच[1] स्थलों पर हुआ है जिसमें से दो बार यह केवल एक[2] ही सूक्त में आया है जहाँ उसे "इन्द्रपत्नी" भी दो[3] बार कहा है।

इन्द्राणी–सूक्त

इसके अतिरिक्त इन्द्राणी ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त[4] की ऋषिका भी बताई जाती है। यद्यपि उस सूक्त में उसके नाम का उल्लेख एक बार भी नहीं हुआ है तथापि उसमें इन्द्राणी का बल, विजय तथा शक्ति वाला स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट है। वहाँ वह 'बलवत्तमा' ओषधि को खोदती है[5] और स्वयं को 'सहमानाथ' तथा 'सहस्वती' कहती है[6]। वह सपत्नी को सहन नहीं कर सकती और अपने पति पर एकाधिपत्य चाहती है[7] इन्द्राणी सब नारियों में सौभाग्यवती सुनी जाती है और उसका पति वृद्धावस्था से न मरने वाला तथा समस्त विश्व से उच्च कहा गया है[8]। संभवतः इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्द्राणी को अविधवा नारी का आदर्श माना गया है (३।५।१३।३,।३।६।५।१०) वह वीरिणी इन्द्रपत्नी है[9] और वह सुन्दर भुजाओं वाली, सुन्दर अङ्गुलियों वाली, पृथुजघना, शूरपत्नी बतलाई गई है[10]।

वृषाकपायी

ऋग्वेद में इन्द्राणी का एक नाम [11]वृषाकपायी भी है और वृषाकपायी को रेवती 'सुपुत्रा' तथा 'सुस्नुषा' कहा गया है।[12] यद्यपि यास्क ने वृषाकपायी को वृषाकपि की पत्नी बतलाया है[13] परन्तु ऋग्वेद में वृषाकपि इन्द्राणी को 'अम्ब'[14] कह कर सम्बोधित करता है। इसलिये सायण ने वृषाकपि को ठीक ही इन्द्रपुत्र[15] कहा है। बृहद्देवता के अनुसार वृषाकपायी अस्तोन्मुख सूर्य की पत्नी है[16]। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वृषाकपि को गोपथ ब्राह्मण में आदित्य[17] माना गया है और इन्द्र निस्सन्देह एक व्यापक प्रकाश का देवता है[18] जिस के अंतर्गत सूर्य भी है। अतः यह बहुत संभव है कि इन्द्राणी के प्रसंग में वृषाकपि और इन्द्र दोनों ही सूर्य के दो पक्षों के द्योतक हों, जिनमें से एक पूर्वापर सम्बन्ध से दूसरे का जनक कहा जा सके। ऐसी अवस्था में डा० फतहसिंह जी के कथनानुसार वृषाकपि को प्रकाश और ताप की वर्षा करनेवाले उस

---

१ ऋ. वे. १, २२, १२; २, ३२, ८; ५, ४६, ८; १०, ८६, ११; १२।
२ वही, १०, ८६। ३ वही, १०, ८६, ९, १०। ४ वही, १०, १४५।
५ वही, १०, १४५, १। ६ वही, १०, १४५, ५।
७ "सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु" ऋ. वे. १०, १४५, २।
८ ऋ. वे. १०, ८६, ११। ९ वही, १०, ८६, ९।
१० वही, १०, ८६, ८। ११ वही, १०, ८६, १३।
१२ वही, १०, ८६, १३। १३ निरु०—१२, १, ९।
१४ ऋ. वे. १०, ८६, ७। १५ देखिये सायण भाष्य ऋ. वे. १०, ८६। १६ बृहद्देवता २, १०।
१७ आदित्यो वै वृषाकपिः तद् यत्कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपिः तद्वृषाकपेर्वृषाकपित्वम्, गो०ब्रा०२६, १२।
१८ तु. क. डा. फतहसिंह जी कृत uedic Etymology पृ. ८७–१०२, वैदिक दर्शन पृ. १३५–१४१।

कार्य के रूप में, सूर्य की कल्पना की जा सकती है जो सायंकालीन लालिमा के रूप में इन्द्राणी को चिढ़ाता हुआ सा प्रतीत होता है[1]।

इन्द्र और इन्द्राणी—कुछ भी हो ऋग्वेद में इन्द्राणी का स्वरूप तत्त्वतः इन्द्र पर अवलम्बित है और उसके अनुरूप है। वह इन्द्र की "कल्याणी जाया" है (ऋ० वे० ३।५३।६) जो इन्द्र की शक्ति का स्रोत प्रतीत होता है और संभवतः इसीलिये ऊतिकाम भक्त जन इन्द्र को उसके पास जाने के लिये पुनः पुनः कहते हैं (ऋ० वे० १।८२।५) इन्द्र की भाँति इन्द्राणी भी बलवती है और ऊति के लिये उसका आह्वान किया जाता है (ऋ० वे० २।३२।८)।

इन्द्राणी और इंद्रिय—अथर्ववेद में इन्द्राणी को 'प्रथमा' 'अजिता' 'अमुषिता' तथा 'अग्रगामिनी' बतलाया गया है (अथ० वे० १, २७, ४;) अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैत्रायणी संहिता में उसे शत्रुधर्षिणी तथा विजयिनी सेना के रूप में देखा जाये और पृथिवी, धनंजया, विश्वव्यचा तथा 'सूर्यत्वक्, अदिति' कहा जाये[2]। शतपथ[3] ब्राह्मण में इन्द्राणी के उष्णीष को विश्वरूपतम कहना अथवा अथर्ववेद[4] में विश्वरूप गौ का इन्द्र का शिर तथा इन्द्राणी को 'भसद्' कहना अथवा इन्द्र की विजय को वस्तुतः इन्द्राणी की विजय कहना, हमें इन्द्र की उस महिमा की याद दिलाता है जो समुद्रों या पर्वतों से भी महान् है (ऋ० वे० २, १५, ३) और जिसे इन्द्रिय महिमा (ऋ० वे० ६, ८, ३; १०, ११३, १) **'इन्द्रियं ज्योतिः'** (ऋ० वे० १, ५७, ३) **'इन्द्रियं रजः'** (ऋ० वे० १, ८४, १) **'इन्द्रियं परमम्'** (ऋ० वे० १, १०३, १) **'इन्द्रियं बृहत्'** (ऋ० वे० ८, १५, ७) ज्येष्ठ इन्द्रिय महिमा (ऋ० वे० १०, १२४, ८) कहा गया है और जिस का तुरीय अमृत रूप आदित्य में अथवा द्युलोक में (ऋ० वे० ८, ५२, ७) तथा विविध रूप पञ्चजनों में (ऋ० वे० १, ५५, ४; ३, ४७, ९) अथवा सर्वत्र (ऋ० वे० ५, ३१, ३) बतलाया गया है और जिसके द्वारा इन्द्र वृत्रवध आदि अनेक पौरुष के कार्य करता है (ऋ० वे० ४, ३०, २३) क्या इन्द्राणी इसी इन्द्रिय-शक्ति की प्रतीक नहीं है?

इन्द्र और इंद्रिय—यद्यपि ऋग्वेद में इन्द्राणी का उल्लेख अधिक न मिलने से इन्द्राणी की शक्तिरूपता के पक्ष या विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि आगे चलकर इन्द्राणी दार्शनिक दृष्टि से इन्द्र की शक्ति ही समझी जाने लगी[5]। ऐतरेय उपनिषद्[6] में एक रूपक द्वारा इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति का मूल इन्द्र को बताया गया है। यथार्थ में 'इन्द्रिय' का अर्थ ही है 'इन्द्र-सम्बन्धी' या 'इन्द्र का'। यहाँ संक्षेप में उपनिषद् का रूपक दिया जाता है—"आत्मा ने पुरुष को बनाया। उसमें चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्थापित की। फिर उसने सोचा—"मेरे विना तो यह सब व्यर्थ है।" इस लिये उसने स्वयं पुरुष के भीतर प्रवेश करने की इच्छा की। परन्तु घुसे तो किस द्वार से घुसे? चक्षु आदि में से वह कोई एक इन्द्रिय मात्र तो था नहीं, वह तो सब का चालक था। अतः वह शिर की विदृति (दराज, छिद्र-ब्रह्मरंध्र) के द्वारा घुस गया। उसके तीन निवास स्थान (कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर) तथा तीन स्वप्न (सुषुप्ति स्वप्न, जागृति) हैं।"

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों का संचालक इन्द्र माना जाता है और यह इन्द्र आत्मा का वह रूप है जो तुरीयावस्था और आनन्दमय कोश से लेकर अन्य तीनों शरीरों तथा तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है। अत एव मनोमय कोश की जिन क्रियाओं तथा विज्ञानमय कोश में प्रज्ञान आदि नाम से कहे जाने वाले उनके जिस एकीभूत रूप का वर्णन किया जाता है, उन सब को ब्रह्म, इन्द्र, प्रजापति या आत्मा बतलाया गया है।

"कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा! येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धाना-जिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चाऽस्वादु च विजानाति, यदेतद् हृदयं मनश्चैतत, संज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिर्धृतिर्मति-र्मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो वश

१. Vedic Etymology. पृ० २१८;
२. मैत्रा० सं० ४, १२, १; तु० क० तैत्ति० ब्रा० २, ८, २, ६;
३. शतपथ ब्राह्मण—१४, २, १, ८;
४. अथर्ववेद ९, ७, १-८;
५. शत० ब्रा० १०, ५, २, ९;
६. ऐ० उ० २, २;
७. ऐ० उ० २, २;

इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः" ।[१]

ऋग्वेद में चाहे सर्वत्र इन्द्र का यह रूप ग्राह्य न हो परन्तु महान् शचियों के द्वारा ब्रह्म, ऋषि, पुरु तथा पुरुहूत होने वाले (ऋ० वे० ६,१६,७) इन्द्र का उल्लेख तथा आदित्य में स्थित तुरीय इन्द्रिय (ऋग्वेद ८,५२,७) का अथवा इन्दु की अदृश्य इन्द्रिय (ऋग्वेद ६,२७, ३) का उल्लेख निस्सन्देह आत्मा की तुरीयावस्था की ओर संकेत करता है और इस लिये कोई आश्चर्य नहीं कि समष्टि और व्यष्टि में, ब्रह्माण्ड तथा पिण्डाण्ड में उपनिषदों की भाँति ऋग्वेद में भी इन्द्र के रूप क्रमशः आदित्यमंडल और दक्षिण नेत्र के पुरुष में देखे जाते हों और इन्द्राणी इन्द्र की शक्ति समझी जाती हो (तु० क० **स एष एवेन्द्रः योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी,** श० ब्रा० १०,५,२,९) ॥

इन्द्राणी और कुत्स—कुछ इसी प्रकार का अर्थ प्रदान करने से हमें उस "ऋतचित् नारी" इन्द्राणी का स्वरूप समझ में आ सकता है जो निज गृह में आये हुये कुत्स और इन्द्र में विचिकित्सा करती हुई दिखाई गई है।[२] कथा इस प्रकार है—रुरु नामक कोई राजर्षि था। इसका पुत्र कुत्स था। उसने एक बार संग्राम में युद्ध करते हुये शत्रु-हवन में स्वयं को असमर्थ पाकर इन्द्र का आह्वान किया। इन्द्र ने उसके शत्रुओं का विनाश किया जिसके फलस्वरूप कुत्स व इन्द्र की मैत्री हो गई और इन्द्र कुत्स को भी अपने गृह ले गया। कहते हैं कि कुत्स और इन्द्र के समान रूप होने के कारण इन्द्राणी को दोनों में भेद करना कठिन हो गया।

कुत्स और वृषाकपि—यहाँ पर इन्द्र और कुत्स को भौतिक जगत् में क्रमशः उदयोन्मुख तथा अस्तोन्मुख सूर्य, तथा अन्तर्जगत् में क्रमशः सूक्ष्मशरीरी एवं स्थूलशरीरी आत्मा मान लिया जाये, तो दोनों में कोई तात्त्विक अथवा बाह्य भेद न होने से दोनों को एक सदृश कहा जा सकता है और इसी बात का रूपान्तर इन्द्र तथा वृषाकपि की कथा में भी देखा जा सकता है जहाँ ये ही दोनों रूप क्रमशः इन्द्र तथा वृषाकपि के प्रतीकों द्वारा दिखलाये गये हैं। वृषाकपि-कथा और कुत्स-कथा में अन्तर केवल इतना ही है कि एक में "ऋतचित्" इन्द्राणी कुत्स नामधारी को इन्द्र से भिन्न समझने का प्रयत्न कर रही है जब कि दूसरी में वह कुत्सितकर्मा वृषाकपि के कुत्सितस्वरूप को पहिचान लेती है और उसकी निन्दा करती है। परन्तु इन्द्र कुत्स से जिस प्रकार अभिन्न है उसी प्रकार वह वृषाकपि से भी अभिन्न है और इसी लिये वह कहता है कि मैं सखा वृषाकपि के बिना नहीं रह सकताः—

"नाहमिन्द्राणि शरण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते"

(ऋग्वेद १०,८६,१३)

इसी लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वृषाकपि को इन्द्र की भाँति ही आत्मा[३] माना जाये और वृषाकपि को एक ओर तो इन्द्र का रूपान्तर होने से उसका पुत्र कहा जाये और दूसरी ओर उसीका एक द्वितीय रूप होने से न केवल उसका मित्र माना जाये अपितु वृषाकपि तथा इन्द्र को एक ही माना जाये[४] तथा इन्द्रपत्नी का नाम इन्द्राणी की भाँति ही वृषाकपायी भी कहा जाये।

शची इन्द्राणी—इन्द्राणी के इस स्वरूप की पुष्टि हमें स्पष्ट रूप से उस के शची रूप में मिलती है। यों तो शची शब्द अपने विविध रूपों में ऋग्वेद में लगभग सौ बार आया है परन्तु इन्द्रपत्नी के रूप में स्पष्ट रूप से शची का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। फिर भी इन्द्र को कई बार शचीपति कहा गया है। जिससे स्पष्ट है कि शची इन्द्र की पत्नी का नाम था। परम्परा के अनुसार ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त[५] पौलोमी शची का सूक्त कहा जाता है। यद्यपि इस सूक्त में स्वयं शची का कहीं नाम नहीं है, परन्तु वहाँ उत्तम पुरुष में बात करनेवाली इन्द्रपत्नी स्वयं को 'सञ्जया' 'सपत्नघ्नी', 'असपत्ना' 'जयन्ती' तथा 'विषासहिः' कहकर उसी इन्द्राणी से तादात्म्य स्थापित कर लेती है जिसके लिये इसी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग अन्यत्र[६] हुआ है। अतएव उक्त शची

---

१. विस्तार के लिये देखिये डा: फतह सिंह जी कृत वैदिक दर्शन पृ० ४–१२। २. ऋग्वेद ४, १६, १०;

३. "आत्मा वै वृषाकपिः," ऐ० ब्रा० ६, २९; गो० ब्रा० ६, ८; तु० क० ऐ० ब्रा० ५, १५;

४. "यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥" (ऋग्वेद १०,८६,२२)

५ ऋ० वे० १०। १५९। ६ देखिये इन्द्राणी तथा ऋ० वे० १०। १४५।

सूक्त का अनुवाद इन्द्राणी के यथार्थ स्वरूप को दिखलाने के लिये यहाँ अविकल रूप से देना लाभदायक होगाः—

शची-सूक्त

१—'यह सूर्य उदित हुआ, यह मेरा भाग्य उदित हुआ। मैंने उसको पति रूप में पाया; मैं अभिभवित्री हो गई।

२—'मैं केतु हूँ। मैं मूर्धा हूँ। मैं उग्र विवाचनी हूँ। मेरा पति मुझ अभिभवित्री के क्रतु का ही सहारा लेता है।

३—'मेरे पुत्र शत्रु-नाशक हैं और मेरी पुत्री विराट् है। मैं सञ्जया हूँ; अतः पति में मेरा श्रेष्ठ श्लोक (यश) स्थित है।

४—'हे देवो! जिस हवि के द्वारा इन्द्र श्रेष्ठकृत्वी तथा द्युम्नी हुआ उसी का सृजन करके मैं निस्सन्देह असपत्ना हो गई।

५—'मैं असपत्ना, सपत्नघ्नी, जयन्ती और अभिभवित्री हूँ और मैंने अन्य अस्थिरतरों के वर्चस् और राधस् का नाश किया है।

६—'मैंने इन सपत्नियों पर विजय प्राप्त की है, मैं इनको अभिभूत करनेवाली हूँ और ऐसा करके ही मैं इस वीर की तथा समस्त जन की विराट् बनी हूँ।"

इस सूक्त से स्पष्ट है कि शची प्रथम तो उक्त इन्द्राणी की भाँति ही इन्द्र को सूर्य रूप में देखती है और उसको अपना पति मानती है (ऋ० वे० १०।१५९।१) और दूसरे वह अपने को मूर्धा, विवाचनी तथा केतु कहकर अपने अध्यात्मवादी स्वरूप की ओर संकेत करती है (ऋ० वे० १०।१५९।२) यदि सायण के अनुसार 'केतु' का सर्वज्ञात्री, 'मूर्धा' का शीर्षरूपिणी तथा 'विवाचनी' का विवेक शक्ति अर्थ स्वीकार किया जाये तो पिण्डाण्ड में शची उस ज्ञानशक्ति का प्रतीक मानी जा सकती है जिसको प्रमुख रूप से विवेक-शक्ति कहा जा सकता है। शची का यही स्वरूप इन्द्र और कुत्स में तथा इन्द्र और वृषाकपि में भेद-भाव तथा विवेचन करनेवाली इन्द्राणी में भी देखा जा सकता है[1]। साथ ही अपने पति (इन्द्र) को अपने इसी क्रतु (ज्ञान-शक्ति) का आश्रय लेने वाला कहकर शची ने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि जो इन्द्रिय-महिमा ज्येष्ठ इन्द्रिय-महिमा आदि नामों से इन्द्र की शक्ति बतलाई गई है, वह वस्तुतः यह शची ही है क्योंकि जिस प्रकार उक्त इन्द्रिय-शक्ति इन्द्र को वृत्र-वध आदि का कर्तृत्व प्रदान करती है इसी प्रकार यह शची भी अपनी हवि द्वारा इन्द्र को सर्व श्रेष्ठ कृत्वी तथा स्वयं को असपत्ना बनाने का दावा करती है (ऋ० वे० १।१५९।४)।

शची शब्द की परीक्षा—अब ऋग्वेद में प्रयुक्त शची शब्द की व्यापक परीक्षा करके यह देखना है कि शची शब्द के विभिन्न अर्थों द्वारा इन्द्राणी शची के इस स्वरूप की कहाँ तक पुष्टि होती है और उस पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है।

शची शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में एक वचन या बहु वचन में जहाँ जहाँ हुआ है, वहाँ वहाँ सायण ने उसका अर्थ कर्म, प्रज्ञा, शक्ति, बल, अन्न, प्रज्ञान, दीप्ति, सामर्थ्य, बुद्धि आदि किया है, परन्तु विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शची शब्द का प्रयोग मुख्यतया इन्द्र के साथ ही हुआ है और केवल कुछ स्थलों में अश्विन[2], अग्नि[3], सोम[4], तथा ऋभु[5] के साथ भी हुआ है। इन स्थलों पर शची अथवा शक्तियाँ ऐसी शक्तियाँ प्रतीत होती हैं जिन की सहायता से या तो किसी वस्तु का निर्माण या सृजन किया जाता है अथवा उस सृजन द्वारा या किसी अन्य प्रकार से उनको शक्ति प्रदान या संरक्षण में सहायक माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यों तो इन्द्र की अनेक शचियाँ हैं परन्तु एक ऐसी शची है जिसको शचिष्ठा[6] कहा जाता है और जिस के संयोग से ही इन्द्र स्वयं "शचिष्ठः[7]" "शचीवः[8]

१ देखिये इन्द्राणी।

२ ऋ० वे० १,११२,८।१,११६,२२;२३।१,११७,१३।२०,११८,६।१,३९,५।४,४३,३।४४,२।७,६७,५,६९,४,७४ १।८।५७१;

३ ऋ० वे० ३,२१,४।६,४५,२४।८,६०,१२।

४ ऋ० वे० ९।८७,९।

५ ऋ. वे. ४, ३५,५।

६ ऋ. वे. ४, ३१, १। ४, ४३,३। ८, ३१, १। यजु. वे. २६, ३९। ३६, ४। अथ. वे. २०, १२८, १।

७ ऋ. वे. ४, २०, ९। ८, ६६, १४।

८ ऋ. वे १, २९, २। १, ५३,३। १, ६२, १२। ३, ५३,२। ६, ३१, ४। ८,।२, १५;२८। ८,६८,२। १०,४९,११ १०, १०४। ४। अथ. वे. २०, २१, ३। २०, ७४, २। २०, ३३, ३।

'शचीवान्[1]' तथा अन्त में 'शचिपति[2]' कहा जाता है। यह शची एक ऐसी रहस्य की वस्तु है जिससे इन्द्र आवृत रहता है (ऋ. वे. ८,३१, १ अथ वे. २०, १२४, १) जो इन्द्र के लिये वैसी ही है जैसे शकट के लिये उसकी धुरी, (ऋ. वे. १, १३०, १५) और जिसके द्वारा इन्द्र अथवा प्राण को भूत, भव्य तथा भविष्यत् हो कर प्रवेश करने वाला तथा सर्वत्र व्याप्त होने वाला कहा गया है (अथ. वे. ११, ६, २०) या सब भुवनों में जिसके द्वारा व्याप्त हो कर अथवा पृथिवी को निराधार अन्तरिक्ष में संप्रेरित करने वाला कहा गया है (ऋ. वे. ४, ५६, ३) यही वस्तुतः उन महती शचियों में से एक है जिन का न कोई नियन्ता है न कोई वक्ता (ऋ. वे. ८, ३२, १५) जिनके द्वारा इन्द्र, ब्रह्मा, ऋषि, पुरु तथा पुरुहूत हो जाता है (ऋ. वे. ८, १६, ६ और जिनके द्वारा इन्द्र वृत्र आदि का वध करता है (ऋ. वे. ८, २,३२; ८, ९६, १३) इस लिये कोई आश्चर्य नहीं कि इन्द्र से प्रश्न किया जावे कि ऐसी कौन सी शचिष्ठा शची है जिस से आवृत हो कर वह सदा बुद्धिशील रहता है (ऋ. वे. ८, ३१, १; अथ. वे. २०, १२४, १) यही संभवतः वैद्यों की उन शचियों में से एक है जिनके द्वारा 'अहस्ता' तथा 'अपदी' पृथिवी वृद्धि को प्राप्त होती है, (ऋ. वे. १०, २२, १४) जिस शची के भीतर रौद्र ब्रह्म (ऋ. वे. १०, ६१, १) स्थित कहा गया है, जिस के द्वारा केशी रूप में इन्द्र सम्पूर्ण विश्व को देखता है (अथ. वे. ९, १५, २६) अथवा जिसकी सहायता से सत्यधर्मा सविता देव इन्द्र के समान विश्वरूप को देखने वाला कहा गया है (ऋ. वे. १०, १३९, ३; यजु. वे. १२, ६६)।

शची का स्वरूप—इन उपर्युक्त उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि पिण्डाण्ड में शची प्रथमतः एक ज्ञान-शक्ति है जिस से युक्त होकर इन्द्र 'शचीव' या 'शचीवान्' कहलाया और वही मानवीकरण के द्वारा जब किसी ज्ञान-शक्ति की उत्कृष्ट प्रतीक हो गई तो उसी को इन्द्र की पत्नी कह कर इन्द्र को 'शचीपति' कहा गया। इस प्रकार उक्त इन्द्राणी की भाँति ही शची बाह्य जंगत् में सूर्य की प्रज्ञापक या प्रकाशक शक्ति होगी जैसा कि ऊपर उद्धृत शची-सूक्त के प्रथम मंत्र से स्पष्ट है और पिण्डाण्ड में वही आत्मा की ज्ञान-शक्ति होगी जिसकी ओर उसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में संकेत किया गया है। शची का पिता प्रलोम यदि पुरोम का रूपान्तर हो कर शरीर-रूपी पुर[3] का मापक होने से हमारे मन[4] या काम का प्रतीक है तो यह पौलोमी शची हमारी काम-प्रसूता ज्ञान-शक्ति ही होगी जिस को दृष्टि-भेद से अन्यत्र श्रद्धा तथा कामायनी भी कहा गया है॥

---

१ ऋ. वे. ४, २२, २। ६, २४, ४। ८, २, ३९। १, ५४, २।

२ ऋ. वे. ४, ३०, १७। १, १०६, ६। ८, १५, १३। ८, १४, २। १०, २४, २। ८, ३६, १। ८, ६१, ५। ८, ६२, ८। ४, ३१, ७। ६, ४५, ९। अथ. वे. ३, १०, १२। ६, ८२, ३। ६, १३४, १। ६, १३५, १। ७, ५७, १। ११, १०, २०। ११, ११, २३। १२, १, १०। १३, ८, २। १९, २७, १४। २०, २७, २। २०, ११८। १,

३ देखिये डा. फतह सिंह जी कृत वैदिक दर्शन पृ. १, ११, तु. क. श. प्रा. ७, ५, १, २१,

४ श. ब्रा. १०, ३, ५, ७।

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है ॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

विद्वानों के विमर्शार्थ—

ऋग्वेद की नदी-चर्चा

[ले०—श्री० पं० शिवकुमार जी शुक्ल शास्त्राचार्य, बीकानेर]

(श्री पं० उदयवीर शास्त्री जी के लेख की पुष्टि में यह लेख है। विद्वानों के विचारार्थ हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं—सम्पादक)

अतीत में घटी हुई घटनाओं एवं किये हुए कार्यों के परिणामों के अविस्मृत अनुभव का नाम ही ज्ञान है। इसीके आधार पर हमारे व्यवहार वर्तमान में चलते हैं और उनके भविष्य में होने वाले परिणाम का हम अनुमान कर पाते हैं।

वेदों में संचित ज्ञान को जब हम इस तुला पर तोलते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि उनमें कल्प-कल्पान्तरों की अतीत [तथा अनागत] घटनाओं, भौगोलिक परिवर्तनों तथा अन्य तथ्यों का होना नितान्त सम्भव है। इससे सर्व-ज्ञानसम्पन्न वेदों की न तो अनादिता पर ही आंच आती है और न उनके ईश्वर-कर्तृत्व पर ही।

मैं स्वयं वेदों को अनादि मानता हूँ। किन्तु मेरी निश्चित धारणा है कि अननुमेय पुरातन काल के विमल अन्तः-करण वाले ऋषि-समुदाय को परम-पवित्र ज्योतिर्मयी ऋचाओं का साक्षात्कार जिन पवित्र क्षणों में हुआ था, वेदों में उनसे भी पूर्व कल्प-कल्पान्तरों की अतीत एवं अनागत घटनाओं की ओर संकेत होना चाहिये। कदाचित् ऐसा न होता तो अल्पज्ञ मानव उस अज्ञात अतीत से वर्तमान काल की कड़ी को ही न जोड़ पाता और न उज्वल भविष्य का ही निर्माण कर सकता। इस लिये मानव-चेतना के पूर्व की घटनाओं की सूचना यदि हमें वेदों में मिल रही हो तो हमें उसे बिना किसी हिच-किचाहट के स्वीकार कर लेना चाहिये।

मैंने श्री उदयवीर शास्त्री के "ऋग्वेद में नदियाँ" शीर्षक लेख को और उस पर चल रही चर्चा को बड़े मनोयोग से पढ़ा है। मुझे विश्वास है कि उन्होंने भी खोज करते समय अपनी "निजी मान्यताओं और विश्वासों" के साथ लेख का कोई सम्पर्क नहीं रक्खा होगा। और इस प्रकार अपनी की हुई निष्पक्ष खोजों को उन्होंने प्रकृति की आवर्तन-शील घटनाओं के ही रूप में देखा होगा। मेरे उपरि-लिखित मन्तव्य पर यदि एक भाई जी तनिक गंभीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो उनकी "वेदना" न केवल कम होगी प्रत्युत उन्हें यह जान कर सन्तोष एवं प्रसन्नता होगी कि "जिन ईमानदार आत्मवान् स्वतंत्र विचारकों के बल पर आर्य समाज दयानन्द की प्रदत्त थाती का संरक्षक होने का दावा कर सकता है और तर्क को ऋषि के सुमहान् पद पर आरूढ़ करने का जो श्रेय आर्य-समाज को है उसके संरक्षकों में से एक आज "च्युत" नहीं हो रहा प्रत्युत वैदिक-धर्म के गौरव बढ़ाने की अनवरत चेष्टा कर रहा है।

उद्देश्य चाहे जो हो, परन्तु पाश्चात्य विचारकों ने अपने प्रबल प्रचार की संगठित-शक्ति के द्वारा महान् असत्य को भी सत्य-सा सिद्ध कर दिया है। उन्हीं के शस्त्रों और उन्हीं की रीति से इस भ्रमात्मक मान्यता का निराकरण करना सम्भवतः श्री उदयवीर शास्त्री का लक्ष्य है। वह अपने इस कार्य में पर्याप्त अंशों तक सफल हुए हैं। फिर भी श्री गंगा प्रसाद जी के शब्दों में शास्त्री जी के "अभिप्राय की पूर्ति की आशा दुराशा मात्र है।" आदरणीय आलोचक के लेख से ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वयं उनके ही विश्वासों का महल ढहा जा रहा हो। यदि ऐसा न होता तो वे अपने संचित अमित ज्ञान-कोष से अपनी भी कुछ तर्क-सिद्ध मान्यताएं प्रस्तुत करते। परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया सम्भवतः मूल-लेखक का "वर्णन इतना सुव्यवस्थित और नियमित हुआ है कि उसे(अब) आकस्मिक कह देना साहस मात्र" ही हो गया है।

श्री उदयवीर शास्त्री ने नदी और नामों की "साहश्यता" देख कर एक कल्पना की है तो विद्यालंकार श्री जयदेव जी दूसरी कल्पना करते हैं कि "वेदों में इन नामों का क्रम से पाठ देख कर ऋषियों ने नदियों के ये नाम रख लिये हों ऐसा भी तो सम्भव है और यह तभी सम्भव है जब वेदों की सत्ता आर्यों के पास इन भूमियों में संक्रमण करने से भी पूर्व मान ली जाय।" ऐसा भी यदि मान लिया जाय तो भी आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार की बात यथापूर्व बनी रहती है और यही मूल-लेखक को अभीष्ट है।

समझता हूँ श्री उदयवीर शास्त्री को इसके मान लेने में कोई विशेष आपत्ति न होगी क्योंकि उनकी निजी "मान्यतायें" वेदों को अनादि ही मानती हैं और यह भी मानती हैं कि उनका आविर्भाव भारत में ही हुआ था।

श्री जयदेव जी से मैं सम्मान-पूर्वक यह जिज्ञासा करता हूँ कि "सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने वैदिक-सम्प्रदाय में 'आपः' को नदी का पर्य्याय या उपलक्षण मान कर ही नदी देवता कहा है।" यह उन्होंने कैसे और कहां से समझा? आपके मतानुसार उद्धृत मंत्र का देवता "आपः" या "सिन्धु" होना चाहिये। किन्तु हुआ नहीं, यही दुख है। सम्भव है 'नदी' देवता रखने में विशेष अभिप्राय रहा हो। नदी उस जल को कहते हैं जो बहता हुआ किसी एक दिशा की ओर निश्चित मार्ग से जा रहा हो। क्या आपः और सिन्धु (समुद्र) में वह बात आती है। इसके अतिरिक्त निघण्टु में खोज करने पर भी मुझे नदी का आपः अथवा आपः का नदी पर्य्याय नहीं मिला। श्री जयदेव जी के सदृश विद्वान् को अपनी मनमानी मान्यताओं को कात्यायन के सिर पर थोपते देख कर अवश्य ही दुःख होता है।

इस सम्बन्ध में पुष्टीकरण के लिये जयदेव जी ने अनेकों उदाहरण दिये हैं जिनमें ये नदियां "मानव-वाणी बोलती है।" "नमस्ते करती हैं" "हर्ष और स्पर्धा करती हैं।" "वचन को सुनती हैं।" "झुक कर प्रणाम करती हैं।" "कामना का अनुभव करती हैं।" और "प्रसव की याचना करती हैं।" इतना ही नहीं "वे घर और स्थान (भी) चाहती हैं।" क्योंकि "उन्हें लज्जाशील होने का उपदेश है।" और "वे धन सम्पन्न हैं।" परन्तु "ये सब बातें महिलाओं में ही सम्भव हैं।" तब यहां पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ऋचाओं की रचना महिलाओं की सृष्टि के बाद हुई थी क्या? और यदि पहले हुई थी और ये "लाक्षणिक प्रयोग" हैं तो हमारे आदरणीय विद्वान् को नदियों के सम्बन्ध में उन्हें "लाक्षणिक प्रयोग" अथवा उस ज्ञानमय स्वयंभू कवि की "कवि-कल्पना सिद्ध" मानने में क्यों आपत्ति है? त्रिविध-ज्ञान-सम्पन्न वेदों के भौतिक अर्थ लेने में उन्हें इतनी हिच-किचाहट होने का कारण क्या है? महर्षि दयानन्द के "नदी दृष्टान्तेन स्त्री वर्णनम्" का उद्धरण देने से तो समाधान बुद्धि-गम्य नहीं होता। यहां पर यह भी तो विचार करना होगा कि स्वयं स्वामी जी ने भी नदी शब्द कह कर वेदों में नदी-वर्णन की सत्ता स्वीकार की है।

जहां तक "यूरोपीय विद्वान् और तदनुगामी भारतीयों की अपनी स्थापनाओं में स्वयं सन्देह होने" का प्रश्न है वहां पर यह बात अधिक दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि विशुद्ध भारतीय-दृष्टि-कोण से व्याख्या करने वालों में सम्भवतः यह बात अधिक प्रबल है। यदि ऐसा न होता तो विभिन्न भाष्यों में विपरीत एवं विभिन्न अर्थ-योजनाएं न दिखायी पड़तीं। आपकी प्रस्तुत आलोचना इसका एक सुन्दर उदाहरण बन सकती है जिसमें नदी के लिये कौन सा अर्थ स्वीकृत करना चाहिये यह स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि इसमें नदी, जल, स्त्री और नाड़ी-संस्थान की ओर एक साथ संकेत कर दिया गया है।

श्री जयदेव जी ने उदयवीर जी के कुछ वाक्यों के अवतरण अनुक्रम की संख्या देते हुए दिये हैं। उनमें से १ से ९ तक के अनुक्रमों के सम्बन्ध में कुछ न लिखना ही उचित है क्यों कि चारों वेदों के भाष्यकार, विद्यालंकार मीमांसा-तीर्थ श्री जयदेव की पवित्र लेखनी के अपेक्षित स्तर से वह बहुत नीचे उतर गये हैं। दशम अनुक्रम में उन्होंने इन ऋचाओं में वर्णन की गयी नदियों के अर्थ के सम्बन्ध में "नाभि के नीचे संस्थान" पर "दृष्टिपात" किया है क्योंकि मन्त्र में "ये नाम उन क्रियाओं से सम्बद्ध ज्ञान तन्तु (nerues) का निर्देश करते हैं।" पर मूल लेखक के कथनानुसार "यह बात तो मुंह से कह देने मात्र की है।" अभी तक किसी विद्वान् की इस पर कोई विवेचनात्मक कृति नहीं प्रकाशित हुई। मेरी समझ में इस प्रकार से किये गये खींचतान के अर्थों में कोई विशेषता नहीं रहती। यह तो केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र है और अनपढ़ सन्त कवियों की वाणियों का मात्र अनुकरण ही दिखायी पड़ता है।

श्री जयदेव जी से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वह एक बार श्री उदयवीर जी द्वारा लिखित "सांख्य दर्शन का इतिहास" नामक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ के पृष्ठ २४ से ६८ तक का गम्भीरता-पूर्वक अनुशीलन अवश्य करें। और यदि समय मिले और सुलभ हो तो "राजस्थान-भारती" के भी जुलाई १९५६ के अंक को देख लें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि "अंधे को (चाहे) अंधेरे में बहुत दूर" की न सूझे परन्तु उन्हें तो अपना समाधान मिल ही जायगा। अनुक्रम ११ और १२ के सम्बन्ध में इन लेखों का पढ़ना जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त आवश्यक है। श्री जयदेव जी द्वारा दी गयी आलोचना से मूल लेखक की मान्यताओं और अकाट्य प्रमाणों में तनिक भी शिथिलता नहीं आती। (शेष टा० पृ० २)

विद्वानों के विचारार्थ—

ऋग्वेद की नदियां

[ले०—श्री० नारायणदास जी बहल, पटेलनगर, नई देहली]

इस शीर्षक से एक लेख श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्या-भास्कर, बीकानेर, के नाम से प्रकाशित हुआ है। उस में श्री शास्त्री जी को कहीं भ्रम हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। ऋग्वेद में २ सूक्त नदी १ नाम से आये हैं अर्थात् एक ऋग्वेद मण्डल ३, सूक्त, ३३ है, इस में १३ मंत्र हैं। दूसरा ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ है, इस में ९ मन्त्र हैं। इसी सूक्त पर ही श्री शास्त्री जी ने विचार किया है। इस सम्बन्ध में मैं केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि ऋग्वेद में सू० ३३ में नदियों के रूप, कर्म, स्वभाव आदि का वर्णन हुआ है और ऋ० मं० १० सू० ७५ में नदियों आदि के नाना प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन हो रहा है। प्रथम में नदियों की रचना, उनके प्रवाहण वा गति और उनसे लाभ आदि लेने का वर्णन हो रहा है। दूसरे सूक्त में इस के साथ कितने प्रकार के जल वा उनके गुण हैं, यह दर्शाया जा रहा है। प्रथम सूक्त में मेघ तथा हिम के द्रवित होने तथा पर्वतों के जल से स्रवित होने वाली नदियों, उनकी शीत, नाना प्रकार की सरल वा कुटिल गति, उनको नियमन करने तथा उनसे लाभ प्राप्त करने के विषय आदि प्रदर्शित हुए हैं। दूसरा सूक्त जिसपर श्री शास्त्री जी को भ्रम सा प्रतीत होता है, वह धरातल पर की नदियों के सम्बन्ध में नहीं, अपितु भूगर्भ से सम्बन्धित है। यद्यपि दोनों सूक्तों का देवता "नद्यः" है, परन्तु दोनों का साक्षात् करने वाले दो पृथक् पृथक् ऋषि हैं। एक का "विश्वामित्र" भूगोल शास्त्री तथा विशेषज्ञ और दूसरे का प्रत्यक्ष करने वाले "सिन्धुक्षित प्रियमेघ" भूगर्भ विद्या विशारद = विशेषज्ञ हैं। भूगोल और भूगर्भ विद्या दो भिन्न २ विषय है, अतः इन में भिन्नता का होना भी स्वाभाविक है। जो २ पदार्थ धरातल पर नग्न रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं, उन सबका ज्ञान भूगोल शास्त्री ही भूगोल विद्या द्वारा कराते हैं और जो जो भूमि के अन्तःस्थल में विद्यमान हैं, उन सब का ज्ञान भूगर्भ विशेषज्ञ इस विद्या-विज्ञान द्वारा कराते हैं। इस प्रकार जो जल तीव्र गति से प्रवाहित हो कर समुद्र यात्रा को पूर्ण कर रहे हैं, वे सब के सब पृथिवी तल पर ही विद्यमान हो रहे हैं और जो मन्द गति वाले (देखने में प्रायः स्थिर हुए से प्रतीत होते हैं) जल हैं वे भूमि माता के अन्तः स्थल (गर्भ) में विद्यमान हो रहे हैं। तीव्र गति वाले जल प्रायः एक ही रूप, कर्म और स्वभाव के होते हैं और वे प्रायः कृषि कर्म, शिल्प तथा विद्युत् आदि की रचना तथा वृद्धि और यातायात के लिये सर्वदा प्रयोग में लाये जाते हैं और ये जल मात्रा में अक्षय हैं इत्यादि। मन्द गति वाले जल प्रायः नाना प्रकार के रोगों का निवारण करने, कला यन्त्रों आदि में प्रयोग करने के काम आते हैं। भूमि के अन्दर होने वाले प्रकार के जल किस २ गुण-अवगुण को धारण किये हुए हैं और कौन कौन से जल क्या २ प्रभाव डालने का सामर्थ्य है, इसका वर्णन ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ के मन्त्र ५-७ तक में हो रहा है न कि नदियों के नामों का।

वेद प्रभु की वाणी है जो **न ममार न जीर्यति** ॥ अ० १० । ८ । ३२ ॥

प्रभु की वाणी केवल भारत खण्ड के वास्ते नहीं हो सकती, यह सर्व सम्मत विचार और निश्चित धारणा है। प्रभु देव की वाणी सारे मानव जगत् और उससे सम्बन्ध रखने वाले भूगोल, भूगर्भ तथा खगोल ज्ञान-विज्ञान का प्रदर्शन करने-कराने के लिये है। जो ३ दिव्य शक्ति संसार की रचना वा स्थिरता आदि के लिये सहायक हो रही है उस उस का वर्णन समूचे रूप से हो रहा है, किसी विशेष वस्तु या खण्ड के वास्ते नहीं यदि ऐसा हो तो प्रभु का ज्ञान एकदेशीय होगा अथवा संसार भर की जितनी नदियाँ तथा भूखण्ड हैं उन सब का उल्लेख वेद से प्रदर्शित करना होगा। परन्तु वेद में इन दोनों में से कोई भी अवस्था दीख नहीं पड़ती, अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ मन्त्र ५–७ तक में भी नदियों के नामों का वर्णन नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन हो रहा है, जैसे:-

१. **गंगा** = ज्ञान प्राप्त कराने वाले जल, रस वा जल नाड़ियाँ
२. **यमुना** = शरीर के अवयवों को सुव्यवस्थित करने व संयम में रखने के लिये लाभदायक होने वाले;
३. **सरस्वती** = उत्तम वाणी, विद्या वा बुद्धि को विकसित करने वाले;

४. शुतुद्री = वेग से गति करने वाले;
५. पुरुष्णी = कुटिलताकी ओर ले जाने वाले, दर्शनीय;
६. मरुद्वृधा = प्राणों के लिये कष्टप्रद;
७. वितस्ता = शरीर में ताप को स्थिर करने वाले;
८. असिक्नी = श्वेत वर्ण वाले;
९. सुषोमा = वीर्य्य और बल देने वाले;
१०. आर्जीकिया = मस्तकको स्थिर तथा नीरोग करने वाले;
११. विपाट् = प्राण हरण करने वाले;
१२. तृष्टामा = खाये हुए भोजन को पचाने वाले;
१३. ससतु = भोजन पचने पर रसों को अपने २ स्थान पर रखने वाले;
१४. रसा = समस्त संसार में एक रस व्यापने वाले प्रशंसित;
१५. श्वेत्या = रक्त उत्पन्न करने वाले;
१६. कुभा = त्वचा आदिका निर्माण वा रक्षा करनेवाले;
१७. गोमती = वाणी को स्पष्ट करने वाले;
१८. क्रुमु = उत्साह उत्पन्न करने वा अङ्गों में स्फूर्ति लाने वाले;
१९. मेहत्नु = मूत्र बनाने वा गिराने वाले;
२०. ऋजु = सरल गति वाले, जिससे शरीर में उष्णता बनी रहे;
२१. एनी = मज्जा आदि को बढ़ाने वाले;
२२. रुशती = कान्ति देने वा ओज आदि धातु बढ़ाने वाले।

इनमें से कई तो चशमों के रूप में, कई कूपों के रूप में, कई वृद्ध वा क्षुद्र प्रवाहों के रूप में, कई अन्तःस्थल करेज़ों के रूप में, कई तड़ाग वा सरोवर के रूप में और कहीं कहीं जलाशय आदि के रूप में दीख पड़ते हैं।

वेद का कथन है कि **पृथिवी शरीरम्** ॥ अ० ५,९,७॥

पृथिवी शरीर के समान है। यदि इस आधार पर जल नाडियों का विश्लेषण किया जाय तो भी यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त के मन्त्र ५–७ तक में जिन धाराओं वा शिराओं का वर्णन हुआ है वे मुख्यतर प्रतीत होती हैं। आयुर्वेद में चरक संहिता, शरीर स्थान ४, अध्याय ७, १४,१५ के अनुसार ७०० शिरायें और २०० धमनियें कही गई हैं। परन्तु इन ९०० में से २४ स्थूल रूप में दीख पड़ती हैं। वेदवाणी पत्रिका के पृष्ठ १२ पर श्री शास्त्री जी ने यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ११ की प्रतीक देकर अपने विचार की पुष्टि का यत्न किया है, वह भी पूरा होता प्रतीत नहीं होता। इस सारे वेद मन्त्र का जो भाष्य ऋषि दयानन्द ने किया है, वह निम्न प्रकार है:—

पञ्च॑ न॒द्यः॑ सर॑स्वती॒मपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः।
सर॑स्वती॒ तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित्॥

यजु. ३४।११॥

अर्थ—(पञ्च) पञ्च ज्ञानेन्द्रियवृत्तयः (नद्यः) नदीवत्प्रवाहरूपा (सरस्वतीम्) प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् (अपि) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सस्रोतसः) समानं मनो रूपं स्रोतः प्रवाहो यासान्ताः (सरस्वती) (तु) अवधारणे (पञ्चधा) पञ्च ज्ञानेन्द्रियशब्दादि विषयप्रतिपादनेन पञ्चप्रकाराः (सा) (उ) (देशे) स्वनिवासे स्थाने (अभवत्) भवति (सरित्) या सरति गच्छति सा॥ भाषार्थः—

(सस्रोतसः) एक मन रूप प्रवाहों वाली (पञ्च) पाँच (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाह रूप ज्ञानेन्द्रिय की वृत्ति जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान युक्त वाणी को (अपि, यन्ति) प्राप्त होती है (सा, उ) वह भी (सरित्) चलने वाली (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पञ्चधा) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि पाँच विषयों का प्रतिपादन करने से पाँच प्रकार की (तु) ही (अभवत्) होती है॥

इस से स्पष्ट है कि "सरस्वती" का अर्थ वाणी है, कैसी वाणी जो प्रशस्त और विद्यायुक्त है, यह इसका यहाँ मुख्य अर्थ अभिप्रेत है। भावार्थ करते हुए ऋषि दयानन्द ने यहां वाचकलु० अलंकार माना है और कहा है कि **"मनुष्यैर्या वाणी पञ्चशब्दादिविषयाश्रिता परिवर्त्तते तां विज्ञाय यथावत्प्रसार्य मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोक्तव्या"** ॥ यदि सरस्वती देवता के नाम पर वेद को सरस्वती नदी का वर्णन ही करना था तो अन्य कई नदियाँ भी तो हैं जो जल धारा में जल के गुणों, में प्रवाह मार्ग तथा तीव्र गति में सरस्वती नदी से कहीं वृद्धतर हैं। उन्होंने क्या अपराध वा पाप किया था जो उनको देवता नाम से वञ्चित रखा गया। इसके अतिरिक्त भारत में ब्रह्मपुत्रा बड़ी वेगवाली नदी है, जिसमें व्यापार तथा यातायात के लिये मध्य श्रेणी की तरणियें भी गमनागमन कर रही हैं। उसका नाम वेद में नहीं आया है। यह नदी भी भारत खण्ड से स्रवित होती है। क्या यह मान लिया जाये कि वेदोत्पत्ति काल तक इस नदी का स्राव नहीं हुआ था या आर्य वीर इस सीमा तक नहीं पहुँचे थे। यह युक्ति भी असंगत प्रतीत होती है केवल यही धारणा कि वेद में जलों के गुणों का ही वर्णन है सत्य है, अन्य नहीं॥

विद्वानों के विचारार्थ—

ऋग्वेद की नदियां

[ले०—श्री० नारायणदास जी बहल, पटेलनगर, नई देहली]

इस शीर्षक से एक लेख श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्या-भास्कर, बीकानेर, के नाम से प्रकाशित हुआ है। उस में श्री शास्त्री जी को कहीं भ्रम हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। ऋग्वेद में २ सूक्त नदी १ नाम से आये हैं अर्थात् एक ऋग्वेद मण्डल ३, सूक्त, ३३ है, इस में १३ मंत्र हैं। दूसरा ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ है, इस में ९ मन्त्र हैं। इसी सूक्त पर ही श्री शास्त्री जी ने विचार किया है। इस सम्बन्ध में मैं केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि ऋग्वेद में सू० ३३ में नदियों के रूप, कर्म, स्वभाव आदि का वर्णन हुआ है और ऋ० मं० १० सू० ७५ में नदियों आदि के नाना प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन हो रहा है। प्रथम में नदियों की रचना, उनके प्रवाहण वा गति और उनसे लाभ आदि लेने का वर्णन हो रहा है। दूसरे सूक्त में इस के साथ कितने प्रकार के जल वा उनके गुण हैं, यह दर्शाया जा रहा है। प्रथम सूक्त में मेघ तथा हिम के द्रवित होने तथा पर्वतों के जल से स्रवित होने वाली नदियों, उनकी शीत, नाना प्रकार की सरल वा कुटिल गति, उनको नियमन करने तथा उनसे लाभ प्राप्त करने के विषय आदि प्रदर्शित हुए हैं। दूसरा सूक्त जिसपर श्री शास्त्री जी को भ्रम सा प्रतीत होता है, वह धरातल पर की नदियों के सम्बन्ध में नहीं, अपितु भूगर्भ से सम्बन्धित है। यद्यपि दोनों सूक्तों का देवता "नद्यः" है, परन्तु दोनों का साक्षात् करने वाले दो पृथक् पृथक् ऋषि हैं। एक का "विश्वामित्र" भूगोल शास्त्री तथा विशेषज्ञ और दूसरे का प्रत्यक्ष करने वाले "सिन्धुक्षित प्रियमेघ" भूगर्भ विद्या विशारद = विशेषज्ञ हैं। भूगोल और भूगर्भ विद्या दो भिन्न २ विषय है, अतः इन में भिन्नता का होना भी स्वाभाविक है। जो २ पदार्थ धरातल पर नग्न रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं, उन सबका ज्ञान भूगोल शास्त्री ही भूगोल विद्या द्वारा कराते हैं और जो जो भूमि के अन्तःस्थल में विद्यमान हैं, उन सब का ज्ञान भूगर्भ विशेषज्ञ इस विद्या-विज्ञान द्वारा कराते हैं। इस प्रकार जो जल तीव्र गति से प्रवाहित हो कर समुद्र यात्रा को पूर्ण कर रहे हैं, वे सब के सब पृथिवी तल पर ही विद्यमान हो रहे हैं और जो मन्द गति वाले (देखने में प्रायः स्थिर हुए से प्रतीत होते हैं) जल हैं वे भूमि माता के अन्तः स्थल (गर्भ) में विद्यमान हो रहे हैं। तीव्र गति वाले जल प्रायः एक ही रूप, कर्म और स्वभाव के होते हैं और वे प्रायः कृषि कर्म, शिल्प तथा विद्युत् आदि की रचना तथा वृद्धि और यातायात के लिये सर्वदा प्रयोग में लाये जाते हैं और ये जल मात्रा में अक्षय हैं इत्यादि। मन्द गति वाले जल प्रायः नाना प्रकार के रोगों का निवारण करने, कला यन्त्रों आदि में प्रयोग करने के काम आते हैं। भूमि के अन्दर होने वाले प्रकार के जल किस २ गुण-अवगुण को धारण किये हुए हैं और कौन कौन से जल क्या २ प्रभाव डालने का सामर्थ्य है, इसका वर्णन ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ के मन्त्र ५-७ तक में हो रहा है न कि नदियों के नामों का।

वेद प्रभु की वाणी है जो **न ममार न जीर्यति** ॥ अ० १० । ८ । ३२ ॥

प्रभु की वाणी केवल भारत खण्ड के वास्ते नहीं हो सकती, यह सर्व सम्मत विचार और निश्चित धारणा है। प्रभु देव की वाणी सारे मानव जगत् और उससे सम्बन्ध रखने वाले भूगोल, भूगर्भ तथा खगोल ज्ञान-विज्ञान का प्रदर्शन करने-कराने के लिये है। जो ३ दिव्य शक्ति संसार की रचना वा स्थिरता आदि के लिये सहायक हो रही है उस उस का वर्णन समूचे रूप से हो रहा है, किसी विशेष वस्तु या खण्ड के वास्ते नहीं यदि ऐसा हो तो प्रभु का ज्ञान एकदेशीय होगा अथवा संसार भर की जितनी नदियाँ तथा भूखण्ड हैं उन सब का उल्लेख वेद से प्रदर्शित करना होगा। परन्तु वेद में इन दोनों में से कोई भी अवस्था दीख नहीं पड़ती, अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ मन्त्र ५–७ तक में भी नदियों के नामों का वर्णन नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन हो रहा है, जैसे:—

१. **गंगा** = ज्ञान प्राप्त कराने वाले जल, रस वा जल नाड़ियाँ
२. **यमुना** = शरीर के अवयवों को सुव्यवस्थित करने व संयम में रखने के लिये लाभदायक होने वाले;
३. **सरस्वती** = उत्तम वाणी, विद्या वा बुद्धि को विकसित करने वाले;

४. शुतुद्री = वेग से गति करने वाले;
५. पुरुष्णी = कुटिलताकी ओर ले जाने वाले, दर्शनीय;
६. मरुद्वृधा = प्राणों के लिये कष्टप्रद;
७. वितस्ता = शरीर में ताप को स्थिर करने वाले;
८. असिक्नी = श्वेत वर्ण वाले;
९. सुषोमा = वीर्य्य और वल देने वाले;
१०. आर्जीकिया = मस्तकको स्थिर तथा नीरोग करने वाले;
११. विपाट् = प्राण हरण करने वाले;
१२. तृष्टामा = खाये हुए भोजन को पचाने वाले;
१३. ससतु = भोजन पचने पर रसों को अपने २ स्थान पर रखने वाले;
१४. रसा = समस्त संसार में एक रस व्यापने वाले प्रशंसित;
१५. श्वेत्या = रक्त उत्पन्न करने वाले;
१६. कुभा = त्वचा आदिका निर्माण वा रक्षा करनेवाले;
१७. गोमती = वाणी को स्पष्ट करने वाले;
१८. क्रुमु = उत्साह उत्पन्न करने वा अङ्गों में स्फूर्ति लाने वाले;
१९. मेहत्नु = मूत्र बनाने वा गिराने वाले;
२०. ऋजु = सरल गति वाले, जिससे शरीर में उष्णता बनी रहे;
२१. एनी = मज्जा आदि को बढ़ाने वाले;
२२. रुशती = कान्ति देने वा ओज आदि धातु बढ़ाने वाले।

इनमें से कई तो चश्मों के रूप में, कई कूपों के रूप में, कई वृद्ध वा क्षुद्र प्रवाहों के रूप में, कई अन्तःस्थल करेज़ों के रूप में, कई तड़ाग वा सरोवर के रूप में और कहीं कहीं जलाशय आदि के रूप में दीख पड़ते हैं।

वेद का कथन है कि पृथिवी शरीरम्॥ अ० ५,९,७॥

पृथिवी शरीर के समान है। यदि इस आधार पर जल नाडियों का विश्लेषण किया जाय तो भी यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त के मन्त्र ५–७ तक में जिन धाराओं वा शिराओं का वर्णन हुआ है वे मुख्यतर प्रतीत होती हैं। आयुर्वेद में चरक संहिता, शरीर स्थान ४, अध्याय ७, १४,१५ के अनुसार ७०० शिरायें और २०० धमनियें कही गई हैं। परन्तु इन ९०० में से २४ स्थूल रूप में दीख पड़ती हैं। वेदवाणी पत्रिका के पृष्ठ १२ पर श्री शास्त्री जी ने यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ११ की प्रतीक देकर अपने विचार की पुष्टि का यत्न किया है, वह भी पूरा होता प्रतीत नहीं होता। इस सारे वेद मन्त्र का जो भाष्य ऋषि दयानन्द ने किया है, वह निम्न प्रकार है:—

पञ्च॑ न॒द्यः॒ सर॑स्वती॒मपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः।
सर॑स्वती॒ तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित्॥

यजु. ३४।११॥

अर्थ—(पञ्च) पञ्च ज्ञानेन्द्रियवृत्तयः (नद्यः) नदीवत्प्रवाहरूपा (सरस्वतीम्) प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् (अपि) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सस्रोतसः) समानं मनो रूपं स्रोतः प्रवाहो यासान्ताः (सरस्वती) (तु) अवधारणे (पञ्चधा) पञ्च ज्ञानेन्द्रियशब्दादि विषयप्रतिपादनेन पञ्चप्रकाराः (सा) (उ) (देशे) स्वनिवासे स्थाने (अभवत्) भवति (सरित्) या सरति गच्छति सा॥ भाषार्थः—

(सस्रोतसः) एक मन रूप प्रवाहों वाली (पञ्च) पाँच (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाह रूप ज्ञानेन्द्रिय की वृत्ति जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान युक्त वाणी को (अपि, यन्ति) प्राप्त होती है (सा, उ) वह भी (सरित्) चलने वाली (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पञ्चधा) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि पाँच विषयों का प्रतिपादन करने से पाँच प्रकार की (तु) ही (अभवत्) होती है॥

इस से स्पष्ट है कि "सरस्वती" का अर्थ वाणी है, कैसी वाणी जो प्रशस्त और विद्यायुक्त है, यह इसका यहाँ मुख्य अर्थ अभिप्रेत है। भावार्थ करते हुए ऋषि दयानन्द ने यहाँ वाचकलु० अलंकार माना है और कहा है कि **"मनुष्यैर्या वाणी पञ्चशब्दादिविषयाश्रिता परिवर्त्तते तां विज्ञाय यथावत्प्रसार्य मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोक्तव्या"**॥ यदि सरस्वती देवता के नाम पर वेद को सरस्वती नदी का वर्णन ही करना था तो अन्य कई नदियाँ भी तो हैं जो जल धारा में जल के गुणों, में प्रवाह मार्ग तथा तीव्र गति में सरस्वती नदी से कहीं वृद्धतर हैं। उन्होंने क्या अपराध वा पाप किया था जो उनको देवता नाम से वञ्चित रखा गया। इसके अतिरिक्त भारत में ब्रह्मपुत्रा बड़ी वेगवाली नदी है, जिसमें व्यापार तथा यातायात के लिये मध्य श्रेणी की तरणियें भी गमनागमन कर रही हैं। उसका नाम वेद में नहीं आया है। यह नदी भी भारत खण्ड से स्रवित होती है। क्या यह मान लिया जाये कि वेदोत्पत्ति काल तक इस नदी का स्राव नहीं हुआ था या आर्य वीर इस सीमा तक नहीं पहुँचे थे। यह युक्ति भी असंगत प्रतीत होती है केवल यही धारणा कि वेद में जलों के गुणों का ही वर्णन है सत्य है, अन्य नहीं॥

विविध समाचार

१० लाख डिग्री तापमान रूसी वैज्ञानिक पैदा करने में सफल—

लन्दन—२ जन० । मास्को रेडियो ने रूस में १९५७ में हुई वैज्ञानिक प्रगति की फ्रांसीसी भाषा में समीक्षा प्रसारित करते हुए दावा किया है कि रूसी वैज्ञानिकों ने गत वर्ष १० लाख डिग्री से भी अधिक तापमान पैदाकर परमाणुविघटन प्रक्रिया के नियन्त्रण की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है । इस प्रकार उद्जन बम के विस्फोट से जितनी गर्मी पैदा होती है उतनी अब प्रयोगशाला में ही पैदा करना सम्भव हो गया है ॥

मनुष्य को अन्तरिक्ष में भेजकर लौटाना सम्भव

वाशिंगटन—४ जन० । क्षेप्यास्त्र और नकली उपग्रहों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने वाली सेनेट की विशेष समिति और रिपब्लिकन पार्टी के सदस्य श्री राल्फ फ्लैंडर्स ने यहां भविष्य वाणी की कि निकट भविष्य में यह सम्भव हो जायेगा कि किसी व्यक्ति को नकली उपग्रह के द्वारा अन्तरिक्ष में भेज दिया जाय और उसे सही-सलामत पृथ्वी पर उतार लिया जाय । आपने बताया कि कैलिफोर्निया में हाल में जो कुछ देखा है उसी के आधार पर हम ऐसी भविष्य वाणी कर रहे हैं । हमारे पास ऐसे लोग है, जो नकली उपग्रह में बैठकर अन्तरिक्ष में जाने को उत्सुक हैं ॥

एक लाख वर्ष पूर्व भी लोहे पर काम किये जाने का प्रमाण

मास्को—९ जन० । दक्षिणी रूस में ताशकन्द के निकट एक गुफा का पता लगा है जिसमें एक लाख वर्ष पूर्व मनुष्य रहते थे । यहाँ मिली अन्य वस्तुओं में मैगनेटाइट के टुकड़े भी हैं । जिन पर उस समय के मनुष्यों द्वारा कुछ काम करने का आभास मिलता है । वैज्ञानिकों का कहना है कि इतने प्राचीन समय में लोहे पर काम किये जाने की यह पहली खोज है ॥

बिना ईंधन लिये एक उपग्रह से दूसरे उपग्रह की यात्रा सम्भव

लन्दन—१३ जन० । मास्को रेडियो ने बताया हैं कि परमाणु शक्ति के नियंत्रित किये जाने से बीच में बिना ईंधन लिये एक उपग्रह से दूसरे उपग्रह की यात्रा सम्भव हो गई है । रेडियो ने आगे बतलाया कि अब अनेक प्रकार की प्राविधिक समस्याएं हल की जा सकती है । रूसी वैज्ञानिक इस बात का पता लगा रहें हैं कि चन्द्रमा तथा अन्य निकटस्थ उपग्रहों की यात्रा के लिये उपयुक्त मार्ग कौनसा होगा । ऐसी यात्राओं पर होनेवाले खर्च का भी अनुमान लगाया जा रहा है ॥

हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के समाचार

२८ दिस०—सार्वदेशिक भाषा-स्वातन्त्र्य समिति के कार्यकारी प्रधान श्री नरेन्द्रजी ने हिन्दी-सत्याग्रह की शानदार सफलता पर गर्व प्रकट करते हुए घोषणा की कि इसकी सफलता आर्यसमाज की वह देन है, जिसपर वर्तमान ही नहीं, आनेवाली सन्तान भी कृतज्ञता के साथ आनन्द विभोर हुआ करेगी । इसको सफल बनाने के लिये जिन वीरों और वीरांगनाओं ने अनुपम तप, त्याग, और बलिदान किया तथा जेलों से बाहर रहकर अनथक परिश्रम किया मैं उन सबको हृदय से बधाई देता हूँ ।

११ जन०—आज पंजाब सरकार ने फिरोज़पुर जेल में हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रहियों पर हुए अन्धाधुन्ध लाठीचार्ज के बारे में न्यायाधीश एस. वी. कपूर की जाँच रिपोर्ट प्रकाशित करदी । स्मरण रहे उक्त लाठीचार्ज २४ अगस्त १९५[illegible] को हुआ था ।

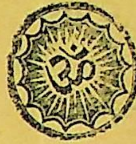
रिपोर्ट में कहा गया है कि अन्धाधुन्ध १० मिनट के लाठीचार्ज से ३१० सत्याग्रहियों को ९७० चोटें आई इनमें से एक शहीद हो गया । २९ को सख्त चोटें आई और यदि डाक्टरों ने अच्छी तरह काम न किया होता तो कई अन्यों का भी देहान्त हो जाता । अपराधी कैदियों तथा जेल के वार्डरों ने कुछ सत्याग्रहियों के गुप्ताङ्गों पर भी लाठियाँ मारीं । सत्याग्रहियों पर उस समय भी लाठियां मारी गईं जबकि वे आराम कर रहे थे, पढ़ रहे थे, स्नानागार में थे ।

न्यायाधीश श्री कपूर ने लिखा है कि जेल का डिप्टी सुपरिंटेण्डेण्ट सरदार ईश्वरसिंह हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रहियों से बहुत चिढ़ा हुआ था और उसने इस अवसर का प्रयोग इन्हें पाठ पढ़ाने के लिये किया । इस कार्य के लिये जेल के सब नियम और कानून तोड़ दिये गये । डिप्टी सुपरिंटेण्डेण्ट ने अपराधियों को उभारा कि वे हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रहियों को पीटें और उन्हें "अच्छी तरह हिन्दी पढ़ायें" । डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट ने इन कैदियों को सत्याग्रहियों को "भगवान के घर" पहुँचाने को भी कहा । न्यायाधीश कपूर ने आगे लिखा है कि डिप्टी सुपरिंटेण्डेण्ट १५ दिन से अनशन कर रहे स्वामी परमानन्द जी को मरवाने पर तुला हुआ था । स्वामी जी को उसके सामने पीटा गया । यदि सत्याग्रही उन्हें न बचाते तो उनका देहान्त हो जाता ।

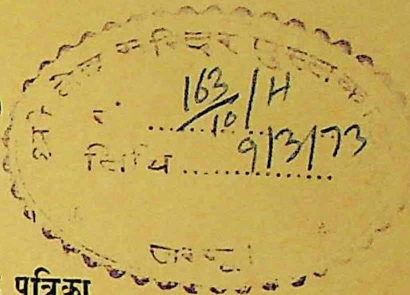
अन्त में न्यायधीश कपूर ने लिखा है कि यदि जेल कर्मचारी समझ से काम लेते तो लाठीचार्ज की आवश्यकता न पड़ती ॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी



श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]



[अङ्क ५

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

फाल्गुन २०१४ वि०, मार्च १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५७

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे
तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।
२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के
।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार
किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥
३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशे
विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।
४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १
७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा
७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।
५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक
चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक
अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।
६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञा
छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं
७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से न
८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन॑ गमेमहि॒ मा श्रुते॑न॒ वि रा॑धिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, फाल्गुन सं० २०१४ वि०, मार्च १९५८ ई० { अङ्क ५

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

दुःख मोचनहार दुःखों से पार करो !

जा॒तवे॑दसे सुनवाम॒ सोम॑मरातीय॒तो नि द॑हाति॒ वेदः॑।

स नः॑ पर्ष॒दति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॑ ना॒वेव॒ सिन्धुं॑ दुरि॒तात्य॒ग्निः ॥ ऋग्वेद १।७।७।१॥

दण्डान्वय टीका

(वयम्)	हमलोग	सोमम्[२]	अच्छे से अच्छा पदार्थ
जातवेदसे[१]	सर्वत्र विद्यमान अनन्त ज्ञान तथा धन के स्वामी के लिये	सुनवाम[३]	उत्पन्न कर अर्पण करते हैं (हे ईश्वर)

अर्थबोधक टिप्पणी—

१—जाताः ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदाः सर्वज्ञानप्रदा यस्मात्, तथा जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति, यद्वा जातं सकलम् जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदाः तस्मै जातवेदसे—पंचमहायज्ञ विधि दयानन्द कृत।

२— (अ) सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः—उ० १।१४०।
(आ) उत्तम पदार्थ समूह—दया० यजु० ४।२० (इ) सत्यं श्री ज्योतिः सोमः—श० ५।१।२।१०।

३—व्यु० षु० = प्रसवैश्वर्ययोः—भ्वा० to pour out, to churn।

अरातीयत:[४]	न देनेवाले के	पर्षत्[९] (उत्तारयतु)	ले जावे
वेद:[५]	धन तथा ज्ञान का	नावा	
निदहाति	बराबर नाश करते रहो	सिन्धुम्[१०] इव	नदी या समुद्र में नौका की तरह
सः अग्निः[६]	वह हमारा अगुआ ईश्वर	दुरिता	
नः	हमें	(अति)[११]	कष्ट के कारणों से परे
विश्वानि	सकल	(पर्षत्)	पालन करते हुए अच्छी तरह रखे
दुर्गाणि[७] अति[८]	कष्टों के पार		

ऋषिव्याख्यान--

हे "जातवेदसे" हे पर ब्रह्मन्। आप जातवेद हो, उत्पन्न मात्र सब जगत् को जानने वाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो, जो विद्वानों से ज्ञात, सब में विद्यमान, जात अर्थात् प्रादुर्भूत[१२] अनन्त धनवान् वा अनन्त ज्ञानवान् हो इससे आपका नाम जातवेद है, उन आपके लिये "[वयं] सोमम् सुनवाम" जितने सोम प्रिय गुण-विशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब आपके ही लिये हैं।[१३] सो आप हे कृपालो ! "अरातीयतः" दुष्टशत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी उसके "वेदः" धनैश्वर्यादि का "निदहाति" नित्य दहन करो, जिससे वह दुष्टता को छोड़के श्रेष्ठता को स्वीकार करे। सो[१४] "नः" हमको "दुर्गाणि विश्वा" सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से "अ: पर्षदति" पार करके आप नित्य सुखों को प्राप्त करो। "नावेव सिन्धुम्" जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र पार होने के लिये नौका होती है। "दुरितात्यग्निः" वैसे ही हमको सब पाप जनित अत्यन्त पीडाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में भी परम सुख को शीघ्र प्राप्त करो॥ ३३॥

४—व्यु० रा = दाने—अदा०। न राति ददाति सुखं इति अरातिः।

५— (अ) विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा सत्यवि[द्या] यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः—ऋग्वेदा०, व्यु० विद् = ज्ञाने—अदा०। विद् = सत्तायाम्—दिवा०। विद् = विचारणे—रुधा०, विद् = चेतनाख्याननिवासेषु—चुरा०।

(आ) धननाम निघ० २।१०।

६—अग्निरग्रणीर्भवति—निरुक्त ७।१४।

७—Difficulty, Adversity।

८—Beyond (९) व्यु० पृ = पालनपूरणयोः—जुहो०।

१०— (अ) Also नदी नाम निघ० १।१३।

(अ) स्यन्दन्ते प्रसवन्त्युदकान्यस्मिन्निति सिन्धुः—उ० १।११।

११—A bad course, evil, sin।

१२—प्रादुर्भूत = जितना धन संसार में है।

१३—आपके ही लिए है = आपकी चीज आपको अर्पण करते हैं। वस्तुओं के निर्माण में आप ही वास्तविक आदि निमित्त कारण हैं, कारण जिस शरीर द्वारा निर्माण कार्य होता है, वह भी आप का ही बनाया हुआ है, निर्मित वस्तु को भी पहिले पहल आपने ही दुनिया को दिया, तभी तो निर्मित वस्तुओं को आपको अर्पण करने में सुख अनुभव करते हैं।

१४—सो = इससे

मानवधर्म का मूल

[ले० श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज, वैदिक साधनाश्रम रोहतक]

आज संसार में भिन्न २ मतमतान्तरों के हो जाने से अपने २ समाज की उन्नति की चेष्टा प्रत्येक कर रहा है। मानव समाज को उन्नति की किसी को भी चिन्ता नहीं। आर्य समाज की उन्नति का प्रश्न पेश करता है कि आर्य समाज कैसे उन्नत हो? इसका हल विषय वासनाओं में फंसे हुये मनुष्य कभी नहीं कर सकते। न ही मतों वाले अपनी उन्नति के विचार पेश कर सकते हैं।

उन्नति तीन प्रकार की है १—शारीरिक २—आत्मिक और ३—सामाजिक। इन तीनों की उन्नति पूर्ण तब है जब आत्मिक उन्नति लक्ष्य हो, शरीर उसका साधन है, सामाजिक उन्नति उसका फल। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने पहले ही इसका हल बता दिया है। जबतक दीर्घ दर्शी ऋषियों के असूलों को समझ कर आचरण न किया जावेगा अन्य लोगों के सब विचार निष्फल सिद्ध होंगे।

प्रत्येक उन्नति के दो साधन होते हैं। पहला आचरण दूसरा त्याग। इन दोनों का फल है ज्ञान-बल और शान्ति। देखिये आत्मिक उन्नति के लिये ऋषिदयानन्द द्वारा बनाये आर्य समाज के नियम—

४–सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

८–अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

इन नियमों के पालन से ज्ञान बढ़ेगा, शारीरिक उन्नति ब्रह्मचर्य से होगी, इससे बल बढ़ेगा।

शान्ति का केन्द्र परमेश्वर है, इसके लिये पहला नियम–सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

जीवन का आचरण प्रत्येक आर्य का—

सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार कर करना चाहिये। यह पांचवा असूल है।

और सातवें में सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये। ये दो नियम मानव-जीवन के उन्नति कराने वाले हैं। विश्व धर्म सम्मेलन जो देहली में हुआ, उसमें भी राष्ट्रपति ने कहा कि मानव की आत्मा का विकास करना सर्व धर्मों का मूल है। मानव की आत्मा का पूर्ण विकास जिससे सच्ची शान्ति अथवा मोक्ष या निवार्ण पद प्राप्त कर सकते हैं, यही सब धर्मों का मूल है या ध्येय है।

कहने को तो सब धर्म यही कहते हैं, मगर आचरण कोई नहीं करता। इसलिये संसार में पतन ही पतन नजर आता है। प्रभुदेव हम सब मनुष्यों और धर्मावलम्बियों को ऐसी बुद्धि प्रदान करे कि जिससे हम ऋषि-महर्षियों के मार्ग को अपनाकर सुखी हो सकें।

[पृ० ६ का शेष]

वीराज १६ बार पराजित कर चुका था, उसी के सामने वीर्यहीन होकर स्वयं पराजित हो गया। उसी दिन से भारत की गुलामी शुरू हुई।

नैपोलियन जैसे योद्धा के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि जब उसके ह्रास का समय आया तो युद्ध पर जाने से पहले वह अपना खून स्वयं कर चुका था। ऐसे ही अभिमन्युकुमार के सम्बन्ध में गाथा है, वह चन्द्रमा के समान सुन्दर, सूर्य जैसा तेजस्वी युवक कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में गया, तो पहली रात वीर्य दान देकर गया और मारा गया। ब्रह्मचर्य निस्सन्देह इहलोक में भी विजय करता है और फिर परलोक में भी सफल बनाता है, इसीलिये आर्य ऋषियों ने मनुष्य-जीवन के चार भागों में से तीन भाग पूर्ण ब्रह्मचर्य में गुजारने का विधान बनाया और चौथे भाग गृहस्थ आश्रम में केवल संसार स्थिति के लिये ऋतु अनुकूल नियम पूर्वक जीवन व्यतीत करने का कड़ा नियम रखा। इतना महत्त्वपूर्ण यह तीसरा उपस्तम्भ है; जो शरीर को स्वस्थ बनाता है।

शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के ये तीन मुख्य साधन आयुर्वेद ने बतलाये हैं–आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य। इन अनमोल रत्नों से लाभ उठाइये और जब शरीर रूपी रथ ठीक अवस्था में हो, तो मानव जीवन के उद्देश्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होकर मंजिल पर पहुँच जाइये॥

ब्रह्मचर्य

[ले०—महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

ब्रह्मचर्य बड़ा पवित्र और चित्ताकर्षक शब्द है। इसका अर्थ है, ब्रह्म भगवान् में विचरना और निस्सन्देह ब्रह्म में वही विचर सकता है, जो अपने शरीर के वास्तविक भौतिक तत्त्व वीर्य या शुक्र को अपने वश में रखता है। जो अन्न मनुष्य खाता है, इसे पेट की जठराग्नि पकाती है और एक विशेष रसायन अन्न में मिल कर रस का रूप धारण करती है। यह रस फिर क्या कुछ करता है, इसका बड़ा सुन्दर विवरण धन्वन्तरि जी महाराज ने सुनाया है, वे कहते हैं कि:—

रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति ॥५॥
रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं करोति जीवयति च ॥६॥
मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च ॥७॥
मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च ॥८॥
अस्थि देहधारणं मज्जः पुष्टिं च ॥९॥
मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं,
पूरणमस्थ्नां च करोति ॥१०॥
शुक्रं धैर्यं च्यवनं देहबलं हर्षं बीजार्थं च ॥११॥
(सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १५)

"रस तृप्ति कारक है और रुधिर की पुष्टि करता है। रुधिर वर्ण को श्रेष्ठ करता है। मांस की पुष्टि करता है तथा जिलाता है। (उस रक्त से शरीर में जो मांस बनता है वह) मांस शरीर को पुष्ट करता है तथा मेद का पोषण करता है। (चर्बी) स्निग्धता, पसीना, दृढ़ता और अस्थियों का पोषण करती है। अस्थि देह को धारण करते हैं और मज्जा की पुष्टि करते हैं। मज्जा प्रसन्नता स्निग्धता बल और वीर्य को उत्पन्न करती है, शुक्र की पुष्टि और अस्थियों को पूर्ण करती है॥ वीर्य धीरता करता है, प्रीति, शरीर में बल और हर्ष को उत्पन्न करता है तथा सन्तानोत्पत्ति का कारण है।"

इस वीर्य के पश्चात् इसी वीर्य से शरीर में एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका नाम धन्वन्तरि जी ने "ओज" बतलाया है। यही आत्मदर्शन कराने में सहायक बनती है। जो लोग वीर्य का अधिक व्यय कर देते हैं, उनको ओज प्राप्त नहीं होता। ओज ही आत्मा के अवबोध का कारण है। ऐसे लोगों का आत्मा बलवान् नहीं हो सकता। न ही वे अपने स्वरूप को देख सकते हैं। वीर्य जैसे बहुमूल्य रत्न को पूरी सावधानी से संभाल कर रखने की आवश्यकता है, क्योंकि "ब्रह्म लोक केवल उन्हीं लोगों को मिलता है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं, ऐसे ही लोगों को सारे लोकों में स्वतन्त्रता होती है।"+

वीर्य किस प्रकार से सात आठ मंजिलों से गुजर कर अन्तिम रूप धारण करता है, यह सुश्रुतके वाक्य से ज्ञात हो जाता है। वीर्य शरीर का आधार स्तम्भ है और साथ ही आत्म-दर्शन का भी। यह लोक पर लोक दोनों का देने वाला है। इसी लिये इस को [illegible] भी कहा गया है।

ब्रह्मचर्य एक यज्ञ

छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें प्रपाठक का पाँचवां खण्ड ब्रह्म-चर्य के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है, उसमें ब्रह्मचर्य को यज्ञ बतलाते हुए लिखा है:—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनु विन्दते ॥१॥

जिसको (धार्मिक लोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उस परमात्मा को (ब्रह्मलोक को) पा सकते हैं और जिसको इष्ट कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह ढूंढ कर (इष्ट्वा) आत्मा को पा लेता है।

+ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां ॐ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥
(छा० उ० प्र० ८ ख० ४ मं० ३)

अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ।२।।

जिसको लोग सत्रायण कहते हैं वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह सत् (सत्य ब्रह्म) आत्मा की रक्षा (त्राण) को पाता है और जिसको मौन कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पुरुष आत्मा को ढूंढ़ कर के उस पर ध्यान जमाता है ।।२।।

यहां इष्ट यज्ञ तथा सत्रायण यज्ञ का वर्णन किया गया है। इष्ट का प्रयोजन "इष्ट्वा" आत्मा को ढूंढ़ निकालना है और सत्रायण का प्रयोजन— सत: + त्राणम्- (सत्=सत्यब्रह्म से) अपनी आत्मा की रक्षा से है।

लोक परलोक सुधारने वाला यज्ञ

यज्ञ के द्वारा जहां इस लोक में अपने इस शरीर तथा अन्त:करण को बलवान् शुद्ध और पवित्र बनाया जा सकता है, वहाँ यज्ञ ब्रह्मलोक में भी ले जाने वाला है। इसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में आया है। जब जनक जी ने यज्ञ के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य जी से छ: प्रश्न पूछे, तो उन्होंने बड़े विस्तार से इनका उत्तर दिया। होम की हुई आहुतियाँ जिस प्रकार एक सूक्ष्म रूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं और वह वायु तथा उसमें स्थित जल को स्वच्छ और पुष्ट करती हैं, तब वह मेघ के रूप में नीचे उतरता है और औषध, अन्न उत्पन्न होता है, जिससे वीर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार होम की हुई आहुतियाँ एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण कर यज्ञ करने वाले के अन्त:करण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है, जो श्रद्धा भक्ति पूर्ण विश्वास से यथाविधि आहुति देते समय एक आस्तिक व्यक्ति के चित्त पर उस कर्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं। यही वह धर्म है जो मृत्यु के पीछे मनुष्य के साथ [सूक्ष्म शरीर में वासना बनकर] जाता है।

इस प्रकार यज्ञ की आहुतियों के दो रूप हो गये, एक जो सूक्ष्म रूप से आकाश में प्रवेश करता है और दूसरा जो संस्कार रूप से अन्त:करण में। इनमें से आकाश सबका साझा है, इसलिये आकाश में प्रविष्ट आहुतियें सबके लिये सांझा फल देती हैं, अर्थात् वृष्टि और पुष्टि। परन्तु अन्त:करण तो सबका पृथक्-पृथक् है। सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियें, आहुतियाँ देने वाले ही का परलोक सुधारती हैं।

जिस प्रकार यज्ञ की आहुतियाँ लोक परलोक दोनों का सुधार करती हैं, इसी प्रकार शरीर का वीर्य भी लोक परलोक दोनों को सुधारता है। इसीलिये इसे यज्ञ का नाम दिया गया है। वीर्यवान् व्यक्ति सदा प्रसन्न रहेगा। उसे क्रोध नहीं आयेगा। वह शरीर के हर अंग को स्वस्थ रख सकेगा। उसकी बुद्धि तीव्र होगी और कभी निराश नहीं होगा। परन्तु वीर्य-हीन लोग सर्वदा रोगी रहेंगे। मुख मण्डल पर उदासीनता डेरा डाले बैठी रहेगी, जरा-जरा सी बात पर क्रुद्ध हो जाने का स्वभावसा बन जायेगा। चिड़चिड़ापन आ जायेगा। किसी भी कार्य में मन नहीं लगेगा।

गृहस्थी भी ब्रह्मचारी

गृहस्थ आश्रम में जानेवाले महानुभाव शंका कर सकते हैं कि गृहस्थी किस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है? इसका उत्तर भगवान् मनुने पहले ही दे रखा है:-

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।।
(मनुस्मृति)

"पहली निन्दित छ: रात्रियाँ तथा दूसरी ओर आठ रात्रियाँ कुल चौदह रात्रियों को छोड़कर जो पुरुष [महीने में] केवल दो रात्रि स्त्री प्रति गमन करता है, तो वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।

निन्दित छ: रात्रियाँ वही हैं जब स्त्री रजस्वला होती है और शास्त्र बतलाता है कि जब स्त्री मासिक-धर्म में हो तो ऐसी अवस्था में जो पुरुष संसर्ग करता है

+ जब बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते हैं, तो जो लोग उनमें सम्मिलित होते हैं उनको व्रती बनाकर ब्रह्मचर्य पालन करनेकी प्रतिज्ञा उनसे कराई जाती है। श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज इसीलिये यज्ञ करने वालों से व्रत धारण कराते हैं।

वह अपने आपको भी और अपनी पत्नी को भी अनेक प्रकार की बीमारियों का शिकार बना देता है। फिर इन रात्रियों के पश्चात् भी प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, एकादशी, द्वादशी चतुर्दशी और पूर्णिमा तिथियाँ हों, तो आयुर्वेद ने इनको भी वर्जित बतलाया है। इस मर्यादानुसार मास में दो ही रात्रियाँ मिलती हैं। इसीलिये मनु भगवान् ने इस मर्यादा पर चलने वालों को ब्रह्मचारी ही कहा है और ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी यही आदेश दिया है कि-

ऋतावतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥

ऋतु काल में अपनी धर्म पत्नी से शास्त्र आदेशानुसार केवल सन्तानार्थ समागम करने वाला पुरुष गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है।'

गृहस्थी के लिये और भी कितने ही नियम हैं जिनपर कटिबद्ध होने से स्त्री पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य का लाभ कर सकते हैं, सनातन वैदिक संस्कृति में तो विवाह केवल पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए हैं और हमारी संस्कृति ने विवाह को एक धार्मिक तथा पवित्र आश्रम बतलाया है, वर और कन्या एक दूसरे को वरते हुए अपना आत्म समर्पण करते हैं और वेद मंत्र अनुसार अपनी कान्ति, लक्ष्मी, महिमा तथा ज्ञान बढ़ाते हुए परमात्मा की कृपा के पात्र बनकर मोक्ष पाते हैं। परन्तु यह तभी हो सकता है जब स्त्री पुरुष दोनों अपना धर्म सम्बन्ध समझकर इन्द्रिय-संयम पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।

दो कफ़न तय्यार

इस जीवन तत्त्व ब्रह्मचर्य के रहस्य को यूनान (ग्रीस) के महात्मा सुकरात (साक्रेटीज़) ने भी समझा था, उनके जीवन में आता है कि एक बार स्त्री-पुरुष के सहवास सम्बन्ध में एक शिष्य ने सुकरात से पूछा:—

पुरुष को स्त्री प्रसंग कितनी बार करना उचित है?
सुकरात—जीवन भर में केवल एक बार।
शिष्य—यदि इससे तृप्ति न हो सके तो?
सुकरात—तो प्रति वर्ष एक बार।
शिष्य—यदि इससे भी सन्तुष्टि न हो तो?
सुकरात—फिर महीने में एक बार।
शिष्य—इससे भी मन न भरे तो?
सुकरात—तो महीने में दो बार कर ले, परन्तु मृत्यु शीघ्र आ जायेगी।
शिष्य—इतने पर भी इच्छा बनी रहे तब क्या करे।
सुकरात—फिर ऐसा करे, कि पहले कफ़न लाकर घर में रख ले, फिर जो इच्छा हो करे।

इस तथ्य की बात में इतना ही बढ़ाना है कि एक नहीं दो कफ़न मंगवा कर रख लेने चाहिए। यह निश्चित जानिये कि जिसने अपने आपको संभाल कर रखा और लोक परलोक दोनों का सुख देने वाले वीर्य रत्न को जिसने व्यर्थ नहीं गँवाया वह सदा प्रसन्न चित्त रहेगा, उसमें सामर्थ्य आयेगा और वह हर क्षेत्र में विजयी होगा:—

योग-दर्शन के साधनपाद में ब्रह्मचर्य के गुण बतलाने के लिये लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

"ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।"

नियमानुकूल ब्रह्मचर्य धारण करने वाले के मन बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति प्रकट हो जाती है।

सारे ही ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों और योगियों तथा आयुर्वेद के विद्वानों ने ब्रह्मचर्य के गुण गाये हैं और इतिहास बतलाता है कि ब्रह्मचारी हनुमान् जी ने शूर-वीरता के वह कौतुक दिखलाये कि लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सभ्य लोग उन्हें प्रणाम करते हैं। क्या आप नहीं जानते कि भारत जैसा देश गुलामी की दलदल में कब फंसा? यह दुर्घटना तब घटी, जब पृथिवीराज संयोगता के मोह में फंस गया, भारत के लिये वह दिन दुर्दिन था, जिसने चिरकाल तक भारत को अन्य देशवासियों का दास बनाये रखा—जब देश पर आक्रमण करने वालों को पीछे धकेलने के लिये पृथ्वीराज रणक्षेत्र को चला, तो चलने से पूर्व वह संयोगता से रलियाँ मनाता रहा। जिस विदेशी को राजा पृ

[शेष पृ० ३ पर]

गृहस्थ-जीवन कैसा हो

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल कांगड़ी]

इदं हविः प्रजननं मे अस्तु,
दशवीरं सर्वगणं स्वस्तये ।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि,
लोकसन्यभयसनि ।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं,
पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥

यजुः० १९ । ४८

अर्थ—(इदं) यह (हविः) हवि (मे) मेरे लिए (प्रजननं) जननशक्ति पैदा करने वाला (दशवीरं) दस वीर पुत्रों को देने वाला (सर्वगणं) सब प्रकार के मनुष्यों के गणों को मेरे साथ लाने वाला और (स्वस्तये) मेरे सभी तरह के कल्याणों के लिए (अस्तु) होवे । यह मुझे (आत्मसनि) आत्मा देने वाला (प्रजासनि) सन्तान देने वाला (पशुसनि) पशु देने वाला (लोकसनि) यश देने वाला और (अभयसनि) अभय देने वाला होवे । (अग्निः) प्रकाश स्वरूप, सब का अग्रणी भगवान् (मे) मेरे लिए (बहुलां) बहुत (प्रजाम्) सन्तान को (करोतु) करे (अस्मासु) हमें (अन्नं) अन्न (पयः) दूध और (रेतः) वीर्य (धत्त) देवे ।

हम अग्निहोत्र और दूसरे यज्ञों में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें घृतादि की हवि डालते हैं । यह हवि वास्तव में एक गहरी क्रिया का चिह्न-मात्र (Symbol) होता है । और वह गहरी क्रिया है अग्नि अर्थात् सब को गरमी और प्रकाश देकर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाने वाले भगवान् में अपने आप की हवि दे देना । जैसे घृत, सामग्री आदि हवियें भौतिक आग की मर्जी पर छोड़ दी जाती हैं, आग उनको जो चाहे बना डाले, उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती, उलटा नष्ट होते-होते आग की महिमा को और अधिक बढ़ा जाती हैं; इसी प्रकार हम भी अपने आप को हवि बनाकर परमात्मा की इच्छा पर अर्पण कर देवें—उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए आवश्यकता हो तो मरने के लिए भी हंसते-हंसते तैयार रहें । इस का नाम है असल में अग्नि में हवि देना । दूसरे शब्दों में परमात्मा के लिए आत्मत्याग वा आत्म-समर्पण का नाम हवि है ।

इस मन्त्र में परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण करते हुए उससे प्रार्थना रूप में बड़े संक्षिप्त परन्तु सुन्दर शब्दों में यह बताया गया है कि एक गृहस्थ का आदर्श-जीवन कैसा होना चाहिए । उसके घर में प्रतिदिन अग्निहोत्रादि यज्ञ होते हों और उनमें अग्नि की हवि दी जाती हो, जिस से गृह निवासियों को भगवान् के प्रति आत्म समर्पण करने की—वास्तविक हवि देने की शिक्षा मिलती रहे । उसमें प्रजनन शक्ति हो, उस की इन्द्रियों में दुर्बलता न हो, उस में जीवनी शक्ति का अभाव न हो । उसका घर दस वीर पुत्रों से गुंजायमान रहता हो । उसका सभी क्षेत्रों में प्रभाव ऐसा हो कि लोगों के गण अर्थात् झुण्ड के झुण्ड उसके पास भिन्न-भिन्न तरह की सहायता लेने के लिए आते हों । उसके घर में सभी प्रकार की आवश्यक और उपयोगी चीजों की स्वस्ति (सु-अस्ति) अर्थात् विद्यमानता हो, उसे सब तरह का कल्याण प्राप्त हो । वह आत्मा वाला हो, उसमें किसी भी आत्मिक गुण की कमी न हो, लोग समझें कि हां, भई इसमें कोई आत्मा निवास करती है, यह निरा हाड़-मांस का पिण्ड नहीं है । उसका घर पुत्र-पौत्रादि रूप प्रजा से चहकता रहता हो । किसी प्रकार के दूध देने वाले तथा और प्रकार से उपयोगी पशुओं की उसके घर में कमी न हो । लोक में, जनता में, उसका नाम हो, उस के लोकोपकारी सत्कार्यों की सर्वत्र प्रशंसा होती हो । वह पूर्ण निर्भय हो, संसार की कोई शक्ति उसे डराकर अपने कर्तव्य कर्म से विचलित न कर सकती हो । उसके घर में सब के खाने के लिए अन्न हो, पीने के लिए दूध हो, और सब सदस्यों में वीर्य और पराक्रम हो ।

यह है एक गृहस्थ दम्पती के गृहस्थ जीवन का

आदर्श। प्रत्येक गृहस्थ नर-नारी को अपने घर को इस प्रकार का स्वर्गधाम बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए। भगवान् की सच्ची प्रार्थना यह है कि हम भगवान् की इच्छाओं के अनुसार कार्य करने वाले बन जायें। भगवान् की इच्छा के अनुकूल कार्य करने में यदि हमें मर भी जाना पड़े तो उसके लिए भी हम हंसते २ तैयार रहें। इस प्रकार भगवान् के लिये आत्म समर्पण पूर्वक उसकी प्रार्थना करने से, उसको हवि देने से, गृहस्थ का जीवन वैसा स्वर्गीय बन सकता है जैसा इस मन्त्र में वर्णित किय गया है।

आज के संसार में तो इस प्रकार का स्वर्गीय गृहस्थ जीवन दुर्लभ है। आज तो संसार में सर्वत्र अशान्ति, दुःख और क्लेश पाया जाता है। आज तो धरती के करोड़ों पुत्रों को एक समय भी भरपेट खाने को दाने नसीब नहीं होते। वे अपना ही पेट नहीं पाल सकते। पुत्र-पौत्रों का पालन क्या कर सकेंगे। इसलिए आज यह प्रवृत्ति है कि सन्तानें उत्पन्न ही न होने दी जायें। आज आत्मवान् पुरुष भी बिरले ही मिलते हैं। आज अधिकांश लोग अनात्मवान्, विलासी और विषयी बन रहे हैं। ऐसे लोग विषय-सुख में बाधा के भय से सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कर्तव्य से बचते हैं। समाज को उत्तम सन्तान देकर जाना यह गृहस्थदम्पती का पवित्र कर्तव्य है। ऐसी मनोवृत्ति की अवस्था में जो सन्तानें होती हैं वे भी आत्मवान् नहीं होती हैं। आज लोगों को अन्न नहीं मिलता. दूध नहीं मिलता। उनमें बल नहीं, पराक्रम नहीं, वीर्य नहीं। आज गृहस्थ जीवन स्वर्ग नहीं नरक हो रहे हैं वहां सुख-शान्ति नहीं मिलती। अशान्ति और क्लेश मिलता है।

मनुष्य! आर्य बन और अपने गृहस्थ को मन्त्र में वर्णित स्वर्ग बना!

एक दूसरे को चमकाने वाले पति-पत्नी

ऋग्वेद का १०।१३ सूक्त पांच मन्त्रों का छोटा सा सूक्त है। पर इसका एक एक मन्त्र बड़ा भावपूर्ण और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है इसमें गृहस्थ पति पत्नी को कवित्वपूर्ण रीति से उनके उच्च आदर्श का उपदेश किया गया है। सूक्त का एक-एक शब्द मनन करने योग्य है। नीचे सूक्त के मन्त्रों के शब्दार्थ और भावार्थ दिया जाता है। उसे पढ़िये आनन्द उठाइये और अपने को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कीजिए।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक
एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ
ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ १ ॥

अर्थ—हे गृहस्थ दम्पती! (वां) तुम दोनों के (पूर्व्यं) पहली अवस्था के, ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़े हुए (ब्रह्म) वेद-ज्ञानको (नमोभिः) अनेक प्रकार के अन्नादि खाद्य पदार्थों से (युजे) जोड़ता हूँ (सूरेः) तत्त्व ज्ञानी विद्वान् की (पथ्या) हितकारिणी वाणी वा विद्या की (इव) तरह (श्लोकः) तुम्हारी कीर्ति (वि एतु) सर्वत्र फैल जाये (विश्वे) सब (अमृतस्य) अमृत रूप परमात्मा के (पुत्राः) पुत्र (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानों में (तस्थुः) बैठे हैं (शृण्वन्तु) तेरी उस कीर्ति को सुनें।

तुम ब्रह्मचर्याश्रम की अपनी पहली अवस्था में वेदादि शास्त्रों का ज्ञान लेकर आये हो। अब गृहस्थाश्रम में उस ज्ञान से ऐश्वर्य कमाओ, जिससे तुम्हारे घर में अनेक खाद्य पदार्थ भरे रहें। जैसे किसी विद्वान् की अपने विषय की वाणी या विद्या सबके हित के लिए फैल जाती है और उसका यश बढ़ाती है, इसी तरह तुम्हारे ज्ञान और गृहस्थ के ऐश्वर्य की कीर्ति भी सर्वत्र फैल जाये और उसको ऊंची-ऊंची (दिव्य) स्थितियों में पहुँचे हुए महायोगी पुरुष भी सुन सकें।

यमे इव यतमाने यदैतं प्र
वां भरन् मानुषा देवयन्तः।
आसीदतं स्वमु लोकं विदाने
स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः ॥ २ ॥

अर्थ—(यदा) जब तुम (यमे) जुड़वें भाइयों की (इव) तरह मिलकर (यतमाने) प्रयत्न करते हुए (एतं) चलोगे, तब (देवयन्तः) व्यवहारों

चाहने वाले (मानुषाः) अनेक मनुष्य (वां) तुम दोनों को (प्रभरन्) सम्पत्तियों से भर देंगे (स्वं) अपने (लोकं) गृहस्थाश्रम को (उ) निश्चय से (विदाने) जानते हुए (आसीदतं) वहां रहो, और (स्वासस्थे) इस प्रकार उत्तम स्थिति में रहते हुए (नः) हमारे (इन्दवे) आह्लाद के कारण (भवतं) बनो।

तुम मिलकर प्रयत्न-पूर्वक सांसारिक व्यवहार का जीवन व्यतीत करो। दूसरे व्यवहारार्थी लोगों के साथ व्यवहार सम्बन्ध करने पर उस से तुम्हें खूब सम्पत्ति प्राप्त होगी। गृहस्थ के कर्तव्यों का भली प्रकार ज्ञान रखते हुए और उस के अनुसार चलते हुए आनन्द से रहो ।

पंच पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि३

अर्थ—(रुपः) ऊंचा चढ़ाने वाले इस शरीर रूप यज्ञ के (पंच) पांच (पदानि) पदों पर पांच ज्ञानेन्द्रियों पर (अन्वरोहं) मैं चढ़ बैठा हूँ। उन पर मेरा स्वामित्व है, वे मुझे विषयों में नहीं फंसा सकते (व्रतेन) नियम पूर्वक (चतुष्पदीं) चार वेद रूप चार पैरों वाली वेद-विद्या के (अन्वेमि) अनुसार मैं चलता हूँ। (अक्षरेण) अविनश्वर परमात्मा के द्वारा उसके गुणों के अनुसार चल कर (प्रतिमिमे) मैंने अपने आपको बनाया है (एतां) अपने इस रुप अर्थात् शरीर-यज्ञ को (ऋतस्य नाभौ अधि) सत्य के ऊपर रखकर (सं पुनामि) पवित्र बनाता हूँ।

प्रथम दो मन्त्रों में भगवान् की ओर से ज्ञानी, सम्पत्तिशाली और यशस्वी बनने के लिए गृहस्थ दम्पती को उपदेश दिया गया था। इस मन्त्र में दम्पती में से प्रत्येक भगवान् को साक्षी करके कहता है कि मैंने अपनी इन्द्रियों पर जय प्राप्त की है, वेद के अनुसार चलता हूँ और भगवान् के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार अपने को ढालता हूँ, सत्य का आश्रय रखता हूं। मन्त्र में दम्पती द्वारा अपने गुणों का परिचय देने का भाव यह है कि वे प्रभु को सम्बोधन करके कह रहे हैं कि प्रभो ! जैसी आप हम से आशा करते हैं, वैसा ही हम बनकर दिखायेंगे।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिंयज्ञमकृण्वत ऋषि प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्

अर्थ—(देवेभ्यः) देव पुरुषों के लिए (कं) किस (मृत्युं) मौत को (अवृणीत) परमात्मा ने वरा है—दिया है (प्रजायै) प्रजा के लिए (कं) किस (अमृतं) अमृत को, सुख (न) नहीं (अवृणीत) वरा है—दिया है। जो लोग (ऋषि) सर्व द्रष्टा, पूर्ण ज्ञानी (बृहस्पतिं) सबके महान् पालक प्रभु को (यज्ञं) पूजनीय (अकृण्वत) बनाते हैं, उनके (प्रियां) प्रिय (तन्वं) शरीरादि पदार्थों को (यमः) सब को नियम में चलाने वाला प्रभु (प्रारिरेचीत्) छोड़ देता है—विनष्ट नहीं करता।

इस से पहले मन्त्र में दम्पती के सुन्दर वचन सुन कर भगवान् कहते हैं कि जो तुम्हारी तरह अपने को देव पुरुष बना लेते हैं उन्हें कोई मृत्यु नहीं सताती, उन्हें अमृत मिलते हैं, और भगवान् उनको सब कष्टों से बचा लेते हैं। इसीलिए तुम निर्भय होकर गृहस्थाश्रम में अपने कर्त्तव्यों का पालन करो।

सप्तक्षरन्तिशिशवेमरुत्वते पित्रेपुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतम्
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः

अर्थ—(मरुत्वते) प्राणवान्—जिसने अपने प्राणों को वश में कर रखा है, और इसीलिए (शिशवे) जिसका जीवन प्रशंसनीय बन गया है। (पित्रे) जो सब आश्रितों का पालन करने से पिता तुल्य हो जाता है, ऐसे पुरुष के लिए (सप्त) सात इन्द्रियें (पुत्रासः) पुत्र की तरह दुःख से बचाने वाली हो कर (क्षरन्ति) बहती रहती हैं—कार्य करती रहती हैं, और (ऋतम्) ज्ञान को, नाना यज्ञों, व्यवहारों को (अप्यवीवृतन्) प्राप्त कराती रहती हैं (उभे-इत्) दोनों ही दम्पती (अस्य उभयस्य) अपने दोनों को (राजतः) चमकाते हैं (उभे) दोनों (यतेते) मिल कर प्रयत्न करते हैं। (उभयस्य) दोनों एक दूसरे को (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं।

जिन्होंने अपने प्राणों को वश में करके अपने को उत्कृष्ट बना लिया है, उनकी इन्द्रियें आज्ञाकारी पुत्र की तरह उनकी सेवा करती हैं, उनके ज्ञान को और व्यवहार को बढ़ाती हैं। ये आदर्श दम्पती भी ऐसे ही हैं। ये एक दूसरे को चमकाते हैं, मिलकर गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं—एक दूसरे को पुष्ट करते हैं॥

वेदोदधि के चुने हुये मोती

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

[ले०—श्री पं० लालचन्द जी, मेरठ]

यो देवेभ्यः आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥
यजु० ३१।२०

जो सब दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करता है। जिसके प्रकाश से सभी दिव्य शक्तियाँ प्रकाशमान हैं। जो उन दिव्य शक्तियों से पहले से वर्तमान है। जो उन दिव्य शक्तियों के पूर्व से ही प्रसिद्ध है, उस प्रकाशमय ब्रह्मतेज को नमस्कार है।

सभी दिव्य शक्तियों में प्रकाश उसी परमब्रह्म का है। वह उनसे पहले से ही वर्तमान है। ये सब दिव्य शक्तियां उसी की रचना हैं।

सब प्रकाशमयी दिव्य शक्तियाँ परमब्रह्म परमात्मा परमपुरुष से ही उदय होती हैं। वह भगवान् अनादिकाल से वर्तमान सनातन ब्रह्म है। उसी परम दिव्य पुरुष का दिव्य प्रकाश उनमें होता है। वही सारी विश्व शक्तियों का जनिता है।

सूर्यचक्र आदि जिसके गर्भ से निकले हैं, वह विराट् ज्योतिपुंज भी भगवान् ने ही निर्माण किया है। संसार में सब तेजोमय प्रकाशमय वस्तुओं व पदार्थों में उनका अपना तेज नहीं, वह परमदेव भगवान् की ही देन है। उसी विधाता की ये सब रचना हैं। भगवान् ही परमाणुओं में गति देकर एक ऐसा विराट् तेजपुंज का सर्जन करता है जिसमें से क्रमशः इन सब प्रकाशयुक्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उस स्वयंभु स्वतः प्रकाशमान तथा सबके प्रकाशक परमब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

ऐसा ज्ञान पाकर ही उपनिषत्कार ऋषिने कहा था "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसीके प्रकाश से यह सब प्रकाशता है। असली आदि ज्योति आदि तेज आदि प्रकाश उसी एक परमब्रह्म का ही है।

ब्रह्मतेज

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥
यजु० ३१।२१

दिव्यजन उस ब्रह्मतेज को हृदय में प्रकट करते हुये ऐसी घोषणा करते हैं कि जो ब्रह्मतेज को धारण करनेवाला ब्राह्मण इस प्रकार ब्रह्म को जानता है, उसके वश में दिव्य शक्तियां हो जाती हैं।

ब्रह्मतेज वही सविता का दिव्य तेज है जिसके धारण करने का आदेश सावित्री (गायत्री) मंत्र में है। ब्राह्मण वही है जिसने इस दिव्य ब्रह्मतेज को धारण किया है, जो परमात्मा से प्रेरणा पा रहा है। जो ब्राह्मण यह जान जाता है कि सभी दिव्य शक्तियों में जो प्रकाश है वह उसी परमब्रह्म का है वह स्वयं दिव्य हो जाता है, सभी दिव्य शक्तियां उसके वश में हो जाती हैं। ऐसा तत्त्वज्ञानी यह अनुभव करता है कि उस परमदेव का दिव्य तेज ही सबमें व्यापक है, यह ज्ञान उसे दिव्य बना देता है। वह देव हो जाता है। उसमें दिव्य गुण चरितार्थ होते हैं। उसमें अपूर्व तेज और ओज होता है उसके व्यवहार में निरंतर ऋत रहता हैं, उसमें जो सत्य ज्ञान प्रेम और आनन्द हैं वे सदा उसके व्यवहार में दीखते हैं। वह स्वयं ऐसा पवित्र रहता है कि लोग उसकी संगति से पवित्र होते हैं। उसकी वाणी में सत्य और माधुर्य, उसमें जीवन प्राण की विपुलता उसकी दृष्टि पवित्र उसका हृदय प्रेमपूर्ण होता है। उसमें सदा [illegible] और सामर्थ्य रहता है। ऐसा आत्मवान् मनुष्य दिव्य होता है, वह समर्थ होता है। उसकी प्रकाशमयी प्रज्ञा में स्वयं रस रहता है। उसकी बुद्धि ऋतम्भरा रहती है यही उसकी दिव्यता का आश्रय है।

जीवन रसयुक्त पवित्र प्रेम भाव

पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः।
घ्नन्तो विश्वा अपद्विषः ॥
ऋ० ९। ६३। २६, साम १७०१

तेजस्वी पवित्र शुद्ध वेग युक्त पवित्र करने वाले हृदय के सरस प्रेम भाव सब द्वेष भावों को दूर करते हुए प्रकट होते हैं।

पवित्र हृदय में पवित्र तेजस्वी वेगयुक्त पवित्र करने वाले सरस प्रेम भाव प्रकट होते हैं, उनसे द्वेष भाव दू

होते हैं। शुद्ध हृदय के सरस स्नेह भाव द्वेष भावों को नष्ट कर देते हैं।

जब जीवन रस भगवान् की कृपा से मनुष्य की प्रज्ञा से क्षरित होता हुआ हृदय को सरस करता है तो उस हृदय में मैल नहीं रहती। शुष्क हृदय में स्नेह नहीं होता, वह कठोर होता है। हृदय प्रेम रस से सरस रहना चाहिये। यह प्रेम रस भगवान् की कृपा से प्रज्ञा से क्षरित होता हुआ हृदय को सरस करता है। ऐसे हृदय में सहानुभूति होती है, वह सब से ऋतयुक्त प्रेम करता है, उसका स्नेह धर्मयुक्त होता है, उसमें सत्य प्रेम का समन्वय दीखता है। शुभ्र भाव पवित्र भाव होते हैं उनमें कलुष नहीं होता, उनमें वेग होता है उनमें आचरण होता है, वे भाव जीवनप्रद होते हैं क्योंकि वे भाव परम शुद्ध होते हैं। पवित्र हृदय में सब के लिये प्रेम होता है वह किसी से द्वेष नहीं करता। पवित्र हृदय उदार होता है विशाल होता है उसमें तुच्छता नहीं होती उसमें संकीर्णता नहीं होती। पवित्र प्रेम के भावों में विलक्षण तेजस्विता है, जिसका सब पर प्रभाव पड़ता है। तेजस्वी ओजस्वी जनों में वेग होता है।

पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत।
पृथिव्या अधि सानवि॥
ऋ० ९-६३-२७-साम १७००

प्रज्ञा लोक से क्षरित होने वाले वे सम्यक् तथा पवित्र करने वाले जीवन रस युक्त पवित्र प्रेम भाव सिर को पवित्र करते हुए हृदय से लेकर नाभि के नीचे पांव तक प्रभाव डालते हुये प्रकट होते हैं, बहते हैं।

उपासक की निर्मल बुद्धि से जीवन रस बहना आरम्भ होता है वह हृदय को सरस करता है और उसका प्रभाव सारे शरीर के अवयवों पर पड़ता है। अध्यात्म में, अपने शरीर में द्यौ मूर्धा है अपना सिर है, जिसमें प्रज्ञा है, मन है, अन्तरिक्ष अपना हृदय है, यह फेफड़े से नाभि तक का अवकाश आकाश है, हृदयाकाश भी कहा जाता है। इसमें चित है। जीवन रस से जो द्यौ से प्रज्ञासे नीचे आता है उससे हृदय में प्रसन्नता होती है, प्रेमरस बहता है स्नेह रस पूर्ण हृदय स्निग्ध रहता है सरस रहता है उसमें सर्व मंगल की भावना उदय होती है। जिसकी प्रज्ञा में से सोमरस जीवन रस बहना आरंभ होता है वह दिव्यरस हृदय को सरस करता हुआ शरीर के निचले भाग तक बहता है। इस दिव्य रस से मनुष्य का पृथिवी लोक, उसका नाभि से नीचे पांव तक का भाग, उसके स्वाधिष्ठान और मूलाधार चक्र पवित्र रहते हैं। उसके सभी अंग सशक्त और शुद्ध रहते हैं।

प्रज्ञा के शुभ विचारों का सुप्रभाव कण्ठकूप, हृदय, पाचनक्रिया, शुद्ध वीर्य संचय तथा वीर्य का वितरण उसके सारे शरीर में गति, तथा मलत्याग द्वारा स्व-सामर्थ्य की अनुभूति द्वारा, सारे शरीर पर होता है। अदम्य बल होता है। वह वीर्यवान् शक्तिमान् रहता है।

वीर्य नाभि में शुद्ध होता है और सारे शरीर में घूमता है। विशुद्ध वीर्य की ऊर्ध्वगति प्रज्ञा में सुषुम्णा द्वारा जब होती है वही तो जीवन रस सोमरस है। यह वीर्य का आरोहण है और बाद में प्रज्ञा से दिव्य सोम रस का अवरोहण नीचे तक होता है सारे अंग इसी वीर्य के सूक्ष्मतम रस सोमरस से पुष्ट होते हैं। उपासक की पवित्र विचारधारा उसके सभी अंगों में स्फूर्ति और शक्ति भर देती है। ऐसा मनुष्य हृष्ट पुष्ट समर्थ दीखता है वह नीरोग रहता है उसका मन स्वस्थ रहता है।

जिसमें जीवन रस है उसके सारे प्राण (प्राण अपान समान उदान व्यान) सम्यक् कार्य करते हैं। अपान नाभि और उरु से नीचे तक कार्य करता है। समान नाभि में सुपाचन क्रिया करता है। और रक्त तथा वीर्य को शरीर में फैलाता है। उदान कंठकूप को सरस रखता है उदान प्राण के सम्यक् कार्य से आनन्द अनुभव होता है। व्यान सारे शरीर में जीवन रस पहुँचाता है। प्राण, मुख्य प्राण स्वयं हृदय में स्थिर रहता हुआ सारे प्राणों का अधिष्ठाता है। हृदय में ही आत्मा और परमात्मा का वास है।

जिस मनुष्य के आचरण में ऋत है जिसके व्यवहार में सत्य प्रेम है वह मनुष्य सदा प्रसन्न रहता है, उसमें व्यापक प्रेम होता है और वह सशक्त रहता है। वह सदा उदार रहता है। उसके भाव और विचार उदात्त रहते हैं।

सङ्कल्प

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति॥ साम १७१०

संकल्प अग्नि सभी प्यारे धामों में भूत का और भविष्य का स्वामी एक मात्र विराजमान है।

अथर्ववेद १९। ५२ में संकल्प "कामः" का वर्णन है। "कामः" संकल्प है। मङ्गल कार्य करने से पहले उस

का संकल्प किया जाता है, तब वह कार्य आरम्भ होता है। हमारी वैदिक संस्कृति में यज्ञ करने से पहले यज्ञ का संकल्प तथा यज्ञ पुरुष की अनुमति, इन दो विधियों का आदेश है। संकल्प हमारी बुद्धि तथा हमारे मन में विराजता है। संकल्प विचारपूर्वक और दृढ़ मन से किया जाता है। बुद्धि मन तथा प्राण तक संकल्प का प्रभाव होता है। सत् संकल्प धारण करने और उसे पूरा करने से प्राण बलवान् होता है। संकल्प की पूर्ति से आत्मविश्वास बढ़ता है, आत्मबल बढ़ता है। संकल्प हमारी दिव्य शक्तियों को उकसाता है। संकल्प वास्तव में मन द्वारा सभी इन्द्रियों का अकेला एक मात्र स्वामी है। संकल्प सोच विचार कर धारण करना चाहिये। संकल्प धारण करके उसका आदर होना चाहिये। संकल्प वास्तव में भूत और भविष्य का स्वामी है अतः वर्तमान का भी स्वामी है। संकल्प जीवन की ज्योति है वह प्रदीप्त रहनी चाहिये। संकल्प के अनुसार शुभकार्य में समर्पित हो जाना चाहिये (यह सूक्त अर्थ तथा व्याख्या सहित वेदवाणी श्रावण २०१४ अगस्त १९५७ में उल्लिखित हो चुका है॥)

भगवान् की कृपा के पात्र

दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा।
सोमाः शुक्रा गवाशिरः॥

ऋ० ९। ६४। २८। साम० ६५४

सौम्य गुणयुक्त समर्थ निष्पाप अपनी इन्द्रियों पर विजय पाए हुये संयमी जन दिव्यज्ञानयुक्त व्यवहार से अपनी जीवन कान्ति से तथा गुण वर्णन के स्वभाव से भगवान् की कृपाके पात्र बनते हैं।

भगवान् की कृपा के अधिकारी वे जन हैं, जिनमें सौम्यगुण हैं, जो सदा पवित्र कर्म ही करते हैं, जिनकी इन्द्रियां उनके अनुकूल हैं, जिनमें अन्तःप्रकाश है, जिनमें अन्तर्ज्ञान है, जिनके व्यवहार में सत्य और प्रेम का समन्वय है जिनका व्यक्तित्व कान्तिमय है, जो ओजस्वी हैं, और जो गुणग्राही हैं, भगवान् के भक्त परदोष नहीं देखा करते। वे दूसरों के अन्दर उनके गुण देखते हैं, उनका व्यवहार आकर्षक होता है, वे सबसे प्रेम करते हैं, उनका सौम्य व्यवहार उनको लोक प्रिय बना देता है, और निष्पाप रहने से भगवान् की कृपा के पात्र बनते हैं। ऐसे जन सशक्त होते हैं, समर्थ होते हैं पर वे सदा नम्र रहते हैं विनयशील रहते हैं, कभी अभिमान नहीं करते। वे सदा मानवता का मान करते हैं, किसीसे घृणा नहीं करते, वे पाप के पङ्क में नहीं फँसते वे वृथा विवाद में नहीं पड़ते, संवाद में प्रेम से अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं। उनके व्यवहार में शालीनता रहती है। ऐसे जन भगवान् के प्रेमपात्र होते हैं।

सुन्दर साहित्य का निर्माण

पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः।
अभि विश्वानि काव्या॥

ऋ० ९। ६३। २५।

पवित्र करने वाले निष्पाप सौम्य भाव सकल काव्यों को अभिव्यक्त करते हैं।

काव्य में कवि का हृदय दीखता है। सुन्दर साहित्य का निर्माता निष्पाप सौम्य प्रेम भाव युक्त हृदय से ही होता है। काव्य में सत्यज्ञान सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त होता है। सुन्दरता की अभिव्यक्ति सौन्दर्य युक्त हृदय से ही होती है। शिव मन से ही रचा जाता है वह काव्य, जिससे लोक कल्याण होता है। पावन हृदय से पवित्र साहित्य की रचना होती है। ऐसे साहित्य में दूसरों को पवित्र करने की क्षमता होती है। सुन्दर साहित्य है एक पावन प्रेम धारा, जिसने करना है पवित्र सब को, जो आएंगे उसके सन्निकट; और वे होंगे अमर, जो करेंगे अमृत रसपान।

सुन्दर साहित्य का सृजन तब होता हैं जब कि मनुष्य का हृदय भरा होता है निष्काम पावन सौम्य भावों से और उसमें अभीप्सा होती है उन भावों को व्यक्त करने की। जन हित की पवित्र भावना हृदय में हो तभी जनहित की क्षमता युक्त साहित्य की रचना होगी।

कल्याणमय ज्ञान परिणाम होता है ऋतंभरा बुद्धि का। जिसकी बुद्धि निर्मल है, प्रकाशमयी श्रद्धामयी है, उसमें सत्यज्ञान उदय होता है और उसका प्रभाव जनमत पर स्थायी होता है॥

मन्त्र शब्द की ध्वनि

[*ले०—श्री पं० भीमसेन जी विद्यालंकार, अम्बाला*]

वैदिक अवैदिक भारतीय अभारतीय विचारकों में मन्त्र तथा उसके समानार्थक शब्दों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ईसाई धर्म में Hymn. तथा इस्लाम में आयत और वर्तमान के नवीनतम भारतीय समुदायों में गुरुवाक्य को मन्त्र कहा जाता है और जो जिससे किसी रहस्य या तत्त्व को सीखता है, वह उसे अपना मंत्रदाता गुरु मानता है। मध्यकाल में अनेक पौराणिक मंत्र प्रचलित हुए। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी मंत्र शब्द को काफी महत्त्व दिया गया है। कई स्थानों पर श्लोक और मन्त्र पर्यायवाची अर्थों में भी प्रयुक्त हैं। मंत्र शब्द के इतना महत्त्व पूर्ण होते हुए भी हम नारद के मुखसे सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित होते हुये यह वाक्य सुनते हैं:—

मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् ॥ मैं मन्त्रज्ञाता हूँ आत्मविद् नहीं ! इससे यह पता लगता है कि नारद आत्मा की अपेक्षा मंत्र को कम स्थिति का मानते थे। इतना होने पर भी हम जब सामान्य व्यवहार तथा शास्त्रीय चर्चाओं को पढ़ते तथा सुनते हैं तो सहसा हमारा ध्यान मंत्र शब्द की ओर आकृष्ट होता है। राजा-मंत्र कोष की रक्षा के लिये मंत्री को नियत करता है। गुरु को धारण करते हुए मंत्र विशेष की दीक्षा लेने की प्रथा आज भी दिखाई देती हैं। इस मन्त्र शब्द के साथ २ दो और शब्द भी प्रचलित हैं, जिनके कारण इस मन्त्र शब्द के चारों ओर भी एक प्रकार का भावात्मक वायु मण्डल बन जाता हैं। मंत्र-यंत्र-तंत्र-यह तीन शब्द भारतीय जनता पर विशेष असर पैदा करते हैं, इनमें से भी मन्त्र और तन्त्र का विशेष प्रभाव है।

संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि किसी समय यहाँ के सार्वजनिक जीवन में इन तीनों का बड़ा जोर था। इन तीनों शब्दों की आड़ में जनता के अधिकांश को अज्ञान अशिक्षा तथा अन्ध मय बनाया जाता था। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि इन तीनों शब्दों ने भारतीय जनता में ज्ञान के लिये स्वाध्याय प्रधान प्रयत्न रहने की प्रवृति को बन्द कर दिया और वह यंत्र मंत्र तथा तंत्र को हरेक अभीष्ट उद्देश्य के लिये Shortcut (छोटा मार्ग) समझने लगे। कम से कम यत्न द्वारा अधिक से अधिक फल की भावना की मनोवृत्ति ने निरन्तर ज्ञान की खोज की भावना को कम कर दिया और जनता में मानसिक प्रमाद को पैदा कर दिया।

ऋषि दयानन्द ने जब भारत का भ्रमण किया तो स्वयं साक्षात् इन मंत्र तंत्र जंतर के आडम्बरों को देखा और इस बात को अनुभव किया कि मंत्र शब्द का यथार्थ जनता के सामने रखना चाहिये।

जिस प्रकार अज्ञानियों भौतिकवादी साधकों के सधर्म से योग शब्द बदनाम हो गया—उसी प्रकार से मंत्र शब्द भी बदनाम हो गया। इस अपवाद तथा अज्ञान से आवृत मन्त्र शब्द के कारण लोगों का वेद मन्त्रों से भी नाममात्र —श्रवणमात्र का परिचय रह गया।

यदि हम जनता के सामने मन्त्र शब्द की भौतिक रूढि व्याख्या करें तो हम वेद शिक्षा की ओर जनता को आकृष्ट करने में काफ़ी सफल हो सकेंगे इसी भावना से हम इस लेख में मंत्र शब्द की व्याख्या करने लगे हैं।

सामान्यतः वेद संहिताओं के छन्दोबद्धशब्दसमूह को मंत्र कहा जाता है। पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिये कि मन्त्र कोई पृथक् अभिमानवाली (?) वस्तु नहीं होती। इसकी गणना न तो ऋषियों की सूची में की जा सकती है और न देवताओं की सूची में। यह एक विचार व अर्थ है। न्याय दर्शन में गौतम मुनि वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए 'मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यात्' में मंत्र शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखते हैं:—

मंत्राणां यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मंत्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति ॥

सत्य पदार्थ और सत्य विद्या प्रकाशक विचारों को मन्त्र शब्द से बताया है और इसी लिये उनका प्रामाणत्व है।

"ऋषि दयादन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रश्नोत्तर प्रसंग से लिखते हैं कि मन्त्रोच्चारण के बिना यज्ञ नहीं करना चाहिये क्योंकि मन्त्र ईश्वर का वचन है।"

निरुक्तकार ने 'कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे' द्वारा कर्म अग्निहोत्र शिल्पादि के लिये साधनों की सम्पन्नता को उपस्थित करने

विक्षिप्त चित्तों की सी असंगति रहती थी, इस प्रकार की कोई जङ्गली से जङ्गली कल्पना भी हमें इसके लिए प्रेरित नहीं कर सकती कि हम उनके इस प्रकार के वचनों पर अपना इस प्रकार का अभिप्राय बना सकें। स्पष्ट ही यह सत्य और सुख के जल हैं जो कि उच्च परम समुद्र से प्रवाहित होते हैं।"

जो पाठक इस विषय में विशेष जानना चाहें उन्हें मैं कहूँगा कि वे श्री अरविंद की 'वेद रहस्य' पुस्तक (जो कि तीन खण्डों में हिंदी में छप चुकी है) का अध्ययन करके लाभ उठावें या कम से कम प्रथम खण्ड के 'सरस्वती और उसके सहचारी, समुद्रों और नदियों का रूपक तथा सातनदियां इन तीन (१० वें,११ वें,१२ वें) अध्यायों का अनुशीलन अवश्य करें। परन्तु सामान्य पाठकों के लिए इतना बतला देना पर्याप्त है कि श्री अरविंद की वेद व्याख्या के अनुसार वेदोक्त सात नदियां चेतना के सात प्रवाह हैं। जब चेतना को धारा या प्रवाह के रूप में वर्णन करना अभिप्रेत होता है तब सदा वेद में उसे नदी या 'आपः' आदि रूप से कहा जाता है। "वेद में दिव्य जल, (आपो देवीः या स्वर्वती) उस उच्चतर चेतना के प्रवाह हैं जो मर्त्य मन पर उस अमरता के लोक से धारा के रूप में गिरते हैं।"

जो प्रसिद्ध सात लोक हैं, जिन्हें हम भूः भुवः, स्वः, महः, आदि नाम से संध्या में बोलते हैं उन सातों लोकों की सात प्रकार की चेतना हैं, उन चेतनाओं की सात धारा या प्रवाह की सात नदियां हैं जिनका वेद में जगह जगह उल्लेख है। ये स्थूल में भौतिक रूप से बहने वाली कोई भूगोल की नदियां नहीं हैं यह स्थूल नदियों के प्रतीकसे गुह्य आध्यात्मिक प्रवाहों का वर्णन है। वेद भूगोल या इतिहास की पुस्तक नहीं है, किन्तु वेद वेद है अर्थात् साक्षात् ज्ञान है, जो कि आध्यात्मिक है। इसीलिए आदि काल से ये वेद श्रद्धा और पूजा की दृष्टि से देखे जाते हैं। वेद के प्रतीकवाद को समझना ही वेद के रहस्य को समझ लेना है।

जो आन्तरिक मनोमयादिक क्षेत्र में चेतना की धारायें हैं वे ही स्थूल शरीर में (स्थूल शरीर भी नहीं बल्कि स्थूल प्राणमय शरीर जिसमें स्नायु संस्थान संबद्ध है) नाड़ियां हैं। नाड़ियों के साथ नदियों की प्रतीकता, तन्त्र ग्रंथों या हठ योग के ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। शिवस्वरोदय में कहा है।

इडा गंगेति संप्रोक्ता पिंगला यमुना नदी।

वाम भाग में बहने वाली इड़ा नाड़ी ही गङ्गा है, और दायें भाग में चलने वाली पिंगला ही यमुना है। इसी तरह इन दोनों के मध्य में बहने वाली सुप्रसिद्ध सुषुम्ना नाड़ी ही सरस्वती है। जहां कहीं तीन नदियों का वर्णन आता है (उनको गंगा यमुना, सरस्वती ये नाम दिये जा सकते हैं) वहां ये जैसे (हठयोग में) इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियां हैं वैसे ही (आध्यात्मिक योग में) ये सत्, चित् और आनन्द नामक सर्वोच्च लोकों की चेतना की धारायें हैं। वेद में चार नदियों का भी वर्णन है। जैसेः—

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः।

ये मधु की धारायें बहाती हुई उच्चतर चार नदियाँ दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना शक्ति, दिव्य आनन्द तथा दिव्य सत्य की धारायें हैं।

पर सात नदियों का सबसे अधिक वर्णन है। तब सातों चेतनाओं की धारायें अभिप्रेत होती हैं। तब उपर्युक्त इन चारों से भूः, भुवः, स्वः, (पृथिवी, अंतरिक्ष, द्यु अर्थात् शरीर, प्राण, मन) की तीन धारायें भी जोड़ ली जाती है।

पर ये मूलभूत तीन नदियां क्या हैं, विशेषतः इनमें सरस्वती क्या है, इनके विवेचन के लिए एक पृथक् लेख की आवश्यकता है। (क्रमशः)

संसार का विरोध कैसे दूर हो!

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

वेदों की अन्तःसाक्षी का महत्त्व

[ले०—श्री पं० मदनमोहन जी विद्यासागर, हैदराबाद]

सृष्टि का आरम्भ हुये, भारतीय ज्योतिषियों में सनातनकाल से प्रचलित परम्परा पर आश्रित कालगणना के अनुसार १९६०८५३०५७ वर्ष बीत गये हैं। जहां तक मैं समझता हूँ, यह समय मानव-सृष्टि का नहीं है। मानव जीवन धारण के योग्य सब वस्तुओं के तैयार हो जाने के बाद जब मनुष्य पैदा हुआ, उस समय उसके पास 'ज्ञान-बीज वेद' थे। इसलिये वेदों को उत्पन्न हुये भी उतने ही वर्ष हुए हैं, जितने कि मनुष्य को बने।

जो ग्रन्थ पौरुषेय (मानव ऋषिकृत) हैं, उनका रचयिता व्यक्ति ज्ञात होना चाहिये। यदि रचयिता का पता नहीं, तो उसके निर्माण समय का पता होना चाहिये। परन्तु वेदों के रचयिता किसी व्यक्ति का नाम तथा अन्य मानवकृत ग्रन्थों के निर्माण के समय के ज्ञान की तरह उनके निर्माण समय का ज्ञान नहीं। परन्तु इतना कहने मात्र से काम नहीं चलता। हमें ऐसे प्रमाण ढूँढ़ने चाहियें, जिनके आधार पर हम उसके निर्माता तथा निर्माण काल के विषय में कोई दृढ़ निश्चित मत बना सकें।

किसी भी ग्रन्थ के विषय में किसी बात का निर्णय करते समय हमें उसी ग्रन्थ की अन्तःसाक्षी को मुख्य रूप से आधार बनाना चाहिये। इसलिये यहां भी 'वेद से ही वेद के विषय में निर्णय' करने की शैली युक्तियुक्त होने से प्रामाणिक एवं सुसंगत रहेगी। वस्तुतः जैसे सूर्य के प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार वेद के सम्बन्ध में अन्य आधारों को छोड़कर वेद की ही सहायता लेनी चाहिये।

वेदों के विषय में अन्तरंग (= विषय सम्बन्धी) तथा बहिरंग (= निर्माता, काल, स्वरूप सम्बन्धी) दोनों प्रकार की परीक्षा हम वेद से ही कर सकते हैं। यदि वेद ने स्वयं ही अपने निर्माता की तरफ स्पष्ट व निश्चित संकेत किया हो और उसका वेद में कहीं विरोध न हो बल्कि प्रबलता से पोषण किया गया हो, तब वही सबसे प्रबल प्रमाण इस विषय में मानना होगा।

वेदों का कर्त्ता 'अहं'

सबसे प्रथम हमें यह देखना चाहिये कि क्या वेदों में स्वयं उनके कर्त्ता का 'अहं' रूप से कहीं निर्देश है या नहीं? वेदों में 'अहं' से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का बोध होता है। यह भी निश्चित है कि इन दोनों के बोधक 'अहं' से ही कोई 'अहं' वेदों का रचयिता है। वेद में जीवात्मा का बोधक 'अहं' शब्द कहीं भी अपने को 'वेदों का रचयिता' नहीं कहता। वह तो 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' और 'यद्भद्रं तन्न आसुव' कहता हुआ उन्नति का मार्ग पूछता है और 'भद्र की याचना' करता है। इसके विपरीत परमेश्वर का बोधक 'अहं' शब्द कई स्थलों पर स्वयं अपने को ज्ञान या वेद का कहने वाला कहता है—उदाहरणार्थ—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अथ० १९। ७१। १॥

"मैंने द्विजों (रजोवीर्य तथा विद्या से जन्म प्राप्त करने वालों अर्थात् मनुष्यमात्र) को पवित्र करने वाली, सुसंकृत करने वाली, शरीर मन आत्मा की शोधक और इष्टदात्री वेद माता (वेदज्ञान) का बर्णन कर दिया है। यह वेदमाता सब जीवों को आयुः प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविण और ब्रह्मवर्चस् की ओर प्रेरित करे। हे जीवो! तुम इनका उपभोग करके इन्हें मेरे लिये समर्पित करके ब्रह्मस्थिति को प्राप्त करो।"

यदि किसी ऋषि ने या ऋषिगण ने वेदों की रचना की होती, तो कहीं भी तो वेदों में उसका संकेत होता। यदि ट्रेडिशन अर्थात् लोक परम्परा को देखें, तो भी वह यही है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर द्वारा चारऋषियों के हृदयों में उनका आविष्कार किया गया। वेदपाठियों में प्रचलित तथा शास्त्रानुमोदित वेदमंत्रों से पहले 'ओ३म्' उच्चारण करने की विधि भी विशेष भाव रखती है। वह यह कि 'ओ३म्' का इस प्रकार उच्चारण करके उसके आविर्भाव कर्त्ता का स्मरण किया जाता है। यह विधान न्यायतः केवल 'संहिता मंत्रों' के साथ ही है। 'ऋषि' मंत्रार्थज्ञाता तथा 'देवता' वर्णनीयविषय के रूप में

सूक्तों के ऊपर लिखे जाते हैं और 'ओ३म्' मन्त्र के आदि में उनके 'रचयिता' के रूप में लिखा बोला जाता है।

अहमेव स्वयमिदं ब्रवीमि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। ऋ० म० १० नागाम्भृणी सूक्त ॥

"मैं साधारण मनुष्यों तथा देवतुल्य मनुष्यों के प्रति इस प्रीति पूर्वक सेवनीय अर्थात् स्वीकार करने योग्य, अनुकरणीय ज्ञान को कहता हूँ।"

अहं ब्रह्म कृणवम् ॥ ऋ० १०।४९ ॥१॥

मैंने ब्रह्म = वेदज्ञान को (कृणवम्) बनाया है अर्थात् दिया है।"

अहं सत्यमनृतं यद् वदामि, दैवीं परिवाचं विशश्च ॥ अथ, ६।६१।२ ॥

"मैं ही सत्य तथा अनृत में भेद करके दैवीयवाणी को कहता हूँ।"

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय ॥ य० २६।२ ॥

"ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र के लिए इस कल्याण कारिणी वाणी को कहता हूँ।"

यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥
अथ ६ ६९।२ ॥

"मैं इस वाणी को मनुष्यों के लिए कहता हूँ।"

इसी प्रकार उसे वेद में सृष्टि के प्रगट होते ही सब शक्तियों को सुशोभित करने वाला कहते हुए **'प्रथम मनस्वी'** = आदि ज्ञानदाता कहा है ॥ ऋ, २।१२।१ ॥ मिलाओ यजुः ७।१२॥

सर्गारम्भ में ज्ञान की आवश्यकता

ऋग्वेद में एक मंत्र (ऋ० १।१६४।३७) में यह भी लिखा है कि यदि आरम्भ में कोई मनुष्य को ज्ञान + भाषा न दे, तो मनुष्य आगे उन्नति नहीं कर सकता।

न विजानामि यदि वेदमस्मि,
निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा,
ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

"जो कुछ जैसा मैं हूँ, उसे विशेष रूप से नहीं जानता। (निण्यः) न्याना-मूढ़सा मैं मन से बंधा हुआ, विचर रहा हूँ। जब मुझ को कोई इस 'सत्यज्ञान' का प्रथमोत्पादक प्राप्त होता है, तभी इस वाणी के अधिकार को प्राप्त करता हूँ।"

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिः मंत्रं वदत्युक्थ्यम् ॥
ऋ० १।४०।४॥

"निश्चय से ब्रह्मणस्पतिः ज्ञान के स्वामी परमात्मा ही उक्थ्य = स्तुत्य मंत्र का प्रवचन किया है।"

परमेश्वर ने ज्ञान कैसे दिया ?

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्,
प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्,
प्रेणा तदेषा निहितं गुहाविः ॥
ऋ० १०।७१।१॥

"सृष्टि के प्रारम्भ में शब्दों के नामरूप को ग्रहण करते हुए ऋषियों के हृदय में बृहस्पतिः ज्ञान के स्वामी परमेश्वर ने अपनी सर्वश्रेष्ठ वाणी वेद को प्रेरित किया।" तथा—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्,
तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा,
तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ॥
ऋ० १०।७१।३॥

"ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस सप्तछन्दोमयी वेदवाणी को अन्य पुरुषों ने यज्ञ (= संगति या परिस्परिक अध्ययनाध्यापन) द्वारा पीछे प्राप्त किया और इस प्रकार वेदवाक्य का सर्वत्र प्रचार होता है।" अर्थात् (वेद) वाणी का प्रकाश सब से प्रथम ऋषियों के अन्तःकरण में होता है। पीछे यज्ञ (= उनकी संगति) द्वारा मनुष्य प्राप्त करते हैं।

आदिकवि

ऋग् १०।११।३ में कहा है:—"**अग्ने! कविः काव्येनासि विश्ववित्।** अर्थात् हे अग्ने! तू सब कुछ जानने वाला अपने काव्य द्वारा कवि है। वह कवि कैसा है इसका उत्तर वेद स्वयं देता है। "**कविरसि प्रचेताः** (अथ ५।१।१)। वह प्रकृष्ट ज्ञानवान् कवि है। इतना ही नहीं फिर वेद (अथ. ५।११।४) में ही उसके सम्बन्ध में कहा है:—"**न त्वदन्य : कवितरः।**" तुझसा और

कवि नहीं ।" यजुः ४० । ८ में बताया है:—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । अर्थात् उस कवि ने अपनी प्रवाह रूप से निरन्तर रहने वाली प्रजाओं के लिये यथार्थ रूपसे अर्थ को बताया ।" अर्थ शब्द के साथ कवि तथा मनीषी शब्द का प्रयोग तभी संगत होता है, जबकि उसका अभिप्राय 'ज्ञान' हो ! इस कवि का संसार संचालन से भी सम्बन्ध है । इसका अभिप्राय यही है कि सर्ग निर्माण के समय मनुष्य को ज्ञान भी दिया जाता है ।

यदि परमेश्वर ज्ञान सर्ग आदि में न दे, तो उसके कवि = सर्वज्ञ तथा जीव के 'इच्छा ज्ञान प्रयत्नवान्' होने का प्रयोजन पूरा नहीं होता । सर्ग आदि में परमेश्वर के सिवा और कौन मनुष्य को ज्ञान दे सकता है ? इसी लिये पतञ्जलि मुनि ने सत्य कहा है:—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

आदि कवि ब्रह्मा

पुराणों को पढ़ने वाले प्रत्येक विद्वान् को पुराणों का यह सिद्धान्त ज्ञात है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने वेद बनाये । द्रष्टव्य मत्स्य पु. ३।२-४ ॥ श्वेता. उप. ६. १८ ॥ यह मत स्वयं वेद का है । वहीं से पुराणों में गया है । अथर्व १९ । ४३ । ८ में कहा है "ब्रह्मा ब्रह्म दधातु" अर्थात् ब्रह्मा ब्रह्म = वेद ज्ञान को धारण करावे । ऋग् ९ ।११३।६ में भी कहा है:—**यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्** । अर्थात् हे सबको पवित्र करने वाले सोम ! (यत्र) जिस समय में (ब्रह्मा) ब्रह्म वेद को धारण कराने वाला (छन्दस्याम्) छन्दोमयी इस वेद रूप (वाचं वदन्) वाणी का उच्चारण करता है ।" इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा ने सबसे पूर्व वेदवाणी का प्रवचन किया ।

यजुर्वेद २३ अ० में प्रश्नोत्तरी रूप में कई समस्याओं का हल किया गया है । प्रश्न है "**पृच्छामि वाचः परमं व्योम** । अर्थात् मैं तुझसे वाणी के परम आश्रय को पूछता हूँ ।" अगले ही मंत्र में समाधान दिया गया है "**ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम** । अर्थात् ब्रह्मा उस वाणी का आश्रय स्थान है ।" अथर्व ९।१० में भी ऐसा ही वर्णन है ।

मन्त्रों में अनेक वेदों का उल्लेख

समस्त वैदिक सम्प्रदाय इस बात पर सहमत है कि वेदचतुष्टय में आये मंत्र अपौरुषेय (परमेश्वर प्रोक्त) हैं । इसलिए यदि मंत्रों में बहुवचनान्त 'वेदाः' पद आ जावे, तो निश्चय जानना चाहिए कि आदि से ही वेद बहुत चले आये हैं । निःसंदेह पुराणों में 'पहले एक वेद' था, ऐसा वाद है । पर वेद की अन्तः साक्षी स्वयं इसके विरुद्ध है ।

अस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः ॥ ऋ० ४।३५।६॥

"जिस परमेश्वर में समस्त विद्याओं के भण्डार वेद स्थित हैं ।"

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः॥ अथ० १९।९।१२ ॥

"प्रजापति धाता ब्रह्म परमेश्वर समस्त लोक, ज्ञानमय चारवेद शरीरस्थ सात इन्द्रियें, पांच प्राण, त्रिविध अग्नियाँ मुझे शान्ति देवें ।"

इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए श्री सायणाचार्य ने लिखा है —"वेदाः साङ्गाश्चत्वार. ।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वेदों की अन्तःसाक्षी एक वेद न मानकर 'अनेक वेद' मानती है । इसलिए द्वापरान्त और कलियुग के प्रारम्भ में कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'एक वेद' को चतुर्धा कल्पित किया, यह प्रतीति निराधार है ।

सर्गादि में ज्ञान देने की आवश्यकता

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इस 'छन्दोमयी वाणी' का वेद नाम है । 'वेदाः' बहुवचनान्त प्रयोग यह बताता है कि वे अनेक हैं । इस पर विस्तार से विवेचन करनेसे पूर्व एक अन्य विषय पर अब हमें विचार करना चाहिये कि **सर्गादि में ज्ञान देने की आवश्यकता है** या नहीं । और वेद का इस विषय में क्या मत है ?

इस विषय में वेद से निम्न बातें पता चलती हैं । "संसार-यज्ञका पूर्वगामी = पूर्व से विद्यमान तेजस्वी परमेश्वर ज्ञानी है; वह (चेतति चेतयतीत्यर्थः) जीव को ज्ञान देता है = चेताता है, क्योंकि इस संसार-यज्ञ की तरणि = तारक 'अर्थ' = ज्ञान ही है । +" अर्थात् ज्ञान दिये बिना जीव जीवन में अपने व्यापार करने में असमर्थ है । उसको आँख और देखने की शक्ति जैसे दी है वैसे ही जिह्वा और वक्तृत्वशक्ति दी है, हृदय + मस्तिष्क दिया है इसलिये चेतना देनी आवश्यक है । उसी समय 'वागर्थ' भी इकट्ठे चले ।

इसीलिये जीव चाहता है कि:-"अग्नि देव ! हे वसो ! जातवेदः सर्वज्ञ भगवन् ! जो तेरी पर्वत धारा के समान प्रवाहशील अर्थात् वेद सरस्वती कहीं न रुकने

+ **अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थं ह्यस्य तरणि: ॥ ऋ० ३ । ११ । ३ ॥**

वाली विचित्र (वेदमयी) ज्ञानधारा निरन्तर ज्ञान देती है, हमें वह उत्तम बोधक सर्वजनहित-कारिणी = विश्वजन्या (वेदरूप) सुमति दीजिये। ÷ क्योंकि यदि उसे ज्ञान न दिया जावे तो वह आगे अपनी सरस्वतीका विकास कर ही नहीं सकता क्योंकि "...समझाया हुआ शुद्ध ऋतश्लोक = परमेश्वर का दिया ज्ञान ही मनुष्य के बहरे कानोंको खोल देता है। ‡

"वाणी को प्राप्त कराने वाली रहस्य उद्घाटन करने वाली, वाणी को उन्नत करनेवाली, वागिन्द्रियको बुलवाने वाली, सब प्रकार के विचारों से स्थित = पूर्ण दिव्य वाणी = वेदवाक्को अल्पज्ञ मनुष्य को कभी त्यागना नहीं चाहिए। १" क्योंकि;

"परिणामशील प्रकृतिकी सूक्ष्म तन्मात्राओं में रक्खे जाते हुए अत्यन्त गूढ़ विषय को (मे) मुझ जीव के लिये देवोंके व्रतरक्षक ने उत्तम प्रकार से उपदेश दिया है। इन्द्र = ज्ञानी ही तुझे ठीक ठीक बतावेगा। हे अग्ने! उससे अनु-शिष्ट = शिक्षित होकर ही मैं इस संसार में आया २ हूँ;। सर्गादि में प्रथम ऋषि का कथन है कि "मैंने प्रभुसे सीखा है, तुझे आगे ज्ञानी गुरु बतावेगा। मैं सीखकर ही आया हूँ।" क्यों कि:—

"जो प्रथम आदि गुरु भगवान् सबसे पूर्व सब धर्मों = कर्त्तव्यों = धारक नियमों को जानता है अथवा जिसने सब धारक नियमों को पहले बनाया उसके बाद अनेक शरीरों को बनाता है; फिर धास्यु = जीवात्मा का शरीर मे प्रवेश कराता है और फिर जो (सर्गारम्भमें) अनुदित = अव्यक्त वाणी को चिताता है, सिखाता है—३।"

इस मन्त्र में अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें पहले जगत् के धारक विधानों का बनना, फिर शरीरों = योनियों और उनमें जीवात्मा का प्रवेश और फिर उसे सिखाया जाना— इसका वर्णन है।

इसके बाद अनुकरण द्वारा अर्थात् एक सन्तति दूसरी सन्तति उस ज्ञान धाराको प्राप्त करती जाती है इसीलिये वेदों में प्रार्थना है कि—"उत्तम प्रवचन करने वाले = पढाने और उपदेश करनेवाले पितर = बड़े लोग = पूर्वज हमारी रक्षा करें"४। इन पितर सुप्रवाचकों का पितर परमेश्वर है। वेदमें कहा है:—"इन वक्ताओं के सैकड़ों ढंगोंसे जगत् को धारण करनेवाले, कभी क्षीण होनेवाले = नित्य, सबके आदि स्रोत, महाज्ञानी...सत्यवा = निर्भ्रान्त वेदवाणी वाले पितरको द्यावा पृथिवी धा कर रहे हैं अर्थात् वह सर्वत्र व्यापक है। ५"

यदि सर्गादिमें ही मानव को ज्ञान (वागर्थ) न दि जावे तो ज्ञान की सरस्वती आगे बह ही नहीं सकती हजारों वर्षोंसे वानर या अन्य पशुपक्षी उसी प्रकार से अ मुखका प्रयोग कर रहे हैं जैसे उनके पूर्वज। ठीक इ प्रकार मानव जाति की बात है। जैसे आजकल मान 'बोलता है, सुनता है, समझता है' वैसे ही सनातन का

÷ या ते अग्ने पर्वतस्येव धारा सश्चन्ती पीपयद्देव चित्रा। तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदोवसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्
ऋ० ३। ५७। ६

तुलना करोः—
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः॥ यजुः॥ तथा-यथा भर्गस्वतीं वाचमा वदानि जनाँ अनु॥ अथर्व

‡ ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ऋ० ४। २३। ८॥
ऋत श्लोक=सत्यवाणी (सत्यवाचम् ऋग् ३। २६। ९)॥

१ वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्। देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः
ऋ० ८। १०१। १६

२ निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्रमे देवानां व्रतपा उवाच। इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्
ऋ० १०। ३२।

अप्सु = आप्लृ व्याप्तौ। व्यापनशील, फैलने वाली, प्रपंच रूप में परिणत होने योग्य, विकार्य प्रकृति जब सं से विकसित होती है, तभी यह संसार बनता है।

३ आवो धर्माणि प्रथमः ससाद, ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत
अथ० ५। १। २

४ अवन्तु नः पितर सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। ऋ० १। १०६। ३॥

५ शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्। मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्
ऋ० ३। २६। ९

उसके पूर्वज 'बोलते, सुनते, समझते' थे । यह 'बोलना सुनना समझना' १ किसी विकास क्रियाका परिणाम नहीं है ।

वेद में लिखा है कि—'हे ज्ञानाभिलाषिन् जीव ! तू ऋत को बार बार जान । ऋत की सनातन काल से चली आ रही धारा को ❀ अनुकूलता से अपने लिये चीर, खोल । अर्थात् रहस्यों को जान ।' 'जो विद्या रहित मनुष्य है वह इस 'ऋतस्य पूर्वी धारा' को जानने का यत्न करे और सुने† ।' ऐसा कौन करावे ? आप्त विद्वान् । क्योंकि 'विद्वान् आप्तों का‡ यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें ।' (सत्यार्थप्रकाश भूमिका शताब्दिसंस्करण)+

संसार में सब ज्ञानी नहीं हैं । वैसे जीव न पूर्ण ज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी हो सकता है । जीव एक दूसरे से बहुत कुछ सीखते सिखाते हैं । 'जो अज्ञानी है वह ज्ञानी से पूछता रहता है ।×' जो जिज्ञासु है, समझदार है वह दूसरे विद्वान् की बात को समझता है । हृदय में ग्रहण कर सकता है । 'आत्मा की आवाज को न दबने देने वाले कवि ही अपने जैसे अन्य कवियों को कुछ शिक्षा देते हैं, सिखा सकते हैं' ÷ ।

ऐसी दशा में मनुष्य का सर्गादि में 'आदि-कवि' परमेश्वर से 'ज्ञानदीक्षा' लेना आवश्यक है । (कविः मनीषीः...याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः)। क्योंकिः—'मनुष्य योनि में आने योग्य हम जीवों का जन्म इसी लिये है कि हम (अर्यः = परमेश्वरस्य) परमेश्वर के (पूर्वीः मनीषाः =) सत्य ज्ञान को ग्रहण करें ।'२

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की अन्तःसाक्षी के अनुसार सर्गादि में ज्ञान को देने की आवश्यकता है । उसके बिना ज्ञान का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता । उस परमेश्वर ने सब से प्रथम ऋषियों के हृदय में ज्ञान स्थापित किया । वह काव्यरूप था, उसमें मन्त्र थे और छन्दोमयी रचना थी । वह अनेक भागों में विभक्त था ।

उस ज्ञान के नाम

हमें यह भी देख लेना चाहिये कि उस काव्य के पारिभाषिक नाम कौन कौन से हैं ?

उस ब्रह्म (= ईश्वरीय ज्ञान = देवकाव्य = कल्याणीवाक् या दैवीवाक्) को ३ छंद, ४ मंत्र ५, तथा ६ वेद भी कहते हैं । इस वेद नाम के विषय में ऊपर विस्तार से

१ प्रब्रवाम, शृणुयाम, बुध्येम ।

❀ ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि, ऋतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः । ऋ० ५।१२।२ ॥

† वेदद विद्वाञ्छृणवच्च । ऋ० ५।१०।३ ॥

‡ आप्त = आप्लृ व्याप्तौ । A man possesing comprehensive knowledge. व्यापक ज्ञान रखने वाला, Master of all,

\+ विद्वान् वहते = विद्वान् विद्या प्राप्त कराता है । ऋ० ५।१०।३ ॥

× अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् ॥ ऋ० १०।३२।७ ॥

÷ कविं शशासुः कवयोऽदब्धाः...ऋ० ४।२।१२ ॥

२ वनेम पूर्वीरयो मनीषा.. मानुषस्य जनस्य जन्म ॥ ऋ० १।७०।१ ॥ अर्यः = 'अरि' शब्दका षष्ठी एकवचन। अरिः = ऋ गतौ । गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च ॥

३ ऋ० २-२३-२ में 'ब्रह्मणां जनिता' तथा 'ब्रह्मा ब्रह्म दधातु' आदि से यही मालूम पड़ता है ।

४ अथर्व ४।३४।१, तथा ८।९।१७, १९ में अथर्व ६।१२४।१॥ छंदोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ।

५ अथर्व ५।१।२; ५।२।१३ तथा यजुः ३४।५३, ऋग् १०।५०।६ तथा ऋग् ६।५०।१४ ॥ 'विश्वे देवा ऋतावृधः हुवानाः स्तुता मंत्राः' तथा ऋग् ३।५३।८ में 'रूपं रूपं मघवा...स्वैर्मन्त्रैः ऋतावा ।' तथा 'मंत्रं वदत्युक्थ्यम्' में भी यही अर्थ है ।

६ वेद शब्द इसी अर्थ में निम्न स्थलों पर आया है-अथर्व. २०।५६।६; ७।५४ सूक्त में; ६।२८।१; यजुः २।२१ः १९।७८ में तथा ऋ. १।४३।९ में आया है । अथर्व. ४।५ में लिखा है कि—'वेदा विहिताः' तथा ऋग् १।८१।९ में 'अन्तर्हिख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषा—।...' इन स्थलों के पढ़ने से 'वेद' शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है ।

विचार किया है। इसका लोक में प्रसिद्ध एक नाम ऋचा भी है। अथर्व ११।४।३८ में कहा गया है कि ऋचाएं प्रभु से प्रगट हुई हैं।' और 'प्रभु ऋचाओं से प्रगट हुआ है।' × अर्थात् ऋचाओं को पहले उसने बनाया, फिर उन ऋचाओं द्वारा ही हम उसकी महिमा को जान सकते हैं, इसीलिए इन सुन्दर आलंकारिक काव्यमय शब्दों में उसे ऋचाओं द्वारा उत्पन्न कहा गया है।

वैदिक ऋचाएं कहने से भी लोक में चारों वेदों की ऋचाएं यही अर्थ लिया जाता है। अथर्ववेद में आया है कि 'आथर्वणेभ्यो ऋचाभ्यः स्वाहा।' इससे भी यही साबित होता है—ऋचा नाम चारों वेदों का है। इसी वेद के पारिभाषिक ऋचा नाम को लेकर अथर्ववेद ९।१०।१८ में निम्न वर्णन किया गया है—'जिस परम, अविनाशी, आकाशवत् व्यापक प्रभु में ऋचाएं और संसार की समस्त भौतिक तथा अभौतिक शक्तियाँ आश्रित हैं, उस प्रभु को जिसने नहीं जाना उसका भला वेद भी कैसे कर सकता है ? १' । इसके लिए २ दो और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनसे भी यही भाव स्पष्ट होता है कि 'ऋचा' से अभिप्राय चारों वेदों से है।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इस काव्य का नाम ब्रह्म, छन्द, मन्त्र, वेद तथा ऋचा है। ❀ इनमें से ब्रह्म छंद तथा ऋचा का अपना अपना अलग अर्थ भी है। जैसे ब्रह्म ३ का अर्थ ज्ञान, अथर्ववेद तथा परमेश्वर; छंद का अर्थ–छंद जिनमें कि पद्य रचना की जाती है और ऋचा का अर्थ ऋग्वेद है।

अब हम उसके विभागों पर विचार करते हैं। हमें वेद के पढ़ने से यही ज्ञात हुआ है कि उस वेद के चार भाग हैं।

ऋग्० ४।५।८ में ४ आये प्रसिद्ध मन्त्र प्रायः समस्त वैदिक विद्वान् "चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादाः" का अर्थ चारों वेद लेते हैं। एक दूसरा प्रमाण भी पेश करते हैं। यजुर्वेद में निम्न मंत्र आया है—

पाहि नो अग्न एकया, पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पाहि चतसृभिः वसो॥

यजुः २७।४३।

इससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है उसकी 'गीः' वाणी चार भागों में विभक्त है। श्री सायण ने भी इस मंत्र का अर्थ चारों वेद ही किया है। अथर्व ९।१०।२७ + में इस प्रकार इस तथा ऋ० १०।६१।११ में इन चार भागों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। इनके अनुसार इन चार भागों को निम्न कोष्ठक द्वारा सरलता से समझ सकते हैं। विशेष वर्णन निरुक्त में है।

१. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् (ऋग्.)।
२. गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु (साम.)।
३. ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् (अथर्व.)।
४. यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः (यजुः)।

इस मंत्र में ऋत्विजों के कर्मों का विनियोग बताया गया है। होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा अध्वर्यु के कर्मों का इसमें वर्णन है। होता का ऋग् से, उद्गाता का साम से, ब्रह्मा का अथर्व से और अध्वर्यु का यजुर्वेद से सम्बन्ध है। 'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' सर्वविद्य होने से अथर्वाङ्गिरसी श्रुतियों का जानना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अथर्ववेद जाने बिना वह ब्रह्मा नहीं हो सकता। पूर्वोक्त मन्त्र में कथित चार ऋत्विजों में कौन किस किस वेदका पण्डित हो, इसे गोपथ ब्राह्मण (पू० २.२४) ने बहुत ही स्पष्ट किया है।

× स वा ऋग्भ्योऽजायत, तस्मादृचोऽजायन्त ॥

१ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ॥

२ (क) ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ यजु० १८।३३ ॥
(ख) ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्त...॥ अथर्व० ६।२८।१ ॥

❀ लोक में वेद शब्द के पर्याय श्रुति, आम्नाय, छन्दस्, ब्रह्म, निगम और प्रवचन भी हैं। शतपथ १३।४।३।१३ के अनुसार वेद के लिए 'पुराण' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। "अध्वर्युस्तार्क्ष्ये वै पश्यतो राजवेत्याह...पुराणं वेदा सोऽयमिति किंचित् पुराणमाचक्षीत।"

३ ब्रह्म पदवायं ब्रह्मणोऽधिपतिः ॥ अथर्व १२।५।६ ॥

४ 'चत्वारि शृङ्गाश्चत्वारो वेदा एव चत्वारि शृङ्गाणि'—पतंजलिः। 'वेदा एते उक्ताः' (निरुः परिः १।७) यास्काचार्य।

+ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

त्रयी विद्या

इस सम्पूर्ण काव्य को वेदेतर वाङ्मय में त्रयी नाम से भी पुकारा जाता है। चारों वेदों में कहीं पर भी त्रयी शब्द नहीं है। भारतीय सारस्वत में भी पहले 'त्रयी विद्या' शब्द था 'वेदत्रयी' नहीं। त्रयी विद्या वेद चतुष्टय में है। उसके निम्न विभाग हैं।

पहला भाग आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विषयों के दृष्टिकोण से हम कर सकते हैं। अर्थात् वेदचतुष्टय में इन तीन प्रकार के (अर्थात् जिसमें समस्त ज्ञान आ जाता है ऐसे) ज्ञान की 'त्रयी विद्या' नाम से लोक में प्रसिद्धि है। ज्ञान, कर्म, उपासना भेद से हम त्रयी विद्या को दूसरे एक ढङ्ग से भी समझ सकते हैं। ऋग्वेद से ज्ञान, यजुः से कर्म तथा साम से उपासना का ग्रहण होता है। इन स्थलों पर ये नाम तीन वेदों के न होकर केवल मात्र उन तीन प्रकार के ज्ञानों के द्योतक हैं। जैसे कि निम्न मन्त्र में बताया गया है। 'जिस हमारे शुद्ध मन में ऋग् साम तथा यजुः इन भागों में विभक्त ज्ञान स्थित है +' अभिप्राय यह है कि संसार में मनुष्य को तीनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। * जिसने इन तीनों प्रकार की विद्याओं को प्राप्त कर लिया, मानों संपूर्ण विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वेद में जीव कहता है मेरा नाम ऋग् है, यजुः है, साम है, अर्थात् मैं इनके स्वरूप वाला हूँ = तीन प्रकार के ज्ञानों का ज्ञाता हूँ। * यही कारण है कि 'त्रयी वै विद्या। ऋचो यजूंषि सामानि।' श० ब्रा० ४।६।७।१ में ऐसा लिखा है।

अथर्व ११।१०।२३ में एक मन्त्र है। **शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः।** शरीर में ब्रह्म अर्थात् ज्ञान प्रविष्ट हुआ और वह इन तीन-ज्ञान, उपासना तथा कर्म में विभक्त था ×। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि त्रयी से सम्पूर्ण विद्या अर्थात् वेद का ग्रहण होता है। इसीलिए वेद में कई स्थलों पर 'तिस्रो वाच उदीरिते' (ऋ० ९।३३।४) ऐसा आया है।

कई विद्वानों की यह युक्ति कि 'इस चतुर्थ वेद का नाम अन्य वेदों में स्पष्टतः नहीं आने से यह अथर्ववेद अर्वाचीन है तथा यदि वेदों में है, तो भी अथर्व नाम कम से कम ऋग्वेद में तो नहीं। कहीं २ पर तीन वेदों का ही नामोल्लेख है।...' भी निस्सार है।

सब से प्रथम यह देखते हैं कि 'अथर्ववेद' का यही नाम किन किन स्थलों पर आया है! यह अथर्व नाम तो अथर्ववेद के १०।७।२० स्कम्भ सूक्त में ही आया है। (अथर्वांगिरसो मुखम्); अन्य स्थलों पर नहीं। तो क्या यह वेद किन्हीं अन्य नामों से वेदों में निर्दिष्ट है? हमारा मत है कि हाँ, यह कई अन्य नामों से निर्दिष्ट है।

ऋग्वेद में इसका नाम छन्दांसि तथा छन्द भी है। ऋग् ४।५८।३ तथा ११।७१।११ इन दो मन्त्रों से यह तो स्पष्ट है कि ऋग् में भी चतुर्थ वेद की सत्ता को माना गया है। पुरुष सूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्र में छन्दांसि पद से चतुर्थ वेद का ग्रहण होता है। श्री सायणाचार्य जी ने भी ऐसा ही माना है। गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण प्रकरण प्रतिकूल होने से नहीं किया जा सकता। दूसरे यदि इन छन्दों से ही तात्पर्य होता तो वह तो ऋग् पद के कहने मात्र से ही गृहीत था, क्योंकि छन्दोमयी अर्थात् पादबद्ध रचना (पद्यमयी) को तो ऋग् कहते ही हैं। जब ऋग् मात्र कथन से ही छन्दांसि पद का भाव आ जाता है, तब इस छन्दांसि पद का ग्रहण इसी बात का ज्ञापक है कि इसका अर्थ चौथा वेद अर्थात् अथर्व है ऋग् यजुः साम तो स्पष्ट वेद हैं ही अतः अवशिष्ट छन्दांसि पद से अनुक्त चौथे वेद अथर्व का ग्रहण ही करना चाहिये। छन्द शब्द का अर्थ वेद भी होता है; जैसा कि पीछे सिद्ध कर चुके हैं १। परन्तु जब ऋग् यजुः साम के साथ छन्दांसि पद आवे

\+ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ॥ यजु० ३४।४ ॥

* ऋचो नामास्मि, यजूंषि नामास्मि, सामानि नामास्मि ॥ यजुः १८।६७ ॥

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥ (अथर्व—११।६।१४)

इस मन्त्र में कई विद्वान् 'भेषजा' का अर्थ अथर्व वेद करते हैं। "भेषजं वा अथर्वाणि।" ताण्ड्यमहा ब्रा० ॥ १२। ९। १० ॥

× ब्रह्म का अर्थ अथर्व—वेद भी होता है। यदि वह अर्थ करें तो हमारा पक्ष कि वेदरूपी काव्य चार भागों में विभक्त है, यह बहुत ही स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

१ छन्दोभ्यः समाहृत्य...। (नि० १। १) वेदेभ्यः इति ॥ छन्दांसि यस्य पर्णौ इति श्रुतिः ॥ छन्दांसि यस्य पर्णानि। (गीता १५। १) व्याकरणे छन्दसि शब्दः वेदार्थकः ॥ छन्दोभिरच्छादयन्...(छान्दो० ॥ १।४।२)

तो वहाँ उस अकथित अथर्ववेद के मन्त्रसमूह का ग्रहण ही करना चाहिये। इस मन्त्र में ऋग् साम' के पश्चात् और यजुः पद से पूर्व 'छन्दांसि' शब्द का प्रयोग है। इससे यही सूचित होता है कि वेदत्रय' की कल्पना अशुद्ध है : अब हम चतुर्थ वेदकी सत्ता के लिये कुछ और प्रमाण देते हैं।

अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त में लिखा है कि 'जिसमें ऋग् साम यजुः तथा मही आश्रित हैं...वह स्कम्भ है १।" इसी सूक्त में आगे लिखा है कि "जिससे ऋग् तथा यजुः निकले हैं=पैदा हुए हैं; साम जिसका लोमस्थानीय है, तथा अथर्व जिसका मुख है...उसे स्कम्भ जानो २।'

यह स्कम्भ कौन है? स्कम्भसूक्तके पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कम्भ परमेश्वर ही है। दूसरे, स्कम्भ सूक्त में लिखा है कि 'जिसका मुख ब्रह्म है, वह स्कम्भ है ३' अर्थात् जो कि हमें ज्ञान देता है। यह कल्पना ऐसा अर्थ करनेपर ही संगत बैठती है। 'ब्रह्मा ब्रह्म दधातु' से ब्रह्म तथा ब्रह्मा दोनों का परस्पर संबन्ध ज्ञात होता है। वही ब्रह्मा स्कम्भ है। अथर्व के अनुसार ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्मा तथा स्कम्भ ये सब एक ही सिद्ध होते हैं। ४

अथर्व के ओदन सूक्त में भी ऋचा इज्य ब्रह्म तथा साम इस प्रकार चारका वर्णन है ५। यह ओदन कौन है? सूक्त पढ़ने से उसके वर्णन से यही ज्ञात होता है कि यह भी परमेश्वर का नाम ही है। दूसरे, इस सूक्त के प्रथम मंत्र में लिखा है कि—'उस ओदन का सिर बृहस्पति तथा मुख ब्रह्म है ६।' इसी प्रकार स्कम्भ सूक्त में लिखा है कि 'वैश्वानर जिसका सिर है तथा ब्रह्म जिसका मुख है...७।' इससे दो बातें ज्ञात होती हैं। प्रथम तो बृहस्पति तथा वैश्वानरकी एकता और द्वितीय बात यह कि इस प्रकार वर्णन के एक समान होने से ओदन तथा स्कम्भका अभेद।

अथर्व के उच्छिष्ट सूक्त में 'ऋग् साम यजुः तथा उद्गीथ इन चार चीजों को बताया गया है ८।' इसी सूक्त में आगे यह बताया है कि 'उच्छिष्ट से ही ऋग् यजुः साम छन्द पैदा हुए हैं ९।' सूक्त के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि यह उच्छिष्ट भी उसी परमेश्वर का नाम है।

एक सीधा तथा सरल अर्थ तो यह है कि परमेश्वरने अपने पदार्थों में से जो हमारे निमित्त किये जाने वाले यज्ञ के लिये भाग छोड़ा है। परंतु दूसरा अर्थ इसका स्कम्भ भी है। स्कम्भ सूक्त में आता है कि "जिसमें सब लोक कोश आपः...असत् तथा सत्, ऋत्, और श्रद्धा हैं जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वात अर्पित हैं। स्कम्भ ने ही द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को धारण किया हुआ है †।' जब हम इस वर्णनको उच्छिष्ट सूक्तके "उच्छिष्टमें ही सम्पूर्ण लोक, इन्द्र, अग्नि, द्यावापृथिवी, आपः चन्द्रमा, वातः, सत् तथा असत् और ऋत् तथा सत्य है‡" ...

---

१ यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ॥ १० । ७ । १४ ॥

२ यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् । १० । ७ । २०

३ यस्य ब्रह्म मुखम् । अथ० १० । ७ । १९ ॥

४ ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनं । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् । ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ अथ० १० । ७ । १७ ॥

५ ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ (अथर्व० ११ । ३ । १४) तथा ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा (अथर्व० ११ । ३ । १५)

६ तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥

७ यस्य शिरो वैश्वानरः। (अथ० १० । ७ । १८) तथा यस्य ब्रह्म मुखम् ॥ (अथ० १० । ७ । २९)

८ ऋग् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ॥ अथ० ११ । ७ । ५ ॥

९ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे ॥ ११ । ७ । २४ ॥

† यत्र लोकांश्च कोशांश्च आपो । असच्च यत्र सच्चान्तः । (अथर्व० १० । ७ । १०) ऋतं च यत्र श्रद्धा च (अथर्व० १० । ७ । ११) यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः (अथ० १० । ७ । १२) तथा-स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् । (अथर्व १० । ७ । ३५

‡ उच्छिष्टे लोक आहितः । उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् । (अथर्व० ११ । ७ । १) उच्छि...

वर्णन से मिलाते हैं तो स्पष्ट ही दोनों की एकता पता चल जाती है। हमने अभी ऊपर ओदन तथा स्कम्भ की एकता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार ये तीनों एक ही परमेश्वर के बोधक हैं। अथर्व० १०।७।१५ में स्कम्भ को पुरुष कहा गया है[1]। और यह पुरुष परमेश्वर ही है।

इस उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि (परम पुरुष यज्ञ) **परमेश्वर ने चार वाक् समूहों में सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान दिया है।** इस बात को हम निम्न कोष्ठक से भली भांति समझ सकते हैं।

१ स्कम्भ सूक्त में—

ऋग्। साम। यजुः। मही। (१५ वें मंत्र के अनुसार।)

ऋग्। साम। यजुः। अथर्व। (२० वें मन्त्र के अनुसार।)

२ ओदन सूक्त में—

ऋग्, साम, इज्य तथा ब्रह्म।

३ उच्छिष्ट सूक्त में—

ऋग्, साम, यजुः, उद्गीथ। (५ वें मन्त्र के अनुसार।)

ऋग्, साम, यजुः, छन्दांसि। (२४ वें मन्त्र के अनुसार।)

इस प्रकार इस कोष्ठक से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग् तथा साम तो सबमें समान हैं। यजुः भी सर्वत्र लगभग इसी नाम से वर्णित है, यद्यपि एक स्थान पर उसे इज्य भी कहा गया है। चौथे भाग को ब्रह्म ※ उद्गीथ छन्द मही अथर्व तथा इन भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है। ये ऋग, यजुः, साम, अथर्व नाम से प्रसिद्ध चारों वेद उसी उच्छिष्ट, स्कम्भ तथा ओदन रूप यज्ञ पुरुष परमेश्वर से उत्पन्न किये गये हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर विचार करते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि— **परमेश्वर की एक छन्दोमयी वाणी है। उसे काव्य भी कहा जाता है। वह वाक् चार भागों में विभक्त है। उन चारों के नाम क्रमशः ऋग, यजुः, साम तथा अथर्व हैं। इस ज्ञान को परमेश्वर ने सर्गादि में ऋषियों के हृदय + में स्थापित किया और उन्होंने साधारण मनुष्यों तक उसे पहुँचाया।**

इन्हीं चार भागों का वर्णन यजुः १२।४ के स्तोम (ऋग्) आत्मा छंदांस्यंगानि यजूंषि नाम। साम ते तनू' इस मन्त्र में आया है २। इसी बात को अधिक पुष्ट करने के लिए एक और स्पष्ट प्रमाण देते हैं जो कि साधारणतः प्रत्येक वेद का विद्यार्थी वेद पढ़ना प्रारम्भ करते समय गुरुमुख से अवश्य सुन लेता है।

पुरुष सूक्त में पुरुष का वाची यज्ञ नाम दिया गया है ३। यज्ञ शब्द के पुरुष (अर्थात् परमेश्वर) और लौकिक

द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ (अथर्व० १०।७।२)
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ (अथर्व० १०।७।३) ऋतं सत्यं (अथर्व० १०।७।१७)
इस वर्णन को आपस में मिलाते हैं तो स्पष्ट ही दोनों की एकता प्राप्त हो जाती है।

१ यत्राऽमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते। समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

※ ह्विटनी ने भी 'ब्रह्म' पद का अर्थ अथर्ववेद किया है।

+ अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शन्तमः। अथा सोमं सुतं पिब॥ ऋ० १।१६।७॥
"यह सबसे पहला स्तुतिसमूह = वेदज्ञान हृदय को स्पर्श करने वाला तथा शान्तिदायक होवे। वेदज्ञान प्राप्त करके उत्पन्न ऐश्वर्य को भोगो।"
इस मन्त्र में 'स्तोम' को स्पष्ट ही 'अग्रियः' सर्गादि में दिया तथा 'हृदिस्पृग्' जो हृदय को स्पर्श करने वाला है, हृदय में उतरने वाला कहा है। अग्रियः स्तोमः वेद संसार में सबसे पुराना ग्रन्थ है। वेद सब वाणियों का मूल है, सबसे पहले वेद ही मनुष्य को प्राप्त हुआ। वेद द्वारा ही वाणी तथा ज्ञान संसार में फैले।

२ निम्न स्थलों में भी चार भागों का वर्णन है। अर्थ न करके केवल उद्धरण ही दे देते हैं। अथर्व १५।३-६,७ तथा अथर्व ९।६।१॥

३ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ऋ० १०।९०।७, तथा यजुः० ३१।९॥
'तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः। तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये॥ अथ० १९।६।११॥

यज्ञ ये दोनों अर्थ होते हैं। इसी भेद को 'यज्ञेन यज्ञमय-जन्त देवाः' इस मंत्र भाग से प्रतिपादित किया है। उस यज्ञरूप परमेश्वर से वेद उत्पन्न हुये हैं, यह बात निम्न (लगभग एक जैसे ही) मन्त्रों में प्रतिपादित की गई है।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।
(यजु० ३१।७ ऋ० १०।९०।९)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदो ह जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।
(अथर्व० १९।६।१३)

'उस यज्ञस्वरूप सबका उत्पादन तथा प्रलय करनेवाले (सर्वहुतः हु दानादानयोः) परमात्मा से ऋग्, साम, यजु तथा छन्द अर्थात् अथर्ववेद पैदा हुए हैं।' पुरुष सूक्त से यह स्पष्ट है कि वहां सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन भी है। यदि यज्ञ का सम्बन्ध इन वेदों की उत्पत्ति से बताया है, तो साथ ही साथ सृष्टि उत्पत्ति का सम्बन्ध भी उस यज्ञसे है। + अभिप्राय यही हुआ कि प्रजापति ने सृष्टि यज्ञ करते समय अर्थात् संसार जब बन रहा था उस समय वेद भी प्रगट किये। उसी को कहा है कि मानों यज्ञ से चारों वेद प्रगट हुए हैं। अर्थात् वेद-वाक् सृष्टि के आरम्भ में प्रगट हुई। इससे स्पष्ट है कि केवल अथर्ववेद में ही नहीं, प्रत्युत अन्य वेदों में भी चतुर्थवेद अथर्ववेद का वर्णन आया है।

यहां पर हमें स्पष्टरूप में दो आवश्यक निर्देश देने हैं। वर्त्तमान काल में अंग्रेजी माध्यम व पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली द्वारा बने 'वैदिक विद्वान्' प्रायः यह मानते हैं कि 'चारों वेद' एक साथ नहीं बने हैं।

हमने इस लेख में चारों वेदों से जितने भी प्रमाण दिये हैं, उन सबमें 'चारों वेदों' का एक साथ वर्णन आया है। इसलिए यह कहना कि—"ऋग्वेद पहले बना, उसके पश्चात् अन्य वेद और सबसे अन्त में अथर्ववेद—" सर्वथा भ्रामक और वेदों की अन्तःसाक्षी के सर्वथा विरुद्ध है। विशेष करके पुरुष सूक्त ने तो स्पष्टतः ही यह कह दिया कि 'यज्ञ पुरुष से ऋग् यजुः साम अथर्व चारों इकट्ठे प्रगट किये गये हैं।

दूसरी एक और बात है। भारतीय दृष्टि 'वेद चतुष्टय' को 'अपौरुषेय' मानती है। 'वेद चतुष्टय' संहिता मात्र का नाम है, ऐसी प्राचीनतम वदन्ती है। मध्यकाल में 'ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदों की भी वेद संज्ञा प्रसिद्ध हो गई। 'वेदों की अन्तःसाक्षी' इस वाद के विरुद्ध है। इस सिद्धान्त से पौर्वात्य या पाश्चात्य सभी सहमत हैं कि मानव वाङ्मय में 'ऋग् यजुः सामाथर्व' नामक पुस्तकें प्राचीनतम हैं। भारतीय इन्हें अपौरुषेय समझते हैं, पाश्चात्य विद्वान् 'पौरुषेय'। इसके पश्चात् 'ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदें' निर्मित हुईं। भारतीय विद्वानों में एक दल इनको 'वेदों के व्याख्यान' समझता है इसलिए पौरुषेय कहता है; दूसरा दल इन्हें भी अपौरुषेय समझता है। वेद संज्ञा देता है। और पाश्चात्य विद्वान् यथापूर्व इन्हें 'वेदों के व्याख्यान समझता है, पौरुषेय कहता है। पर इन सबमें एक बात पर एक मति है, वह यह कि ये 'संहिता' (=वेद चतुष्टय) के आविर्भाव के पश्चात् बने हैं। कोई भी विद्वान् यह नहीं मानता कि 'वेद ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्' एक समय में बने हैं, चाहे वह भारतीय हो या पाश्चात्य।

इससे यह स्पष्ट है कि 'ऋग् यजुः सामाथर्व' पृथक् बने हैं। ऋग्वेदादि से हमने कुछ उद्धरण दिये हैं, जिनमें 'वेदाः' शब्द आया है। वेदों में ही 'ऋग् यजुः सामाथर्व' नाम आये हैं। यदि शतपथादि भी 'वेद' (ईश्वरीय ज्ञान) होते तो निश्चय ही इन प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में कहीं न कहीं इनका संकेत होता और इनकी सत्ता वेदों से पूर्व या समकालीन होती। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वेदों की अन्तःसाक्षी के अनुसार 'ब्राह्मण आरण्यक उपनिषदें' = वेद नहीं हैं। अपौरुषेय नहीं हैं, पौरुषेय हैं।

एक विषय पर और प्रकाश डालना शेष रह गया है। वह यह कि परमेश्वर ने जिन ऋषियों के हृदयों में वेद ज्ञान की ज्योति को जगाया, उनके नाम क्या हैं? भारतीय वाङ्मय में ऐसी प्रसिद्धि है कि—

+ ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि। यजु० ३१।४ ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः। यजु० ३१।५॥ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ यजु० ३१।६ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः ॥ यजु० ३१।७ ॥ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः यजु० ३१।८।

अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद
आदित्य से सामवेद अंगिरा से अथर्ववेद

का प्रचलन जगत् में हुआ। इस विषय में वेदों की अन्तः साक्षी क्या है?

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं
जनये चारुमग्नये॥ ऋ० १०।९१।१४॥

जिस जगत् में (अश्वासः ऋषभास उक्षणः वशा मेषा) घोड़े बैल गौएँ में आदि (अवसृष्टासः) उत्पन्न किये जाकर (आहुताः) मनुष्य कल्याणार्थ दान दिये जाते हैं; उस जगत् में (अग्नये) अग्नि (कीलालपे) वायु (वेधसे) आदित्य (सोमपृष्ठाय) अंगिरा ऋषियों के (हृदा) हृदय में (चारुं मतिं) प्रशंसनीय वेद को (जनये) प्रगट करता है।

इससे ऊपर भी ज्ञानदान का ही प्रकरण है।

इमां प्रलाय सुष्टुतिं नवीयसीं,
नोचेयमस्मा उशते शृणोतु नः।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे,
जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥

मैं इस (उशते प्रलाय) चाह वाले और प्रयत्नशील के लिये (इमां नवीयसीं सु-स्तुतिं) इस नवीन उत्तम वाणी को कहूँ। वह इसे सुने। जैसे कामना करती हुई जाया पति के लिये होती है, वैसे यह मेरे लिये हो ताकि मैं (अस्य हृदि अन्तरा भूया निस्पृशे) इसके हृदय में अच्छी तरह से उसका स्पर्श करा दूं। **इस विषय में इससे अधिक हमें नहीं मिला।**

वेदों में अनेक स्थलों पर मंत्रों (वेद वाक्यों) की महिमा प्रकट की गई है। एक जगह पर लिखा है कि:— "मंत्र गुरु अर्थात् शिक्षक है।"[1] फिर दूसरे स्थल पर आया है कि:—"सच्चे मंत्रों से।"[2] अन्यत्र वर्णन है कि:— "सच्चामंत्र"।[3]

इस प्रकार वेदों ने मंत्रों वेदवाक्यों = कल्याणी वाणी को यदि एक ओर 'गुरुतुल्य' बतलाया है, तो दूसरी ओर उनके 'सत्य' (= सदा स्थिर, सर्वकाल सर्वावस्थासु कर्तव्य) होने का भी वर्णन किया है।[4]

उपसंहार

ऋग् में + ऐसा वर्णन आया है कि त्वष्टा जो कि "सामोंको गाने वाला कवि है, उसने ब्रह्मणस्पति को बनाया है।" इसका अभिप्राय यह है कि त्वष्टा ने सामों तथा ब्रह्मणस्पतिः = ज्ञान के स्वामी को बनाया है अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न किया है। यजु० २९।९ में यह लिखा है कि **'त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान।** 'अभिप्राय यह है कि संसार की उत्पत्ति के समय त्वष्टा उसे घड़ते समय जो संगीत कर रहा था, वह संगीत ही तो वेद है; जिससे कि हम उसके कर्ता ब्रह्मणस्पति के विषय में जान सकते हैं। यजुः ८।४५ में भी 'वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्' कह कर इसी मत को पुष्ट किया है। अथर्व ४। २३। १ में प्रथमस्य प्रचेतसः' कहने का भी यही अभिप्राय है कि 'प्रथम अर्थात् सृष्टिनिर्माण के समय जो पहिला ज्ञानी उसका...।' अथर्व २। १। ४ × में तथा यजुः ३२।११ ‡ में स्पष्ट ही इसे सर्व प्रथम उत्पन्न वाणी कहा है। अथर्व ९। १०। १५ में भी यही मत माना गया है। इस वाणी को नित्य भी वेद में (ऋ० १०। ११४। ८) कहा गया है 'जब तक ब्रह्म स्थित रहता है तभीतक उसकी वाणी भी ❀। ऋग्

---

१ मंत्रो गुरुः ऋ० १।१४७।४॥ २ मंत्रेभिः सत्यैः ऋ० १।६७।३॥
३ सत्यो मंत्रः ऋ० १।१५२।२॥
४ सत्यज्ञानमयो हि सः॥ मनुः॥
'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।' महर्षिदयानन्द।

+ विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि, त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कविः। स ऋणचिदणया ब्रह्मणस्पतिः। द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य भर्तरि॥ ऋ० २। २३। १७॥

× परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य। वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः॥

‡ उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश॥

❀ यावद्ब्रह्म विस्तृतं तावती वाक्॥...जितना महान् वह परमेश्वर का जगन्मय प्रगट स्वरूप है, उतनी ही वाणी भी विस्तृत है।

में भी वाणी को नित्य कहा गया है। ÷

यदि हम अन्त में पुनः अपने प्रतिपादित तथा विविक्त विषय को सूत्ररूप से कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि "उस कवि तथा मनीषी सृष्टिकर्ता परमेश्वर का एक अविनाशी सदा नूतन काव्य है, वह छन्दोमय है। उसमें त्रयीविद्या की वाणी है। यह ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व इन चार भागों में विभक्त है। इसे यज्ञ बृहस्पति पुरुष ब्रह्मणस्पति आदि नामोंवाले परमेश्वर ने सृष्टि निर्माण करते समय एक साथ इसे प्राप्त करने की क्षमता रखने वाले अग्नि वायु आदित्य अंगिरा नामक देवों = विद्वान् ऋषियों के हृदयों में स्थापित किया और उन्होंने उसे संपूर्ण विश्व के प्राणियों के लिये प्रचारित किया यही गुरु मन्त्र है, यही सत्य ज्ञान है। हम सब मनुष्य उसी सुख देने वाले तथा पाप रहित मन्त्र को कहें तथा जैसा मन्त्रों में कहा है वैसा आचरण करें" ॥

÷ तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया। ऋ० ८।७५।६॥ देखो इसके पोषण में महाभारत शां०प० १२।२३,२४॥

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या, यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

"सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी 'वेदमयी' वाणी का प्रादुर्भाव किया गया, जो नित्य है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो दिव्य है, जिससे संसार में सब प्रवृत्तियाँ चलती हैं।"

१ ऋ० १।४०।६ देखो पृ. २९ "हे देवो! हम (विदथेषु) यज्ञों = लोकव्यवहारमें उस मंत्र को कहें, जो सुख देने वाला तथा पाप रहित पापसे बचाने वाला है)।"

२ ऋ० १०।१३४।७॥ नकिर्देवा विनिमीस, नकिरायापयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥

"हे विद्वानों! न हम विरुद्ध (उलटासीधा) करते हैं और न किसी को धोखा देते हैं। किन्तु जैसा मन्त्रों में बतलाया है, वैसा आचरण करते हैं।"

अर्थात् वेदों ने मनुष्यों को इन्हीं मन्त्रों = वेदों की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करने की शिक्षा दी है और स्पष्ट कह दिया है कि इनके विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये।

वे ग्रन्थ, जिनके नाम सूचियों में नहीं मिलते

[*ले०—श्री पं० रामशंकर जी भट्टाचार्य व्याकरणाचार्य एम० ए०, वाराणसी*]

प्राचीन व्याख्या ग्रन्थों में कहीं कहीं ऐसे भी ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनका नाम भी आजकल अज्ञात है तथा बृहत् सूचियों में उनके नामों का भी उल्लेख नहीं मिलता। इस निबन्ध में हम क्रमशः ऐसे ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत करते रहेंगे।

(१) सर्वाभिसमय सूत्रः—यह एक बौद्ध ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख उद्द्योतकर के न्यायवार्तिक में मिलता है। अन्य प्रचलित बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता (जहाँ तक मैंने देखा है) तथा बौद्ध शास्त्राध्येता कुछ मित्रों से पूछने पर भी वे इस ग्रन्थ के विषय में कुछ जानकारी न दे सके। इस उल्लेख से उद्द्योतकरके बौद्ध ग्रन्थाध्ययन का परिचय भी मिल जाता है। वाक्य इस प्रकार है—"न च आत्मानम् अनभ्युपगच्छता तथागत दर्शनम् अर्थवत्तायां व्यवस्थापयितुं शक्यम्। न चेदं वचन नास्ति, सर्वाभिसमयसूत्रेऽभिधानात् यथा—भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारं पञ्चस्कन्धाः भारहारश्च पुद्गल इति (यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवतीति सूत्रम्' (न्यायवार्तिक ३।१।१)।

हमें इस ग्रन्थ का अन्य उद्धरण देखने को नहीं मिला, तथा इस ग्रन्थ का अन्य परिचय भी नहीं मिला। कोई बौद्ध विद्वान इस ग्रन्थ का परिचय देने के लिये कृपा करें तो अच्छा होगा!

(२) **परमार्थसारोद्द्योतः**—वैयाकरण नागेश भट्ट का यह ग्रन्थ है। अफ्रेक्ट ने नागेश के ग्रन्थों की बृहत् सूची दी है (Cata. Cata. भाग १ पृ० २८३–२८४), जिसमें नागेश के ४७ ग्रन्थ उल्लिखित हैं, पर इसमें इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। शेषकृत परमार्थसार की यह टीका है। इसका उल्लेख नागेश ने भाष्य प्रदीपोद्द्योत में किया है, यथा—'**प्रपञ्चितं चैतदस्माभिः परमार्थसारोद्द्योते**' (उद्द्योत ४।१।३)। नागेश ने परमार्थसार की अन्य व्याख्या का भी उल्लेख किया है (**एतच्च परव्याख्याने† प्रपञ्चितमिति बोध्यम्**, वही पृ० २० निर्णय सागर संस्करण) संभवतः इसका संकेत राघवानन्दयतिकृत व्यख्या की ओर है।

इस ग्रन्थ के विषय में पत्र द्वारा पृष्ट होने पर भण्डारकर प्राच्य विद्याशोध संस्थान के अध्यक्ष श्री परशुराम जी गोडे ने लिखा है—'परमार्थसारोद्द्योत ग्रन्थ के हस्तलेख के विषय में मेरी जानकारी नहीं है' (लेखक के प्रति ३०।७।५७ का पत्र)। श्रद्धेय गोडे जी ने इस विषय में अभ्यंकर जी से भी सम्बन्ध स्थापित किया, और अभ्यंकर जी भी इस उद्योत टीका पर कुछ भी जानकारी न दे सके, जैसा की उनकी सूचना से मुझे ज्ञात है। आज यह टीका अनुपलब्ध ही है, पर यदि चेष्टा की जाय तो कहीं अवश्य मिलेगी।

(३) **व्रजतापनी उपनिषत्**—उपनिषदों का जो विवरण मुक्तिक उपनिषत् में है, उसमें इसका नाम नहीं है तथा प्रचलित भाष्य टीकादि में भी इस ग्रन्थ से वाक्य उद्धृत नहीं मिलता। श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत श्री चैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थ की टीका (रसिकास्वादिनी) में कहा है—'**यथा व्रजतापन्याम् 'प्रान्ते प्रातरवतीर्य सह स्वैः स्वयमनुशिक्षयति'** (पृ० १४३)। इस वाक्य के द्वारा श्री चैतन्यमहाप्रभु का सम्प्रदाय प्रवर्तकत्व सिद्ध किया गया है।

यद्यपि श्री आनन्दी ने कण्ठतः 'व्रजतापनी' को उपनिषत् नहीं कहा, पर कृष्णतापनी रामतापनी आदि नाम सादृश्य से यह भी उपनिषत् है, यह जाना जाता है। अवतारत्व सिद्धि के लिए श्रौत प्रमाण की ही आवश्यकता है, अतः व्रजतापनी श्रुति है, यह भी निश्चित है। यह कोई अर्वाचीन श्रुतिग्रन्थ है, यह निश्चित है। कुछों का यह भी मत है कि मध्वादिवैष्णवों ने अपने मनगढ़न्त श्रुति नामों का उल्लेख कर नया वाक्य बनाकर अपने मत को श्रौत मत के रूप में सिद्ध किया है। इस मत की परीक्षा होनी चाहिए। प्रसङ्गतः हम उन श्रुतियों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनको मध्व ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत् किया, पर अन्य सम्प्रदाय के किसी आचार्य ने उन श्रुति ग्रन्थों का नाम नहीं लिया—

(१) पैङ्गी श्रुति (२।३।५०; १।१।१२ ब्रह्म सूत्रभाष्य।)

(२) गौपवन (२।४।१३ ब्रह्मसूत्र भाष्य।)

(३) सौपर्णश्रुति (४।३।१०—११ ब्रह्मसूत्र भाष्य।

(४) माठरश्रुति (३।३।५४ ब्रह्मसूत्र भाष्य)

(५) कौण्डिन्य श्रुति (२।४।१३–ब्रह्मसूत्र भाष्य।)

(६) सौत्रायणश्रुति (२।४।१५ ब्रह्मसूत्र भाष्य)

इसके अतिरिक्त अग्निवेश्य आदि अन्य कुछ श्रुति भी मध्वभाष्य में उद्धृत हैं, जिनके नाम अन्यत्र नहीं मिलते।

---

† [यहाँ पर उद्योतकार नागेश का पाठ इस प्रकार है—"एतच्च परमार्थसारव्याख्याने प्रपञ्चितमिति बोध्यम्"। (देखें महाभाष्य ४।१।३ उद्योत पृ० २२– पं० गुरुप्रसाद शास्त्रि संस्करण काशी सन् १९३९)। यही पाठ उद्योत पं० बालगोविन्द द्विवेदि काशी संस्करण पृ० २४६ पर भी सर्वथा समान है। पूर्वोक्त "प्रपञ्चितं चैतदस्माभिः परमार्थसारोद्योते" यह पाठ तीनों में समान है ॥

बम्बई संस्करण के सम्पादक पं० भार्गव मिश्र जी को ४।१।३ भाष्य के पृ० २० पर टिप्पणी सं ५ और ६ के बीच में पाठभेद को टिप्पणी अवश्य देनी चाहिए थी। या तो उन्होंने इस पाठभेद को, जो बहुत आवश्यक पाठ भेद है, को देखा हो नहीं, यदि देखकर छोड़ दिया तो और भी खेद की बात है। मैं समझता हूँ इस विषय पर अभी और खोज होनी चाहिये—[सम्पादक 'वेदवाणी'] ॥

समालोचना

वैदिक वन्दन—लेखक—श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी। प्रकाशक—स्वयम्। मिलने का पता—आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा, श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली ६। आकार—२०×३६ सोलहपेजी। कागज—एण्टीक २८ पौण्ड। पृष्ठ—४३६। छपाई—सुन्दर। मूल्य—५।।) सजिल्द।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी आर्य जगत् के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् हैं। उनका वेद का स्वाध्याय चिरकालीन है। उन्होंने लगभग ४५-५० छोटे मोटे ग्रन्थ लिखे हैं। इस पुस्तक में श्री स्वामी जी ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के लगभग ६०० मन्त्रों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है। व्याख्या में एक वैशिष्ट्य है जो इस प्रकार की पुस्तकों में नहीं मिलता। वह है ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में सम्पूर्ण सूक्त या अध्याय की व्याख्या। श्री स्वामी जी ने अन्य ग्रन्थकारों के समान केवल बीच बीच में से चुने हुए मन्त्रों की व्याख्या नहीं की। चुने हुए मन्त्रों की व्याख्या करना सरल कार्य है। किसी पूरे सूक्त अथवा अध्याय की क्रमशः व्याख्या करना क्लिष्ट कार्य है, और वह भी एक दृष्टि से। निस्सन्देह इस कार्य में व्याख्याता सफल हुए हैं। हां उत्तरार्ध में ईश्वर, जीव, अन्तःकरण आदि विषयों पर फुटकर मन्त्रों की व्याख्याएं अवश्य हैं।

वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई उन्हें व्यक्तिविशेष मन्त्रद्रष्टा मानते हैं, तो दूसरे देवता के समान ही ऋषि को भी मन्त्रसंबद्ध और मन्त्रार्थ ज्ञान में उपयोगी मानते हैं। ग्रन्थकार भी दूसरे पक्ष के अनुयायी हैं। ऋषियों के सम्बन्ध में एक पक्ष नाटक के समान 'कल्पित पात्र वाद' भी है। हमने सब मतों का गम्भीरता से अनुशीलन किया। हमारे विचार में कोई भी एक पक्ष [पूरी ऐतिहासिक सामग्री न मिलने से] सम्पूर्ण ऋषियों की, उनके नामों तथा गोत्र नामों की, प्राचीन शाखा ब्राह्मण आदि में निर्दिष्ट मन्त्रद्रष्टृत्व आदि की संगति लगाने में असमर्थ है।

जहाँ तक मेरा अनुशीलन है ऋषि का व्यक्तिविशेष के रूप में मन्त्रद्रष्टा पक्ष अधिक युक्त और पुष्ट है, परन्तु इसमें एक भारी न्यूनता है—सर्वानुक्रमणियों के प्रवचन काल में याज्ञिक सम्प्रदाय में यज्ञ आदि करते समय ऋषि, दवता, छन्द और विनियोग का ज्ञान आवश्यक माना जाने लगगया था। देवता और छन्दः ज्ञान मन्त्र से सुकर था। ऋषिज्ञान इतिहास की वस्तु बन गया था। सब मन्त्रों का कोई न कोई ऋषि हुआ ही होगा यह भी एक मीमांस्य विषय है। किस मन्त्र का द्रष्टा कौन है इसका पूरा इतिहास उपलब्ध न होने से सर्वानुक्रमणीकारों ने जहां इतिहास से सिद्ध मन्त्र द्रष्टा का नाम विदित हो गया, वहां उसने इतिहासानुसार मन्त्रद्रष्टा का नाम दे दिया और जहां उसे इतिहास से मन्त्रद्रष्टा का नाम नहीं मिला उसने मन्त्र में से पद लेकर ऋषि नाम प्रसिद्ध कर दिये! अत एव ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने **दृष्टलिङ्गा देवता** के समान ऋषि भी **दृष्टलिङ्ग** लिखे हैं। ऐसी अव्यवस्था होने पर कौन से ऋषि नाम वास्तविक ऐतिहासिक मन्त्र द्रष्टा के हैं कौन से 'दृष्ट लिङ्ग' नियम के अनुसार मन्त्र में से पद चुनकर रख दिए गए, यह गम्भीर विवेचना का विषय है। परन्तु किसी वैदिक को यह विवेचना करनी ही पड़ेगी। इतना ही नहीं, ऋषिवाद के सम्बन्ध में जितने पक्ष हैं उन सबको न्यूनातिन्यून ऋग्वेद के प्रतिमन्त्र और प्रतिसूक्त विवेचना की कसौटी पर कस कर देखना ही पड़ेगा। तभी ऋषिवाद का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो सकता है। बिना पूरे ऋषिनामों की विवेचना किए यह समस्या हल नहीं हो सकती।

ग्रन्थ का विषय नाम से ही स्पष्ट है। ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की अनुक्रमणिका ग्रन्थ के आरम्भ में अति विस्तार से दी है। अन्त में व्याख्यात मन्त्रों की सूची भी दे दी गई है। इन सब बातों से ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ गई है।

ग्रन्थ अध्यात्म वृत्ति वाले साधकों और स्वाध्यायी महानुभावों के लिए विशेष उपयोगी है। वर्त्तमान मंहगाई के समय में सुन्दर कागज और सुन्दर छपाई वाले इतने बड़े सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य अत्यन्त उचित रूप में रखा गया है।

ग्रन्थ में हमें एक न्यूनता बहुत अखरती है और वह है मन्त्रों को स्वर रहित छापना। प्रायः सुविधा की दृष्टि से और सर्वत्र स्वर टाइप उपलब्ध न होने से मन्त्रों को स्वर रहित छापने की एक परिपाटी सी चल पड़ी है। प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों के मत में स्वर मन्त्र के वैसे ही अविभाज्य अङ्ग हैं जैसे मात्राएं। मन्त्रों को स्वर रहित छापना मेरी तुच्छ मति में मन्त्र के कलेवर का नाश करना है। स्वर का अर्थ के साथ उतना की घनिष्ठ सम्बन्ध

है जितना मात्राओं का। इस विषय की विशद मीमांसा हमने वैदिक स्वरमीमांसा ग्रन्थ में की है। दूसरी कमी है वैदिक 'ळ' वर्ण को 'ल' रूप में छापना। वैदिक ल स्वतन्त्र वर्ण है उसका 'ळ' के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। 'ळ' को 'ल' छापना मन्त्र पाठ को भ्रष्ट करना है। सम्भव है प्रेस में 'ळ' अक्षर के अभाव के कारण ऐसा भ्रंश किया गया होगा। आशा है अगले संस्करण में इन दोनों कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा।

दार्शनिक अध्यात्म तत्त्व—लेखक प्रकाशक पुस्तक मिलने का पता तथा आकार **पूर्वोक्त**। पूर्ववत् पृष्ठ—१३४। मूल्य १।।)। कागज छपाई—उत्तम।

इस ग्रन्थ में श्री स्वामी जी ने छहों दर्शनों में विकीर्ण अध्यात्म तत्त्वों का संग्रह करके उनकी भले प्रकार मीमांसा की है। अध्यात्म ज्ञान के पिपासुओं के लिए पुस्तक उपयोगी है। उन्हें इस ग्रन्थ में सभी दर्शनों में वर्णित ईश्वर, जीव, प्रकृति, अन्तःकरण, स्मृति, स्वप्न, संकल्प, अविद्या, क्लेश, दुःख, कर्म, विद्या, ज्ञान, मोक्ष, मोक्ष के उपाय, अभ्यास, वैराग्य, योगाभ्यास और उपासना के फल आदि विषयों का एक स्थान पर संग्रह उपलब्ध हो जाएगा।

दार्शनिक विषयों की मीमांसा करते हुए ग्रन्थकार ने उन उन विषयों की पुष्टि के लिए वेद और उपनिषदों के प्रमाण भी स्थान स्थान पर दिए हैं। इससे इस ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक बढ़ गई है॥

युधिष्ठिर मीमांसक

विविध समाचार

संस्कृत विश्वविद्यालय का उद्घाटन

वाराणसी–ता० १४ फर०। विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी का उद्घाटन २२ मार्च को उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द करेंगे।

संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति श्री आदित्यनाथ झा लखनऊ में ही अपने पद का कार्यभार सम्हालेंगे तथा होली के बाद वे काशी आयेंगे।

उद्घाटनोत्सव को सफल बनाने के लिये पूरी तैयारी की जा रही है। इस अवसर पर विद्वत्सभा तथा वसन्तपूजा का भी आयोजन किया जा रहा है और यज्ञ भी होगा। २२ मार्च की रात में सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं संस्कृत नाटकों के अभिनय की तैयारी भी हो रही है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने संस्कृत विश्वविद्यालय को ५ लाख रुपये का अनुदान देने का भी निश्चय किया है।

नये ढङ्ग का विमान

मास्को—१७ फर०। 'तास' का समाचार है कि रूस ने नये ढंग का एक विमान तैयार किया है जो शीघ्र ही परीक्षणात्मक उड़ान लेगा। नये विमान को उड़ान के लिये केवल ६० गज स्थान की आवश्यकता होगी तथा वह फुटबाल के मैदान तथा सड़क पर भी उतर सकेगा। विमान १ घण्टे में १४५ मील चलेगा। उसमें ६ यात्री बैठ सकेंगे तथा ३३० पौण्ड वजन का सामान रखा जा सकेगा। नये विमान का नाम 'फेल्का' है।

संस्कृत आयोग की रिपोर्ट

माध्यमिक स्कूलों में संस्कृत अनिवार्य हो

नयी दिल्ली, २१ फर०। संस्कृत आयोग ने व्यय अथवा छात्रों की परवाह न कर सभी माध्यमिक स्कूलों में संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था करने की सिफारिश की है। आयोग ने इसी दृष्टि से त्रिभाषा सूत्र को संशोधित करने का सुझाव दिया है।

शिक्षा उपमन्त्री डाक्टर श्रीमाली ने आज राज्यसभा में श्री अमोलकचन्द के एक प्रश्न के उत्तर में सिफारिशों का सारांश पेश किया। मन्त्री ने बताया कि सिफारिशों की जांच की जा रही है।

आयोग ने सिफारिश की है कि माध्यमिक स्कूलों में सभी भारतीय छात्रों को ३ भाषायें अर्थात् मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषायें (२) अंग्रेजी और (३) संस्कृत अथवा इसके समान दूसरी भाषा जैसे अरबी, फारसी, लैटिन इत्यादि। कालेज स्तर पर ऐसे छात्रों को हिन्दी पढ़ानी चाहिए जो अखिल भारतीय नौकरी में जाना चाहते हों अथवा यदि स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा देनी हो तो आयोग द्वारा सिफारिश किये गये त्रिभाषा सूत्र को इस प्रकार संशोधित करना चाहिए जिससे हिन्दीभाषी छात्रों को कोई आधुनिक भारतीय भाषाओं, मुख्यतया दक्षिण भारत की भाषाओं में से एक पढ़नी चाहिए। हिन्दी के साथ हेर-फेर भी किसी भी योजना में आयोग संस्कृत के बदले हिन्दी लेने के विरुद्ध है।

हिन्दी रक्षा आन्दोलन के समाचार

जलन्धर–९ फर०। कल ८ फरवरी को यहाँ हो रहे हिन्दी-रक्षा-सम्मेलन के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त के सम्मान में निकाले गये शान्त एवं भाषा स्वातन्त्र्य समिति द्वारा स्वीकृत ही नारे लगाते हुए जलूस पर अकालियों द्वारा गुरुद्वारे से पत्थर वर्षा की गई। पुलिस ने भी गुरुद्वारों को घेरने के बजाय जलूस पर ही अश्रुगैस और गोली चलाई। जिसके फलस्वरूप २ व्यक्ति–गिरधारीलाल और सोमनाथ शहीद हो गये और २८ व्यक्ति घायल हुए। हिन्दी रक्षा समिति की ओर से दोनों शहीदों का विशाल मातमी जलूस निकाला गया, जिसमें लगभग दो लाख व्यक्ति शामिल थे।

बाद में जलूस के शोक सभा में परिणत हो जाने पर भाषा-स्वातन्त्र्य-समिति के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने भाषण करते हुए कहा कि–मेरे मस्तिष्क में यह विचार था कि सात मास तक चल रहे हिन्दी आन्दोलन की सफलतापूर्ण समाप्ति और केन्द्रीय सरकार से हुए समझौते के बारे में मैं कुछ घोषणा करूँ। किन्तु मेरे आने पर जलन्धर में जो अप्रिय घटनायें हुईं, उनसे मैं संदिग्ध अवस्था में पड़ गया। इससे प्रतीत होता है कि देश के साम्प्रदायिक तत्त्वों के हृदय-परिवर्तन और सरकार एवं जनता के मस्तिष्क में परिवर्तन के लिए भारी बलिदान की आवश्यकता है।

श्री गुप्त ने अकालियों को चेतावनी देते हुए कहा कि किसी भी धर्म को गुण्डागर्दी शोभा नहीं देती। ऐसी करतूतों से किसी भी धर्म का पतन होता है।

१० ता० को इसके विरुद्ध सारे पञ्जाब तथा देहली में अपूर्व हड़ताल हुई। स्कूल और कालेज भी पूर्णतया बन्द रहे।

विदित रहे कि पंजाब सरकार ने इसकी न्यायिक जांच का आदेश दे दिया है। और जांच के लिये पंजाब हाईकोर्ट के श्री जी० डी० खोसला को नियुक्त किया है। जांच १९ फरवरी से प्रारम्भ हो गई है।

आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड

अजमेर की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

१. महर्षि स्वामी दयानन्द जी का प्रामाणिक जीवन चरित्र:-

ऋषि के अनन्य भक्त स्व० श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता बाबू घासीराम जी द्वारा अनुवादित।

दो भागों में पूर्ण, सजिल्द कवर पर तिरंगे चित्र सहित मूल्य ६) रु. प्रति भाग

२. दयानन्द वाणी:—ले० रमेशचन्द्र जी शास्त्री।

स्वामी दयानन्द जी के उत्तमोत्तम वचनों व उपदेशों का उत्तम संग्रह। मुख पृष्ठ पर स्वामीजी का छविपूर्ण तिरंगा चित्र। मू० १।) रु.

३. महाभारत शिक्षा सुधा:—ले० स्वामी ब्रह्ममुनि जी।

महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाओं का विशद एवं मार्मिक विवेचन तथा आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सुन्दर तथा रंगीन गेटअप। मूल्य १।) रु०

४. सत्संग यज्ञ विधि:—ले० धर्मेन्द्र शिवहरे।

पारिवारिक सत्संग में यज्ञ के लिये, यज्ञ कुण्ड हवन सामग्री, यज्ञ पात्र की परिभाषा व सन्ध्या, हवन, शान्तिपाठ के मन्त्रों के शब्दार्थ दिये हैं। मू० ६ आना।

५. धार्मिक शिक्षा:—ले० डा. सूर्यदेवजी शर्मा, एम. ए' डी. लिट्.

आर्य बालक-बालिकाओं के पढ़ाने के लिये कक्षा १ से १० तक के लिये बहुत ही उत्तम पुस्तकें हैं, १० भाग में पूर्ण। मू. १० भाग केवल ५) रु. १ आना

६. सरल सामान्य ज्ञान भाग ४ :—

ले० डा. सूर्यदेवजी शर्मा, एम. ए. डी. लिट्.

मूल्य प्रथम भाग ।), दूसरा भाग ।≈), तृतीय भाग ।≋), चतुर्थ भाग ।।)

प्रकाशकः— **आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर।**

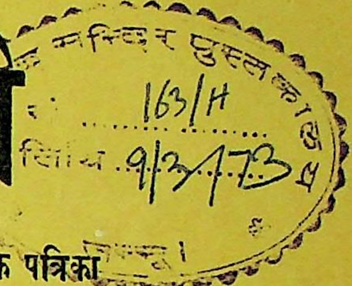
वेद व महर्षि के समस्त ग्रंथ व अन्य आर्य ग्रंथों का सूचीपत्र मुफ्त मंगावें।

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी



श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]  [अङ्क ७

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

वैशाख २०१५ वि०, मई १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५८

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार न किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क वि‍शेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पाद अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही वि छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) न

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, वैशाख सं० २०१५ वि०, मई १९५८ ई० { अङ्क ७

आर्याभिविनय से—

स्तुति-विषय

उत्तम श्री दो

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥

यजुः ३२ । १६ ॥

व्याख्यान—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा "ब्रह्म" (विद्वान्) और "क्षत्र" राजा महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि (क्षत्रिय) ये दोनों आप की अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों । "श्रियम्" सर्वोत्तम विद्यादि लक्षणयुक्त महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों । हे "देवाः" विद्वानो ! दिव्य ईश्वर-गुण-परमकृपा आदि, उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझ में अचलता से धारण कराओ । उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिए तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिए व्यय करूँ ॥

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ॥।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० १

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन॑ गमेमहि मा श्रुते॒न॒ वि रा॑धिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, वैशाख सं० २०१५ वि०, मई १९५८ ई० { अङ्क ७

आर्याभिविनय से—

स्तुति-विषय

उत्तम श्री दो

इ॒दं मे॒ ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं चो॒भे श्रिय॑मश्नुताम्।
मयि॑ दे॒वा द॑धतु श्रि॒यमु॑त्त॑मां तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑॥

यजुः ३२। १६॥

व्याख्यान—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर! मेरा "ब्रह्म" (विद्वान्) और "क्षत्र" राजा महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि (क्षत्रिय) ये दोनों आप की अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों। "श्रियम्" सर्वोत्तम विद्यादि लक्षणयुक्त महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों। हे "देवाः" विद्वानो! दिव्य ईश्वर-गुण-परमकृपा आदि, उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझ में अचलता से धारण कराओ। उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिए तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिए व्यय करूँ॥

प्राणायाम तथा ध्यान

[ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

ध्यान किस प्रकार किया जाये कि पूर्ण सफलता मिल जाये ? इस सम्बन्ध में प्रभु भक्त उद्धव जी और भगवान् कृष्ण जी का सम्वाद अच्छा पथ-प्रदर्शन करता है। भक्त उद्धव ने जब पूछा कि ध्यान किस प्रकार और कैसे करना चाहिये ? तब भगवान् कृष्ण ने बतलाया कि:—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥
हृद्यविच्छन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् [?]।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम्॥

सुखपूर्वक आसन में (किसी भी प्रकार के आसन में) दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रख के सीधा बैठ कर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर कर के, पहले बार-बार रेचक, पूरक करके नाड़ीशुद्धि कर लेनी चाहिये। अथवा प्रणव (ॐ) के जाप के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये। जब प्राण के रोध से मन शान्त हो जाये, तब हृदयकमल में निहित ओंकार का ध्यान करके अनाहत ध्वनि, ओंकार एवं घण्टादि नादों का श्रवण करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन ओ३म् जप के साथ रेचक, पूरक, कुम्भक इन तीन प्रकार से अच्छी तरह प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से प्राण का निरोध होने लगता है और मन शान्त होने लगता है।"

ध्यान करते समय चाहे नासिका के अग्रभाग में, चाहे भृकुटि में, चाहे ललाट-चक्र या ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश में वृत्ति को ले जायें, इसमें बहुत अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, यह अवश्य होना चाहिए कि जहां एकबार ध्यान लगाना प्रारम्भ किया, फिर निरन्तर उसी स्थान पर ध्यान लगायें। इसे इधर उधर जाने न दें। अन्यथा यह मन ध्यान में भी अपनी चाल चला जाता है। कभी एक स्थान में, फिर झट दूसरे स्थान पर ले जाता है। साधक समझता है, ध्यान लगा हुआ है; परन्तु मन भ्रम में डाले रखता है। अतएव पूरी दृढ़ता से एक ही स्थान को केन्द्र बना लीजिये और वहीं मन को मजबूत बांध दीजिये।

बिना ज्ञान ध्यान नहीं

यह तो हुई ध्यान की स्थूल विधि, अब कुछ आगे बढ़िये और ज्ञान द्वारा ध्यान में प्रवेश कीजिये।

'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में महर्षि दयानन्द ने ध्यान की विधि यह लिखी है:—

धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना; किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है।"

नास्ति ध्यानं बिना ज्ञानम्

ज्ञान के विना ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान ही संसार सागर से तारने वाला है। जब ज्ञान और योगाभ्यास दोनों का आश्रय ले लिया जाता है, तब मन प्रसन्न रहने लगता है और प्रसन्नता मन को एकाग्रता में बांधने लगती है। मन तो हो संसारी चिन्ताओं में ग्रस्त और आप उसे ध्यान में लगाना चाहें, तो चिन्तित मन जब ध्यान में लगेगा, तो वहां वह चिन्ताओं के ढेर जमा कर देगा। तब साधक और भी अशान्त हो उठेगा। अतएव पहले ज्ञान द्वारा इस सारे संसार-चक्र को बुद्धि में बिठा लीजिये और ज्ञान से यह भी जान लीजिये कि यह जो त्रिगु

णात्मक प्रकृति से बना संसार है, इसी प्रकृति से बना यह मन भी है, तब यह मन इन तीन गुणों के द्वारा क्या क्या खेल खेलता है, इसका भी ज्ञान प्राप्त कर लीजिये। और इन्हीं तीन गुणों की कृपा से यह जो चिन्ताओं, दुखों और संकल्पों की सृष्टि साधक रचता रहता है, इसका सार क्या है? जब यह ज्ञान प्राप्त कर लिया जायेगा, तब साधक निश्चिन्त होकर ध्यान में संलग्न हो सकेगा। ज्ञान के कुछ रहस्यों का वर्णन यहां अत्यावश्यक है, अतएव इन्हें प्रकट किया जाता है।

(१) शरीर अथवा मन में जो गुण प्रधान है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है, यदि सत्त्व गुण प्रधान है, तो ध्यान अवस्था शीघ्र प्राप्त होने लगती है। रजोगुण हो, तो पर्याप्त बल लगाना होता है। यदि तमोगुण प्रधान हो, तो निद्रा आ घेरती है। यत्न यही होना चाहिये कि ध्यान में बैठने से पूर्व शरीर तथा मन सत्त्व गुण से पूर्ण हो जायें।

सृष्टि रचना से लय

(२) सृष्टि-रचना की अद्भुत क्रिया को सामने लाकर देखिये कि यह संसार कितना विशाल है। इस सृष्टि को बने अरबों वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु मनुष्य इसके एक अंश का भी अभी तक पता नहीं पा सका। सारी सृष्टि तो एक ओर रही, केवल इस पृथिवी का ज्ञान भी मनुष्य प्राप्त न कर पाया। यह पृथिवी तो क्या? इसके जल अथवा स्थल विभाग से भी यह पूर्णरूपेण परिचित नहीं हो सका। इसके पर्वत, इसके वन, इसके समुद्र, इसके मरुस्थलों का भी पूरा ज्ञान अभी तक मनुष्य को नहीं हो सका। वनस्पतियों को लें, तो इनमें से सहस्रों ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में मनुष्य कुछ भी नहीं जानता। और तो और मनुष्य अपने ही शरीर का पूरा ज्ञान अभी प्राप्त नहीं कर पाया। इतनी बड़ी सृष्टि का ज्ञान तो इसे प्रलय काल तक भी न हो सकेगा। तब यह नन्हां-सा मानव-देह इस विशाल सृष्टि के सामने क्या है? और फिर इस सृष्टि का अधिष्ठाता परमात्मा तो इस सृष्टि से भी परे तक है। उसकी महानता का क्या ठिकाना?

उसकी एक नन्हीं-सी सामर्थ्य ने इस सारे दृश्यमान संसार को हमारे सामने ला खड़ा किया। क्या था यहां पर? सर्वथा अभाव था, दृश्य का। यहां केवल सोई हुई प्रकृति थी। सर्वथा अव्यक्त शान्त और निस्तब्ध। यह व्यक्त कैसे हो गई? परमात्मा के संकेत-मात्र से। प्रकृति में परमात्मा के सामर्थ्य से क्रिया उत्पन्न हुई—और उस क्रिया का परिणाम "महत्" था। यह महत् प्रकृति का पहला रूपान्तर है। तब महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार से पंचतन्मात्र पैदा हुए। यह पञ्चतन्मात्र क्या हैं? इन्हीं का नाम शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र है। इन्हीं ५ तन्मात्राओं से पांच महाभूत (१) आकाश (२) वायु (३) अग्नि (४) जल (५) और पृथिवी उत्पन्न हुए। इन पांचों महाभूतों के पांच गुण (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस और (५) गन्ध भी साथ ही आये।

और अहंकार ने जहां यह किया वहां ग्यारह इन्द्रियां भी प्रकट कीं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और ११ वां मन।

बस इतना ही यह सारा संसार है—परन्तु अव्यक्त प्रकृति से लेकर मन इत्यादि इन्द्रियों तक, यह सबका सब जड़ ही है। परन्तु जड़ स्वयं तो कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकृति की विकृति और अव्यक्त को व्यक्त करने वाला एक चेतन तत्त्व आत्मा है। सारी सृष्टि के अन्दर तथा बाहर भी ओत-प्रोत जो तत्त्व है, उसे ब्रह्म-तत्त्व या परमात्मा कहते हैं। और जो शरीरधारी प्राणियों का अधिष्ठाता है, उसे आत्म-तत्त्व या जीवात्मा कहते हैं।

जिस 'महत्' से अहंकार, पञ्चतन्मात्र और फिर पांच महाभूत और इन्द्रियां बन गईं—वही महत् मानव-देह में बुद्धि या अन्तःकरण बना बैठा है। यह सारा सृष्टि-क्रम सामने ले आइये और तब इस प्रपञ्च की विशालता पर एक गम्भीर दृष्टि डाल कर कुछ समय के लिए प्रभु की इस अद्भुत रचना को देखते रहिये।

यह सौर ब्रह्माण्ड, जिसके मध्य में सूर्य है और उसके चारों ओर बुध, शुक्र, मंगल, पृथिवी इत्यादि ग्रह अपने-अपने चन्द्रमाओं सहित हैं, जिसका व्यास (घेरा) अन्तिम ग्रह तक ५५ अरब १८ करोड़ मील है—यह सब समष्टि जगत् की अपेक्षा इतना है,

जितना पुरुष की अपेक्षा वह धूलि है, जो तीन बार पैर रखने से पाओं में लग जाये। समष्टि जगत् का प्रमाण इतना बड़ा है कि मनुष्य की बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। सहस्रों नक्षत्र जो अत्यन्त दूर हैं, वे हमें चमकते हुए नन्हें-नन्हें सितारे प्रतीत होते हैं। बड़ी से बड़ी दूरबीन से भी वह ज्योति के बिन्दु ही दिखाई देते हैं। वास्तव में वह सूर्य से कई गुना बड़े हैं। सूर्य पृथिवी से १३ लाख गुना बड़ा है, अगस्त्यतारा सूर्य से एक करोड़ गुना बड़ा है। जो नक्षत्र सौर ब्रह्माण्ड से बहुत समीप हैं, वे भी इतनी दूर हैं कि उस दूर के मण्डल में सात खरब ६६ अरब सौर ब्रह्माण्ड समा जायें। कितना बड़ा है यह संसार!!!

देखते-देखते जब इस विशाल संसार की कोई सीमा दृष्टिगोचर न हो, तो जैसे सृष्टि के बनने का क्रम आप अपने सामने लाये थे, अब उसका लय होते हुए देखियेः—

धीरे-धीरे उसी क्रम से पांचों महाभूत सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं। पांच भूत अपने-अपने रूप में आने से पूर्व सारा दृश्यमान जगत् बदल रहा है। कोई भी अपना रूप स्थिर नहीं रख सका। न वृक्ष रहे, न पर्वत, न सूर्य रहा, न चन्द्र, न कोई और नक्षत्र। रह गये पंच तन्मात्र,—अब वे सूक्ष्म भूत भी समाप्त हो रहे हैं। इन्द्रियां भी गुम हो रही हैं। रह गया केवल अहंकार। इस अहंकार को अब महत् में लय होता देखिये। और महत् में सब कुछ समा जाने के पश्चात् अब महत् भी कहां रहा? वह भी तो प्रकृति में चला गया। यह प्रकृति, इस प्रकृति को सीमित क्रिया में लाने की सामर्थ्य रखने वाला परमात्मा और गाढ़ निद्रा में जाता हुआ जीवात्मा, बस ये ही तीन रह गये।

सृष्टि का बनना और बन कर फिर प्रलय अवस्था में चले जाना, यह सारा दृश्य तथा विज्ञान ध्यान के नेत्रों से अनुभव किया जाये, तो मन शान्त होने लगता है। मन को एकाग्र करने का यह एक अचूक साधन है। परन्तु जो कुछ ऊपर कहा गया है, यह एकाग्रता की ओर जाने की अभी पहली मंजिल है। अभी कुछ मार्ग और चलना है।

(३) एकान्त शान्त स्थान में, या मकान के सर्वथा अकेले कमरे में, निश्चिन्त होकर आप एक आसन में बैठे हैं। आपकी पीठ तथा ग्रीवा सीधी है; शरीर अधिक अकड़ा हुआ नहीं। आप तन्मय होकर ऊपर का सृष्टि-क्रम अपने ध्यान में ला रहे हैं। जब आपने सृष्टि को प्रलय तक पहुँचा देख लिया, तो अब ध्यान में किसी भी दृष्टि को आने न दें। जैसे शरीर एकान्त में बैठा है, इसी प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को भी एकान्तवासी बना दीजिये। इन्द्रियों का एकान्त तभी होगा, जब कोई विषय उनके पास न होगा। मन तभी एकान्त होगा, जब संकल्पों, विकल्पों तथा इच्छाओं का जमघट मन में न रहेगा। बुद्धि तभी एकान्त होगी, जब संसार के प्रपञ्च उसके पास न रहेंगे। शरीरसहित मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नितान्त एकान्तसेवी हो जायें। आपने धारणा यह करनी है कि सृष्टि-क्रमानुसार जब कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं रहा, स्थूल महाभूत सूक्ष्म हो गये, यह सूक्ष्म भूत जिन्हें तन्मात्र कहते हैं, अहंकार में लोप हो गये, इन्द्रियाँ भी अहंकार में समा गईं, और अहंकार भी महत् में गुम हो गया और महत् प्रकृति में जा समाप्त हुआ, तब यह सुनना यह स्पर्श, यह देखना, यह चखना, यह सूंघना कहां रह गया? इस प्रकार का दिव्य-ज्ञान मन की चंचलता को मिटाने में बड़ा सहायक बनता है। यह अनुभव किया जा चुका है कि नितान्त एकान्त स्थान में सृष्टि-विज्ञान को ध्यान में लाने से मन स्वयमेव लय होने लगता है।

अघमर्षण मंत्र से ध्यान अवस्था

(४) कई लोग पूछा करते हैं कि महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सन्ध्या में जो तीन अघमर्षण मन्त्र लिखे हैं, उनकी क्या आवश्यकता थी? फिर इन मन्त्रों से पाप कैसे कट जाते हैं? इन तीन मन्त्रों में सृष्टि-उत्पत्ति ही का क्रम भगवान् वेद ने बतलाया है और उपासक के हृदय पर यह अटल सत्य अंकित किया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् परमात्मा ही के वश में है। उसी परमात्मा की सामर्थ्य से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, यह जितनासृष्टि-क्रम का नियम है, ये सारे भूतों के जो जो गुण हैं, यह सब परमात्मा के नियमानुसार है। ऋत कहते हैं, सृष्टि नियम (Laws of Nature) को, और सत्य कहते हैं धर्म को।

सृष्टि में जो-जो प्राकृतिक घटना हो रही है, वह सब अटल नियमों के अधीन है। क्या कोई वैज्ञानिक

पीपल के बीज से आम उत्पन्न करने में आज तक सफल हुआ है ? जो नियम, जो मर्यादा परमात्मा ने बांध दी है, उसे कोई लांघ नहीं सकता। जन्म, मरण, स्थिति तथा रक्षा आदि भी सब नियमानुसार ही हो रहा है। अग्नि का धर्म जलाना है, तो यह जलायेगी ही। सूर्य का धर्म उदय होना, गर्मी, प्रकाश देना है, तो सूर्य ऐसा करेगा ही। जितने भी प्राकृतिक नियम या कानून हैं, उनको एक मनुष्य जितना हृदयंगम करके उनके अनुसार या प्रतिकूल आचरण करता है, उतना ही वह सुखी या दुखी होता है। जिस प्रकार परमात्मा ने प्रकृति से बनाये सारे पदार्थों-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, वनस्पति इत्यादि के नियम बना दिये हैं, उसी प्रकार धर्म के भी नियम बना दिये हैं। जैसे प्राकृतिक नियम अटल हैं, वैसे धर्म के नियम भी अटल हैं।

सत्यभाषण धर्म है, असत्यभाषण अधर्म। परहित तथा परोपकार धर्म है, परहानि, परनिन्दा, परपीड़ा अधर्म है। इसी प्रकार और अनेक नियम हैं। धर्म से मनुष्य का हृदय स्वयमेव प्रसन्न होगा, और अधर्म से नीच संस्कार मन को आ घेरेंगे। यहीं से दुख की सृष्टि प्रारम्भ हो जायगी। जब उपासक ऋत और सत्य के सम्बन्ध में विचार करता है, तो वह पाप से बचने लगता है। सृष्टि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उनसे लाभ उठा कर सुखी होता है, तब पाप तो अपने आप कटने लगते हैं।

फिर अघमर्षण मन्त्रों में परमात्मा की बड़ी भारी सामर्थ्य का वर्णन करने के लिए यह बतलाया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् सोया पड़ा था, कुछ भी नहीं था, प्रलय की वह महारात्री परमात्मा के संकेत ही से थी, और पुनः इस महारात्रि में प्रभु सामर्थ्य से फिर जागृति आने लगी। प्रकृति ने महत् का या विराट् का रूप धारण किया। विराट् से पहले की अवस्था 'एक लहराता हुआ समुद्र' (समुद्रात्, अर्णवात्) था। यह लहराता समुद्र, प्रकृति की वह अवस्था है, जब वह द्रवावस्था में प्रभु सामर्थ्य से लाई गई। तब 'वर्ष' उत्पन्न हुआ। वर्ष यह हमारा १२ महीनों वाला वर्ष नहीं, अपितु इससे वह दीर्घ काल प्रयोजन है, जिस लम्बे काल तक वह लहराता हुआ समुद्र-'द्रवीभूत प्रकृति' एक समष्टि गोला बन जाता है-अंग्रेजी में इसी को (Cyclic motion) कहा जाता है। इसके पश्चात् यह सूर्य, चन्द्र इत्यादि प्रकट हुए, तब वनस्पतियां और दूसरे सारे पदार्थ भी। इतना महान् कार्य केवलमात्र एक सीमित-सी सामर्थ्य ही से परमात्मा ने कर डाला। यह अनुभव साधक के मन को परमात्मा की महान् शक्ति का साक्षात् करा देता है। तब मन उसी परमात्मा के विचार में बन्ध जाता है। संसार के शेष सारे पदार्थ साधक को तुच्छ नजर आने लगते हैं। मन उनको परिवर्तनशील देखकर, उनसे उपरत होता जाता है, और अटल रहने वाले भगवान् के विचार में टिकने लगता है। ज्ञान द्वारा ध्यान अवस्था में पहुँचने का यह एक साधन लिखा गया है॥

23-5-58

वेदों के सरस मधुगीत

[ले०—विद्वद्वर श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार]

मैं चाहता हूँ कि संसार का प्रत्येक मानव सत्य की साधना करने वाला हो, और प्रत्येक सत्यसाधक के ऊपर मधु बरसे, मधु का झरना झरे। पवन अपनी शीतल, मन्द लहरियों के साथ मधु बहा कर लाये। कल-कल करती सरिताएँ अपनी सलिल-धाराओं के साथ मधु प्रवाहित करती हुई आयें। रसभरी औषधियाँ अपने अमृतरस से जीवनों में मधु संचरित करें। इन सबसे मधु पाकर हम मधुमय हो जायें।

मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥

ऋग्० १। ९०। ६॥

कभी अपने श्याम आँचल से माता के समान सबको आच्छादित करती हुई और कभी अपनी शान्त, मधुर, चटकीली चन्द्रिका को छिटकाती हुई विश्राम-दायिनी रात्रियाँ हमारे लिए मधुमयी हों। जागृति और नवस्फूर्ति देने वाली स्वर्णिम उषाएँ मधुमयी हों। समस्त पार्थिव लोक मधुमय हो। पितृतुल्य पालनकर्ता द्युलोक भी मधुमय हो।

मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥

ऋग्० १। ९०। ७॥

हरित पत्रों का दुकूल ओढ़े हुए ये वृक्ष, वनस्पति हमारे लिए मधुमय हों। रश्मियों से जगत् को प्रकाशित करने वाला पावन सूर्य मधुमय हो। अपने स्तनों से अमृतोपम दूध को क्षरित करने वाली गौएँ मधुमयी हों।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥

ऋग्० १। ९०। ८॥

अहा, यह सामने मधुमयी लता दिखाई दे रही है। यह 'मधुयष्टि' अपने अन्दर मधुरस को लेकर उत्पन्न हुई है। हे मधुलते! मधु के लिए हम तुझे खनन करते हैं। तू मधुमय,है, हमें भी मधुमय कर।

इयं वीरुन्मधुजाता, मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि, सा नो मधुमतस्कृधि ॥

अथर्व० १। ३४। १॥

मेरे जिह्वाग्र पर मधु हो, जिह्वामूल में मधु हो। हे मधु, तुम मेरे एक-एक ज्ञान में, एक-एक संकल्प में, एक-एक कर्म में रम जाओ, तुम मेरे चित्त में बस जाओ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि ॥

अथर्व० १। ३४। १॥

मेरा घर से निकलना मधुमय हो, निकल कर कर्मक्षेत्र में पदार्पण करना मधुमय हो। मेरी वाणी में मधु हो, प्रत्येक गति विधि में मधु हो, मैं साक्षात् मधु हो जाऊँ।

मधुमन्मे निष्क्रमणं, मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः ॥

अथर्व० १। ३४। ३॥

अहा, प्रकृति में सर्वत्र मधु रमा हुआ है। ये जो रम्य पर्वतमालायें सिर उठाये खड़ी हैं, इनके अन्दर भी मधु है। इनके अन्दर हरियाली का मधु है, इनके अन्दर स्रोतों और झरनों का मधु है, इनके अन्दर वृक्ष-लताओं और फल-फूलों का मधु है, इनके अन्दर विपिनों की शान्ति का मधु है, इनके अन्दर गैरिक आदि धातुओं का मधु है, इनके अन्दर पाषाणों की कठोरता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

गौओं के अन्दर भी मधु है, गोरस का मधु है, परोपकारिता का मधु है, सौम्यता का मधु है, अहिंसा का मधु है, मातृत्व का मधु है, सरलता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

अश्वों के अन्दर भी मधु है, बल का मधु है, वेग का मधु है, शक्ति का मधु है, पुरुषत्व का मधु है।

द्राक्षासव प्रभृति आसवों के अन्दर भी मधु है, बलोत्तेजकता का मधु है, विकारशामकता का मधु है, स्वास्थ्यवर्धकता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

यद् गिरिषु पर्वतेषु, गोष्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां, यत् तत्र मधु तन्मयि॥

अथर्व० ९।१।१८॥

हे अश्विदेवो! तुम भी हमारे जीवनों में मधु भरो, ऐसा मधु भरो जैसा सरघाओं (मधुमक्षिकाओं) का मधु होता है, जिसमें मिठास ही मिठास रहता है।

हे द्यावापृथिवी! तुम अश्वियुगल कहलाते हो, तुम मधुरस से परिपूर्ण हो, हमें भी मधुरस प्रदान करो। हे सूर्य-चन्द्र! तुम भी अश्विद्वय नाम से प्रसिद्ध हो, तुम्हारे अन्दर भी अनुपम मधु भरा है, हमें भी उस मधु से सनाथ करो। हे अहोरात्रो! तुम भी 'अश्विनौ' हो तुम भी मधु से विकसित हो, उस मधु का विकास हमारे अन्दर भी करो। हे प्राणापानो! तुम्हारी भी अश्विसंज्ञा है, तुम भी मधुसिक्त हो, हमें भी मधुसिक्त करो। हे शल्यचिकित्सक तथा ओषधि-चिकित्सक वैद्यो! तुम भी अश्वियुगल हो, तुम्हारे पास भी मधु है, जिस मधु से तुम दुःखियों का दुःख, रोगियों का रोग और आतुरों की आतुरता हरते हो। उस मधु में से कुछ अन्श हमें भी प्रदान करो।

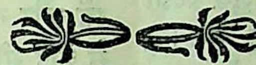
हे शुभ मधु के अधिपतियो! हमें ऐसा मधुमय कर दो कि हमारे अङ्ग २ में मधु का वास हो जाए। हमारे आत्मा में मधु हो, हमारे मन में मधु हो, हमारे प्राण में मधु हो, हमारी इन्द्रियों में वर्चस्विता का मधु उत्पन्न कर दो, जिससे हम परस्पर वर्चस्वती वाणी बोलें।

अश्विना सारघेण मा, मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥

अथर्व० ९।१।१९॥

अन्त में मैं पुनः प्रकृति की एक एक कणिका से मधु की याचना करता हूँ। मेरे ऊपर मधुवर्षा हो, मेरे राष्ट्र पर मधुवर्षा हो, भूमि के सकल राष्ट्रों पर मधुवर्षा हो, मानवमात्र मधु से स्नात हो जाए॥

24.5.5



वेदोदधि के चुने हुए मोती

[ले० श्री पं० लालचन्द जी, मेरठ]

प्रज्ञावान् ऐश्वर्यवान् मनुष्य

आ त्वा विशन्त्वासवः सोमासः इन्द्रगिर्वणः।
शंते सन्तु प्रचेतसे॥

ऋ० १।५।७

प्रशंसा के योग्य कर्म करने वाले ऐश्वर्यवान् मनुष्य तुझ ज्ञानवाले के लिए वेगवान् सभी प्रिय पदार्थ प्राप्त हों और सुख देने वाले हों।

मनुष्य ज्ञान-विज्ञान संपन्न हो, प्रशंसा के योग्य उत्तम कार्यों में लगा रहे तो अवश्य ही सौम्य पदार्थ उसे प्राप्त होते रहते हैं और वह सुख अनुभव करता है। जो मनुष्य सत्य ज्ञान विज्ञान प्राप्त करके पुरुषार्थ करता है, उद्योग शील है, वह सभी आवश्यक प्रिय पदार्थ प्राप्त करता है। प्रयत्नशील मनुष्य कभी दरिद्र नहीं रहता, वह कभी अभाव का दुःख नहीं अनुभव करता। वह संपन्न रहता है। उसका सदा अभ्युदय होता है। ज्ञानयुक्त कर्म करने से अभ्युदय होता है।

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र ज्येष्ठाय सक्रतो।

ऋ० १।५।६

हे सुकर्म करने वाले विद्या आदि ऐश्वर्यसंपन्न उत्तम बुद्धि वाले मनुष्य! तू शीघ्र जीवन रस पीने के लिए, जीवन रस अपने में पचाने के लिये अति

उत्तम कर्मों के अनुष्ठान के लिये विद्यादि शुभ गुणों में बढ़ा हुआ हो।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सत्य विद्या प्राप्त करे, योग्य बने, और पुरुषार्थ करे। जो मनुष्य शुद्ध वीर्य का संचय करता है, जिसके मस्तिष्क में पवित्र सोमरस है, जिसमें जीवनरस अंग २ में अनुभव हो रहा है, वह शुभ गुण धारण करने की क्षमता रखता है। वह सभी दिव्य गुण धारण करे, उन गुणों को व्यवहार में चरितार्थ करे और समुन्नति करे।

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥

ऋ० १।५।५

परम पवित्र जीवनरस रूपी ऐश्वर्य की रक्षा करने वाले प्रकाश के लिये, कल्याण के लिये, सब को आश्रय देने वाले, सदाचारी शुद्ध पवित्र आचरण वाले सोमरस संपन्न प्रज्ञावान् होते हैं।

प्रज्ञावान् जन सब में मिलकर ऐश्वर्य भोगा करते हैं, वे स्वार्थी नहीं होते। वे समर्थ होते हैं, उन्हें दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है। उनका सत्त्व संशुद्ध रहता है, वे अभय रहते हैं। स्वार्थी जन चाहे धनवान् हो जाएं, वे ऐश्वर्यवान् कभी नहीं हो सकते। धन लोलुप होना, परिग्रह का स्वभाव होना, धन संग्रह को ही जीवन लक्ष्य समझना, और ऐश्वर्यवान् होना, भिन्न है। धन लोलुप धन के दास हैं, धन के स्वामी नहीं। ऐश्वर्यवान् वे हैं जो अपनी शक्ति और अपने सामर्थ्य का सद्व्यय करते हैं और असहाय लोगों को आश्रय देते हैं, उन्हें सहारा देते हैं, वे ही सभ्य हैं। कर्तव्यरूप से परोपकार करने वाले भद्रजनों में अन्तःप्रकाश और अन्तर्ज्ञान होता है, वे पवित्र रहते हैं और उनके सम्पर्क में आकर दूसरे लोग भी पवित्र और योग्य हो जाते हैं। उनमें यह सामर्थ्य कैसे होता है? वे अपने जीवन रस की रक्षा करते हैं। स्वयं प्रकाश में रहते हैं और दूसरों को प्रकाश की ओर सुपथ पर साथ ले चलते हैं।

त्वं सोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रेता ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

ऋ० १।५।८

हे सैकड़ों कार्य करने योग्य मनुष्य! प्रशंसात्मक वचन तेरा उत्साह बढ़ावें, हमारी वाणियां तुझे उत्साहित करें।

उत्तम कार्यों की प्रशंसा होनी चाहिये, इससे पुरुषार्थी मनुष्य का उत्साह बढ़ता है। योग्य कर्तव्यशील मनुष्यों को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिये, ताकि अन्यजन भी कर्मठ हों और योग्य बनें। इस प्रकार उत्तम मनुष्यों की महिमा का प्रकाश होने से सभी में उन्नति करने का चाव होता है।

मनःशक्ति का विकास

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तःस्थुर्नो अरातयः ॥

ऋ० १०।५७।१

हे परमेश्वर! हम सुनियम से रहने वाले सत्पथ से, सुपथ से, सन्मार्ग से और यज्ञ से, शुभकर्म से, सर्वमंगल के सुकर्मों से दूर न हों; स्वार्थ, मोह, लोभ, परिग्रह आदि दुर्भाव हममें न रहें।

हम सब संयम से रहते हुए सदा सुपथ पर चलते रहें और सर्वहित के भले कार्य ही करते रहें। हममें से कोई भी स्वार्थी और लोभी न हो। मन को सशक्त रखने के लिए उसे शुभ कार्यों में ही लगाना चाहिये।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतं नशीमहि ॥

ऋ० १०।५७।२

जो यज्ञ के, सर्वमंगल के कार्य की उत्तम रीति से साधना करने वाला सूत्र दिव्य जनों में फैला है, उस सूत्र को हम प्राप्त करें।

ऋत का तन्तु और यज्ञ का तन्तु एक ही है। हमें यज्ञ का मर्म जानना चाहिए। यज्ञ में समन्वय का भाव मुख्य है। यही मेल का भाव, मिलकर उन्नति करने का भाव हम जानें, और व्यवहार में लायें।

मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।
पितृणां च मन्मभिः ॥

ऋ० १०।५७।३ ॥ यजु० २।५३

हम अपने मन को प्रेरित करें, विचारशील मनुष्यों के प्रशंसनीय उत्साहवर्धक प्रेमयुक्त प्रेरक वचन

से तथा अनुभवी गुरुजनों के मनन करने योग्य वचनों से।

उत्साह बढ़ानेवाले स्नेहयुक्त विचार तथा गुरुजनों के अनुभूत ज्ञान से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए।

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥

ऋ० १०।५७।४॥ यजु० ३।५४॥

तेरा मन फिर से कर्तव्य के लिए, बल के लिए, जीवन के लिए और चिरकाल तक सूर्य दर्शन के लिए आए।

पुनः तुझे कर्तव्य पालन, सामर्थ्य, जीवन और दीर्घायु की आकांक्षा होवे। मन में जब अवसाद और विषाद छा जाता है तो उसे जानना चाहिये। यह काम अन्य हिती जन भी कर सकते हैं और स्वयं अपने आत्मविश्वास से भी संभव है। गिरा हुआ अशक्त मन किसी काम का नहीं, मन सदा सशक्त समर्थ और स्वस्थ रहना चाहिये। मन में कार्य करने का उल्लास सदा बना रहे, उसे जीवनप्रद आत्म धारणाओं से जगाना चाहिये।

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि॥

ऋ० १०।५७।४॥ यजु० ३।६९॥

हमें अनुभवी गुरुजन पुनः मनोबल की प्रेरणा दें। दिव्य जन हमें ऐसी प्रेरणा दें जिससे हम जीवन प्राणशक्ति, और स्फूर्ति प्राप्त करें।

अनुभवी गुरुजन सदा उत्साह और साहस तथा सामर्थ्य बढ़ाने की ही प्रेरणा दें। प्रेरणा वही उत्तम है जिससे मनुष्यों के जीवन का विकास हो, और उनमें जीवन में रुचि बढ़े।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि॥

ऋ० १०।५७।६॥ यजु० ३।५६॥

हे जीवन रस सोम! तेरे व्रत में लगे हुए, तेरी प्राप्ति में संलग्न हम अपनी देहों में मन शक्ति धारण करते हुए उत्तम सन्तान युक्त होवें।

हम शुद्ध वीर्य, जीवन रस धारण करें, सशक्त और समर्थ रहें, हममें मनो बल रहे। हमारी सन्तान उत्तम हो, हम अपनी सन्तान दिव्य बनाएं। अन्यत्र वेद में कहा भी है:—

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्
(ऋ० १०।५३।६)

हम मनुष्य हों, हम में आत्मनिष्ठा हो, हममें केन्द्रीय शक्ति बनी रहे और हम सन्तानों को दिव्य बनाने में समर्थ हों। "प्रजावन्तः सचेमहि" में यही भाव है। यदि हम दिव्य सन्तान चाहते हैं तो हमें स्वयं दिव्य गुण धारण करने होंगे और सच्चे अर्थों में 'मनु' बनना होगा। अपने केन्द्र में स्थित तेजस्वी बनना होगा। वर्चस्वी मनुष्य जिसमें ओज है वही मनीषी है। उसी में आत्मनिष्ठा होती है। ऐसा मनु ही श्रद्धा से संयुक्त होकर दिव्य संतान का निर्माण करता है।

प्राण

वायवाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधि हवम्॥ ऋ० १।२।१

हे प्राण! आप, हे स्पर्श से जानने योग्य! ये जीवन रस सुशोभित हैं उनकी रक्षा कर, सुन पुकार को, प्रार्थना को।

हमने जीवन रस संजोए हैं, हे प्राण! उन्हें तू स्पर्श कर, उन सबकी तू रक्षा कर, यही हमारी आकांक्षा है। शरीर में संग्रह किया हुआ शुद्ध वीर्य प्राण शक्ति देता है। प्राण शक्ति शुद्ध वीर्य से बढ़ती है। जब प्राण उसे स्पर्श करता है तो वह चमकता है। प्राणशक्ति शुद्ध वीर्य से बढ़ती है और प्राणशक्ति से ही वीर्य की रक्षा होती है। प्राणायाम वीर्य की शुद्धि में भी सहायक है। प्राणायाम द्वारा मन की एकाग्रता होने से वीर्य का संचार ऊपर की ओर होता है। समान और व्यान प्राण की सहायता से वीर्य सूक्ष्म होता जाता है और प्रज्ञा तक मूर्धा तक पहुंचता है सारे शरीर के अंगों में घूमता है। मुखमण्डल पर ओज का कारण बनता है। प्राणायाम रक्त की शुद्धि में भी सहायता मिलती है। प्राण, मन और वीर्य का निकटतम परस्पर संबन्ध है। शुद्ध वीर्य शरीर में हो तो प्राण शक्ति का विकास होता है और साथ ही मनोबल बढ़ता है और मनुष्य प्रज्ञावान् होता है। वीर्य ही प्रज्ञा में सूक्ष्मतम अंश में सोम रस है, यह दिव्य रस है। वीर्य वर्चस् है। प्राण शक्ति तथा मनः शक्ति द्वारा सोम की रक्षा होती है।

वायो उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः ।
सुतसोमा अहर्विदः ॥ ऋ० १ । २ । २ ॥

हे प्राण ! उत्तम पवित्र विचारों से तत्त्वज्ञानी ज्ञान विज्ञान का प्रभाव अनुभव करने वाले तुझे भली प्रकार विकसित करते हैं। वे विशुद्ध जीवन रस पाए हुए हैं। ज्ञान के प्रकाश से उनका अन्तः करण आलोकित है, उनके अन्दर चन्द्रमा है, उन्हें आत्मज्योति की अनुभूति है। उन्होंने विशुद्ध वीर्य रूप जीवन रस का संचय किया है। ऐसे अनुभवी तत्त्व ज्ञानी प्राणशक्ति का विकास करते हैं।

प्राण शक्ति का विकास उत्तम विचारों से होता है। जो वीर्यवान् है, जिनमें वर्चस है, तेज है, ओज है, जो अनुभवी हैं, जिन्हों ने ज्ञान विज्ञान का अर्जन किया है, जिन्हें ज्ञान की ज्योति का सम्यक् अनुभव है, वे प्राणशक्ति का विकास करते हैं। उनका मन उनके अनुकूल रहता है, उनमें मनोबल होता है। मनुष्य युक्त आहार विहार सम्यक् कर्म चेष्टा से अपनी उन्नति करे। शुद्ध सात्त्विक आहार सत्त्व शुद्धि के लिए, मन और बुद्धि की शुद्धि के लिए अनिवार्य है। मन स्वस्थ रहना चाहिये और प्राण सशक्त रहना चाहिये। मनकी स्वस्थता पर और बुद्धि क निर्मलता पर उत्तम विचार और सत्य संकल्प निर्भर है। उत्तम विचरों से प्राण शक्ति का विकास होता है। प्राण शक्ति के विकास के लिए सुतसोमा होना अनिवार्य है। सोम वर्चस है, जीवन रस है। वीर्यवान् मनुष्य ही मनीषी होता है। मनस्वी होने के लिए विशुद्ध वीर्य का होना आवश्यक है। ऐसे मनुष्य में ही प्राण शक्ति विकसित होती है।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये ॥ ऋ० १ । २ । ३ ॥

हे प्राण ! तेरी शब्द उच्चारण करने की शक्ति, उदान प्राण की कंठ कूप में सम्यक् क्रिया से उत्पन्न हुई शक्ति तेरी ज्ञान प्रकाश की क्षमता, उदार जन केलिए अपना अनुभूत ज्ञान अन्य जनों को देने के लिए प्राप्त होती है, सोमपान करने वाले के लिए यह वाणी की योग्यता प्राप्त होती है।

जो वीर्यवान् संयमी जन सोमरस को, जीवनरस को अपने अन्दर पचाते हैं, ऐसे जनों में सोम चमकता है। ऐसे भद्र संयमी जन ओजस्वी होते हैं। प्राण शक्ति युक्त वाणी ऐसे ही अधिकारी जनों को प्राप्त होती है। सत्य ज्ञान प्राप्त करके स्पष्ट शब्दों में वही व्यक्त करता है जिसका कंठ कूप पवित्र है, जिसका उदान प्राण सम्यक् काम कर रहा है। ऐसा मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् होता है। वह जीवन रस सम्पन्न मनुष्य उदार होता है। वह प्रसन्नता पूर्वक प्रभावशाली शब्दों में ज्ञानोपदेश करता है ॥

सरस्वती देवी एवं नदी

(श्री अरविन्दकृत वेद व्याख्या के अनुसार)

[*ले०—श्री आचार्य अभयदेव जी पाण्डीचरी*]

गुजराती की 'प्रस्थान' पत्रिका में एक लेख 'गुम हुई नदी' के नाम से एक लेखक ने वेद की सरस्वती की समस्या को सुलझाने के लिये लिखा था। उसके उत्तर में श्री अरविंदाश्रम के एक प्रमुख साधक श्री अम्बालाल पुराणी जी ने गुजराती में लेख लिखा था। उस लेख का हिन्दी अनुवाद मैंने श्री पं० भीष्मदेव जी विद्यालंकार से करवा कर 'वैदिक-धर्म' में प्रकाशित करवाया था। विशेष देखनेवाले पाठकों से मैं कहूँगा कि यदि संभव हो तो वे वैदिक-धर्म में उस "वैदिक सरस्वती" नामक लेख को भी पढ़ें।

अपने उस लेख के प्रारम्भ में ही श्री पुराणी जी कहते हैं—

"इस सारे लेख को यथाशक्य निष्पक्षपात दृष्टि से पढ़ कर तथा इस गुम हुई नदी के ढूंढने में यथाशक्य सहानुभूति से लेखक के साथ यात्रा करने के बाद मुझे सखेद स्वीकार करना चाहिये कि इस लापता नदी का पता इस लेख में नहीं मिला। मैं समझता हूँ कि लेखक को भी नहीं मिला है। सरस्वती—यह काश्मीर से निकल कर गंगा और यमुना के साथ उत्तरप्रदेश में बहने वाली कोई नदी हो—या राजपूताने में से होकर समुद्र में पहुँचने से पहिले ही रेगिस्तान में विलुप्त कोई नदी हो—या फिर वर्तमान सिहपुर के पास बहने वाली कोई नदी हो–या खंभात के उपसागर के पास समुद्र में मिलने वाली कोई नदी हो—चाहे जो हो परन्तु वेद के ऋषियों ने जिस सरस्वती का उल्लेख किया है, वह इस प्रकार की पानी की नदी के बारे में है, ऐसा मानना अभी तो लगभग असंभव है।"

"ऋग्वेद में जिस सरस्वती का उल्लेख है वह तो मुख्यतः वाक्शक्ति दिव्य प्रेरणा की अधिष्ठात्री देवी है—ऐसा मानना–समस्त ऋग्वेद की 'सरस्वती' सम्बन्धी ऋचाओं का एक साथ विचार करते हुवे अधिक सकारण लगता है।

जैसा कि मैं गत लेख में सूचित कर चुका हूँ, ऋग्वेद में सरस्वती का उल्लेख पचासों जगह होगा। उन सबको इकठ्ठा करके देखने से हम ऐसे ही किसी परिणाम पर पहुँचेंगे।

ऋग्वेद के प्रारम्भ में तीसरे ही सूक्त में सरस्वती के लिये जो विशेषण और वाक्य प्रयुक्त हुवे हैं, उन्हें जरा देखिये 'पावका नः सरस्वती' हमें पवित्र करने वाली सरस्वती, 'धियावसुः' बुद्धि के द्वारा ऐश्वर्यवती, 'चोदयित्री सूनृतानां' सुभग सत्यों को प्रेरित करनेवाली. और 'चेतन्ती सुमतीनां' शुभ चेतना को हमारे में जाग्रत करने वाली है। 'यज्ञं दधे सरस्वती' वह सरस्वती हमारे यज्ञ को धारण करती है—टिकाये रखती है! वह सरस्वती सब प्रकार की धीमति बुद्धि—को ज्ञान से ज्योतिर्मय बना देती है। (१।३।१०,११)

यह ज़रा भी खींचतान किये विना उक्त दो मंत्रों का सीधा सा अर्थ है। इससे कोई भी समझ सकता है कि ऐसी सरस्वती स्थूल नदी नहीं हो सकती। इनसे दो मन्त्रों में 'महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना' (अर्थात् सरस्वती जो महान् प्रवाह बाढ़रूप है, वह हमें केतु (बोधन, प्रेरणा द्वारा चेतना युक्त कर देती है, चेता देती है, ज्ञान के प्रति जाग्रत कर देती है) भी कहा है जो कि स्पष्ट सूचित करता है कि ज्ञान की देवी का नदी स्वरूप भी कैसे हो सकता है। इस मन्त्रार्ध का यह भाव है कि जब मनुष्य में सरस्वती की सतत जाग्रत क्रिया होने लगती है तब कोई दिव्य स्रोत (अर्ण) ऊपर से नीचे उतर आता हो और अन्दर प्रवेश करता हो ऐसी अनुभूति होती है। इस 'सरः' जलपूर, बाढ़ के कारण ही वह सरस्वती है। इसी प्रकरण में १–१६४–५२ में हुये 'सरस्वन्तं' प्रयोग को देखिये। यह पुल्लिंग में वही शब्द है। दिव्य सुपर्ण को 'सरस्' वाला विशेष दृष्टि वाला कहा गया है। वस्तुतः वेद का सरस्वती शब्द किसी 'नदी' आदि के लिये रुढ़ नहीं है। वह यौगिक है।

जो 'सरस्' वाला होगा, वही सरस्वान् या सरस्वती होगा। ७ वे मंडल के ९५–९६ सूक्तों में सरस्वती के अतिरिक्त सरस्वान् भी उल्लिखित है।

७–९६–५ में 'सरस्वान्' से कहा है जो तेरी माधुर्यभरी और 'घृत' चुआने वाली लहरें हैं, उनसे तू हमारी रक्षक बन। यह सरस्वती से की जाने वाली प्रार्थना है।

२-४१-१६ में बड़ा सुंदर संबोधन है 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वती।' अर्थात् 'सबसे अधिक मातृत्व (वात्सल्य) युक्त, सबसे अधिक नदी, सबसे अधिक देवी हे सरस्वति।' यह वेद में ही संभव है कि सरस्वती एक ही समय माता भी है, नदी भी है और देवी भी है। मैंने जो इस लेख का शीर्षक दिया है, उसमें 'माता' भी जोड़ा जा सकता है।

और 'नदीतमे' प्रयोग में नदी के साथ 'तमप्' प्रत्यय लगाना यह भी सूचित करता है कि नदी यहां संज्ञा नहीं है, किन्तु विशेषण है।

६-३-८ में कहा है 'हमारी बुद्धि को साधित, पूर्ण करती हुई सरस्वती (सरस्वती साधयन्ती धियं नः) यही कार्य करती है। यहां सरस्वती के कार्य को देखिये।

७-९५-६ में कहा है 'हे सुभगे सरस्वती। यह वसिष्ठ तेरे पास आना चाहने वाला 'ऋत' के द्वार को खोलता है। यहां 'सत्य के द्वार' खोलने का संबन्ध किसी नदी से कैसे जुड़ सकता है?

५-४३-११ में कहा है 'ज्योतिर्मय स्वर्लोक से, महान् पर्वतों में से निकल कर सरस्वती हमारे यज्ञ के प्रति आवे। हमारी पुकार को सेवन करनेवाली वह हमारी आनन्ददायिनी निर्मल वाणी को चाहती हुई सुने।' इसमें 'घृताची' के सिवाय शेष सब अर्थ सायण के ही हैं। यह कौनसी सरस्वती है? श्री अरविंद की व्याख्यानुसार ज्योतिर्मय, अर्थात् ज्ञान ज्योतिर्मय, स्वर्लोक (मनोमय भूमिका) के पर्वत अर्थात् उच्चतम शिखर वाले मनोमय भूमिका के प्रदेश। उस स्वर्लोक के उच्चतम शिखर से प्रेरणादायी सरस्वती का प्रवाह आता है, ऐसा वेद का वक्तव्य है।

सरस्वती के उल्लेख के ऋग्वेद के सब स्थल पढ़ जाइये, आपको ऐसा ही वर्णन मिलेगा। यहां सब नमूनों के कुछ मंत्र उद्धृत करके लिख दिये हैं। पाठक स्वयं निर्णय करसकते हैं।

श्री अरविंद वेदरहस्य (प्रथम खण्ड) के दसवें अध्याय में जिसका नाम है 'सरस्वती और उसके सहचारी लिखते हैं 'वेद का प्रतीकवाद देवी सरस्वती के अलंकार में अत्यधिक स्पष्टता के साथ अपने आपको प्रकट कर देता है छुपा नहीं रख सकता......वह तो सीधे तौर से और स्पष्ट ही वाणी की देवी है, एक दिव्य अन्तःप्रेरणा की देवी है।

तो फिर नदी सूक्त में आये 'सरस्वती' शब्द का क्या अर्थ होगा इसका विवेचन आगे किया जाता है।

उपसंहार

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्याया असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ऋ० १०।७५।५॥

यह प्रसिद्ध नदी सूक्त का वह प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसमें नदियों के नाम गिना रखे हैं। हमारी सम्मति में इसमें संबोधन की गयी सात नदियां हैं। तीन नदियां और हैं जिन्हें तृतीया के एक वचन से पुकारा गया है। उनके सहित वे सात मुख्य नदियां हैं। वेद में सर्वत्र सात नदियों का उल्लेख है। इतना ही नहीं किन्तु इसी नदीसूक्त के प्रथम मंत्र में कह दिया गया है 'प्रसप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः।' अर्थात् ये नदियां सात सात करके तीन प्रकार से बह रही हैं। सायणाचार्यजी ने 'त्रेधा' का यह अर्थ किया है कि सात भूलोक में, सात अंतरिक्ष में, सात द्युलोक में इस तरह तीन प्रकार से बह रही हैं। सो इसमें सात नदियों को संबोधन किया गया है, यह बात वेद की परिपाटी ही नहीं किन्तु इस सूक्त की अन्तः साक्षी से भी सिद्ध हो रही है। सायण ने जो कि वेद की परिपाटी से अच्छी तरह अभिज्ञ हैं, इस मंत्र की व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि यहां प्रधान भूत सात नदियों (तथा उनकी अंगभूत तीन नदिओं) की स्तुति की गयी है।

कई व्याख्याकारों ने 'परुष्ण्या' को तृतीया मान कर तथा मरुद्वृधे को केवल विशेषण मानकर जो पांच नदियों का संबोधन है ऐसा कहा है सो ठीक नहीं है। 'परुष्ण्या' तृतीया नहीं है, यह तो पदपाठ से स्पष्ट है। 'परुष्णि आ' ऐसा पदपाठ है। 'हे परुष्णि! आ सचत' ऐसा अन्वय होता है। यह भूल तो विद्वानों में अक्षन्तव्य है। इसी तरह 'मरुद्वृधे' विशेषण नहीं, संज्ञा या नाम है जैसा कि सायण ने भी माना है। सो वे सात नदियां निम्न प्रकार हैं (१) गंगा (२) यमुना (३) सरस्वती (४) शुतुद्रि (५) परुष्णी (६) असिक्नी के सहित मरुद्वृधा (७) वितस्ता तथा सुषोमा के सहित आर्जीकीया।

हे गंगे, हे यमुने, इस तरह इन सातों को संबोधन करके कहा गया है कि तुम मेरी इस स्तुति का सेवन करो और सुनो। श्री अरविंद का कहना है कि यदि यहां (वा अन्यत्र) स्थूल गंगा, यमुना नाम वाली किन्हीं नदियों के नाम लिये गये हैं तो भी वह वेद का असली अर्थ नहीं है, वह बाह्य अर्थ है। वह आन्तर अर्थ के लिये ही है अतः

अपने आप में कुछ महत्त्व का नहीं है। जैसे कि इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है (इसकी सायणकृत व्याख्यानुसार भी) ये सात नदियां जैसे भूलोक में हैं, वैसे अंतरिक्ष में भी हैं, और द्युलोक में भी हैं। यह बात स्वयं वेद ने स्वयमेव व्याख्या करते हुवे कह दी है। वैसे तो सभी वेदमन्त्रों के आधिभौतिक अर्थ भी होते हैं, पर आध्यात्मिक अर्थ ही वस्तुतः उद्दिष्ट होता है। पर यहां तो यही सूक्त कह रहा है कि ये नदियाँ सात सात करके तीनों जगह बह रही हैं, गति कर रही हैं।

यदि भूलोक की गंगा, यमुना आदि सात नदियों को हम जानते हैं तो अन्तरिक्ष की और द्यौ की गंगा, यमुना और सरस्वती आदि को बिना जाने हम वेदमन्त्र के अर्थ को नहीं जान सकते। तब तक इस वेदमन्त्र के अर्थ को नहीं जान पाये हैं, यही कहा जायगा। और मुख्य बात उस असली अर्थ को ही जानना है।

मैं कहूँगा कि द्युलोक की सात नदियाँ ये हैं (१) आनन्द की धारा (२) सत्ता की धारा (३) चैतन्य की धारा (४) विस्तार और सुषोम से युक्त ऋतुगामिनी सत्य की धारा (५) मन की धारा (६) निम्न कृष्णवर्ण धारा से युक्त वायु से बढ़ने वाली प्राण धारा (७) तथा अन्नमय पर्वती स्थूल धारा।

ये या ऐसी ही कोई दिव्य धारायें हैं, जिनकी कि इस वेदमन्त्र में स्तुति की गयी है और उनसे प्रार्थना की गयी है कि तुम मेरी पुकार सुनो।

इस जगत् के द्युलोक में इन नदियों से वर्ताव करने वाले तो कोई महान् पुरुष ही होते हैं जिनकी कि जगद्व्यापी ऊंची अभीप्सा होती हैं, पर हम साधारण लोग तो अपने वैयक्तिक द्युलोक में अर्थात् (मस्तिष्क में) ही इन धाराओं के आगमन की प्रार्थना करें, यही पर्याप्त है। या फिर अपने वैयक्तिक अन्तरिक्ष लोक में (प्राणमय स्तर पर) अपनी सात नदियों के खुल कर बहने लगने की प्रार्थना करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। शिवसंहिता में मुख्य १४ नाड़ी कही हैं जो कि युगल हुई हुई सात ही हैं। या शिवस्वरोदय में तीन इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के अतिरिक्त ७ ही और मुख्य नाड़ी कही हैं। जिनके नाम ये हैं (जो कि शिव संहिता में भी हैं)

(१) गांधारी (२) हस्तिजिह्विका (३) पूषा (४) यशस्विनी (५) अलंवुषा (६) कुहू (७) शंखिनी।

सो अन्तरिक्ष की गंगा, यमुना आदि सात नदियाँ हमारी इन गांधारी आदि नाड़िओं को प्राणपूरित करें, जगाकर सजीव कर दें, यह प्रार्थना होगी। या फिर हमारे वैयक्तिक भूलोक अर्थात् शरीर में स्थूल नाड़िओं के सबल होने से शरीर के महिमान्वित होने की प्रार्थना होगी।

तो अब हम देख सकते हैं कि इन गंगा, यमुना आदि नामक पानी की स्थूल नदियों का वेद में कितना स्थान है। यहां गंगा यमुना कुछ और ही हैं और उन्हीं से हमारा असल में वास्ता है।

सो पहिले वेद का प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसका हमें अच्छी तरह अनुसन्धान करके एक बार निश्चय कर लेना चाहिये। यदि हम भी उसी परिणाम पर पहुँचे जिस पर कि श्री अरविन्द पहुँचे हैं, अर्थात् आध्यत्मिक अर्थ ही वेद का असली अर्थ है, तो हम निश्चय से जान जायेंगे कि 'लुप्त सरस्वती नदी' को खोजने का या ऐसी ही अन्य भूगोल या इतिहास की गवेषणायें करने का स्थान वेद नहीं है। वह स्थान अन्यत्र ही है। वेदों की जिस प्रकार और जिस प्रयोजन से रचना हुई है, उसमें ये सब चीजें तब हमें 'स्थानभ्रष्ट' प्रतीत होंगी।

इसी तरह आर्य द्राविड़ों की लड़ाई को भी वेद में देखा जाता है। श्री अरविन्द वेदाध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पश्चिमी विद्वानों (और उनका अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वानों) ने जो वेद में आर्यों और दस्युओं के बीच जातीय विभागसूचक निर्देश बताये है, या वे निर्देश बताये हैं, जिनसे दस्यु और आदिम भारतवासी एक थे ऐसा पता लगता है, वे सब निःसार है। वेद से ऐसा कुछ सिद्ध नहीं होता है। श्री अरविंद ने कहा पश्चिमी विद्वानों ने भाषाओं के विभेद पर आश्रित एक मत, एक परिकल्पना (थियोरी) घड़ी है कि उत्तर के आर्यों द्वारा द्राविड़ी भारत पर आक्रमण किया गया था, पर यदि ऐसी कोई चीज सचमुच हुई होती तो उसकी स्वयं भारतीयों में कोई स्मृति या परंपरा मिलनी चाहिये थी, भारत के किसी महाकाव्य या प्रमाणभूत साहित्य में उसका कुछ उल्लेख तो आना चाहिये था। और फिर यह कल्पना जिन दो आधारों (अर्थात् आकृतिभेद और भाषाभेद) पर की गयी है, वे ही गलत हैं। आकृतिभेद के विषय में अपने अनुभव के आधार पर वे कहते हैं—

"पहिले-पहल गंभीरतापूर्वक मेरे विचार वेद की ओर

तब आकृष्ट हुए, जबकि मैं दक्षिण भारत में रह रहा था। दो बातों ने जो कि बलात् मेरे मन पर आ पड़ीं, उत्तरीय आर्य और दक्षिणीय द्रविड़ियों के बीच जातीय विभाग के मेरे विश्वास पर, जिस विश्वास को मैंने दूसरों से लिया था, एक भारी आघात पहुँचाया। मेरा यह जातीय विभाग का विश्वास पूर्णतः निर्भर करता था, उस कल्पित भेद पर जो कि आर्यो तथा द्रविड़ियों के भौतिक रूपों में किया गया है, तथा उस अपेक्षाकृत अधिक निश्चित विसंवादिता पर जो कि उत्तरीय संस्कृत जन्य तथा दक्षिणीय संस्कृत भिन्न भाषाओं के बीच में पायी जाती है। मैं उन नये मतों से तो अवश्य परिचित था, जिनके अनुसार कि भारत के प्रायद्वीप पर एक ही सवर्णजाति, द्रविड़ जाति या भारत अफगान (Inds-Afghan) जाति, निवास करती है, परन्तु अब तक मैंने इनको कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया था। पर दक्षिण भारत में मुझ पर यह छाप पड़ने में बहुत समय नहीं लगा कि तामिल जाति में उत्तरीय या 'आर्यन्' रूप विद्यमान है। जिधर भी मैं मुड़ा, एक चकित कर देने वाली स्पष्टता के साथ मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं न केवल ब्राह्मणों में किन्तु सभी जातियों और श्रेणियों में महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदुस्तान के अपने मित्रों के उन्हीं पुराने परिचित चेहरों, रूपों, आकृतियों को पहिचान रहा हूँ, बल्कि अपने प्रांत बङ्गाल के भी, यद्यपि यह बङ्गाल की समानता अपेक्षाकृत कम व्यापक रूप में फैली हुई थी।"

भाषा के भेद के विषय में श्री अरविन्द कहते हैं—"और दो जातियों के मिलाने की कल्पना को पुष्ट करने के लिये भाषा के भेद की बात तो सदा विद्यमान थी ही। परन्तु इस विषय में भी मेरे पहिले के बने हुए विचार गड़बड़ और भ्रांत निकले। क्योंकि तामिल शब्दों की परीक्षा करने पर, जो कि यद्यपि देखने में संस्कृत के रूप और ढङ्ग से बहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते थे, मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्दपरिवार जो कि विशुद्ध रूप से तामिल ही समझे जाते थे, संस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती बहिन लैटिन के बीच में और कभी कभी ग्रीक तथा संस्कृत के बीच में नये सम्बन्धों की स्थापना करने में मेरा पथप्रदर्शन करते थे। कभी कभी तामिल शब्द न केवल शब्दों के परस्पर सम्बन्ध का पता देते थे, बल्कि संबद्ध शब्दों के परिवार में किसी ऐसी कड़ी को भी सिद्ध कर देते थे जो कि मिल नहीं रही होती थी। और इस द्राविड़ भाषा के द्वारा ही मुझे पहिले पहल आर्यन भाषाओं के नियम का जो कि मुझे अब सत्य नियम प्रतीत होता है, आर्यन भाषाओं उत्पत्ति-बीजों का या यों कहना चाहिये कि, मानों इनकी गर्भविद्या का पता मिला था।"

ये दो उद्धरण मैंने जान बूझकर इसलिये दिये हैं कि ये श्री अरविन्द के अपने ऐसे महत्त्व पूर्ण अनुसंधान हैं जिनकी तरफ कि पश्चिमी विद्वानों का अनुसरण करने वाले भाइयों का ध्यान अवश्य आकृष्ट किया जाना चाहिये। ये विचार आजकल विशेष महत्त्व के भी हैं, जबकि भारत घनघट्ट 'एक' जाति बन जाना चाह रहा है।

अन्त में यही कहना है कि वेद के अनुसंधान की तो अवश्य बहुत आवश्यकता है। क्योंकि वैदिक भाषा बहुत प्राचीन है। परन्तु वह अनुसंधान स्वतन्त्र निष्पक्षपात और सच्चा होना चाहिये, तभी उससे लाभ होगा। और अब भारत के स्वाधीन हो जाने से ऐसे ही तेजस्वी और बलवान् अनुसंधान होने की संम्भावना भी बढ़ गई है। और यह ऐसा होगा तभी जब वह ठीक दशा में भी होगा। अभी तक 'अनुसंधान' नाम से पश्चिमी लोगों ने जो किया है (वह उनके भारतीयता और यहाँ की परम्परा से अनभिज्ञ होने से और उनके अपने निजी विचारों से बद्ध होने के कारण परिश्रम से किये जाने पर भी) ठीक दिशा में ही नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। जब हम सच्चा और ठीक दिशा में अनुसंधान करने को प्रवृत्त होंगे तो हमें पता लगेगा कि इसके लिये जहां बुद्धि, पांडित्य और अनुशीलन तथा परिश्रम की आवश्यकता है, वहाँ शायद सबसे प्रमुख आवश्यकता 'साक्षात्कृतधर्मा ऋषि' होने की भी है, जैसे कि निरुक्तकार ने कहा है॥

[श्री स्वामी अभयदेव जी ने महात्मा अरविंद जी की विचार धारा को लेकर 'नदीसूक्त' के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं, ये बड़े उत्कृष्ट-गम्भीर और मननीय हैं। गत ५-६ अङ्क तथा ७ वें इस अङ्क के लेखों के लिये वेदवाणी के पाठकों को उक्त आचार्य जी का कृतज्ञ होना चाहिये। ऐसे विचार बहुत उपयोगी और प्रेरणादायक हैं।

—सम्पादक]

'वैदिक सम्पत्ति' पर आपत्ति

[ले० – श्री पं० शिवपूजन सिंह जी कुशवाहा 'पथिक' बी० ए०, सिद्धान्तवाचस्पति, कानपुर]

वेदों के प्रमाण—

"इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥
ऋ० मं० ८, सू० ९१, मंत्र ५

अर्थ—"हे राजन्! तू उस त्रिविष्टप स्थान को प्राप्त कर जो सारी पृथिवी में ऊँचा है और मनुष्यों के लिये सुखकारी है और माता के उदर के समान उत्पन्न करने का स्थान है।"

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥
अथर्ववेद कां० ११, सू. १, मं० ७॥

अर्थ—हे मनुष्य! जिसको विष्टप और स्वर्गलोक भी कहते हैं, उस पर तू चढ़ जा। वह सबसे ऊँचा सुख देने वाला स्थान है। वह पृथ्वी पानी से सब से पहले बाहर आई और जिसमें एक स्थान उत्पन्न हुए समान मनुष्य प्रकट हुए। महान् वीर्यप्राप्ति के लिये उसे प्राप्त कर।" [१६]

यहाँ 'विष्टप' शब्द है 'त्रिविष्टप' नहीं है, पर 'त्रिविष्टप' और 'विष्टप' शब्द एक ही अर्थ में आता है।

मासिकपत्र "वैदिकधर्म" के सम्पादक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी अपनी पुस्तक[१७] में लिखते हैं—"त्रिविष्टप' शब्द का अपभ्रंश रूप आजकल 'तिब्बत है। यह प्रदेश हिमाचल की उत्तर दिशा में है। संस्कृत में 'विष्टप' और त्रिविष्टप' शब्द एक ही अर्थ में आता है। "विष्टप" शब्द "विश्" धातु से बना है 'विश्' धातु से अर्थ अन्दर घुसना, प्रवेश करना अर्थ में सुप्रसिद्ध है, अतः इसका धात्वर्थ यह होता है कि प्रवेश करने योग्य प्रदेश।"

वेदों में 'त्रिविष्टप' शब्द को देखकर ही ऋषियों ने ऐसे स्थल का नाम त्रिविष्टप (तिब्बत) रख दिया है। इन वेद-मंत्रों से परमात्मा ने सिद्धान्त रूप से बतलाया है कि जो स्थान पृथ्वी पर पहले प्रकट होता है और जिसमें मनुष्यों की सर्व प्रथम उत्पत्ति होती है, उसी का नाम 'विष्टप', 'त्रिविष्टप' वा स्वर्ग है। यह सृष्टिक्रम सदैव चालू रहता है।

आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान्, वैदिक गवेषक पं० प्रियरत्नजी आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज) का भी यही सिद्धान्त है। आप अपने "जीवों की सृष्टि कैसे और कहाँ हुई?" शीर्षक लेख[१८] में लिखते हैं:—

"...आरम्भ सृष्टि में मनुष्य आदि सभी जीव शरीर बिना मैथुन के उत्पन्न हुए तथा भूमितल उस समय अति कोमल तथा उफना हुआ था। ऐसा क्रम कुछ काल तक चलता रहा और आरम्भ सृष्टि का स्थान भूगोल पर कोई ऊँची जगह है। तथा—

'त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू, नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥"
अथर्व० १८।४।४।

(त्रयः सुपर्णा विष्टप्यधिश्रता:) तीनों अग्नियाँ जीवों के प्रवेश स्थान रूप भुवन में वर्त्तमान हैं। उन में से (नाकस्य पृष्ठे उपरस्यमायू) दो विद्युत् और सूर्य तो मेघ-मण्डल में मेघ को बनाने वाली हैं। जहाँ (स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठाः) उत्पन्न होने वाले जीवात्मा मेघ मण्डल में अपने अमर धर्म से स्थित हैं। (यजमानायेषमूर्जं दुह्राम्) उन जीवात्माओं में से जो जीवात्मा पुनर्जन्म प्राप्ति के लिए अपने आत्मा की आहुति को बीज भाव से त्यागने को तैयार होता है, उसके लिए ये अग्नियाँ शुक्र-शोणित का दोहन करती हैं। तात्पर्य—भुवन रूप विष्टप् के अन्दर पार्थिव, वैद्युत् तथा सौर भेद से तीन अग्नियाँ काम करती हैं, अतः यह भुवन (त्रयाणां विष्टप् = त्रिविष्टप्) है।

१६ ऐसाही अर्थ शास्त्रार्थ महारथी पं० मनसारामजी वैदिक तोप" अपने ग्रन्थ "पौराणिकपोल प्रकाश" द्वितीय भाग प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११५९, तथा साहित्याचार्य पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ, मासिकपत्रिका "वेदवाणी" काशी, १ अप्रैल १९४९ ई०, अङ्क ८, पृष्ठ १९-२० में आर्य शब्द अधिक व्यापक है" शीर्षक लेख में किया है।

१७ "महाभारत की समालोचना" द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११६।

१८. मासिक पत्र "वैदिक विज्ञान" अजमेर, वर्ष १, सन् १९३३ ई०, संख्या ८, पृष्ठ ३४२ से ३४५।

(२) मेघ मण्डल में रूप, नाक पृष्ठ में विद्युत् और सूर्य मेघ को बनाने वाले हैं।

(३) वहाँ मेघ-मण्डल में जीवात्मा जन्म धारण की शक्ति प्राप्त करते हैं।

(४) जो जन्मार्थ अपने आप को बीज भाव के रूप में समर्पित करता है, उसके लिए उक्त तीनों अग्नियाँ 'शुक्र-शोणित' का सम्पादन करती हैं।

यह वर्णन आधिदैविक है। हो सकता है आधिभौतिक में भौगोलिक विद्या का प्रदर्शन मिल सके। आरम्भ सृष्टि में नाकपृष्ठ भूगोल के किसी ऊँचे स्थान पर पृथ्वी भाग के प्रकट होने से पार्थिव अग्नि, तथा उस उच्च पृथ्वी भाग पर मेघ-मण्डल की समावधि से वैद्युत अग्नि तथा सूर्य की उषा के सम्बन्ध से सोर अग्नि एवं तीनों अग्नियों की समकालता हुई हो अतएव उस उच्च भूमिभाग की ऋषियों ने 'त्रिविष्टप' नाम दे दिया हो जिसका अपभ्रंश 'तिब्बत' है। वहीं पर वर्षा से भूमि पुलकित पृष्ठा (उफनी हुई) होगी और जीवों के जन्मार्थ 'शुक्र-शोणित' शक्ति प्रकट होकर जीव शरीरों की आरम्भ सृष्टि बनी हो ."

पुनः आप अपने ' सृष्टि की उत्पत्ति'' शीर्षक लेख[१९] में लिखते हैंः—

"···हम देखते हैं कि जल में डूबी हुई भूमि का जो भाग जल सूखते रहने आदि से बाहर आता है, उसी पर घास, मच्छर, कृमि, कीट आदि की सृष्टि होती है, अतः प्रथम सृष्टि कहीं ऊँचे स्थान पर ही हो सकती है। वह स्थान 'त्रिविष्टप' (तिब्बत) कहलाता है और कहलाया करता है, सूर्य, विद्युत्, अग्नि तीनों देवों का प्रवेश-स्थान-समागम स्थान होने से 'त्रिविष्टप' कहलाता है।"···

अतः शर्मा जी का आक्षेप सर्वथा ही निराधार और अनर्गल है।

पृष्ठ ४८६—("प्रस्थानत्रयी की पड़ताल" शीर्षक में गीता, उपनिषद् और वेदान्त सूत्र पर आक्षेप करते हुए)—

"······इस तरह से इस नवीन श्रुति स्मृति की सृष्टि करके सिद्धान्तों को दार्शनिक विचारों से पुष्ट करने के लिए ब्रह्म सूत्रों की रचना हुई।

इन दशों उपनिषदों में आसुर उपनिषद् का मिश्रण है। आसुर भाग वेदों की उपेक्षा करते हैं, ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं, यज्ञों के करने वालों को गालियाँ देते हैं, और अनाचार का प्रसार करते हैं।"

समीक्षा—षड्दर्शनों की उपेक्षा तो कोई भी विद्वान् नहीं करता है। महर्षि दयानन्दजी ने भी षड्दर्शनों का समन्वय "सत्यार्थ-प्रकाश" में किया है। वेदान्त दर्शन में यदि कुछ मिश्रण होता तो अवश्य ही महर्षि दयानन्द जी इसका निर्देश करते। ब्रह्मसूत्रों पर जिन लोगों ने भाष्य किया है उन्होंने अपने मत का समावेश कर दिया है। यथा—जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जी ने "शारीरिक भाष्य" में "अद्वैतवाद"; श्री भास्कर ने "भास्कर भाष्य" में "भेदाभेद" श्री रामानुज ने "श्री भाष्य" में "विशिष्टाद्वैत" श्रीमध्व ने "पूर्णप्रज्ञ भाष्य" में द्वैतवाद; श्री निम्बार्क ने "वेदान्त पारिजात" में द्वैताद्वैत", श्री कण्ठ ने "शैव-भाष्य" में "शैवविशिष्टाद्वैत"; श्रीपति ने "श्रीकरभाष्य" में वीरशैव विशिष्टाद्वैत; श्री वल्लभाचार्य ने "अणुभाष्य" में "शुद्धाद्वैत", श्रीविज्ञानभिक्षु ने "विज्ञानामृत" में "अविभागाद्वैत"; श्रीबलदेव ने "गोविन्दभाष्य" में अचिन्त्य-भेदाभेद।

इससे "वेदान्तसूत्र" का क्या दोष है? अभी आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज (पं० प्रियरत्न जी आर्ष) ने "वेदान्तदर्शन" पर संस्कृत में भाष्य लिखा है। यदि उसमें कुछ मिश्रण होता तो वे अवश्य इसकी चर्चा करते।

दश उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक) मुख्य हैं जिनपर स्वामी शंकराचार्य जी ने तथा भिन्न २ आर्य समाजी विद्वानों (महात्मानारायण स्वामी जी, पं० देवेन्द्र शास्त्री, सांख्यतीर्थ, पं० आर्य मुनि जी, पं० सत्यव्रत जी विद्यालङ्कार, स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज प्रभृति) ने भाष्य किया है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक पर पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ ने संस्कृत और हिन्दी में प्रामाणिक भाष्य लिखा है। इन विद्वानों में किसी ने भी आसुर उपनिषदों के मिश्रण की चर्चा नहीं की है। आपने पृष्ठ ४९६ से ५०६ तक में 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदों से आसुरी बातों को दिखलाया है, परन्तु पं० शिवशंकर शर्मा जी काव्यतीर्थ की टीकाओं के पढ़ने से उन सभी आक्षेपों का निराकरण हो जाता है।

१९. मासिक पत्र "सार्वदेशिक" दिल्ली, वर्ष ३९, मार्च सन् १९४९ ई०, अंक १, पृष्ठ ६१९।

पृष्ठ ५०५ में "...मांसौदनं पाचयित्वा..." (बृहदारण्यक ६।४।१८) का अर्थ करते हुए लिखते हैं:—

"यदि इच्छा हो कि मेरा पुत्र पण्डित, सभा में जाने योग्य, अच्छा भाषण करने वाला, सब वेदों का ज्ञाता और सारी उमर सुख से रहने वाला हो, तो उसे चाहिए कि वह घोड़े या बैल का मांस घृत मिले भात के साथ खावे। गाय, बैल, घोड़ा, बकरी भेड़ी, ये तो आर्यों की बड़ी प्यारी वस्तुएँ हैं। इनको मारना और खाना उनकी संस्कृति के विरुद्ध है। इसलिए यह कभी संभव नहीं है कि आर्यों ने इस प्रकार की शिक्षा दी हो। यह सारा हत्याकाण्ड तो अनार्यों का ही है।"

समीक्षा—शर्मा जी को उपनिषदों में अश्लीलता तथा गोमांस सूझता है जो उनकी भूल है। क्या जहाँ वेदों में प्रजनन विद्या का वर्णन है वह अश्लील है? कदापि नहीं। अतः उपनिषदों में जहाँ प्रजनन विद्या की चर्चा है वह अश्लील नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१८ का जो आपने अर्थ किया है वह भी भ्रमपूर्ण तथा प्रकरण विरुद्ध है। इस पर ऊहापोह से विचार किया जाता है, क्योंकि अन्य भी कई प्राच्य व प्रतीच्य विद्वान् आक्षेप करते हैं।

इसका वास्तविक अर्थ यों है—

(क) "इसके बाद (यः इच्छेत्) जो कोई इच्छा करे (मे पुत्रः पण्डितः) मेरा पुत्र पण्डित (विजिगीथः) विजयी (समितिङ्गमः) सभाओं में जाने योग्य सभ्य (शुश्रूषितां) सुशिक्षित श्रवणेच्छाजनक (वाचं) वाणी का (भाषिता) बोलने वाला (सर्वान् वेदान्-अनुब्रुवीत) सब वेदों को पढ़े पढ़ावे (सर्व-आयुः-इयात्) सम्पूर्ण आयु को भोगे (वा) इस प्रकार (जायेत) उत्पन्न होवे (सर्पिष्मन्तम्) घृतयुक्त (माषौदनं) उड़द और चावल को (पाचयित्वा) पकवाकर (ऋषभण) अष्टवर्गोक्त ऋषभक नामक महौषधि के साथ (अश्नीयाताम्) स्त्री पुरुष खावें तो (इति) इस (औक्षणेन) ऋषभक महौषधि के निषेक प्रयोग से (ईश्वरौ) दोनों समर्थ होते हुये (वे) अवश्य (वा) ऐसा (जनयतः) उत्पन्न करते हैं।"[२०]

(ख) "जो चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित हो, प्रख्यात हो, सभा-सोसाइटियों में जाने वाला हो, प्रियवाणी बोलने वाला हो, सब वेदों का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो माष अर्थात् उड़द के साथ चावल पकवाकर पति-पत्नी दोनों खावें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जो शरीर में बैल के समान और ज्ञान में ऋषियों के समान होता है। इस स्थल में 'मांसौदन' की जगह 'माषौदन' पाठ ठीक है क्योंकि इस सारे प्रकरण में चावल-घी-दही-तिल आदि का वर्णन है। दही, घी, चावल, तिल आदि के सिलसिले में उड़द तो प्रकरणसंगत है, मांस सर्वथा असंगत है।"[२१]

यहां पर "माँसौदन" "औक्षेन" और "ऋषभेण" इन पदों को देख कर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं।

गर्भाधान के समय वैद्यकशास्त्र किन वस्तुओं के खाने तथा किन वस्तुओं के न खाने का विधान करता है।

"**गर्भोपघातकरास्त्विमे**[२१] **भावा....न रक्तानि वासांसि बिभृयात् न मदकराणि चाद्यात् न अभ्यवहरेत् न यानमधिरोहेत्—न मांसमश्नीयात्—सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत्।" [चरक शा० स्थान अ० ४]**

ये पदार्थ गर्भ के हानि करने वाले हैं—रक्त कपड़ा पहनना, मदकारक वस्तुओं का सेवन, मांस भक्षण, यान पर चढ़ना-इसलिए गर्भाधान में इनका सेवन न करे!

"**ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धः सर्पिक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहाराम् नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभि विश्वास्य विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यां दशम्यां द्वादश्यांच उपेयादिति पुत्रकामः।"**

[सुश्रुत, शरीराध्याय २]

अर्थ—गर्भाधान करने वाला महीने भर तक ब्रह्मचारी रहा पुरुष गर्भाधान के दिन अपराह्ण में घी से स्निग्ध, घी और दूध के साथ शाली चावल के भात को खाकर एक मास तक ब्रह्मचारिणी रहने वाली, तिल तैल से स्निग्ध, तैल और उड़द प्रधान आहार की हुई स्त्री को गर्भ की हानिकारक बातें समझा बुझा देने पर सब तरह से प्रेमो-

---

२०. "वेद और पशुयज्ञ" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४५–४६ में पं० जे. पी. चौधरी काव्यतीर्थ, काशी का अर्थ।

२१. "पं० सत्यव्रत जी 'सिद्धान्तालङ्कार' कृत "धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद्" प्रथम संस्करण पृष्ठ ५८५।

त्पादन करके चतुर्थी, षष्ठी, दशमी, द्वादशी में पुत्र की इच्छा से गमन करे।

'चरक शा० स्थान०' ८ में गर्भाधान में उड़द ही का उल्लेख है—

"मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम्।"

अर्थात्—वर्गोक्त मधुर औषधियों से संस्कार किए घृत और दुग्ध से पुरुष को, तैल और उड़द से स्त्री को गर्भाधान के योग्य करे।

"यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥"
[अथर्व० कां० ३, सू० २३ मंत्र ४]

"अर्थ—वीर्य सेचन में समर्थ, श्रेष्ठनर! तू आरोग्यवर्द्धक ऋषभ के बीज की सहायता से पुत्रोत्पन्न कर और भविष्य में माता कही जाने वाली स्त्री को पुत्रवती और स्तनों में खूब दूध वाली होने दे।"

यहाँ स्पष्ट गर्भाधान के समय ऋषभक औषधि का सेवन करने के लिए आदेश है, न कि बैल खाने का।

यहाँ "मांसौदन" शब्द नहीं, वरन् "माषौदन"। एक बार अशुद्ध मुद्रित हो गया तो वैसा ही अशुद्ध मुद्रित होता रहा।

"माषौदन" के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के विचार

पं० शिव शङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ लिखते हैं—"माषौदन = सबसे पहिले एक महान् प्रमाद बहुत दिनों से चला आता हुआ प्रसिद्ध होता है। मांसौदन शब्द यहाँ नहीं चाहिए किन्तु 'माषौदन' अर्थात् माषौदन के स्थान में मांसौदनम् लेखकों के भ्रम से वा किसी मांसप्रिय विद्वान् के कर्तव्य से इस प्रकार का परिवर्तन हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि श्रीमन्थ कर्म में दश प्रकार के अन्न के नाम आए हैं, वे ये हैं व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खल्व और खलकुल और इन दश अन्न और सर्वौषध को मिलाकर मन्थ बनाया जाता है और उसके विधिपूर्वक ग्रहण से यहाँ तक फल कहा गया है कि सूखे वृक्ष के ऊपर भी यदि वह मन्थ रक्खा जाये, तो उसमें पत्ते लग जायें, इत्यादि वर्णन इसी उपनिषद् के षष्ठाध्याय के तृतीय ब्राह्मण में देखिए। यहां पर देखते हैं कि तिल शब्द के बाद माष शब्द आया है। इसी प्रकार "तिलौदन" के पश्चात् 'माषौदन' आना चाहिए, न कि "मांसौदन", क्योंकि १७ वें खण्ड में तिलौदन शब्द आया है, अतः १८ वें खण्ड में अवश्य 'माषौदन' चाहिए। पूर्व में भी क्रम देखते हैं कि क्षीरौदन, दध्योदन, और उदौदन, शब्द आए हैं। अब क्षीर, दधि और अन्न को त्याग झट मांस का विधान कर देना यह असंगत प्रतीत होता है, अतः यहाँ माषौदन ही शब्द है, यह सिद्ध होता है "माष" उड़द को कहते हैं।"—[22]

पं० जे० पी चौधरी जी काव्यतीर्थ लिखते हैं:—"गर्भाधान के समय 'माषौदन' चाहिए, न कि मांसौदन जो गर्भाधान में सर्वथा वर्जनीय है। पुस्तक में एक बार जो अशुद्ध छप गया तो छप गया, कोई उस पर ध्यान देकर शुद्ध नहीं कर देता।"[23]

चतुर्वेदभाष्यकार पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' मीमांसातीर्थ—से दिनाङ्क ३०।१०।१९४३ ई० को श्रीमती आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा स्वर्ण जयन्ती, लाहौर के अवसर पर मैंने इस सम्बन्ध में पूछा, तो उन्होंने कहा था कि मेरा सिद्धान्त है कि वहाँ पाठभेद है, 'मांस' नहीं, वरन् 'माष' शब्द है।

उसी अवसर पर दिनाङ्क ३१।१०।१९४३ को स्वामी अभेदानन्दजी महाराज व विद्यावारिधि, व्याकरणाचार्य विश्व मित्र शास्त्री, महोपदेशक, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर के सामने वैदिक गवेषक पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० से इस सम्बन्ध में पूछा, तो उन्हों ने भी कहा था कि वहां 'माष' शब्द चाहिए।

पं० सत्यव्रतजी 'सिद्धान्तालङ्कार' (भूतपूर्व आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी) लिखते हैं:—"...इसका अर्थ कई विद्वानों ने यह किया है कि माता-पिता मांस और चावल पकवा कर औक्ष वा आर्षभ से घृत सहित खायें, अर्थात् बैल का मांस खायें। इस अर्थ करने का कारण यह है कि 'मांसौदन' शब्द में 'मांस'

२२. "बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यम्" पृष्ठ ७७६ [संवत् १९६८ वि० में वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित प्रकाशित, प्रथमावृत्तिः]॥

२३ "वेद और पशुयज्ञ" पृष्ठ ४५ (चौधरी एण्ड सन्स, नीचीबाग, काशी द्वारा प्रकाशित)॥

शब्द आया है। परन्तु इस सारे प्रकरण को आगे पीछे से क्या 'मांस' की बात ठीक जँचती है? सारे प्रकरण को पढ़ जायें तो तिल, चावल, घृत के सिवाय किसी और वस्तु का कहीं जिक्र नहीं, एकाएक 'मांस' शब्द आ गया है। असल में 'माष' की जगह किसी लेखक की गलती से 'मांस' शब्द लिखा गया है। उस समय के लेखकों की गलतियाँ आजकल छापेखाने के भूतों की गलतियाँ (Printer's devil) कहाती हैं। चावल के साथ माष अर्थात् उड़द की संगति तो स्पष्ट है, मांस की कोई संगति नहीं बैठती। शुभकार्यों में आज तक की परम्परा तिल-चावल-माष को मिलने की है, तिल-चावल के साथ मांस मिलने की तुक कहाँ बैठती है?...."[24]

महामहोपाध्याय पं० आर्य मुनिजी लिखते हैं—

"...जो यह चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित हो वह मांस = माष = चिकने मांसल = उड़दों के साथ पके हुए चावलों को उक्ष वा ऋषभ ओषध के रस के साथ खाय, और जो उक्तवाक्य में मांस शब्द की आशंका की जाती है, जो किसी जीव के मांस का अर्थ देता है औषध का नहीं? इसका उत्तर यह है कि इससे पूर्व प्रकरण अन्न वा ओषध का ही है।......"[25]

आचार्य रामदेवजी, गुरुकुल विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी भी 'उक्ष और ऋषभ काकड़सींगी नाम महौषधि का नाम लिखते हैं[26]।

पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्त जी शास्त्री 'राम' अपने वेदों और उपनिषदों में मांस भक्षण और अश्लीलता नहीं है शीर्षक लेख[27] में लिखते हैं—

"उदाहरण के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् के (६।४।१८ वें) मंत्र पर दृष्टिपात कीजिये। वहाँ सुयोग्य और विद्वान् पुत्र उत्पन्न करने के लिये दम्पती को औक्ष अथवा आर्षभ के साथ पकायी हुई खिचड़ी खाने का आदेश किया गया है। प्रायः मूंग या उड़द की दाल मिलाकर ही खिचड़ी बनती है। मूंग की खिचड़ी को 'मुद्गौदन' और उड़द मिश्रित खिचड़ी को 'माषौदन' कहते हैं। इस 'माषौदन' को संभवतः किन्हीं मांस प्रेमियों ने 'मांसौदन' कर दिया है। यदि किसी का यही आग्रह है कि वहाँ 'मांसौदन' ही पाठ है, तो भी उसका अर्थ वहाँ औषध या अन्न ही है। यह बात पहले के विवेचन के अनुसार माननी ही होगी। औक्ष या आर्षभ मिश्रित ओदन के लिये 'माषौदन या 'मांसौदन' नाम आया है यही भावना प्रकरण संगत है।

पं० दीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि, अपने 'बृहदारण्यक और वृषभ मांस भक्षण?' शीर्षक लेख[28] में लिखते हैं—

'......पहले एक वेद के वक्ता के लिये ओदन का दूध में दो वेदों के वक्ता के लिये ओदन का दही में, तीन वेदों के वक्ता के लिये ओदन का गङ्गा आदि के उदक में पकाना कहा है। यह तरल तथा परस्पर सम्बद्ध वस्तुएँ हैं। १७वीं कण्डिका में पुत्री की पण्डिततता बुद्धिमत्ता (सयानापन) के लिये तिल और तण्डुल का पकाना कहा है। वहाँ पर तिल धान्य विशेष है। तब १८ वीं कण्डिका में पुत्र को पण्डित (बुद्धिमान्, सयाना) बनाने के लिये मांस भला प्रकृत कैसे हो सकता है? पहले दूध, दही तथा जल परस्पर सम्बद्ध थे, पर यहाँ तिल के साथ मांस का क्या सम्बन्ध? मांस भी यहाँ साहचर्यानुसार कुछ धान्य ही होना चाहिये। 'औक्षेण, आर्षभेण' यह पद तृतीयान्त है, इनका विशेष्य मांस यहाँ बन भी नहीं सकता; क्योंकि यहाँ 'मांस' शब्द में तृतीया नहीं। विशेषण-विशेष्य की विभक्ति समान होने का नियम होता है, और उस विशेष्य का अन्य पद के साथ समास भी सम्भव नहीं।

अन्य यह भी विचारणीय है कि—"मांसौदनम्" यहां पर समाहार द्वन्द्व है। 'मांस' का 'मांस' अर्थ करने पर यह समाहार द्वन्द्व नहीं हो सकता। 'तिलौदनम्' में तो विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्' (पा० २।४।१२) इस सूत्र से 'व्रीहियवम्' की भांति दोनों के 'धान्य' होने से समाहार

---

२४. "धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषत्" प्रथम संस्करण, भूमिका, पृष्ठ १२।

२५. "वैदिक काल का इतिहास" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५५।

२६. "भारतवर्ष का इतिहास (वैदिक तथा आर्ष पर्व)" तृतीयावृत्ति, पृष्ठ १७८।

२७. मासिक पत्र "कल्याण" गोरखपुर का "उपनिषद् अङ्क" वर्ष २३ जनवरी १९४९ ई० संख्या १, पृष्ठ २२७।

२८. मासिक पत्रिका "वेदवाणी" काशी का "वेदाङ्क" वर्ष ७, नवम्बर + दिसम्बर १९५४ ई० अङ्क १, २, पृष्ठ १२४ से १२६ तक।

द्वन्द्व हुआ है, पर 'मांसौदनम्' में 'मांस' कोई धान्य नहीं, अतः वह समाहार द्वन्द्व नहीं हो सकता। पर यदि यहां 'मांस' कोई धान्यविशेष सिद्ध हो जावे, तो ठीक संगति लग जायगी।

वह संगति इस प्रकार है–'अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्......यथात्रलिष्टं मांसत्वाद् माषान्नमपि तत्समम्। सौगन्धिकं च स्वादिष्टं मधुरं द्रव्यभेदतः (प्रजापति स्मृति १५२–१५३) इस प्रमाण से 'मांस' का अर्थ 'माष' धान्य भी होता है। क्योंकि–'मांसल' पदार्थ भी 'अर्शआद्यच्' से 'मांस' शब्द से कहे जा सकते हैं। इसलिए स्वयं 'बृहदारण्यक' में दश ग्राम्य धान्यों की गणना करते हुए 'व्रीहियवाः' तिल-माषाः' (६।३।१३।) यहाँ तिल के बाद 'माष' लिया है। पूर्वोक्त समाहार द्वन्द्व की वैकल्पिकता के कारण यहाँ एक वचन न होकर इतरेतरयोग में बहुवचन हो गया। इस प्रकार प्रकृत स्थल 'मांसौदनम्' में भी समझ लेना चाहिए। तब यहाँ 'मांस' से 'माष का ग्रहण होने से सब सँगतियाँ लग जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि माष और ओदन घृताक्त पकाकर उन्हें उक्षा वा ऋषभक के स्वरस के साथ पति-पत्नी खावें; तो पूर्वोक्त गुणवाला लड़का उत्पन्न होगा। माष की खीर बड़ी पौष्टिक वा वाजीकरण होती है; तब उसका वर्णन यहाँ पुत्रोत्पत्त्यर्थ प्रकट भी है।

अब 'उक्षा' और 'ऋषभक' के अर्थ पर भी विचारना चाहिए। "औक्षेण 'वा' आर्षभेण वा" दो बार कहे हुए इस 'वा' शब्द से यह तो सिद्ध ही है कि—यह दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। 'बैल' अर्थ करने पर संगति नहीं लगती। आयुर्वेद (उपवेद) में उक्षा 'सोम' ओषधि का नाम है। श्री सायणाचार्य ने भी ऋग्वेद सं० १।१६४।४३ में लिखा है—

'सोम उक्षाऽभवत्'। ऋषभ 'ऋषभक' ओषधि का नाम है। ये दोनों ही औषधियाँ वाजीकरण होने से बल-वर्धन, वीर्योत्पादन, और मेधावी पुत्र के उत्पादन की शक्ति रखती हैं। सो उक्त घृताक्त माषौदन उक्त औषधियों में से एक के चाहे सोमलता के, वह न मिले तो ऋषभक के स्वरस के साथ देने से वैसा पुत्र हो सकता है–यह उक्त कण्डिका का अर्थ है। इस अर्थ में दुष्क्रम दोष भी नहीं रहता।

यदि यहाँ बैल के मांस से ही वेदवक्ता बालक की उत्पत्ति का अर्थ इष्ट होता तो उसके भक्षक मुसलमान वा ईसाई ही सर्ववेद वक्ता सिद्ध होते, भारतीय नहीं, परन्तु यह अनुभव से विरुद्ध भी है। अतः यह अर्थ सर्वथा नहीं।"

उपरोक्त आठ विद्वानों की साक्षियों के आधार पर कहा जा सकता है कि शर्मा जी का अनुसन्धान पूर्ण नहीं था। अतः बृहदारण्यक का वह स्थल आपत्तिजनक नहीं है।

पृष्ठ ५०४ में–छान्दोग्योपनिषद् २।१३।२ में आए "न कांचन परिहरेत्तद् व्रतम्।" पर आक्षेप करते हुए आप लिखते हैं:—

"........इसका भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि, '**न कांचन कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत्समागमार्थिनीम्**' अर्थात् समागम चाहने वाली जो अपनी शय्या पर आवे तो ऐसी किसी भी स्त्री को न छोड़े। अब भी कुछ बाकी रह गया। हम नहीं कह सकते कि, इसमें कौन सी खूबी है और ब्रह्मविद्या से इसका क्या सम्बन्ध है? क्या उपनिषदों में ऐसी बातें होनी चाहियें?..............."

समीक्षाः—शर्मा जी को स्वयं अर्थ करके देखना चाहिए कि वास्तव में अश्लीलता है या नहीं। यह श्री शंकराचार्य जी का ही भाष्य है इसमें क्या प्रमाण है? बहुत से विद्वान इसे श्री शंकराचार्य जी का भाष्य नहीं मानते। पं० देवदत्त शास्त्री लिखते हैं:—"किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह भाष्य शंकराचार्य के नाम से किसी और का है।"[२९]

इसका अर्थ है—"स्त्री-पुरुष के विवाह-धर्म को ध्यान में रखता हुआ किसी दूसरी स्त्री का परिहार न करे, **व्यभिचार न करे**—यह व्रत करले, निश्चय करले।"[३०]

यहाँ तो अर्थ है कि 'व्यभिचार न करे'..." और आप इस प्रकार का उदाहरण दें? 'उपनिषद्' केवल ला...

२९ "उपनिषद्-चिन्तन" प्रथम संस्करण, प्रयाग, पृष्ठ ११२।

३० प्रो० सत्यव्रत 'सिद्धान्तालङ्कार' कृत अर्थ "एकादशोपनिषत्" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२४।
तुलना करो—"मासिक कल्याण" का "उपनिषद्–अङ्क" वर्ष २३ जनवरी १९४९ संख्या १, पृष्ठ ४१७।

सन्यासियों के लिये ही नहीं हैं। वरन् चारों आश्रमों के लिये है। यदि कहीं दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी कोई उपदेश है, तो इससे उपनिषदें कलङ्कित नहीं समझी जायेंगी।

पृष्ठ ५०२ में—"···पर आसुर उपनिषद् के आचार्य प्रेयमार्गी थे। उनके पास बड़े बड़े मकान, वस्त्रालंकार रथादि यान, दास-दासी, खूबसूरत औरतें···पूरी भरमार थी।····उनके बड़े २ महल थे। छान्दो० ५।११।१ में उनको 'प्राचीनशालः औपमन्यवः। महाशाला महाश्रोत्रियः' लिखा है। इसी तरह मुण्डक १।१३ में 'शौनको ह वै महाशालो' लिखा हुआ है। इन वाक्यों में इनको बड़े २ महलवाले कहा गया है। उसके सिवा कठोपनिषद् १।२५ में नचिकेता को आचार्य कहता है कि, 'हे नचिकेता! तू मुझसे बड़े २ मकान, जमींदारी, जेवर, हाथी, घोड़े, पुत्र, पौत्र और सुन्दर स्त्रियाँ माँग ले, पर यह प्रश्न न कर। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि आसुर उपनिषद् के आचार्य बड़े ऐश्वर्यवान् थे और उनको चेलों से खूब धन मिलता था"···

समीक्षा—'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' मार्ग की उपनिषदों के शब्दों में 'प्रेय' और 'श्रेय' मार्ग कहते हैं। उपनिषदों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन ऋषि, मुनि सब संन्यासी ही नहीं थे वरन् उनके पास पत्नियाँ और महल आदि थे। राजा जनक ज्ञानी होते हुए भी गृहस्थ थे। याज्ञवल्क्य ऋषि बड़े भारी ज्ञानी होते हुए भी पत्नी वाले थे। ब्रह्मज्ञान पर गार्गी से इनका शास्त्रार्थ हुआ था। वेदों के पढ़ने से स्पष्ट प्रकट होता है कि वैदिक संस्कृति में आर्यों के पास ऊँचे २ महलों की चर्चा है। आर्यलोग भिखमंगे नहीं थे कि उनके पास महल न हों।

अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ३ में शाला, महाभवन का सुन्दर वर्णन है जिससे स्पष्ट है कि शाला के सम्बन्ध में वैदिक भावना बड़ी उन्नत और विकसित थी।

**"ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥**

[अथर्व० ९ । ३ । १९]

ज्ञानपूर्वक निर्माण की हुई और बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा नापी और बनाई गई शाला को वायु और अग्नि दोनों जीवन की वृद्धि करने वाले पदार्थ सुखदायी घर बनाए रक्खें।

"या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते। अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये।"

[अथर्व० ९ । ३ । २१]

मातृत्व सामर्थ्य का पालन करने वाली स्त्री में गर्भरूप जीव जिस प्रकार शयन करता है, उसी प्रकार मैं गृहपति आठ और दश प्रकोष्ठों वाली शाला के बीच में रहूँ। जो शाला दो प्रकोष्ठवाली; चार कोठों वाली और जो छः कोठरियों वाली भी बनाई जाती है।

"प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः।"

[अथर्व० ९ । ३ । २५ ।]

शाला के भीतर प्रवेश करके गृहपति प्रत्येक दिशा से परमात्मा और देवों की अर्चना किया करे।

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल ७. के ५४ वें सूक्त में भी चर्चा है। ऋ० २ । ४१ । ५ और ५ । ६२ । ६ में लौह-स्तम्भों पर बने आसमान में देदीप्यमान स्वर्णमण्डित गृहों का वर्णन मिलता है।

क्या वेदों में वर्णित इन शालों को असुरों के लिए कहा गया है? पता नहीं शर्मा जी ने किस प्रकार महाशाला वालों को असुराचार्य लिख मारा।

यमाचार्य जी ने जो प्रलोभन नचिकेता को दिये थे, उस पर शर्मा जी यमाचार्यजी को असुरों का आचार्य कहते हैं। जो उनका भ्रम है। इसका भ्रमोच्छेदन आर्यजगत् के प्रसिद्ध संन्यासी महात्मा नारायण स्वामीजी यों करते हैं:—

"(योगदर्शन २ । ३६) योगदर्शन में कहा गया है कि जो मनुष्य सत्य की सिद्धि कर लेता है, तो उसकी वाणी में अमोघता आ जाती है अर्थात् ऐसी सिद्धि प्राप्त होगी जो कुछ भी कह देता है वह सत्य हो जाता है। संभव है कि यम को ऐसी ही सिद्धि प्राप्त हो।......यम को ब्रह्म-विद्या का हृदय खोलकर नचिकेता के सम्मुख रखना था, इसलिए ऐसा करने से पूर्व उसने नचिकेता की परीक्षा ले लेनी आवश्यक समझी और इसीलिए उसने उसे तरह तरह के प्रलोभन दिए।"[३१]

"यमराज शिष्य पर स्वाभाविक ही दया करने वाले महान् अनुभवी आचार्य हैं। इन्हों ने अधिकारी-परीक्षा

३१ "कठोपनिषद्" सप्तम संस्करण, पृष्ठ २१–२२।

के साथ ही इस प्रकार भय और एक के बाद एक उत्तम भोगों का प्रलोभन दिखाकर, जैसे खंभे को हिलाकर दृढ़ किया जाता है, वैसे ही नचिकेता के वैराग्य सम्पन्न निश्चय को और भी दृढ़ किया।[३२]

पृष्ठ ५७०—(प्रक्षेप और पुनरुक्ति का वर्णन करते हुए):—...“बालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मण भाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महानाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्ताप सूक्त अथर्ववेद में मिले हुए हैं। इनको सब लोग जानते हैं और सबके विषय में विस्तृत प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थल यजुर्वेद और अथर्ववेद में और हैं, जिनकी सूचना उन्हीं वाक्यों से हो जाती है कि वे प्रक्षिप्त हैं।”...

समीक्षा—यदि वेदों में प्रक्षेप माना जायगा तो पुनः वे ईश्वरीय ज्ञान कैसे हो सकते हैं। यदि वैदिक सिद्धान्त से वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो उनमें किसी भी प्रकार का प्रक्षेप मानना उचित नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में प्रक्षेप नहीं मानते हैं।

“प्रो० मैक्समूलर कहते हैं:—“The texts of the Veda have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word, or even an uncertain accent in the whole of the Rigveda”,[३३]।

कैगी साहब लिखते हैं:—“.. वेदों के पाठ में किञ्चित् भेद नहीं आया। अतः ऐसी सावधानी से उनकी रक्षा की गई है कि अन्य देशों के साहित्यों के इतिहास में उसकी उपमा नहीं मिलती।”[३४]

ऋग्वेद का बालखिल्यसूक्त प्रक्षिप्त नहीं है। मैंने इस पर पूर्ण रूप से विवेचन अपनी पुस्तक “ऋग्वेद के १० म मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात” में किया है।[३५]

चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा ‘विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ’ का सिद्धान्त है:—“बालखिल्य सूक्तों का पीछे से प्रविष्ट हो जाना यह भी युक्ति ठीक नहीं। भिन्न २ शाखा में बालखिल्य का होना और न होना है। परन्तु बालखिल्य सूक्त को ऋग्वेद का अंश सभी मानते हैं। यज्ञकर्म में उन सूक्तों का भी विनियोग अन्य सूक्तों के समान ऋषियों ने किया है। आश्वलायन और शांखायन दोनों ही श्रौत सूत्रों में उसका यथास्थान प्रयोग है।”[३६]

पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० लिखते हैं:—“यथा शाकलों में कई बालखिल्य सूक्त नहीं हैं, परन्तु वाष्कलों में ये मिलते हैं। मूल ऋग्वेद में ये सारे समाविष्ट हैं।”[३७]

पुनः—“आठवें मंडल के ११ सूक्तों में आए हुए ८० बालखिल्य मंत्र भी सम्मिलित हैं। ये ऋग्वेद के अंग हैं। हाँ, कई शाखाओं में ये नहीं पाए जाते।”[३८]

श्री विन्टरनिज नामक पाश्चात्य विद्वान् लिखते हैं:—“The eleven Balkhilya hymns...in all manuscripts are found at the end of the book VIII.”

अर्थात्—ये ११ सूक्त बालखिल्य के सभी हस्तलिखित कापियों में पाए जाते हैं।[३९]

यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं जिनका उव्वट, महीधर, महर्षि दयानन्द जी ने भाष्य किया है, पर किसी ने भी खिल (ब्राह्मण भाग) नहीं बतलाया है।

---

३२ ‘कल्याण’ का ‘उपनिषद् अङ्क’ वर्ष २३, जनवरी १९४९, संख्या १, पृष्ठ १९४।

३३ “Origin of Religion, PP, 131. प्रो० बालकृष्णजी एम० ए० कृत ‘ईश्वरीय ज्ञानवेद’ प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २४७ से उद्धृत।

३४ ‘ईश्वरीयज्ञान वेद’ प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २४९।

३५ प्रथम संस्करण पृष्ठ १४ से १८ तक।

३६ ‘ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य’ प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, भूमिका पृष्ठ ८–९।

३७ ‘वैदिक वाङ्मय का इतिहास’ प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७६।

३८ वही पृ० १२५।

३९ “A History of Indian literature” P.P. 60. तुलना करो महात्मानारायण स्वामी जी कृत ‘वेद रहस्य’ प्रथम संस्करण, पृ० ६२।

अध्याय १, २ दर्शपौर्णमास यज्ञ, ३ दैनिक तथा चातुर्मास यज्ञ, चौथे से आठवें तक सोमयज्ञ, नवाँ तथा दशवाँ अध्याय वाजपेय राजसूय यज्ञाङ्ग मंत्र समूह, ११ से १८ तक वेदी की तैयारी प्रभृति, १९ से २१ तक सौत्रामणि यज्ञ, २२ से २५ तक अश्वमेधयज्ञ २६ से २९ तक प्रारम्भिक यज्ञ सम्बन्धी नियम, ३० से ३९ तक पुरुषमेध, पितृमेध, सर्वमेध, प्रवर्ग्य के नियम और विधि, ४० ब्रह्मविद्या (ज्ञान काण्ड) हैं।

महीधर तथा उव्वट ने यजुर्वेद का भाष्य करते हुए २५ अध्याय तक, जहां तक किसी न किसी यज्ञ का विधान है, मूल और शेष अध्याय जिनमें उन यज्ञों से सम्बन्धित अन्य बातें तथा यज्ञेतर शिक्षाएँ हैं, उन्हें खिल अर्थात् मूल २५ अध्याय का स्पष्टीकरण किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि ये अध्याय प्रक्षेप हैं।

'सामवेद' के सम्बन्ध में मैंने अपनी पुस्तक "सामवेद का स्वरूप" में पूर्णरूप से सविस्तार वर्णन किया है। उसमें मैंने प्रबल पुष्ट प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि सामवेद में १८७५ मन्त्र हैं।

शर्मा जी ने महानाम्नी ऋचाओं के विषय में ऐतरेय ब्रा० २२।२ का प्रमाण दिया है, कि इनको प्रजापति ने वेद की सीमा के बाहर बनाया है। इसका उत्तर यों है—'ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि ये ऋचायें परिशिष्ट हैं। इस वाक्य में इन ऋचाओं को प्रजापति की रचना कहा गया है। पुनः इनके मिलावटी होने का प्रश्न कैसा? ये ऋचाए सामवेद की हैं तो इससे स्पष्ट है कि इन्हें ऋग्वेद की सीमा से बाहर तो होना चाहिए था।

आरण्यक भाग के लिए शर्मा जी ने लिखा है कि... परिशिष्ट ही है। छठे प्रपाठक में जहां यह आरण्यक खण्ड जुड़ा हुआ है, इसमें तीन विभाग छपे हुए हैं। यह तीसरा विभाग ही आरण्यक है। इसको सायणाचार्य ने भी परिशिष्ट ही कहा है और क्रम के देखने से भी परिशिष्ट ही ज्ञात होता हैं, इसलिए इनके खिल होने में सन्देह नहीं हैं।"

परन्तु शर्माजी का यह भ्रममात्र है। छठे प्रपाठक के तीसरे भाग (आरण्यक) को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें ५५ मंत्र हैं, जिनमें ४२ मन्त्र ऋग्वेद में भी आए हैं और ११ मन्त्र सामवेद के ही ऐसे स्थानों—उत्तरार्चिक आदि में आए हैं, जिन्हें कोई परिशिष्ट नहीं कहता। अतः इन समस्त आरण्यक मन्त्रों को परिशिष्ट कहना भ्रम है।

अथर्ववेद के २० वें काण्ड के सूक्त १२७ से १३६ तक, कुन्ताप सूक्त कहलाते हैं। शर्माजी इनको प्रक्षेप मानते हैं, परन्तु पं० शङ्कर पाण्डुरंग, श्री रॉथ, श्री ह्विटनी, श्री सेवकलाल, पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार प्रभृति कुन्ताप सूक्त मानते हैं। आप स्वामी हरि प्रसाद के लेखों को पढ़कर भ्रम में पड़ गए हैं। अथर्ववेद संहिता की कुल मंत्र संख्या ५९७७ है। आप ५८३० मानते हैं जो भ्रममात्र है। आप कुन्ताप सूक्त के १४७ मंत्र को प्रक्षेप मानते हैं अन्यथा ५९७७ मन्त्र ठीक हैं।

पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी भी कुल ५९७७ मन्त्र मानते हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'अथर्ववेद की प्राचीनता' में अथर्ववेद पर उठने वाली अन्य शंकाओं पर पूर्ण विचार किया है।

अतः इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शर्माजी का वेदों में प्रक्षेप मानना अनुचित है और उनको यह भ्रम स्वामी हरिप्रसाद जी के 'वेद सर्वस्व' पुस्तक पढ़ने से हुआ है। स्वामी जी उदासीन सम्प्रदाय के थे और अपनी एक निराली बात ही कहते थे। वेदों के विषय में आपके विचार त्याज्य हैं।

पृष्ठ ५८३:-(महर्षि दयानन्द जी के भाष्य पर आक्षेप करते हुए)—'वेदभाष्य करने का सबसे प्रथम आरम्भ रावण ने किया। उसे वेदों का अर्थ और भाव पलटना था, इसलिए उसे ऐसा करना पड़ा। तभी से भाष्य करने का रिवाज हो गया। सायणाचार्य, उवट, महीधर और स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा योरप के अनेक विद्वानों ने वेदों का भाष्य कर डाला है। किन्तु वेद का पठन-पाठन करनेवालों को अब तक इन भाष्यों से तसल्ली नहीं हुई।'

समीक्षा—शर्माजी का यह लिखना कि सर्वप्रथम आरम्भ वेदभाष्य का रावण ने किया, ठीक नहीं है। पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० ने अपनी पुस्तक "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" भाग प्रथम, खण्ड द्वितीय में सभी वेदभाष्यकारों का वर्णन किया है जिसमें उन्होंने 'स्कन्द स्वामी को सबसे प्राचीन भाष्यकार माना है।' मैंने अपनी पुस्तक 'महर्षि दयानन्द जी कृत वेदभाष्यानुशीलन" में उनके भाष्यों की तुलना अन्य भाष्यकारों से की है। उनके भाष्य की प्रशंसा मैक्समूलर तक ने भी की है। शर्माजी ने स्वयं महर्षि जी के वेदभाष्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है:—"···सायणाचार्य ने प्रायः याज्ञिक अर्थ का अनुकरण किया है और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बुद्धि तर्क और धातुज अर्थ का ध्यान रक्खा है। स्वामी दयानन्द का हेतु बड़ा पवित्र है। (पृष्ठ ५८४)।

पुनः पृष्ठ ५८५ में "स्वामी दयानन्द ने बड़े ही पवित्र उद्देश्य से भाष्य किया है। इसलिये उनकी शैली में सायणाचार्य की केवल याज्ञिक शैली मिला देने में ही कुछ प्रचारयोग्य पद्धतियां तैयार हो सकती हैं।

जब तक स्वामी दयानन्द ने बुद्धि, तर्क और धातु के
सहारे अर्थ नहीं किया था, तब तक लोग वेदों से अनेक
ऊल जलूल बात निकाला करते थे, किन्तु उनके आर्षप्र-
प्रणाली से अर्थ करते ही वेदों का उज्ज्वल रूप सामने आ
गया और वेदों का अन्तरंग प्रकाशित हो उठा तथा हमारे
सामने अर्वाचीन मध्यमकालीन और प्राचीन वेदार्थों का
नमूना उपस्थित हो गया।" अतः आपने स्वयं अपनी
बातों का खण्डन कर दिया।

पृष्ठ ७४१—"प्राचीन काल में जिस प्रकार ब्राह्मण,
क्षत्री और वैश्य की पहिचान के लिए सूत, सन् और ऊनका
यज्ञोपवीत पहिना जाता था।......इन चारों में से तीन
द्विज थे, जो यज्ञोपवीत की भिन्नता से पहचाने जाते थे,
किन्तु शूद्र आर्य होते हुए भी यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे।...

समीक्षा—सूत, सन, और ऊन के यज्ञोपवीत की
कल्पना पौराणिक है और इस समय भी कोई सन, ऊन
का यज्ञोपवीत धारण नहीं करता है। शूद्र को द्विज नहीं
मानना भी पौराणिक कल्पना है। 'जब शूद्र वेदाधिकारी
है तब बिना यज्ञोपवीत धारण किए वह वेदमंत्रों का उच्चारण
कैसे कर सकता है? महर्षि दयानन्द जी ने भी 'सत्यार्थ
प्रकाश' तृतीय समुल्लास में शूद्रों का वेदाधिकार माना है।
उन्होंने यजु० २६।२ के भाष्य में भी शूद्रों के लिए वेद का
अधिकार बतलाया है।

छान्दोग्योपनिषद् ४।१।२ में जानश्रुति शूद्र को रैक्व
मुनि ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। ऐतरेय ऋषि
इतरा दासी के पुत्र थे जिन्होंने 'ऐतरेय ब्राह्मण' लिखा था।

शूद्रों के लिए यज्ञोपवीत का प्रमाण—

"शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्॥"

[पारस्कर गृहसूत्र २।१]

हरिहरभाष्य में लिखा है कि शूद्र दुष्ट कर्म करने वाले
न हों, उनका उपनयन संस्कार करना चाहिए।

पं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर लिखते हैं—
"...शूद्रों को उपनयन का अधिकार प्राप्त होता था।"[४०]...

पं० विश्वनाथ शास्त्री, वेदतीर्थ लिखते हैं।—"...
इन्हें उपवीत दे दिए जाते थे।"[४१]

पं० प्रियरत्न जी आर्ष (पूज्यस्वामी ब्रह्ममुनि जी)
लिखते हैं:—"प्राचीन सूत्रग्रन्थों में तो शूद्रों तक का भी
उपनयन संस्कार करना लिखा है।"[४२]......

**राज्यरत्न मा० आत्माराम जी अमृतसरी का मत
है:**—......शूद्र बालक भी प्रवेश समय यज्ञोपवीत धारण
कर जाते हैं।"[४३]......

अतः शर्मा जी का यह भी सिद्धान्त उचित नहीं।

पृष्ठ ७४३—"आर्य सभ्यता में धातु के आभूषणों के
लिए स्थान नहीं है। क्योंकि वैदिक आर्य सुगन्धित फूलों
के ही आभूषण पहनते थे और सोने चाँदी के आभूषण
नहीं पहनते थे। वे सोने चाँदी के आभूषण तो पशुओं
(गायों) को पहिनाते थे। इतना होने पर भी वे सुवर्ण के
गुणों को खूब जानते थे, इसलिए यद्यपि सुवर्ण के आभूषण
नहीं पहनते थे, पर सुवर्ण को शरीर के किसी न किसी
भाग में लगा हुआ अवश्य रखते थे।......"

समीक्षा—आपका यह भी विचार कल्पित है। आर्य
लोग सोने चाँदी के आभूषण पहनते थे, इसकी चर्चा
वेदों में है।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी एम० ए०, पी० एच० डी०,
डी० लिट्० अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "Hindu Civiliza-
tion" में लिखते हैं:—

स्त्री और पुरुष दोनों ही सोने के आभूषण पहनते थे।
जैसे कानों में कर्ण शोभन (८।७८।३), गले में निष्कग्रीव
(२।३३।१०), हाथों में कड़े और पैरों में खडुवे (खादि,
१।१६६।९; ५।५४।११ पत्सुखादयो) और छाती पर
सुनहले पदक (वक्षः सुरुक्मा)। गले में मणियाँ भी पहनी
जाती थीं (मणिग्रीव १। १२२। १४)।"[४४]

आभूषण धारण करने के और भी प्रमाण हैं।

इस प्रकार इस विशाल ग्रन्थ का अनुशीलन करने से
इसमें १२ स्थल आपत्ति जनक और वैदिक सिद्धान्त के
सर्वथा ही विपरीत हैं। यदि शर्मा जी जीवित होते तो मेरे
लेख को पढ़कर अवश्य ही अपने विचारों में परिवर्तन
लाते। अब तो इनके ग्रन्थ में परिवर्तन करने का अधिकार
किसी को नहीं है।

आशा है आर्य जगत् के विद्वान् भी इन स्थलों पर
ध्यान देगें।

[विद्वानों के विचारार्थ यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है। यत: इन स्थलों पर या अन्य जो भी विचारणीय स्थल उक्त पुस्तक में हों, उनपर विचार किया जा सके—
सम्पादक]

४० "छूत और अछूत" पूर्वार्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५४। ४१ "यज्ञोपवीत मीमांसा" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१।
४२ "जीवन-पथ" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०। ४३ "संस्कार-चन्द्रिका" तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७५९ (ख)।
४४ श्री वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए० कृत अनुवाद "हिन्दू सभ्यता" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८०।

विद्वानों के विचारार्थ—

अपौरुषेयवाद

[ले० —श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार]

[विद्वान् लेखक के ये निजी विचार हैं, सिद्धान्तोत्तर नहीं। विद्वान् इस पर लिखें—सम्पादक]

गताङ्क में हमने यह देखा कि जिस आधार को लेकर ऐतिहासिक विद्वान् वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं, उसी आधार को लेकर अपौरुषेयवादी विद्वान् उसका खण्डन नहीं कर सकते और न ही वेदों को अपौरुषेय सिद्ध कर सकते हैं। यदि किसी प्रकार खण्डन कर भी दें तो भी वेदों को छन्दोबद्ध-मन्त्ररचनासहित पूर्णरूप में अपौरुषेय सिद्ध कर सकना अति दुष्कर है। क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, यह स्थापना ही अलौकिक है। अलौकिक स्थापना की पुष्टि के लिये अलौकिक साधन ही अपेक्षित हुआ करते हैं। अतः केवलमात्र बौद्धिक स्तर पर खड़े होकर हम इसकी पुष्टि कर सकें, यह असम्भव है। और यदि हम ऋषि मुनि प्रणीत ब्राह्मण वचनों, न्याय मीमांसा आदि दर्शनों तथा सायण, स्कन्द आदि भाष्कारों के प्रमाणों की झड़ी भी लगा दें तो भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों के समक्ष निस्संकोच भाव से यह नहीं कहा जा सकता कि वेद अपौरुषेय हैं। क्योंकि प्राचीन प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही कथन किया जा सकता है कि पुराकाल में ऋषि मुनि वेदों को अपौरुषेय मानते थे। इससे यह समझ बैठना कि वेद अपौरुषेय सिद्ध हो गये, यह महान् भूल व भ्रान्ति होगी।

तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि वेदों को अपौरुषेय कैसे सिद्ध किया जाये? हमारे विचार में इस का असली समाधान अनुभूति व साक्षात्कार में है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने भी इस अलौकिक स्थापना को केवल बौद्धिक स्तर तक ही सीमित नहीं रखा था, अपितु योगसाधन द्वारा इस तथ्य को प्रत्यक्ष भी किया था। उस समय वेदों के पठन-पाठन की प्रणाली आधुनिक प्रणाली से अत्यन्त भिन्न थी। वह वेदों के साक्षात्कार पर आश्रित थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों की भी प्रच्छन्न रूप में आज यही मांग है। क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में जो भी सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं, उन्हें प्रायः प्रत्यक्ष कराया जाता है। इस लिये वेद के सम्बन्ध में भी जो कथन किये जायें, उन्हें प्रत्यक्ष की कसौटी पर कसा जाना चाहिये। यदि यह नहीं है तो वेदों का अपौरुषेयत्व श्रद्धालु व्यक्तियों के लिये केवल श्रद्धा और विश्वास का विषय रह जाता है। परन्तु हमारे विचार में यह केवल श्रद्धा और विश्वास का विषय नहीं है। जब कि पुराकाल में साक्षात्कर्ता ऋषि हो चुके हैं तो यह केवल बौद्धिक तर्क का ही विषय नहीं रह जाता। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि 'योगी महर्षि लोग जब जब जिस जिस के अर्थ के जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुए तब तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये'। स्वामी दयानन्द का उपर्युक्त कथन निम्न मन्त्र का ही एक स्वानुभूत उद्गार है। मन्त्र में कहा है कि[1] ध्यान करते हुए पुरातन विप्र ऋषि उस मन्द्रजिह्व भगवान् को अपने सामने ले आते हैं।

आधुनिक काल के महान् योगी श्री अरविन्द ने लिखा है कि 'वेद के वचन उनके सत्य अर्थों में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं, जो कि स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हो, अन्यों के प्रति मन्त्र अपने गुह्य ज्ञान को नहीं खोलते।'

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि केवल तर्क, व्याकरण व यौगिकवाद के आधार पर वेदों के गुह्य वचनों (निण्या वचांसि) को पूर्णरूप से समझना व हृदयंगम कर सकना असम्भव है। कोई विरला रहस्यवेत्ता योगी व ऋषि ही मन्त्रनिहित गूढ़ रहस्यों की वास्तविक गहराई को जान सकता है। प्राचीनकाल में जो जितना अधिक ब्रह्मिष्ठ अर्थात् भूयोविद्य होता था, वह उतना ही अधिक मान्य होता था। वेदान्तर्गत गुह्य रहस्यों के निर्णय में वह भूयोविद्य ऋषि ही अन्तिम प्रमाण माना जाता था। तर्क व युक्ति का वहां कोई स्थान नहीं था। तर्क तो मनुष्य को उस समय मिला जब ऋषि इस पृथिवी पर से उत्क्रमण कर गये। इससे यह स्पष्ट है कि ऋषियुग में वेद के लिए तर्क का कोई स्थान नहीं था। इस सम्बन्ध में उपनिषदादि प्राचीन आर्ष शास्त्रों के संवाद देखे जा सकते हैं। वहां एक बार एक भूमिका

१ तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्। ऋ० ४।५०।१॥

का प्रश्न तो किया गया है, फिर उसी भूमिका में रहते हुए उत्तर प्रत्युत्तर, कांट छांट, शुष्क विवाद आदि कुछ नहीं है। अन्तिम भूमिका के सम्बन्ध में 'अतिप्रश्न' (मातिप्राक्षीः) नहीं हुआ करता था। परन्तु तर्कमें 'अतिप्रश्न' का समावेश होना स्वाभाविक है। क्योंकि तर्क का वहीं स्थान है, जहां साक्षात् दर्शन नहीं है इस लिये वेदों के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिए असली साधन तो ऋषि बनना है। परन्तु जब तक ऋषित्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य को तर्क व प्रमाण आदि का सहारा लेना ही पड़ता है। अतः बौद्धिक स्तर पर आरूढ़ होकर हम अपौरुषेयवाद के मण्डन व परिपोषण का प्रयत्न करते हैं।

अपौरुषेयत्व के प्रतिपादन व उसकी पुष्टि के लिये कई साधन हो सकते हैं, जिनमें कुछ ये हैं।

१. वेद की अन्तः साक्षी
२. आर्ष परम्परा
३. प्रतिपक्षियों की युक्तियों का निराकरण

वेदों की अन्तःसाक्षी

वेदों की अन्तः साक्षी क्या कहती है, इस सम्बन्ध में हम एक अन्य ही दृष्टि से पूर्व में भी कुछ लिख चुके हैं। अर्थात् वेद में दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं। एक वे जो कि वेदों को भगवान् से उच्छ्वसित मानते हैं और दूसरे वे जिनसे यह आभास मिलता है कि वेद ऋषिकृत हैं। हमारे विचार में यह एक प्रकार का विरोधाभास है। इस विरोधाभास को अर्द्धपौरुषेय पक्ष ने अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। यह हम पूर्व में अर्द्धपौरुषेय पक्ष पर विचार करते हुए दर्शा चुके हैं। अब विचारणीय यह है कि अपौरुषेयवादी विद्वान् इस विरोधाभास को किस प्रकार दूर करते हैं?

इस सम्बन्ध में अपौरुषेय पक्ष को सब से पूर्व कई समस्याओं को सुलझाना होगा। जिन में कुछ ये हैं:—

(क) पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि
(ख) पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति
(ग) मन्त्रकर्ता और मन्त्रद्रष्टा में अविरोध
(घ) तक्षण का भाव
(ङ) भाषाविज्ञान के आधार पर वैदिक भाषा में क्रमिक विकास व परिवर्तन का निराकरण।

उदाहरणार्थ ये कुछ समस्याएँ हमने ऊपर प्रदर्शित कीं। इसी प्रकार और भी कई समस्याएँ हो सकती हैं। परन्तु हम यहाँ इन्हीं पर क्रमशः अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि

मन्त्रों में पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि शब्दों के आने से ऐतिहासिकों द्वारा जो यह सिद्ध किया जाता है कि मन्त्रों का निर्माण कई विभिन्न कालों में हुआ है, यह ठीक नहीं। पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि शब्द प्रत्येक सृष्टि काल में युगों व सामान्य काल के स्वाभाविक पौर्वापर्य्य को सूचित करते हैं। इस भाँति जो ऋषि पहले पैदा हुए वे पूर्व ऋषि हैं और जो बाद में पैदा हुए वे नूतन ऋषि हैं। परन्तु वेद का पूर्व ऋषि शब्द हमें परिभाषिक शब्द प्रतीत होता है। यह पूर्व ऋषि सृष्टि के आदि युग में होने वाले ऋषियों का वाचक है। इस सम्बन्ध में हम पूर्वऋषि नाम से पृथक् रूप में आगे विचार करेंगे। सृष्टि के प्रारम्भिक युग सत्ययुग में सृष्टि कल्प के सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति पैदा होते हैं, जो कि आगामी युगों के ऋषियों व साधारण जनों के लिये अनुकरणीय होते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक युग के ऋषि पूर्व ऋषि और उत्तरवर्ती युग व काल के ऋषि नूतन ऋषि कहलाते हैं। यह परम्परा सभी कल्पों में ऐसी ही रहती है (यथापूर्वमकल्पयत्)। इस से हम यह कह सकते हैं कि पूर्व और नूतन शब्दों से सृष्टिप्रवाह के स्वाभाविक पौर्वापर्य का वर्णन हुआ है। दूसरे[1] युग कल्पना का बीज भी वेदों में विद्यमान है। सृष्टि के आदि में होने वाले मनु महाराज व अन्य पुरातन ऋषियों से लेकर आधुनिक समय तक सभी विद्वान वेदों में युगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। सृष्टि का पूर्वयुग देवयुग होता है और उत्तरवर्ती युग मानुष युग नाम से कहा जाता है। देवयुग और मानुषयुग शब्दों से ही यह ध्वनित हो रहा है कि पूर्वयुग उत्तरवर्ती युग से श्रेष्ठ होता है। वेदोत्तर साहित्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म भी है कि कोई भी भौतिक वस्तु प्रारम्भ में स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल व शक्तिसम्पन्न होती है। फिर शनैः २ उसका ह्रास होता जाता है। यह प्राकृतिक नियम है। यह नियम उसी प्रकार चेतन प्राणियों पर भी लागू होता है। पृथिवी पर पूर्वयुग में उत्पन्न देव और ऋषि

१. ऋ० १।११५।२ (युगानि) वर्षाणि, कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञानि वा (दयानन्द)। उत्तरे युगे, पूर्वे युगे, ...नां पूर्वे युगे। ऋ० १०।७२।१, २, ८ तद् युगे मानुषेमा युगानि। ऋ० १।१०३।४॥

उत्तरवर्ती युगों के ऋषियों व मनुष्यों से सदा श्रेष्ठ व उन्नत होंगे। इसी कारण वेदों में जहां भी पूर्व ऋषि का वर्णन आया है, उसे उत्तरवर्ती ऋषियों से उत्कृष्ट, आदर्श व अनुकरणीय रूपों में चित्रित किया गया है। अतः वेदों में पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि का वर्णन मन्त्र-निर्माण के विभिन्न कालों को सूचित करने वाला नहीं है, अपितु सृष्टि कल्प के युगों व सामान्यकाल की स्वाभाविक पूर्वापरता को सूचित करने वाला है।

पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति

पूर्व में ऐतिहासिक पक्ष पर लिखते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि संहितान्तर्गत मन्त्रों में ही नयी स्तुति व नवीन मन्त्र-रचना का विधान मिलता है। अपौरुषेय पक्ष में इस समस्या का हल यह हो सकता है कि उस आदिगुरु भगवान् ने मानव ऋषियों को वेद रूप में अपना अमरकाव्य सुनाकर उन्हें भी आवश्यकतानुसार नवीन मन्त्ररचना करने की प्रेरणा की। मानवप्रकृति भी कुछ २ इस प्रकार की है कि वह सदा नवीनता चाहती है। वह भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तु में स्वयं परिवर्तन कर देती है या नयी वस्तु घढ़ लेती है। दूसरा हल यह है कि जिस समय एक भक्त अटूट भक्ति के प्रवाह में होता है तो उसके मुख से हठात् भक्ति के नये २ स्तोत्र निकल पड़ते हैं। मध्यकाल में भक्तियुग के सन्त कबीर, सन्त तुलसीदास व सन्त सूरदास आदि इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी मानवसुलभ प्रकृति का निदर्शन वेद-मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्ररचना के रूप में मिलता है। इस में स्तुति की भाषा भक्त की अपनी बोल चाल की भाषा ही होती है। वैदिक युग में वैदिक भाषा व संस्कृत बोलचाल की भाषा रही है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अटूट व अव्यभिचारी भक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि भक्त विद्वान् ही हो। भक्ति की घनता व तीव्रता में भगवत्कृपा से मनुष्य में वह अद्भुत शक्ति व योग्यता प्रादुर्भूत हो जाती है कि मनुष्य में नयी स्तुतियों का प्रवाह उमड़ पड़ता है। इस प्रकार अपौरुषेयवादी यह कह सकते हैं कि मन्त्रों में नवीन स्तुतियों के निर्माण का जो विधान है वह इसी प्रकार की स्तुतियों के निर्माण का है। दूसरा कारण यह भी है कि ज्यों २ सृष्टि अपने प्रारम्भिक सरल व सहज रूप का परित्याग कर पेचीदा व जटिल रूप को धारण करती गई त्यों २ मानव-मन भी जटिल बनता गया। वह भगवान् की सरल सृष्टि से सन्तुष्ट न रहा। उसने जटिल सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ किया। जिस प्रकार आम आदि फलों में मनुष्य ने नयी २ कलमें लगाकर नानाप्रकार की फलों की किस्मों का निर्माण कर लिया है। पशु पक्षियों में नाना प्रकार के परिवर्त्तन कर लिये हैं।

इसी प्रकार संहितान्तर्गत मन्त्रों को लेकर व इन मन्त्रों के आधार पर उसने नवीन मन्त्र-निर्माण कर लिये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जहाँ सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञयागादि सरल विधि विधानों से युक्त थे, वहाँ युगपरिवर्तन के साथ साथ मानवप्रकृति में भी जटिलता आती गई और प्रकृति की जटिलता के साथ साथ यज्ञयाग भी दुरूह व जटिल बनते गये। जब किसी नवीन विधि के लिये संहिताओं में तदनुकूल मन्त्र उपलब्ध न हुआ तो उन्होंने नया मन्त्र-निर्माण कर लिया। इस प्रकार परिवर्तित परिस्थिति में मन्त्रों में भी परिवर्तन व नये नये मन्त्रों की उत्पत्ति होती रही है। इस प्रकार इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों का दिग्दर्शन संहिताओं में स्तुति यज्ञयाग आदि के लिये नवीन मंत्ररचना की आज्ञा देकर किया है। इसलिये मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्ररचना की आज्ञा होना इस बात का विरोधी व खण्डन करने वाला नहीं है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदि गुरु भगवान् द्वारा वेद के रूप में अमरकाव्य दिया गया था।

मन्त्रकर्तृत्व और द्रष्टृत्व में समन्वय

ऐतिहासिक विद्वानों का यह कहना है कि मन्त्रकर्तृत्व और मन्त्रद्रष्टृत्व में कोई विरोध नहीं है, अर्थात् एक ही ऋषि मन्त्रकर्ता भी हो सकता है और मन्त्रद्रष्टा भी। एक प्रतिभा-सम्पन्न उदीयमान व होनहार नवयुवक कवि पुरातन कवियों की कृतियों का सम्यक् दर्शन व आलोचन करके अथवा प्रकृति-छटा को निहार कर व प्राकृतिक घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके ही नवीन कविता-निर्माण में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार उसके साथ कर्ता व द्रष्टा दोनों भाव जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार नूतन ऋषि भी प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्मित मन्त्रों का सम्यक् अध्ययन कर नवीन मन्त्रनिर्माण में जुटता है, अथवा प्रकृतिघटित घटनाओं का सूक्ष्मावलोकन कर उन्हें मन्त्रों द्वारा मूर्तरूप देता है तो इसमें आश्चर्यकरी व असम्भव बात ही क्या है। यह तो एक सहज सुलभ स्वभाव का दिग्दर्शन है। एक सर्वत्र स्वतःस्थित प्रकृति-नियम का प्रदर्शन मात्र है। ऐतिहासिकों का यह कहना है कि ऐसा मानने पर ही वेद के उन सन्दर्भों की सुन्दर

का प्रश्न तो किया गया है, फिर उसी भूमिका में रहते हुए उत्तर प्रत्युत्तर, कांट छांट, शुष्क विवाद आदि कुछ नहीं है। अन्तिम भूमिका के सम्बन्ध में 'अतिप्रश्न' (मातिप्राक्षीः) नहीं हुआ करता था। परन्तु तर्कमें 'अतिप्रश्न' का समावेश होना स्वाभाविक है। क्योंकि तर्क का वहीं स्थान है, जहां साक्षात् दर्शन नहीं है इस लिये वेदों के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिए असली साधन तो ऋषि बनना है। परन्तु जब तक ऋषित्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य को तर्क व प्रमाण आदि का सहारा लेना ही पड़ता है। अतः बौद्धिक स्तर पर आरूढ़ होकर हम अपौरुषेयवाद के मण्डन व परिपोषण का प्रयत्न करते हैं।

अपौरुषेयत्व के प्रतिपादन व उसकी पुष्टि के लिये कई साधन हो सकते हैं, जिनमें कुछ ये हैं।

१. वेद की अन्तः साक्षी
२. आर्ष परम्परा
३. प्रतिपक्षियों की युक्तियों का निराकरण

वेदों की अन्तःसाक्षी

वेदों की अन्तः साक्षी क्या कहती है, इस सम्बन्ध में हम एक अन्य ही दृष्टि से पूर्व में भी कुछ लिख चुके हैं। अर्थात् वेद में दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं। एक वे जो कि वेदों को भगवान् से उच्छ्वसित मानते हैं और दूसरे वे जिनसे यह आभास मिलता है कि वेद ऋषिकृत हैं। हमारे विचार में यह एक प्रकार का विरोधाभास है। इस विरोधाभास को अर्द्धपौरुषेय पक्ष ने अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। यह हम पूर्व में अर्द्धपौरुषेय पक्ष पर विचार करते हुए दर्शा चुके हैं। अब विचारणीय यह है कि अपौरुषेयवादी विद्वान् इस विरोधाभास को किस प्रकार दूर करते हैं ?

इस सम्बन्ध में अपौरुषेय पक्ष को सब से पूर्व कई समस्याओं को सुलझाना होगा। जिन में कुछ ये हैं:—

(क) पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि
(ख) पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति
(ग) मन्त्रकर्ता और मन्त्रद्रष्टा में अविरोध
(घ) तक्षण का भाव
(ङ) भाषाविज्ञान के आधार पर वैदिक भाषा में क्रमिक विकास व परिवर्तन का निराकरण।

उदाहरणार्थ ये कुछ समस्याएँ हमने ऊपर प्रदर्शित कीं। इसी प्रकार और भी कई समस्याएँ हो सकती हैं। परन्तु हम यहाँ इन्हीं पर क्रमशः अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि

मन्त्रों में पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि शब्दों के आने से ऐतिहासिकों द्वारा जो यह सिद्ध किया जाता है कि मन्त्रों का निर्माण कई विभिन्न कालों में हुआ है, यह ठीक नहीं। पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि शब्द प्रत्येक सृष्टि काल में युगों व सामान्य काल के स्वाभाविक पौर्वापर्य्य को सूचित करते हैं। इस भाँति जो ऋषि पहले पैदा हुए वे पूर्व ऋषि हैं और जो बाद में पैदा हुए वे नूतन ऋषि हैं। परन्तु वेद का पूर्व ऋषि शब्द हमें परिभाषिक शब्द प्रतीत होता है। यह पूर्व ऋषि सृष्टि के आदि युग में होने वाले ऋषियों का वाचक है। इस सम्बन्ध में हम पूर्वऋषि नाम से पृथक् रूप में आगे विचार करेंगे। सृष्टि के प्रारम्भिक युग सत्ययुग में सृष्टि कल्प के सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति पैदा होते हैं, जो कि आगामी युगों के ऋषियों व साधारण जनों के लिये अनुकरणीय होते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक युग के ऋषि पूर्व ऋषि और उत्तरवर्ती युग व काल के ऋषि नूतन ऋषि कहलाते हैं। यह परम्परा सभी कल्पों में ऐसी ही रहती है (यथापूर्वमकल्पयत्)। इस से हम यह कह सकते हैं कि पूर्व और नूतन शब्दों से सृष्टिप्रवाह के स्वाभाविक पौर्वापर्य का वर्णन हुआ है। दूसरे[1] युग कल्पना का बीज भी वेदों में विद्यमान है। सृष्टि के आदि में होने वाले मनु महाराज व अन्य पुरातन ऋषियों से लेकर आधुनिक समय तक सभी विद्वान वेदों में युगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। सृष्टि का पूर्वयुग देवयुग होता है और उत्तरवर्ती युग मानुष युग नाम से कहा जाता है। देवयुग और मानुषयुग शब्दों से ही यह ध्वनित हो रहा है कि पूर्वयुग उत्तरवर्ती युग से श्रेष्ठ होता है। वेदोत्तर साहित्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म भी है कि कोई भी भौतिक वस्तु प्रारम्भ में स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल व शक्तिसम्पन्न होती है। फिर शनैः २ उसका ह्रास होता जाता है। यह प्राकृतिक नियम है। यह नियम उसी प्रकार चेतन प्राणियों पर भी लागू होता है। पृथिवी पर पूर्वयुग में उत्पन्न देव और ऋषि

१. ऋ० १।११५।२ (युगानि) वर्षाणि, कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञानि वा (दयानन्द)। उत्तरे युगे, पूर्वे युगे, देवानां पूर्वे युगे। ऋ० १०।७२।१, २, ८ तद् युगे मानुषेमा युगानि। ऋ० १।१०३।४॥

उत्तरवर्ती युगों के ऋषियों व मनुष्यों से सदा श्रेष्ठ व उन्नत होंगे। इसी कारण वेदों में जहां भी पूर्व ऋषि का वर्णन आया है, उसे उत्तरवर्ती ऋषियों से उत्कृष्ट, आदर्श व अनुकरणीय रूपों में चित्रित किया गया है। अतः वेदों में पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि का वर्णन मन्त्र-निर्माण के विभिन्न कालों को सूचित करने वाला नहीं है, अपितु सृष्टि कल्प के युगों व सामान्यकाल की स्वाभाविक पूर्वापरता को सूचित करने वाला है।

पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति

पूर्व में ऐतिहासिक पक्ष पर लिखते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि संहितान्तर्गत मन्त्रों में ही नयी स्तुति व नवीन मन्त्र-रचना का विधान मिलता है। अपौरुषेय पक्ष में इस समस्या का हल यह हो सकता है कि उस आदिगुरु भगवान् ने मानव ऋषियों को वेद रूप में अपना अमरकाव्य सुनाकर उन्हें भी आवश्यकतानुसार नवीन मन्त्ररचना करने की प्रेरणा की। मानवप्रकृति भी कुछ २ इस प्रकार की है कि वह सदा नवीनता चाहती है। वह भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तु में स्वयं परिवर्तन कर देती है या नयी वस्तु घढ़ लेती है। दूसरा हल यह है कि जिस समय एक भक्त अटूट भक्ति के प्रवाह में होता है तो उसके मुख से हठात् भक्ति के नये २ स्तोत्र निकल पड़ते हैं। मध्यकाल में भक्तियुग के सन्त कबीर, सन्त तुलसीदास व सन्त सूरदास आदि इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी मानवसुलभ प्रकृति का निदर्शन वेद-मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्ररचना के रूप में मिलता है। इस में स्तुति की भाषा भक्त की अपनी बोल चाल की भाषा ही होती है। वैदिक युग में वैदिक भाषा व संस्कृत बोलचाल की भाषा रही है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अटूट व अव्यभिचारी भक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि भक्त विद्वान् ही हो। भक्ति की घनता व तीव्रता में भगवत्कृपा से मनुष्य में वह अद्भुत शक्ति व योग्यता प्रादुर्भूत हो जाती है कि मनुष्य में नयी स्तुतियों का प्रवाह उमड़ पड़ता है। इस प्रकार अपौरुषेयवादी यह कह सकते हैं कि मन्त्रों में नवीन स्तुतियों के निर्माण का जो विधान है वह इसी प्रकार की स्तुतियों के निर्माण का है। दूसरा कारण यह भी है कि ज्यों २ सृष्टि अपने प्रारम्भिक सरल व सहज रूप का परित्याग कर पेचीदा व जटिल रूप को धारण करती गई त्यों २ मानव-मन भी जटिल बनता गया। वह भगवान् की सरल सृष्टि से सन्तुष्ट न रहा। उसने जटिल सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ किया। जिस प्रकार आम आदि फलों में मनुष्य ने नयी २ कलमें लगाकर नानाप्रकार की फलों की किस्मों का निर्माण कर लिया है। पशु पक्षियों में नाना प्रकार के परिवर्त्तन कर लिये हैं।

इसी प्रकार संहितान्तर्गत मन्त्रों को लेकर व इन मन्त्रों के आधार पर उसने नवीन मन्त्र-निर्माण कर लिये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जहाँ सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञयागादि सरल विधि विधानों से युक्त थे, वहाँ युगपरिवर्तन के साथ साथ मानवप्रकृति में भी जटिलता आती गई और प्रकृति की जटिलता के साथ साथ यज्ञयाग भी दुरूह व जटिल बनते गये। जब किसी नवीन विधि के लिये संहिताओं में तदनुकूल मन्त्र उपलब्ध न हुआ तो उन्होंने नया मन्त्र-निर्माण कर लिया। इस प्रकार परिवर्तित परिस्थिति में मन्त्रों में भी परिवर्तन व नये नये मन्त्रों की उत्पत्ति होती रही है। इस प्रकार इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों का दिग्दर्शन संहिताओं में स्तुति यज्ञयाग आदि के लिये नवीन मंत्ररचना की आज्ञा देकर किया है। इसलिये मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्ररचना की आज्ञा होना इस बात का विरोधी व खण्डन करने वाला नहीं है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदि गुरु भगवान् द्वारा वेद के रूप में अमरकाव्य दिया गया था।

मन्त्रकर्त्तृत्व और द्रष्टृत्व में समन्वय

ऐतिहासिक विद्वानों का यह कहना है कि मन्त्रकर्तृत्व और मन्त्रद्रष्टृत्व में कोई विरोध नहीं है, अर्थात् एक ही ऋषि मन्त्रकर्ता भी हो सकता है और मन्त्रद्रष्टा भी। एक प्रतिभा-सम्पन्न उदीयमान व होनहार नवयुवक कवि पुरातन कवियों की कृतियों का सम्यक् दर्शन व आलोचन करके अथवा प्रकृति-छटा को निहार कर व प्राकृतिक घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके ही नवीन कविता-निर्माण में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार उसके साथ कर्ता व द्रष्टा दोनों भाव जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार नूतन ऋषि भी प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्मित मन्त्रों का सम्यक् अध्ययन कर नवीन मन्त्रनिर्माण में जुटता है, अथवा प्रकृतिघटित घटनाओं का सूक्ष्मावलोकन कर उन्हें मन्त्रों द्वारा मूर्तरूप देता है तो इसमें आश्चर्यकरी व असम्भव बात ही क्या है। यह तो एक सहज सुलभ स्वभाव का दिग्दर्शन है। एक सर्वत्र स्वतःस्थित प्रकृति-नियम का प्रदर्शन मात्र है। ऐतिहासिकों का यह कहना है कि ऐसा मानने पर ही वेद के उन सन्दर्भों की सुन्दर

व्याख्या हो सकती है जिनमें पूर्व व नूतन ऋषियों द्वारा स्तुति तथा नवीन स्तुति के निर्माण आदि का विधान हुआ है। इस प्रकार ऐतिहासिकों की दृष्टि में एक ही ऋषि को मन्त्रकर्ता व मन्त्रद्रष्टा दोनों रूपों में देखा जा सकता है। परन्तु अपौरुषेय पक्ष का अवलम्बन करने वाले विद्वान् के लिये यह एक समस्या है। उसके मत में तो ऋषि मन्त्र-द्रष्टा ही हैं, मन्त्रकर्ता नहीं; क्योंकि मन्त्र तो भगवान् के उच्छ्वास हैं और ऋषि उनके प्रकटीकरण में केवल माध्यम का कार्य करते हैं। अतः प्रश्न यह है कि इस अपौरुषेय पक्ष में कर्तृत्व व द्रष्टृत्व का समन्वय कैसे हो? इस समस्या के समाधान में अपौरुषेयवादियों द्वारा जो युक्ति व प्रमाण अब तक दिये जाते रहे हैं, वे ऐतिहासिकों की दृष्टि में नगण्य ही हैं, यह हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। उनसे वेदों के ऋषि-कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं आती। अतः इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि जिस आधार पर खड़े होकर जिस दृष्टि से एक ऐतिहासिक विद्वान् वेदों का दर्शन व उस की आलोचना करता है, उसी आधार पर स्थित होकर उसी दृष्टि से एक अपौरुषेयवादी विद्वान् को वेदों का अवलोकन नहीं करना चाहिये।

वेदों के सम्यक् दर्शन की एक पुरातन आर्षप्रणाली है जो कि दिव्यता व अलौकिकता को लिये हुए है। जिस आर्षप्रणाली में किसी एक सीमा तक ही प्रश्नोत्तर हो सकते हैं। अतिप्रश्न का वहाँ स्थान नहीं है। इसी प्रकार हम भी मन्त्रकर्तृत्व व मन्त्रद्रष्टृत्व का विरोध-परिहार कर उन में सामंजस्य दिखाने के लिये एक अन्य ही उपाय द्वारा अलौकिकता के द्वार तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, जो कि इस प्रकार है—कर्तृत्व और द्रष्टृत्व ये दोनों बौद्धिक प्रक्रिया के दो पहलू हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि-दर्पण के दो पार्श्व हैं। एक पार्श्व द्रष्टा का काम करता है और दूसरा कर्ता का। बुद्धि के क्षेत्र में यदि हम दृष्टिपात करें तो हम यह देखते हैं कि बाह्यजगत् की तरंगें मनुष्य के बुद्धिदर्पण पर आकर पड़ती हैं, तो उसका प्रतिक्षेप व प्रतिबिम्ब मनुष्य मनुष्य के आधार पर विभिन्न प्रकार का होता है। सर्वप्रथम तो यह है कि साधारण मनुष्य का बुद्धिदर्पण इतना निर्मल ही नहीं कि वह प्रकृति की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरङ्गों को ग्रहण कर सके। यह किन्हीं विरले व्यक्तियों का ही काम है। और न ही उसमें इतनी शक्ति होती है कि स्थूल तरङ्ग को भी वैसा का वैसा ही प्रतिक्षिप्त कर सके। इसलिये बुद्धिदर्पण पर पड़ी वह तरङ्ग अपने असली स्वरूप में न रहकर सामान्य जन के अपने शब्दों व कृतियों में नवीनरूप धारण कर प्रकट होती है। यह भी संभव है कि प्रतिक्षेप तो कुछ है और बाह्यप्रकाश कुछ और हो। यह सब के अपने बुद्धिदर्पण के रङ्ग पर निर्भर है। इस के विपरीत सामान्य जन के बुद्धिदर्पण से उत्कृष्ट दर्पण सफल कवियों व चित्रकारों का होता है। सफल कवि व सफल चित्रकार वही होता है, जो प्रकृति के प्रतिक्षेप को बिलकुल वैसा का वैसा ही सुन्दर २ शब्दों व चित्रों में चित्रित कर देवे। परन्तु इन से भी उत्कृष्ट बुद्धिदर्पण ऋषियों का होता है। उन का बुद्धिदर्पण इतना निर्मल व स्वच्छ होता है कि परम[1]व्योम से बिखरी ऋचाएँ उनके बुद्धिदर्पण पर जिस रूप में आकर पड़ती हैं, बिलकुल उसी रूप में छन जाती हैं। परन्तु प्रक्रिया यहाँ भी यही है, पहले दर्शन फिर प्रकटीकरण अर्थात् कर्तृत्व। परमव्योम से बिखरी ये ऋचाएँ जब ऋषियों के बुद्धि-दर्पण पर आकर पड़ती हैं तो यह ऋचाओं का दर्शन है, परन्तु जब उस दर्पण से छनकर बाहिर प्रकट होती हैं तब वह कर्तृत्व है। चाहे इस कर्तृत्व में अपनी ओर से कुछ भी मिश्रण व परिवर्तन न किया गया हो। संपूर्णज्ञान के प्रकटीकरण की यही प्रक्रिया है। इसीलिये ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा भी कहते हैं और मन्त्रकर्ता भी। यहां पर परमव्योम में ऋचाएँ बिखरी हुई हैं, यह अलौकिकता का क्षेत्र आ जाता है। इस सम्बन्ध में प्रश्न करना अतिप्रश्न हो जायगा। यदि अतिप्रश्न का रूप इसे न भी मानें तो भी अलौकिकता के क्षेत्र में तो प्रविष्ट होना ही पड़ेगा। इसलिये वेदों व वैदिक साहित्य में ऋषियों को जो मन्त्रकर्त्ता व मन्त्रद्रष्टा कहा गया है, उसका समन्वय हमारे विचार में उपर्युक्त प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार समन्वय करने से ऋषि मन्त्रकर्त्ता व मन्त्रद्रष्टा दोनों माने जा सकते हैं। और वेद भी छन्दोबद्ध रूप में अपौरुषेय सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु कर्तृत्व और द्रष्टृत्व में वहां ही विरोध की सम्भावना है जहां कि वेद के ऋषियों को मानव ऋषि माना जाये। हमारे विचार में वेद के ऋषि (दर्शनात्) मन्त्रों को दिखाने वाले उपनेत्र (ऐनक) हैं। इस दृष्टि से मानव ऋषियों के इतिहास को टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं। मानव ऋषि इन उपनामों को धारण करें या न करें इससे कुछ आता जाता नहीं। इन दृष्टियों को मानवीय चोला पहना

१. तान्यादिवः प्रकीर्णान्यशेरन. व्योमान्तो वाचः जै. उ. १।४।१।६॥

कर इन्हें मन्त्रों का कर्ता मानें या द्रष्टा मानें बात एक ही है। इसमें कोई विरोध नहीं। इसी की हम आगे पुष्टि करेंगे।

तक्षण का भाव

जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि इस तक्षण का सहारा लेकर अर्द्धपौरुषेयवादी विद्वान् वेदों में ऐतिहासिकता का समावेश कर देते हैं। संक्षेप में उनके कथन का सार यह है कि साधारण मनुष्य से लेकर ऊंचे से ऊंचे विद्वान, कवि व चित्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया एक समान होती है। अर्थात् बुद्धि में कुछ स्फुरणा हुई, कुछ प्रतिभा जागी, धुंधले व अव्यक्त रूप में कुछ ज्ञान की किरणें मस्तिष्क में पड़ीं, तो उस समय वह कवि अपनी ओर से सुन्दर २ शब्दावली देकर ज्ञान से भरपूर कविता सबके सामने ला उपस्थित करता है। एक चित्रकार अपने बौद्धिक भाव को हस्त-कौशल द्वारा चित्र में अभिव्यक्त कर देता है। इसी प्रकार ऋषियों के हृदयों में वेद-ज्ञान की स्फुरणा हुई, कुछ कुछ आभास व दर्शन सा हुआ, तब उन्होंने अपनी ओर से सुन्दर २ शब्द देकर प्रजा के समक्ष वेदज्ञान को ला उपस्थित किया। मन्त्रगत तक्षण (यस्मादृचोऽपातक्षन्) से यही भाव द्योतित होता है।

इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि सामान्य ज्ञान का अवतरण तथा उसका शब्दों में प्रकटीकरण तो इसी रूप में होता है। संहितातिरिक्त ऋषियों के जितने भी मंत्र हैं बहुत कुछ इसी प्रक्रिया से अवतरित माने जा सकते, हैं पर यह आवश्यक नहीं कि चारों संहिताएं जो कि अपौरुषेय मानी जाती हैं, इसी प्रक्रिया से अवतरित होकर प्रकाश में आयी हों। दूसरा तरीका भी हो सकता है और वह जो कि अपौरुषेयवादी मानते हैं। अर्थात् स्वर व छन्दोबद्ध रचना सहित चारों संहिताएं भगवान् की कृपा से ऋषियों के हृदयप्रदेश में आविर्भूत हुईं। और तक्षण की समस्या का हल भी सुचारु रूप से हो सकता है। तक्षण के जो घड़ना, छीलना, तराशना आदि अर्थ हैं वे भी इस पक्ष में अक्षुण्ण रह सकते हैं। हमारे विचार में अपौरुषेय पक्ष का अवलम्बन कर तक्षण की दो व्याख्याएं की जा सकती हैं। एक तो यह कि वह परब्रह्म व शब्दब्रह्म हमारे हृदयप्रदेश में विद्यमान है और उसी में सब ऋचाएं लीन व प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार कुल्हाड़ी आदि से लकड़ी पर प्रहार किया जाता है, उसी प्रकार 'ओ३म्' आदि के उच्चारण द्वारा हृदय में प्रहार होता है। यह प्रहार ही तक्षण है। यदि ओ३म् रूपी कुल्हाड़ी को साधन न भी बनाया जाये तो भी मन व उसके हृदयप्रदेश में बार २ एकाग्र करने में भी एक प्रकार का प्रहार है। यह प्राण द्वारा संशित होना है (प्राणसंशितमसि)। यह प्रहार व तक्षण परब्रह्म में लीन वेदों को पृथक् करने के लिए है, न कि मन्त्र-निर्माण व शब्द-विन्यास आदि के लिये। इस तक्षण का प्रभाव यह होता है कि स्वरसहित छन्दोबद्ध मन्त्र उस परब्रह्म से पृथक होते हैं और मनुष्य को इनका दर्शन व श्रवण होता है।

अब तक्षण का दूसरा भाव क्या है, यह देखते हैं। तक्षण का दूसरा भाव उस समय अधिक स्पष्ट होगा जब कि हम ब्राह्मणादि ग्रन्थों की वेदोत्पत्ति सम्बन्धी विशिष्ट शैली को समझ लें। उस शैली में भगवान् को प्रकृति व सृष्टि से पृथक् न कर पुरुषोत्तम रुप में ग्रहण किया गया है। अर्थात् उस[1]परमपुरुष भगवान् का द्युलोक सिर है, अन्तरिक्ष हृदय है, पृथिवी उदर व पैर हैं। और इन तीनों लोकों का एक २ वेद से सम्बन्ध है। पृथिवीलोक का ऋग्वेद है, अन्तरिक्ष का यजुर्वेद और सूर्य का सामवेद है। जिस प्रकार पृथिवी पर प्रत्येक पदार्थ त्वष्टा भगवान् की तक्षण क्रिया द्वारा प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार ऋचाएं भी तक्षण प्रक्रिया द्वारा बाहिर प्रकट हुईं, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऋचाओं का तक्षण कौन करता है? इस सम्बन्ध में हमारा यह विचार है कि तक्षण भगवान् और ऋषि दोनों ही करते हैं। ध्वनि-समुद्र में अर्थात् शब्दब्रह्म में आद्यस्फोट जो कि वेदों के रूप में प्रकट हुए हैं, वे त्वष्टा भगवान् की तक्षण की महिमा हैं। यह भगवान् द्वारा वेदों का तक्षण है। जब इन ऋचाओं की ध्वनि द्वारा साम्यावस्था में विद्यमान प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हुआ तो ऋचाओं से पृथिवी व पार्थिव पदार्थों का निर्माण हुआ, याजुष मन्त्रों से अन्तरिक्ष का और साम मन्त्रों से सूर्य व द्युलोक का। ध्वनि से संसारोत्पत्ति का सूक्ष्म विवेचन हमें ब्राह्मणादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उन शास्त्रों के कुछ वचन ये हैं। [2]ऋचाओं से संसार की समग्र मूर्तियां उत्पन्न हुई हैं, [3]ऋचाओं से 'भू' यह क्षरित हुआ और वह पृथिवीलोक बना, यह [4]भूलोक ही ऋग्वेद है। इसी प्रकार अन्य वेदों से अन्य लोकों का निर्माण हुआ है। अब इससे यह परिणाम निकला कि मन्त्र-ध्वनि होती रही और प्राकृतिक घटक बनते रहे। एक प्रकार से प्राकृतिक घटकों और मन्त्रों में अभेद भाव हो गया। अब ऋषियों ने अपने तप व ध्यान के बल से मन्त्रों को प्राकृतिक घटकों से पृथक् करके ग्रहण किया। प्राकृतिक घटकों से इन ऋचाओं का पृथक् करना ही तक्षण करना है। अपौरुषेय पक्ष में तक्षण का यही भाव है। इससे वेद छन्दोबद्ध रचना सहित परमेश्वर के ही माने जा सकते हैं॥

(क्रमशः)

१. अथर्व-२०।७।८ स्कम्भ सूक्त। २. ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। तै. ३।१२।९।१॥ ३. भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयं पृथिवी लोकोऽभवत॥ ष. १।५॥ ४. अयं लोकाः ऋग्वेदः। ष. ब्रा. १।५ ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः। कौ. ब्रा. ११।९

शिक्षा के वैदिक सिद्धान्त

[ले०—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड, देहली]

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक कथानक द्वारा शिक्षा के कतिपय वैदिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है जो कि निम्नलिखित हैं:—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः, देवा मनुष्या असुराः। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच दो इति। व्यज्ञासिष्ठा इति? व्यज्ञासिष्मेति होचुः। दाम्यतेति न आत्थेति। ओमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

जिसने अपनी प्रजाओं अर्थात् सन्तानों का लालन-पोषण कर लिया था, उस आचार्य के पास तीन प्रकार के शिष्य आये। वे थे देव, मनुष्य और असुर। इन्होंने उस प्रजापति आचार्य के आश्रम में ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया। यह आचार्य पिता की भान्ति उनका लालन-पोषण, सुरक्षा, तथा विद्यादान करने लगे। और साथ साथ उन शिष्यों को भोजनाच्छादन की भी व्यवस्था करने लगे, जैसे कि उत्पादक पिता अपनी निजी सन्तानों की व्यवस्था करता है। जब ब्रह्मचर्य समाप्त हुआ तब देवों ने आचार्य से प्रार्थना की कि भगवन् आप हमें दीक्षान्त उपदेश देने की दया करें। आचार्य ने उन्हें उपदेश के रूप में कहा "द"। और पूछा कि तुम समझ गये क्या? देवों ने उत्तर दिया कि भगवन् हमने आपका अभिप्राय समझ लिया है। आपने हमें कहा है कि "दाम्यत"। अर्थात् स्नातक हो जाने के पश्चात् गृहस्थ-जीवन में तुम अपनी इन्द्रियों का दमन किया करना। तब आचार्य ने कहा कि ठीक है, तुमने मेरा अभिप्राय समझ लिया है ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुः ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच "द" इति। व्यज्ञासिष्ठा इति। व्यज्ञासिष्मेति होचुः। दत्तेति न आत्थेति। ओमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

देवों के पश्चात् मनुष्यों ने आचार्य से प्रार्थना की कि भगवन् आप हमें दीक्षान्त उपदेश कीजिये। उन मनुष्यों के प्रति भी आचार्य ने उपदेश रूप में कहा कि "द" और पूछा कि तुमने मेरा अभिप्राय समझ लिया है क्या? उत्तर मिला कि भगवन्! हमने आपका अभिप्राय समझ लिया है आपने हमें उपदेश दिया है कि स्नातक होकर गृहस्थजीवन में "दान" दिया करना। तब आचार्य ने कहा कि ठीक है, तुमने मेरा अभिप्राय समझ लिया है ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुः ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच "द" इति। व्यज्ञासिष्ठा इति?। व्यज्ञासिष्मेति होचुः। दयध्वमिति न आत्थेति। ओमिति होवाच। व्यज्ञासिष्टेति ॥ ३ ॥

मनुष्यों के पश्चात् असुर इस आचार्य के समीप गये और प्रार्थना की कि भगवन्! आप हमें भी उपदेश कीजिये। उन असुरों के प्रति भी आचार्य ने उपदेश रूप में कहा कि "द"। पूछा कि तुमने मेरा अभिप्राय समझ लिया है क्या? उत्तर मिला कि भगवन्! हमने आपका अभिप्राय समझ लिया है। आपने हमें उपदेश रूप में कहा है कि गृहस्थजीवन में तुमने 'दयध्वम्" अर्थात् दया का व्यवहार करना। आचार्य ने कहा कि हाँ, तुमने मेरा अभिप्राय समझ लिया है ॥३॥

तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुः "द,द,द" इति। दाम्यत, दत्त, दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेत दमं, दानं, दयामिति ॥ ४ ॥

आचार्य ने जब देवों, मनुष्यों और असुरों को अपना एकाक्षरी उपदेश दे दिया, तब आचार्य ने कहा कि देखो बादल की यह दैवी गर्जना भी लोगों के प्रति कहती है कि "द, द, द"। इस दैवी गर्जना का अभिप्राय यह है कि हे लोगों! तुम इन्द्रियदमन किया करो, दान दिया करो तथा दयाभाव को धारण किया करो। इसलिये प्रत्येक आचार्य को चाहिये कि वह अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करे दम की, दान की तथा दया की ॥ ४ ॥

सारांश

उपर्युक्त वर्णन में शिक्षा के निम्नलिखित सिद्धान्तों की सूचना मिलती है:—

१—ब्रह्मचर्यवासपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। बिना ब्रह्मचर्यवास के प्राप्त शिक्षा अधूरी और निष्फल है। ब्रह्मचर्यवास से आचार्य का सतत सहवास प्राप्त होता है। और सतत सहवास के कारण ब्रह्मचारी आचार्य के विचारों तथा आचारों का ग्रहण सम्यक् प्रकार कर सकता है। सतत सहवास से ब्रह्मचारी की शिक्षा में भी शीघ्र उन्नति होती है।

२—ब्रह्मचर्याश्रमों का आचार्य ऐसा होना चाहिये जो कि गृहस्थधर्म भोग चुका हो, और जिसे गृहस्थधर्म में क्रियात्मक शिक्षा मिल चुकी हो कि सन्तानों को किस

प्रकार पालना चाहिये, और उनका किस प्रकार लालन पोषण करना चाहिये, तथा उनके साथ किस प्रकार स्नेह और प्रेम का व्यवहार करना चाहिये। गृहस्थ में बच्चों की देखभाल करते हुए तथा उन्हें शिक्षा देते गृहस्थी को मनोवैज्ञानिक शिक्षा भी क्रियात्मक रूप में मिल चुकी होती है। अतः गृहस्थधर्म के पश्चात् आचार्य पद ग्रहण किये हुए व्यक्ति का आचार्यत्व अधिक सफल हो सकता है।

३—आचार्य "प्रजापति" और "पिता" भी रहा हो। ऐसा आचार्य ब्रह्मचर्याश्रम में अपने शिष्यों को पुत्रवत् समझ कर उनके साथ पिता का सा व्यवहार और वर्ताव कर सकता है। वह शिष्यों को पुत्र समझ कर उन्हें शिक्षा दान दे, अन्नदान दे, और उनकी पूर्ण सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। प्रजापति शब्द तो यह सूचना देता है कि आचार्य सन्तानवान् रहा है। और "पिता" शब्द यह सूचना देता है कि उसने सन्तानों का पालन-पोषण तथा सुरक्षा भी अच्छे प्रकार की है।

४—प्रत्येक मनुष्य में दैवी 'मानुषी' और आसुरी भावनाएँ काम कर रही होती हैं। दैवी भावनाओं के कारण वह देव होता है, मानुषी भावनाओं के कारण वह मनुष्य कहाता है, और आसुरी भावनाओं के कारण वह असुर कहाता है। जैसे व्यक्ति में ये भावनाएँ समय समय पर प्रबल होती हैं, वैसे ही इन तीन भावनाओं के आधार पर समाज के भी तीन विभाग होते हैं। समाज में जिन व्यक्तियों में दैवी भावनाएं प्रधान रूप में कार्य करती हैं वे "देव" कहाते हैं, जिनमें मननशक्ति अधिक काम करती है वे मनुष्य कहाते हैं, और जो "असु" अर्थात् प्राणशक्ति के पोषण में ही तत्पर रहते वे असुर कहाते हैं। इन्हें खाने-पीने कमाने और व्यवहार में धर्मभावना का ख्याल नहीं होता। अपना पेट, अपना आराम, अपनों का पेट, अपनों का आराम,—यह ही इनके जीवन का मुख्य ध्येय होता है। इनका जीवन केवल मात्र secular होता है, यह लौकिक होता है, सांसारिक होता है।

५—अलग अलग भावनाओं वाले शिष्यों की पाठशालाएं अलग अलग न होनी चाहियें। अपितु इन तीनों प्रकार की भावनाओं वाले शिष्य इकट्ठे मिलकर एक पाठशाला में पढ़ने चाहियें। आचार्य उन्हें सम्मिलित रूप में तीनों प्रकार के उपदेश दिया करे, दैवी उपदेश, मानुषी उपदेश तथा आसुरी उपदेश। धर्म, न्याय, त्याग, परोपकार, इन्द्रिय-दमन,—यह उपदेश दैवी उपदेश है। मानसिक उन्नति, अधिक पढ़ने में रुचि, तरह तरह की विद्याओं का परिज्ञान, दयाभावना,—यह उपदेश मानुषी उपदेश है। और प्राणविद्या, व्यायाम, खाद्य और पेय पदार्थों के गुण धर्म, शिल्प, कलाकौशल, व्यापार—यह उपदेश आसुरी उपदेश है।, अध्ययन काल के पश्चात् जिस जिस शिष्यवर्ग ने जिस प्रकार के उपदेश को अपने आचरणों में ढाला हो, उस उस तरह का अन्तिम उपदेश उस २ शिष्यवर्ग को आचार्य देवें, जो अन्तिम उपदेश कि उस२ वर्ग के शिष्यों की प्रवृत्ति को दर्शाने वाली, अन्तिम छाप समझी जानी चाहिये।

६—उपदेश संक्षिप्त होने चाहिएँ। यथा "द, द, द,"। बहुत लम्बे उपदेशों की परिपाटी अवैदिक तथा निष्फल है। उपनिषदों में स्थान २ पर उपदेशों का वर्णन हुआ है, जो कि कलेवर में बहुत छोटे छोटे और अतिसंक्षिप्त हैं। लम्बे लम्बे उपदेशों से श्रोताओं का कर्णव्यसन पूरा होता है, और उपदेष्टा का प्रवचनव्यसन। इन व्यसनों का परित्याग करना चाहिए।

७—शिक्षा का अन्तिम ध्येय है आचरण। और आचरण का मुख्य ध्येय है 'दम, दान और दया।' इन्हीं तीन आचरणों के आधार पर मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है। अन्यथा वह पढ़ा-लिखा भी पशुतुल्य है।

८—शिक्षा का एक मुख्य साधन है 'स्वयं शिक्षण'। व्यक्ति पाठशालाओं के अतिरिक्त अपने सहवासियों, प्राकृतिक घटनाओं, तथा पशुपक्षियों से भी स्वयं शिक्षाग्रहण किया करे। कवियों की कविताओं में प्रकृतिप्रदत्त शिक्षाओं का बड़ा रोचक वर्णन मिलता है। आचार्य ने बादलों की दैवी गर्जना को 'द, द, द' रूप में समझा था, और समझा था कि मनुष्य के आचरण की अन्तिम कसौटी है दमन, दान और दया। आचार्य ने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्यकाल में शिक्षा दी। परन्तु इस काल में कितनी शिक्षा दी जा सकती है और कितना अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। जो शिक्षा और अनुभव ब्रह्मचर्यवास के अल्पकाल में दिया और लिया जा सकता है, वह जीवन के सुदीर्घकाल में लिये जानेवाली शिक्षा और अनुभव की अपेक्षा बहुत अल्प है। इसलिये दीक्षान्त उपदेश के अन्तिम वाक्य में अनुभवी आचार्य ने निर्देश दिया कि तुम अपने जीवन के सुदीर्घकाल में 'स्वयं शिक्षण' द्वारा प्रकृति आदि साधनों से स्वयं शिक्षा भी लेते रहना।

९—शिक्षा के एक और सिद्धान्त का भी वर्णन इस दैवी गर्जना में किया गया है। वह यह कि व्यक्ति अपनी शिक्षा और भावनाओं के अनुसार प्रकृति को देखा करता है, और प्राकृतिक घटनाओं पर तदनुरूप आवरण चढ़ाया करता है। देवों ने दैवी गर्जना में दमन का अनुभव लिया, मनुष्यों ने दान का अनुभव लिया, और असुरों ने दया का अनुभव लिया। इस प्रकार देवों, मनुष्यों और असुरों ने प्रकृति को अपने २ ढंगसे देखा, और प्रकृति पर अपने २ ढंग का आवरण चढ़ाया॥

विविध समाचार

उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल का पुनस्संघटन

श्रीचरणसिंह नये वित्तमन्त्री

लखनऊ, ३१ मार्च। हाफिज मुहम्मद इब्राहीम के केन्द्र में सिंचाई और विद्युन्मन्त्री नियुक्त हो जाने के कारण उत्तर प्रदेश के वर्त्तमान मन्त्रिमण्डल का पुनस्संघटन किया गया है और एक अतिरिक्त उपमन्त्री की नियुक्ति की गई है।

मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द ने उद्योग विभाग का कार्य भी अपने जिम्मे ले लिया है। प्रान्त के मेधावी कांग्रेसी श्री चरणसिंह वित्तमन्त्री बनाये गये हैं। श्री मोहनलाल गौतम को उनेक वर्त्तमान विभागों के अलावा कृषिविभाग और श्री पं० कमलापति त्रिपाठीजी को वर्त्तमान विभागों से अतिरिक्त सम्पदा विभाग भी दिया गया है।

राज्यमन्त्री श्री मुजफ्फरहुसेन को सुन्नी वक्फ का अतिरिक्त विभाग सौंपा गया है। श्री हुकुमसिंह कृषि छोड़कर विद्युत् विभाग लेंगे। एक नये उपमन्त्री श्री सुलतान-आलम खां मुख्यमन्त्री के सहायक मन्त्री नियुक्त किये गये हैं॥

हिन्दी के १२६ लेखक पुरस्कृत

राज्य सरकार द्वारा सन् ५७ की पुरस्कार घोषणा में

लखनऊ, २ अप्रैल। प्रत्येक वर्ष हिन्दी की उत्तम पुस्तकों पर उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा दिये जाने वाले नकद पुरस्कारों के अन्तर्गत सन् १९५७ में १२६ साहित्यकारों की रचनाओं पर कुल ५६ हजार ७ सौ रुपयों का पुरस्कार प्रदान किया गया है। एक हज़ार रुपये का सर्वोच्च पुरस्कार संसद् सदस्य श्री बालकृष्णशर्मा नवीन की रचना 'उर्मिला' पर स्वीकृत हुआ है॥

श्रीचन्द्रभानुगुप्त उपनिर्वाचन में भी हार गये

रानी राजेन्द्रकुमारी निर्वाचित

हमीरपुर, १० अप्रैल। हमीरपुर जिले से मौदहा क्षेत्र के उपचुनाव में प्रजासमाजवादी उम्मीदवार रानी राजेन्द्रकुमारी ने कांग्रेस के उम्मीदवार, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री श्री चन्द्रभानुगुप्त को ७१७४ मतों से पराजित कर दिया।

रानी राजेन्द्रकुमारी को कुल ३२,७०० और श्रीचन्द्रभानुगुप्त को कुल २५५१६ वोट मिले। इस क्षेत्र में कुल ८१६३७ मतदाता थे, जिनमें से ६०००८ ने मतदान में भाग लिया। १७६८ मतपत्र रद्द हुये।

आमचुनाव में लखनऊ से हार चुकने के बाद श्रीगुप्त की यह दूसरी हार है, जिसने कांग्रेस क्षेत्र में तहलका मचा दिया है॥

संस्कृत के परम्परागत ज्ञान के रक्षार्थ सहायता

लखनऊ, १८ अप्रैल। उत्तरप्रदेश सरकार ने राज्य के उन संस्कृत के विद्वानों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया है, जो प्राचीन अध्ययनशैली के परिपोषक हैं और जिन्होंने स्कूलों एवं कालेजों से सम्बन्ध न रखते हुये भी गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा संस्कृत-साहित्य के उस ज्ञान को सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बना रखा है, जो आजतक पुस्तकों में उपलब्ध नहीं है। इसके लिये राज्य-सरकार ने दस हजार का आवर्त्तक अनुदान स्वीकृत किया है।

हिन्दी-रक्षा-समिति के समाचार

नई दिल्ली, १२ अप्रैल। पंजाब हिन्दी-रक्षा-समिति का एक शिष्टमण्डल कल शाम ७॥ बजे भारत सरकार के गृहमन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त से मिला।

इसका मुख्य उद्देश्य गृहमन्त्री से उन परस्पर विरोधी वक्तव्यों के बारे में स्पष्टीकरण प्राप्त करना था, जो समय २ पर समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कुछ वक्तव्यों में कहा गया कि भारत के राष्ट्रपति ने पंजाब की क्षेत्रीय योजना में से ९ वीं और १० वीं धारा निकाल दी है और कुछ में इसका प्रतिवाद किया गया है।

शिष्टमण्डल ने गृहमन्त्री को एक ज्ञापन दिया, जिसमें उदाहरण देकर बताया गया कि पन्त जी ने और पंजाब के मुख्य मंत्री स० प्रतापसिंह कैरों ने हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रह स्थगित किये जाने के समय सद्भावना के जो आश्वासन दिये थे, वे न केवल अमल में नहीं लाये गये, अपितु पंजाब सरकार द्वारा उससे विपरीत आचरण किया जा रहा है, और हिन्दी प्रेमियों पर तरह २ के अत्याचार किये जा रहे हैं। इसलिये शिष्टमण्डल ने अपने ज्ञापन में पंजाब की सारी स्थिति की पूरी जांच की मांग की है। गृहमन्त्री ने शिष्टमण्डल की बातें ध्यान से सुनी और वचन दिया कि 'मैं इन ज्यादतियों की जांच करूंगा और आपकी शिकायतें दूर कराऊंगा।

शिष्टमण्डल में निम्नलिखित सज्जन मुख्य थे। प्रिंसिपल रलाराम एम. एल. ए., प्रो० शेरसिंह एम. एल. ए., प्रिंसिपल भगवान्दास, श्री जगदेव सिद्धान्ती, श्री श्रीचन्द एम. एल. ए., दीवान अलखधारी, लाला रामगोपाल शालवाले और श्री नारायणदास ग्रोवर। क्योंकि श्री घनश्यामसिंह की धर्मपत्नी कलकत्ता में सख्त बीमार हैं, इसलिये वे शिष्टमण्डल का नेतृत्व न कर सके। वह शीघ्र ही इस सम्बन्ध में गृहमन्त्री से मिलकर इसपर विचार करेंगे॥

आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड

अजमेर की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

१. महर्षि स्वामी दयानन्द जी का प्रामाणिक जीवन चरित्र:-

ऋषि के अनन्य भक्त स्व० श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता बाबू घासीराम जी द्वारा अनुवादित।

दो भागों में पूर्ण, सजिल्द कवर पर तिरंगे चित्र सहित मूल्य ६) रु. प्रति भाग

२. दयानन्द वाणी:—ले० रमेशचन्द्र जी शास्त्री।

स्वामी दयानन्द जी के उत्तमोत्तम वचनों व उपदेशों का उत्तम संग्रह। मुख पृष्ठ पर स्वामीजी का छविपूर्ण तिरंगा चित्र। मू० १।।) रु.

३. महाभारत शिक्षा सुधा:—ले० स्वामी ब्रह्ममुनि जी।

महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाओं का विशद एवं मार्मिक विवेचन तथा आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सुन्दर तथा रंगीन गेटअप। मूल्य १।।) रु०

४. सत्संग यज्ञ विधि:—ले० धर्मेन्द्र शिवहरे।

पारिवारिक सत्संग में यज्ञ के लिये, यज्ञ कुण्ड हवन सामग्री, यज्ञ पात्र की परिभाषा व सन्ध्या, हवन, शान्तिपाठ के मन्त्रों के शब्दार्थ दिये हैं। मू० ६ आना।

५. धार्मिक शिक्षा:—ले० डा. सूर्यदेवजी शर्मा, एम. ए' डी. लिट्.

आर्य बालक-बालिकाओं के पढ़ाने के लिये कक्षा १ से १० तक के लिये बहुत ही उत्तम पुस्तकें हैं, १० भाग में पूर्ण। मू. १० भाग केवल ५) रु. १ आना

६. सरल सामान्य ज्ञान भाग ४ :—

ले० डा. सूर्यदेवजी शर्मा, एम. ए. डी. लिट्.

मूल्य प्रथम भाग ।), दूसरा भाग ।=), तृतीय भाग ।≡), चतुर्थ भाग ।।)

भारतवर्षीय आर्यविद्यापरिषद् की विद्यारत्न, विद्याविशारद, विद्यावाचस्पति आदि परीक्षायें हमारे मण्डल के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष होती हैं। सबमें उपाधि मिलती है। पाठविधि मुफ्त मंगावें।।

प्रकाशक:— **आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर।**

वेद व महर्षि के समस्त ग्रंथ व अन्य आर्य ग्रंथों का सूचीपत्र मुफ्त मंगावें।

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०] [अङ्क ८



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

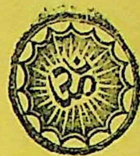
व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१५ वि०, जून १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५८

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।≈)
” ” विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]



[अङ्क ८

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१५ वि०, जून १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५८

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।≤)
” ” विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार न किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशा विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अ ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक हो चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञाप छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं है।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

[पृष्ठ २९ का शेष]

ट्रक के नीचे आकर आकस्मिक मृत्यु हुई। आप अपने पीछे धर्मपत्नी और एक मात्र सन्तान पुत्री (स्नेहलता) छोड़ गये हैं। प्रभु इनको शान्ति और धैर्य्य प्रदान करे। ऐसे आर्यपुरुषों द्वारा ही आर्य समाज ऊँचा उठा है॥

श्री० पं०बलदेवप्रसादजी वैद्य बड़ा गांव बनारस

आप काशी और इसके आस पास में एक बहुत ही योग्य वैद्य थे। आप का जन्म वैश्य कुल में हुआ। आप संस्कृत के बहुत योग्य विद्वान् थे। आपके साथ हमारा २५ वर्ष का परिचय रहा। आपने लाखों रोगियों को अच्छा किया। इन ८-१० जिलों के भयानक रोगी बड़ागांव में आकर महीनों ठहरते थे और अच्छे होकर जाते थे। आप काशी के प्रसिद्ध वैद्य पं० त्र्यम्बक शास्त्री के शिष्य थे। आप जहां उच्चकोटि के वैद्य थे, वहां कांग्रेस के भी सच्चे ऊंचे कार्यकर्त्ता थे। सन् ४२ में आपका भी वारण्ट था। आप एक उच्चकोटि का संस्कृत विद्यालय आचार्य-शास्त्री-मध्यमातक का २५ वर्ष से चला रहे थे तथा आयुर्वेदाचार्य तक की ऊंची कक्षाओं का आयुर्वेद विद्यालय था। जिन लिये आपने पक्के बढ़िया भवन बनवा दिये हैं। दोनों विद्या ठीक चल रहे हैं। एक हाई स्कूल और इण्टर कालेज आप के द्वारा चलता रहा, जिसके विशाल भवन बन चु हैं। पंचकर्म (कायाकल्पादि) का विभाग भी चल रहा था

आप यद्यपि उदार सनातन धर्मी विचार के थे पर हृदय से आर्य समाज के कामों में बड़ी रुचि सदा रखते थे इनके उत्तराधिकारी डा० शिवमोहन लाल जी आयुर्वेदाच दोनों चिकित्सा प्रणालियों के योग्य हैं। हमें पूर्ण आशा कि यह श्री० बलदेव जी वैद्य के आरम्भ किये कार्यों सफल ही नहीं बनायेंगे अपितु समुन्नत करेंगे।

प्रान्तीय सरकार का परम कर्त्तव्य है कि वह ऐ निष्ठावान्—योग्य देशभक्त के सार्वजनिक कार्यों में पू सहयोग दे, और इनमें त्रुटि न आने दें।

देश का एक महान् रत्न उठ गया। प्रभु उन्हें सद्ग प्रदान करें और सम्बन्धियों-मित्रों-को धैर्य्य और शान्ति दें

ऋग्वेद

ओ३म्

यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद

अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, ज्येष्ठ सं० २०१५ वि०, जून १९५८ ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

हमारी कामना पूरी करो

सेमम् नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।

स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ऋग्वेद० । १ । १ । ३१ । ९

हे शतक्रतो[२]	हे अनन्तज्ञान तथा कर्मशक्ति से युक्त प्रभो	इमम्	इस
नः	हमारी—	कामम्	कामना = इच्छा को
सः	उस	आपृण[३]	अच्छी तरह पूरा करो (कि)

अर्थबोधक टिप्पणी

१ शत = बहुनाम—निघ० ३ । १

२ (i) (अ) यः क्रियते यया करोति वा सः क्रतुः । प्रज्ञा यज्ञो वा—उ० १ । ७६
कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९

३ (ii) (आ) पृण = प्रीणने + तुदा० To satisfy; To please

स्वाध्यः वेदाध्ययन में रत रहते हुए
गोभिः[4] सुख के अनेक साधन और उसकी उपलब्धि की पूर्वावस्था से
अश्वैः[5] (और फिर) उसकी पुष्कल प्राप्ति से
त्वा स्तवाम[6] आप को ही सराहा करें, अर्थात् प्राप्त सब सुखों को, परम सुख—आप के चरणों में अर्पित करते रहें

ऋषिव्याख्यान

हे "शतक्रतो" अनन्त क्रियेश्वर[7] ! आप असंख्यात विज्ञानादि[8] यज्ञों[9] से प्राप्त हो तथा अनन्तक्रियाबल[10] युक्त हो सो आप "गोभिरश्वैः" गाय उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठपशु सर्वोत्तम अश्वविद्या (विमानादियुक्त) तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ादि पशुओं और चक्रवर्त्ती राज्यैश्वर्य से "सेमम् नः कामम।पृण" हमारे काम[11] को परिपूर्ण करो। फिर हम भी "स्तवाम त्वा स्वाध्यः" सुबुद्धि युक्त होके उत्तम प्रकार से आपका स्तवन (स्तुति) करें। हमको दृढ़ निश्चय है कि आप के बिना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता। आप को छोड़ के दूसरे का ध्यान वा याचना जो करते हैं, उनके[12] सब काम नष्ट हो जाते हैं ॥

---

४ गच्छति यो यत्र यया वा सा गौः। पशुरिन्द्रियं सुखं किरणं वज्रम् चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा—उ० २। ६७

५ अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः। तुरंगो वह्निः वा—उ० १।१५१। अश्नुते अध्वानं व्याप्नोति, महाशनो वा भवति—निरुक्ते। राष्ट्रं वा अश्वमेधः–शतपथे।

६ विचारिये—तच्चक्षुर्देवहितम् पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्। श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्"—यजु० ३६। २४

७ क्रियेश्वर = कार्य करने में समर्थ

८ विज्ञान = ईश्वरसाक्षात्कार

९ यज्ञ = श्रेष्ठतम कर्म

१० बल = समूह

११ काम = इच्छा

१२ उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं = उनकी सब इच्छायें असीम सुख का छोर नहीं पकड़ पातीं, अतएव दुःख के हेतु बन जाती हैं ॥

[पृष्ठ ९ का शेष]

कोई युग ऐसा था, 'आस्तिक' अच्छा समझा जाता था। फिर ऐसा समय आया कि आस्तिक पर किञ्चित् संदेह किया जाने लगा। अब ऐसा युग है कि आस्तिक पर विश्वास नहीं किया जा रहा है।

ऊपर आस्तिक का जो लक्षण किया है, जो भी उन लक्षणों से युक्त होगा, वह कभी संदेहात्मक जीवन बिता ही नहीं सकेगा। परिणामतः उस पर अविश्वास के लिये अवकाश ही नहीं रहेगा।

इस प्रकार का आस्तिक पूर्ण दार्शनिक होगा, विचारवान् होगा। ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट वेद सम्मत आस्तिकता को जो भी अपने जीवन में घटायेगा, वह पूर्णता की ओर अग्रसर होगा ॥

आध्यात्मिक प्रभात

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार]

ऋग्वेद ७। ७६ सूक्त उषा देवता का सूक्त है। यहाँ उषा से अभिप्राय लोकप्रसिद्ध उषःकाल या प्रभात से नहीं है। यहाँ उषा से अभिप्राय मनुष्य की उस अवस्था से है जब कि उसे प्रभु की झाँकी मिलने लगती है, परमात्मा के प्रकाश की झलक दिखाई देने लगती है। उषा देवता के ये सारे ही सूक्त एक बहुत ऊँची श्रेणी की भक्ति-भावना से भरे हुये हैं। प्रस्तुत सूक्त में इस भक्ति-गंगा की तरङ्गों का कुछ आभास पाठकों को मिलेगा। नीचे सूक्त के मंत्रों का अक्षरार्थ दिया जा रहा है। इनका मनन कीजिए और अपने जीवन में भी सूक्त के भक्त की तरह ही आध्यात्मिक प्रभात को लाने का प्रयत्न कीजिये। इस सूक्त के अभिप्राय को भली-भाँति समझने और उसका आनन्द उठाने के लिये आवश्यक है कि पहले पाठक (ऋग्० ७। ७६। ४) का अच्छी तरह स्वाध्याय कर लें।

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्। क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥ १ ॥

अर्थ—(विश्वानरः) सब विश्व को चलाने वाले (सविता) सब के उत्पादक (देवः) परमात्मा देव ने (उ) निश्चय से आज (विश्वजन्यं) सब की हितकारी (अमृतं) अमृतस्वरूप (ज्योतिः) अपनी ज्योति को (उत्-अश्रेत्) ऊँचा कर दिया है—प्रकट कर दिया है। अब मेरे अन्दर (देवानां) देवों के (क्रत्वा) काम के लिये (चक्षुः) आँख (अजनिष्ट) उत्पन्न हो गई है (उषाः) इस नई ज्योति की आँख ने (विश्वं) सारे (भुवनम्) जगत् को (आविः) एक नये रूप में प्रकट (अकः) कर दिया है।

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः। अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ—(मे) मुझे (देवयानाः) देवों के चलने के (पन्थाः) मार्ग (प्र-अदृश्रन्) खूब दीखने लग गये हैं (अमर्धन्तः) अपने ऊपर चलने वालों की ये मार्ग कभी हिंसा नहीं करते (वसुभिः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों से (इष्कृतासः) ये अलंकृत रहते हैं (उषसः) इस आध्यात्मिक उषा का (केतुः) राह दिखाने वाला प्रकाश (पुरस्तात्) मेरी मानसिक आँखों के आगे (अभूत्) आ गया है (हर्म्येभ्यः अधि) हृदय-मन्दिर से निकल कर यह उषा—नई रोशनी (प्रतीची) मेरे सन्मुख (आगात्) आ रही है।

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य। यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ॥ ३ ॥

अर्थ—(उषः) हे नवीन ज्योति! (बहुलानि) बहुत सारे (तानि) वे (इत्) ही (अहानि) दिन (आसन्) हैं (या) जो कि (प्राचीनं) आगे बढ़ाने वाले हैं, प्रकर्ष देने वाले हैं (यतः) जिन दिनों में (सूर्यस्य) सबके अभिसरणीय—प्राप्त करने योग्य—भगवान् के (उदितौ) उदय के साथ (आचरन्ती) चलती हुई (ददृक्षे) तू दिखाई देती है (इव) जैसे (जारे) पति के साथ साध्वी नारी चलती है (पुनः) परन्तु (यती) चञ्चल स्वभाव की नारी की (इव) तरह (न) नहीं।

वे ही दिन, दिन हैं जिनमें भगवान् का साक्षात्कार हो कर हमारी उन्नति होती रही है। जिन दिनों में ऐसा नहीं हुआ, वे हमारे किसी काम नहीं आये और इन्हें अपने जीवन में दिन ही नहीं गिनना चाहिये।

त इद्देवानां सधमाद आस-
न्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्व-
विन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥४॥

अर्थ (ते) वे (इत्) ही (देवानां) देवों के (सधमादः) साथ मिलकर आनन्द भोगने वाले

(आसन्) होते हैं कि (ऋतावानः) सत्य पर चलने वाले (कवयः) तत्त्वदर्शी विद्वान् (पूर्व्यासः) सब गुणों में गुणों (सत्यमंत्राः) सबको सत्य विचार देने वाले (पितरः) पिता की तरह सबका हित चाहने वाले हो कर (गूल्हं) छिपी हुई (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति को (अन्वविन्दन्) प्राप्त कर लेते हैं इस प्रकार (उषासम्) आध्यात्मिक उषा को (अजनयन्) उत्पन्न कर लेते हैं।

समान ऊर्वे अधि संगतासः
संजानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्य-
मर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ॥५॥

अर्थ—जिनके अन्दर यह उषा खिल जाती है और जिन्हें प्रभु के दर्शन हो जाते हैं, वे (समाने) एक ही (ऊर्वे[1]) खान-पान में (अधि-संगतासः) एकत्र होते हैं—अर्थात् उनका खान-पान सम्मिलित होता है। (सं जानते) वे मिल कर विचार करते हैं (ते) वे (मिथः) आपस में (न) नहीं (यतन्ते) लड़ते (ते) वे (देवानां) देवों के (व्रतानि) नियमों को (न) नहीं (मिनन्ति) तोड़ते (अमर्धन्तः) वे हिंसा करके किसी को क्लेश नहीं पहुँचाते (वसुभिः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों के साथ (यादमानाः) चलते हैं, अर्थात् उनके लिये किसी बात का अभाव नहीं रहता।

प्रति त्वा स्तोमैरीडते वसिष्ठा
उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः
सुजाते प्रथमा जरस्व ॥ ६ ॥

अर्थ—(सुभगे) उत्तम प्रकार का षड्विध[2] ऐश्वर्य देने वाली (उषः) हे आध्यात्मिक नवीन ज्योति! (उषर्बुधः) उषःकाल में जागने वाले (वसिष्ठाः) वृत्तियों को वश में रखने वाले (तुष्टुवांसः) उपासक लोग (त्वा प्रति) तेरी (स्तोमैः) वेद-मन्त्रों के समूहों द्वारा (ईडते) महिमा गाते हैं (गवां नेत्री) तू गौओं की—गौ, ज्ञान, इन्द्रिय-शक्ति आदि की—प्राप्त कराने वाली है (वाज-पत्नी) अन्न और बल की देने वाली है (नः) हमारे लिये (उच्छ) तू खिल (सुजाते) हे जन्म को उत्तम बना देने वाली! (प्रथमा) तू ही मेरे लिये सबसे मुख्य वस्तु है, (जरस्व) तू मुझे स्तुति-योग्य बना दे ।

एषा नेत्री राधसः सूनृताना-
मुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ।
दीर्घश्रुतं रयि मस्मे दधाना
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ—(एषा) यह (उषाः) नवीन आध्यात्मिक ज्योति (उच्छन्ती) प्रकट होती हुई (राधसः) कार्य-सिद्धि की, और (सूनृतानां) सत्ययुक्त मधुर वाणियों की (नेत्री) प्राप्त कराने वाली है (वसिष्ठैः) अपनी वृत्तियों को वश में रखने वाले भक्त लोग (रिभ्यते) इसकी महिमा गाते हैं, यह (दीर्घश्रुतं) गहरे ज्ञान को और (रयिं) ऐश्वर्य को (अस्मे) हमें (दधाना) देने वाली है (यूयं) इस नवीन ज्योति से उत्पन्न होने वाले हे । दिव्य भावो! तुम सब (नः) हमारी (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) कल्याणों द्वारा (पात) रक्षा करो ॥

१. ऊर्वति क्षुधं हिनस्ति इति ऊर्वम् अन्नम् । इति सायणः ऋग्० १ । ७२ । ८ मन्त्रभाष्ये ।
२. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

वेदोदधि के कुछ चुने हुए मोती

[२]

[ले०—श्री पं० लालचन्द जी, मेरठ]

ब्रह्मसूक्त

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।

न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

अथर्व १ । ३२ । १

हे मनुष्यो ! इस सबसे महान् ब्रह्म परमेश्वर को जानो । ब्रह्मज्ञानी उस सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान का वर्णन करेगा । भगवान् का उपासक ही जिसने अन्तर्यामी व्यापक भगवान् से अपना संबंध अनुभव किया है, भगवान् के बारे में कुछ कह सकेगा ।

वह महान् सच्चिदानन्द प्रभु न केवल पृथिवी ही में है न केवल द्युलोक ही में है और न केवल अन्तरिक्ष में ही है, अपितु वह खं ब्रह्म आकाशवत् सर्वत्र है, सर्वव्यापक है । वह आनन्दमय भगवान् जीवन प्राण देता है । यह महान् भगवान् ही है कि जिस द्वारा वनस्पति आदि प्राण धारण करते हैं ।

इस विषय में अथर्ववेद का प्राण सूक्त भी देखना चाहिये जिसमें महाप्राण का विशद वर्णन है ।

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥२॥

इस जगत् की स्थिति आकाश में उस महान् ब्रह्म में ही है । इस सारे जड़ चेतन जगत के आश्रय आधार उस ब्रह्म को तत्त्वज्ञानी जन जानते हैं या नहीं जानते, यह तथ्य तो केवल वे ही जानते हैं । जीवन मरण के चक्र से थककर विश्राम करनेवाले आत्मवेत्ताओं की स्थिति उसी ब्रह्म में होती है । ब्रह्म के अनन्य उपासक जो इस रहस्य को जानते हैं, वे ही ब्रह्म के बारे में कुछ कह सकेंगे । महान् ब्रह्म इस चराचर जगत् का आधार है, यह परम सत्य है । (इस विषय में ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ सूक्त भी देखना चाहिये ।)

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

सदा गतिशील द्युलोक और पृथ्वीलोक जिस ब्रह्म द्वारा रचे गये हैं वह ब्रह्म आज और सदा से दयार्द्रहृदय है, दयामय है दयालु है, जलों के स्रोत की नाईं । जैसे भगवान् की कृपा से जल स्रोतों में से जल झरता है और वेगवती नदियों में बहकर सबका कल्याण करता है ऐसे ही भगवान् की दया निरंतर सबका परम हित करती है । भगवान् की प्रेमधारा उसकी स्नेह धारा सदा सबके मंगल के लिये बहती रहती है । उस प्रेममय परमसुहृद् का हृदय सबके लिये सरस रहता है, वह निरंतर सब पर दया करता है ।

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरंनमः ॥४॥

समस्त विश्व को सब ओर से आच्छादन करनेवाली उससे अतिरिक्त प्रकृति को हम लोग जानते हैं और वह अतिरिक्त सत्ता भी इससे अतिरिक्त ब्रह्मशक्ति में आश्रित है । प्रकृति परमब्रह्म में आश्रित है । प्रकृति उपादान कारण है । निमित्त कारण परम ब्रह्म प्रकृति से समस्त विश्व की रचना करता है, वह परम समर्थ है सबका आधार है । सर्वत्र चराचर जगत् का वही एक आधार है । सारे पदार्थ उसी एक अद्वितीय परम ब्रह्म में आश्रित हैं । वही एक सबका आश्रय है । मैं विश्व को जाननेवाली प्रकाशमयी और विस्तृत सबको आश्रय देनेवाली ब्रह्मशक्ति को नमस्कार करता हूँ ।

उस सर्वाधार परमब्रह्म की अर्चना आराधना उपासना सभी करें ।

आनन्दघन

सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽवृतः ।

वृषाह्युग्र शृण्विषे परावतिवृषो अर्वावति श्रुतः ॥

ऋ० ८ । ३३ । १०

तेजस्वरूप ज्योतिर्मय परमेश्वर! तू सत्य ही यहाँ सुखों का वर्षक है। तू वेग से आनन्द की वर्षा करने वाला है। तू हमारा रक्षक है। तू आनन्द-वर्षक ही सुना जाता है, तू आनन्दघन है ऐसा सभी कहते हैं। तू दूर समीप सर्वत्र आनन्दघन ही प्रसिद्ध है।

आनन्दघन! तू वृषजूति है। तू बड़े वेग से आनन्द की वर्षा करता है। सचमुच तू आनन्दवर्षक है, तू आनन्द वर्षाता है। तू संकोच से आनन्द नहीं देता, तू परम उदार है। आनन्द की वर्षा करता है, आनन्द से भरपूर करता है।

तू हमारे हृदयों को आनन्द रस से सरस रखता है। तू सब जगह आनन्दवर्षक प्रसिद्ध है। सर्वत्र तेरे उपासक तुझे आनन्दघन ही कहते हैं।

वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
वृषा धर्माणि दधिषे॥ ऋ० ९। ६४। १

साम ६०४

आनन्दघन प्रेममय भगवन्! तू प्रकाशमय है। तू ज्योतिस्वरूप है। आनन्दघन! तू परम देव है। आनन्द की वर्षा करना तेरा व्रत है। आनन्दघन! तू धर्ममेघ है, तू ऋत सत्य नियमों का निर्माण करता है और उन्हें धारण करता है। धर्म का आधार तू ही है।

वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा मदः।
सत्यं वृषन् वृषेदसि॥

ऋ० ९। ६४। २

आनन्दघन! तू वर्षणशील है। तेरा ज्ञान और बल सुखवर्षक है तेरे ज्ञान से सुख मिलता है। तेरा भजन सुखदायक है। तेरी प्रेरणा सुखद है। यहाँ तू निश्चय से सुखवर्षक ही है।

सुखदाता

अयमग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य।
तस्मै पावक मृळय॥ ऋ० ८। ४४। २८

हे स्वप्रकाश जीवन स्रोत. परम सुन्दर सौन्दर्य के दाता, उपास्य देव! यह स्तोता उपासक तुझ में मग्न होवे। हे परम पावन! उस के प्रति तेरी कृपा-दृष्टि हो, तू उसे सुखी रख।

जो उपासक अपने उपास्य देव के अनुकूल जीवन व्यवहार करता हुआ सदा उसे समर्पित रहता है, वह सदा प्रसन्न और सुखी रहता है।

अक्षय ऐश्वर्य

तत्ते सहस्व ईमहे दात्रं यन्नोपदस्यति।
त्वदग्ने वार्यं वसु॥ ऋ० ८। ४३। ३३

हे सबसे महान् सर्वशक्तिमान् ज्योतिर्मय जीवन प्रेम और आनन्द के स्रोत सर्व ऐश्वर्यप्रद! यह जो तेरा सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम ऐश्वर्य कभी नष्ट नहीं होता वह तेरा दातव्य दान हम तुझ से चाहते हैं।

भगवान् सब से स्नेह और प्रेम करते हैं। सब ऐश्वर्य उसी का है। उसके देने में कमी नहीं। उसका दिया हुआ सामर्थ्य सदा अजेय होता है। भगवान् का उपासक विजयी होता है और ऐश्वर्यवान् होता है।

उसी एक की आराधना

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत॥ ऋ० १। ७। १

संगीत विद्या विशारद भक्तिरस पूर्ण संगीत से ऐश्वर्यवान् सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर इन्द्र परमेश्वर की और पूजा प्रार्थना अर्चना करनेवाले अनेक मंगलमयी प्रार्थनाओं से उस एक परम महान् सर्वसमर्थ इन्द्र भगवान् की तथा उसी परमैश्वर्यवान् की परमतेजस्वी तेजस्वस्वरूप दीप्तिमान् इन्द्र की ही निश्चय से स्तुति करते हैं।

संसार में उसी एक भगवान् के गीत गाए जाते हैं। उसी की अर्चना की जाती है। उसी की आराधना की जाती है, उसी से जीवन ज्योति के लिये प्रार्थना की जाती है। उपास्य देव आराध्य देव केवल वही एक परमात्मा है। उसका स्नेह असीम है, वह सब के हृदय में बस रहा है।

आत्मा का स्वरूप

यस्ते अनु स्वधामसत् सुते नियच्छ तन्वम्।
स त्वा ममत्तु सोम्यम्॥ ऋ० ३। ५१। ११॥

हे प्यारे मानव आत्मन्! जो तेरा ज्ञान और आनन्द अपने स्वरूप में स्थिति होने में प्रकट होता है उसमें तू अपने आप को समर्पित कर, वह आनन्द तुझे आनन्दित रखे।

आत्म विश्वास और अपनी चेतना की अनुभूति से दिव्यानन्द का अनुभव होता है। अपनी अमर चेतन सत्ता की अनुभूति मनुष्य में दिव्य ज्ञानमय आनन्द भर देती है। मानव आत्मा दिव्य है अमर है। अपने शरीर प्राण मन आदि का स्वामी है, ये सब उसके साधन हैं। जब यह अनुभूति होती है तो मनुष्य निर्भय हो जाता है। और वह आत्मप्रेरणा से, अपने सत् संकल्प से सारे कार्य करता हुआ संतोष अनुभव करता है, उसका मन संतुलित रहता है, उसका मन शान्त रहता है, वह चञ्चल नहीं होता। सदा स्थिर और कर्तव्य में समर्पित रहता है।

स्वरूप की प्राप्ति

स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः ॥ ऋ० १।५।३ साम ७४२

निश्चय से वही मानव आत्मयोग में समर्थ होता है। वह आनन्द स्रोत भगवान् से अपने आप को जुड़ा हुआ अनुभव करता है, वही ऐश्वर्य में तथा शरीर प्राण मन बुद्धि के सम्यक् ज्ञान में भी समर्थ होता है। वह शक्तियों सहित हमें प्राप्त हो। हम ऐसे समर्थ मनुष्य के सम्पर्क में आवें।

हम सत्य ज्ञान द्वारा आत्मज्ञानी जनों की संगति में रहते हुए अपने आप को समझें। हम सत्यज्ञान द्वारा अपना सत्य स्वरूप भली प्रकार समझें, यही है स्वरूप की प्राप्ति। प्रेममय भगवान् के साथ जोड़ने से पूर्ण ईश्वरप्रणिधान से स्व-रूप का यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्मा इन्द्र है, उसे अपना इन्द्रत्व अवश्य अनुभव करना चाहिये। आत्मा विभूतिसंपन्न प्रगतिशील उन्नतिशील, विजयशील है। हम सब मानव आत्मा अपना स्व रूप समझें, अपना दायित्व समझें। हम आर्य हैं, हमारा अर्य भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध है। अपना इन्द्रत्व जानते हुए अपना अमरत्व समझते हुए अपना स्व-रूप अनुभव करते हुए हम अपनी आत्मज्योति में व्याप्त परम ज्योति को अनुभव करें। यही योग है, यही भगवान् से जुड़ा रहना है। योगी होने के लिए आत्मबल होना, अपने स्वरूप की, स्वयं अपने आत्मतत्त्व की अनुभूति होना अनिवार्य है। आत्मा का परमात्मा से योग होना है। शरीर प्राण मन बुद्धि इन्द्रिय ये साधन हैं, सहायक हैं। प्रभु से मेल होने पर ये सब भी दिव्य हो जाते हैं।

सारे शरीर में व्यापक प्राण

अतः परिज्मन्नागहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ऋ० १।६।९

हे मेरे शरीर में व्याप्त प्राण! तू मूर्धा भाग से और अन्तःकरण से भी आता है। तेरे ही आश्रय में कंठ से वाणियां प्रकट होती हैं।

प्राण व्यापक है, प्राण सिर में है, अन्तःकरण में है, प्राण कंठ में है, प्राण सारे शरीर में बटा हुआ है। हृदय में प्राण है। हृदय से नाभि तक जो कार्य कर रहा है वह समान प्राण है। नाभि से नीचे अपान है। उदान कंठ में है। व्यान सिर से पांवों तक सारे शरीर में व्याप्त है। हृदय में मानव आत्मा रहता है। यहाँ ही आत्मज्योति में परम ज्योति की अनुभूति नाम मधुर मिलन होता है आत्मा का परमात्मा से। मानव आत्मा की जब अभीप्सा होती है इस मधुर मिलन की, तो वह आजन्म जीवन व्यवहार निष्पाप रहता है और उसे भगवान् स्वीकार करते हैं और वह योगसंपन्न होता है। मनुष्य अपना स्वरूप अवश्य जाने और पवित्र रहता हुआ भगवान् का अत्यन्त सामीप्य प्राप्त करे। "वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा" (ऋ० १।२४।१५॥ हम ज्योतिर्मय अखण्ड ज्योति की अनुभूति के लिये उसके व्रत में व्रती रहें।

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ऋ० १।६।१०

इस पृथिवी लोक से और द्यौलोक से वा अन्तरिक्ष लोक से भी अर्थात् नाभि के निचले भाग में हृदय में और शिर में भी जो व्यापक महा प्राण है और सारे अवयवों में विभक्त है, उसे हम अनुभव करें। सिर से लेकर नीचे पाँव तक प्राण शक्ति काम कर रही है। शरीर में प्राणशक्ति रहने तक ही जीवन है, यही आयु है। युक्त आहारविहार और कर्म चेष्टा से प्राण सशक्त रहता है। प्राण सारे

शरीर में है, यह सत्यज्ञान समझना सबका कर्तव्य है। प्राण और वीर्य का तथा सामर्थ्य का, अटूट सम्बन्ध है। शुद्ध सात्त्विक आहार विहार से ही सत्व शुद्ध रहता है। वीर्य जीवन रस है। वह पवित्र रहना चाहिये। मन के पवित्र विचार से वीर्य शुद्ध रहता है और शुद्धवीर्य के अपने में होने से ही विचार पवित्र रह सकते हैं।

प्राणशक्ति जब अयुक्त आहार विहार और निकृष्ट चेष्टाओं से मन्द पड़ने लगती है तो मनुष्य निस्तेज और निर्जीव सा केवल दिन ही काटता है, उससे महत्त्व का कोई कार्य नहीं हो पाता। प्राण क्षीण होना मृत्यु को निमंत्रण है। प्राण शक्ति बढ़नी चाहिये इस का ह्रास जीवन का ह्रास है।

मन

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत
मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः॥
ऋ० ६। ७५। ६। यजु० २९। ४२॥

उत्तम सारथि रथ में बैठा हुआ जहां जहां चाहता है वहां वहां घोड़ों को आगे बढ़ाता है। यहां लगामों के महत्त्व के समान मन की भी प्रशंसा कीजिये, क्योंकि लगामें सारथि के अनुकूल ही चला करती हैं।

कठोपनिषद् के विख्यात सुन्दर वचन

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

इसी वेदमन्त्र के अनुसार कहेगये प्रतीत होते हैं रथ के चलाने में सारथि विना लगाम के घोड़े नहीं चला सकता। सचेत सारथि के हाथ में लगामें होती हैं और वह रथ में बैठा हुआ जहां चाहे घोड़े को ले जाता है। लगामें न हों तो सारथि रथ नहीं चला सकता। मनकी महिमा जाननी चाहिये। मन सदा सशक्त और स्वस्थ रहना चाहिये, तभी वह बुद्धि के अनुकूल रहता हुआ मानव आत्मा का मंगल कार्य करने में सहायक होता है। मनकी ज्योति सदा प्रदीप्त रहनी चाहिये। सशक्त मन ही बुद्धि के अनुकूल इन्द्रियों से काम करवाता है। मनकी महिमा को समझना चाहिये॥

आस्तिक कौन है ?

22.6.58

[ले० — श्री पं० वेंकटेश्व जी शास्त्री, आचार्य गुरुकुल घटकेश्वर, हैदराबाद]

सामान्यतया संसार में आस्तिक शब्द का अर्थ ईश्वर-विश्वासी कहा जाता है, परन्तु केवल ईश्वरविश्वासी कहने मात्र से इसका पूरा अर्थ स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि आज विश्व की २॥ अरब जनसंख्या में ऐसे जन २ करोड़ भी मुश्किल से मिलेंगे, जो ईश्वर को नहीं मानते हों। इन में भी अधिकांश सृष्टिसंचालन में किसी न किसी महत्तर शक्ति का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसे नाम देने से झिझकते हैं। ऐसे जनों को हम आस्तिकों में नहीं गिनते। क्योंकि ये सारे सज्जन ईश्वरविश्वासी होते हुए भी ईश्वर को वास्तविक अर्थों में नहीं जानते व मानते हैं। इसके अतिरिक्त केवल मात्र ईश्वर में विश्वास रखना ही आस्तिकता का लक्षण नहीं, इसके साथ कुछ और भी जुड़ा है। दूसरे, कैसे ईश्वर में विश्वास यह भी देखना चाहिये।

आस्तिक की परिभाषा करते हुए ऋषि दयानन्द ने जो भाव व्यक्त किया, वह सब दोषों से शून्य है इसका उल्लेख विद्वान् लेखक पं० मदनमोहन जी विद्यासागर ने अपनी रचित 'आर्य सिद्धान्त मुक्तावली' में निम्न प्रकार दर्शाया है।

"परमेश्वर, वेद (विद्या), धर्म, परलोक, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से कभी विमुख नहीं होना, सत्सङ्ग, माता पिता आचार्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना आस्तिक्य है। इनमें श्रद्धा रखने वाला आस्तिक कहाता है।" ऋषि दयानन्द के इन वाक्यों से आस्तिकता का अर्थ स्पष्ट हो गया है। अब हम निस्संशय यह कह सकते हैं कि आस्तिक वह है:—जो ईश्वर, वेद, धर्म, (सदाचार) श्रेष्ठाचार और (सत्यप्रवर्तन) कर्म (लोक, परलोक, कर्मफल, पुनर्जन्म) और मुक्ति

(शाश्वत-सुख-प्राप्ति) के सिद्धान्त में विश्वास रखे। यों तो ईश्वर में विश्वास हिन्दू, पारसी, यहूदी, ईसाई और मुसलमान भी रखते हैं। परन्तु वे आस्तिक नहीं कहला, सकते क्योंकि वे ईश्वरविश्वास के साथ वेद, धर्म, कर्म और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते। और जो ईश्वर वेदादि में विश्वास करते हैं, वे भी प्रायः ईश्वर और वेदादि के सम्बन्ध में विचित्र धारणायें बना लिये हैं। अतः यहाँ ऋषि दयानन्द ने अपने अलौकिक तप व त्याग से सत्शास्त्रों का आलोडन करके जिस सत्य मत का प्रतिपादन किया है, उनका सारांश नीचे दिया जा रहा है, जिससे आस्तिक कौन है ? यह स्पष्ट होगा।

१—आस्तिक वह है जो, ईश्वर में विश्वास रखता है, और ईश्वर को अपने जीवन का आश्रय समझता है। कैसा ईश्वर ? "सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है"। उक्त प्रकार से वर्णित ईश्वर को मानना आस्तिक का प्रथम लक्षण है।

२—आस्तिक वह है जो वेदों में आस्था रखता हो। क्योंकि आर्य दार्शनिकों के दृष्टिकोण से वेदमें विश्वास रखना आस्तिक का मुख्य लक्षण है। वेद क्या है ? ऋषि के शब्दों में "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"। ऋग, यजु:, साम, अथर्व नाम से प्रसिद्ध जो ईश्वरोक्त सत्यविद्याधर्मयुक्त वेदचतुष्टय है, वह निर्भ्रान्त नित्य स्वतःप्रमाण है। ईश्वरीय ज्ञान है। प्राणिमात्र का कल्याणकारक है। ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार कराता है।

३—आस्तिक वह है जो धर्मानुकूल आचरण करे। धर्म क्या है ? आर्ष शास्त्रों के अनुसार **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**—अर्थात् जिस से सत्कर्म करने की प्रेरणा मिले वह धर्म है। वह भावना जो मनुष्य को सदाचार, परोपकार, विद्यावृद्धि आदि की ओर प्रेरित करती है, वह धर्म है। क्योंकि प्रेरणा से ही मनुष्य कुछ कर सकता है। **धारणाद्धर्म इत्याहुः** धारण करने से धर्म कहाता है। मनुके धृति, क्षमादि दशलक्षणों वाला और वेद से तर्क से जो सिद्ध हो वह धर्म है। समस्त परिभाषायें व लक्षणों का सार "पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त जो ईश्वराज्ञा व वेदों से अविरुद्ध है, वही धर्म है। इसके अनुकूल जो आचरण करे वह आस्तिक है।"

४—आस्तिक वह है, जो कर्मसिद्धान्त को मानता हो। यह सिद्धान्त है (लोक, परलोक, कर्मफल और पुनर्जन्म को मानना) "जीव को जैसा वह कर्म करता है, वैसा फल (अर्थात् शुभाशुभ कर्म का सुखदुःखात्मक फल) न न्यून न अधिक यथासमय, यथावत् अवश्यमेव भोगना पड़ता है। ईश्वर पापों को क्षमा नहीं करता। कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। जीवों को कर्मों से मिलाने वाला ईश्वर है। कर्म का फल नियत होने से क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता और जीव अपने २ कर्मानुसार दण्ड व प्रतिष्ठा सदा पाते रहे हैं।" स. प्र.

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है:—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करै, सो तस फल चाखा॥

पंचतंत्रकार विष्णुशर्मा ने भी कहा है,

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च,
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च,
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति॥

अर्थ—जिस लिये जिससे जब और जैसा और जो, जितना जहां शुभ अशुभ कर्म करे, उन्हें उस लिये उससे और वैसा और वहीं उतना ही और वही कर्मफल प्राप्त होता है। इस प्रकार जो माने वह आस्तिक है।

५—आस्तिक वह है जो मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य मानता हो। मुक्ति क्या है ? सब प्रकार के दुःखों से पूर्णतः छूटने और परमात्मा में रहते हुए सुखप्राप्ति करने का नाम मुक्ति, मोक्ष या निःश्रेयसप्राप्ति है। अर्थात्—मुक्त दशा में जीव सब बुरे काम तथा जन्ममरणादि दुःखसागर से पार हो, विविध पापों से छूट कर बंधनरहित हो जाता है। तथा सर्वव्यापक सुखस्वरूप अनन्त ईश्वर को प्राप्त होकर उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरते हुए सुख ही सुख का अनुभव करता है, और नियत समय पर्यन्त इस मुक्ति सुख को भोग जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाती है, तब महाकल्प के पश्चात् वहां से छूट पुनः संसार में आता है। मुक्ति सान्त है। इस प्रकार मुक्ति को मानने वाला आस्तिक कहाता है।

[शेष पृष्ठ २ पर]

अष्टोत्तर-शतनाम-मालिका

'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित ईश्वर के १०८ नामों की व्याख्या

पद्यमाला

[ले०—श्री० पं० विद्यासागर जी शास्त्री एम० ए०, उन्नाव]

ओमजः कविराचार्य आदित्यः परमेश्वरः ।
प्रजापतिरनन्तश्च परमात्मा पितामहः ॥१॥
दयालुर्दिव्य आकाशो न्यायकारी बृहस्पतिः ।
ब्रह्मा ब्रह्म महादेवः सविता सत्य ईश्वरः ॥२॥
शुक्रः शुद्धः खमानन्दः शिवः शक्तिः शनैश्चरः ।
शंकरः शेष आत्मा च प्राणः प्राज्ञः सरस्वती ॥३॥
मातरिश्वा च माता च मनुर्भूमिरुरुक्रमः ।
वायू रुद्रो यमो यज्ञो वरुणः श्रीर्विराड् वसुः ॥४॥
अग्निरजा तथा द्वैतम् अनादिर्निर्गुणः प्रियः ।
सगुणः सत् सुपर्णश्चाप्यन्तर्यामी बुधस्तथा ॥५॥
चन्द्रश्चिन्मित्रमाप्तश्च गरुत्मान् सर्वशक्तिमान् ।
स्वयम्भूर्भगवान् होता पुरुषः प्रपितामहः ॥६॥
अक्षरस्तैजसो बन्धुर्देवो देवी निरञ्जनः ।
नित्यो नारायणः सूर्यो विश्वो विश्वम्भरः पिता॥७॥
कालः कालाग्निरन्नाद इन्द्रो गणपतिर्गुरुः ।
अन्नं ज्ञानं जलं राहुः कूटस्थः पृथिवी स्वराट् ॥८॥
सर्वपूर्वो जगत्कर्ता मुक्तो लक्ष्मीश्च मंगलम् ।
बुद्धो हिरण्यगर्भोऽयं कुबेरः केतुरर्यमा ॥९॥
अचिन्त्यो धर्मराजश्च निराकारस्तथैव च ।
विष्णुर्विश्वेश्वरश्चैव कीर्त्यते ऽयं जगत्प्रभुः ॥१०॥
प्रोक्तमेतत्प्रभोर्नाम्नामष्टोत्तरशतं पुनः ।
कीर्त्तयन् स्मरणं कुर्वन्नेभिर्ध्यायँस्तथैव च ॥११॥
भगवन्तं जगन्मूर्तिं मुक्तिमुक्तिप्रदं प्रभुम् ।
मनःशुद्धिमवाप्नोति लभते च परं पदम् ॥१२॥
अचिन्त्यं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणम् ।
आत्मग्राह्यं परं ज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्मणे नमः ॥१॥
यस्य सर्वे समारम्भा जगदुद्धारहेतवः ।
तं वन्दे श्रीदयानन्दं सत्मार्गप्रदर्शकम् ॥२॥
यदुत्संगे सुविश्रान्तसुधान्तं ज्ञानवैभवम् ।
कुलमात्रे नमस्तस्यै सुखसौभाग्यहेतवे ॥३॥
गुरवे मे नमस्तस्मै वेदविज्ञानकेतवे ।
श्रीमते सूर्यदेवाय श्रुतिसागरसेतवे ॥४॥
राधाविहारिणौ नित्यं सुखसौभाग्यशालिनौ ।
स्वर्गतौ पितरौ वन्दे विद्याविज्ञानरूपिणौ ॥५॥
सत्यर्थे तु निरुक्तं यन्नाम्नां शतमनुत्तमम् ।
क्रियते तस्य व्याख्येयं विद्वज्जनविनोदिनी ॥६॥

यह बात निर्विवाद है कि वैदिक साहित्य संसार के सम्पूर्ण साहित्य से प्राचीन है और उसमें भी संहिता भाग प्राचीनतम है। ये संहितायें चार हैं—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व। इन्हीं का दूसरा नाम वेद है, वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा लोकोपकार के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने भूतलपर ऋषियों द्वारा इनका प्रादुर्भाव किया। मनुष्य की उन्नति के लिये जिन आवश्यक साधनों की आवश्यकता है, उनका संक्षिप्त किन्तु विशद उल्लेख इनमें मिलता है, ऐसा आर्य-समाज के प्रवर्त्तक ऋषिदयानन्द का मत है।

स्तोत्रों के उद्गम का मूल

वेदों में अनेक स्तुतियां आती हैं। अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वाद (निरु ७।३।२) ऐसा लिखकर यास्क स्वीकार करते हैं कि स्तुति भी वेद का विषय है। और तो और 'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (ऋक्० १।१।२) इस वचन द्वारा स्वयं वेद भगवान् भी उल्लिखित विषय से सहमति प्रकट कर रहे हैं। ऋक् शब्द की मूलधातु भी 'ऋच् स्तुतौ' है। स्तुतिप्रधान होने से ही इस संहिता का नाम ऋक् संहिता है, अत एव इस शब्द का ऐसा निर्वचन किया गया है। 'ऋच्यते

श्रूयते तत्तद्गुणमहिम्ना प्रतिपाद्यते परमेश्वरो यत्र यद्वा ऋच्यते अभ्युदयनिःश्रेयससाधनान्यनयेति ऋक्'। इन स्तुतियों में नाम तथा गुण दोनों का ही कीर्तन किया गया है। यही स्तुतियां उत्तरकालीन स्तोत्रों की मूल हैं। भगवान् के नामों का उपयोग उनकी स्तुति में किया जाता है तथा इन नामों का पाठ मंगलकारी समझा जाता है। स्तुति के लिये जो पद्यमालिकायें बनती हैं, वे स्तोत्र कहाती हैं। इस प्रकार के स्तोत्रों में विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम सूर्यसहस्रनाम आदि अनेक नाममूलक स्तोत्र हैं। अनेक व्यक्ति प्रातः सायं इनका पाठ किया करते हैं। इससे इतना तो लाभ अवश्य है कि वह समय जो बेकार जाता है, भगवान् के नामोच्चारण में व्यतीत होता है। नामकीर्तन जहां तक वैयक्तिक रूप में रहे वहां तक तो अच्छा है, किन्तु जब वह सामूहिक रूप धारण करके प्रदर्शन (Demonsteration) की वस्तु बनता है तब सिवा ढोंग के और कुछ नहीं रहता।

सत्यार्थप्रकाश में १०८ नाम और उनके उल्लेख का उद्देश्य

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में ईश्वर के अनेक नामों का उल्लेख किया है। इनकी संख्या १०० से लेकर १०९ तक पहुँचती है। 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रारम्भ में इनका उल्लेख कुछ माङ्गल्य होने की दृष्टि से नहीं किया गया है, अपितु सब शब्द परमेश्वर के वाचक हैं यह बताने के लिये। उनके लेख से भी यही प्रमाणित होता है[1]। यही प्राचीन परम्परा है। वेद में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनसे व्यक्त होता है मित्र, वरुण आदि शब्द भगवान् के वाचक हैं[2]। यह वैदिक परम्परा बहुत काल तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। उसके पश्चात् डूबने उतराने लगी, किन्तु सर्वांश में नष्ट नहीं हुई। भगवान् शंकर अपने शारीरिक भाष्य में अनेक शब्दों का जो लौकिक दृष्टि से अन्यार्थपरक प्रतीत होते हैं, सोपपत्तिक ब्रह्मपरक व्याख्यान कर गये हैं। उनके इस व्याख्यान का आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। इसी प्रकार प्राचीन वैष्णव आचार्यगण भी सब शब्द विष्णुपरक हैं, ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन कर गये हैं। उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में इसका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

रामेन्द्रकृष्णहरिविष्णुशिवादिशब्दा,
ब्रह्मैकमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति।
कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो,
नाणीयसीमपि भिदां भजते पदार्थः॥
ब्रह्मेति शंकर इतीन्द्र इति स्वराडित्यात्मेति,
सर्वमिति सर्वचराचरात्मन्।
विश्वेश सर्ववचसामवसानसीमां त्वां,
सर्वकारणमुशन्त्यनपायवाचः ॥

हारीत स्मृति में वृद्धहारीतने यही विषय निम्न शब्दों से कहा है—

ईश्वरस्तु स एवास्य जगतः प्रभुरव्ययः।
नारायणो वासुदेवो विष्णुर्ब्रह्माच्युतो हरिः॥
स्रष्टा धाता विधाता च स एव परमेश्वरः।
हिरण्यगर्भो सविता गुणभृन्निर्गुणोऽव्ययः॥
परमात्मा परं ब्रह्म परं ज्योतिः परात्परः।
इन्द्रः प्रजापतिः सूर्यः शिवो वह्निः सनातनः॥
सर्वात्मकः सर्वसुहृत् सर्वभृत भूतभावनः।
यमी च भगवान् कृष्णो मुकुन्दोऽनन्त एव च॥
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः।
स एव पुण्डरीकाक्षः श्रीशो नाथोऽधिपो महान्॥
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्रकरपादवान्।
(बृ० हा० अ० १ श्लो १०-१४)

आशय यह है कि सब जगत् के प्रभु अव्यय भगवान् ही नारायण, वासुदेव, ब्रह्मा, विष्णु, यज्ञ, यज्ञपति आदि नामों से पुकारे जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी स्मृतिकार ने लिखा है—

इन्द्राग्निवरुणादीनि नामान्युक्तानि तत्र तु।
ज्ञेयानि विष्णोस्तान्यत्र नान्येषां स्युः कथंचन॥
(बृ० हा० अ० १० श्लो ४५-४६)

श्रीमद्भागवत में भी एक स्थल पर लिखा है—

१-प्रश्न-परमेश्वरसे भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं? उत्तर, हैं, किंतु परमात्माके भी (स०प्र०पृ०२ सं०१)
२-इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु०

वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(भाग० ३-२-११)

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिस अद्वय तत्त्व का परिज्ञान किया करते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् आदि शब्दों से पुकारा जाता है।

श्रुति सिद्धान्त संग्रह में श्रीवनमालिमिश्र ने भी कहा है—

महायोगादिना सर्वे शब्दा वदन्ति माधवम् ।
मुख्यतो ऽन्यपदार्थांश्च व्यवहर्तुममुख्यतः ॥
श्रु० सि० सं० ५-४४

किन्तु यह परम्परा केवल विद्वानों में ही प्रसिद्ध रही। जन साधारण की दृष्टि से कुछ शब्दों को छोड़कर शेष शब्द या तो लौकिक पदार्थों के ही वाचक थे या भिन्न २ देवताओं के। भारत के दौर्भाग्य से ईश्वर के अनेक नाम जो कि उसकी भिन्न भिन्न शक्तियों अथवा भिन्न भिन्न गुणों के द्योतक थे; भिन्न भिन्न देवताओं के नामों का रूप धारण कर चुके थे। उन उन देवताओं के उपासक एक दूसरे के चढ़ाव उतराव की व्यवस्था करने में लगे हुये थे, जिससे धार्मिक क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का संग्राम चल रहा था। ऋषि ने जिस समय भारत में जन्म लिया उस समय भारत का धार्मिक क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण विचारवान् व्यक्तियों के हाथ में होने से अत्यन्त शोचनीय हो रहा था। ऋषि ने इस दृश्य को देखा और उनके कोमल तथा प्रतिभावान् हृदय में भारत की अवनति के मूलकारण इस अनैक्य को दूर करने का विचार उत्पन्न हुआ। इस अनैक्य को दूर करने के दो ही उपाय थे।

सब देवताओं को पृथक् पृथक् मानते हुए भी उनका मेल करा दिया जाय, अर्थात् यह दिखा दिया जाय कि सब देवता अपने अपने स्थान पर मुख्य हैं, शेष उस समय गौण तथा उस मुख्य के अंगभूत हैं। इस उपाय का अवलम्बन महाभारत के प्रतिसंस्कर्ता सौति तथा तुलसीरामायण के रचयिता तुलसीदास कर चुके थे। किन्तु उनका यह प्रयास कुछ विशेष फलीभूत नहीं हुआ। साथ ही ऋषि वेदों में बहुदेवतावाद स्वीकार करने को तैयार न थे, अतएव वह इस उपाय का अवलम्बन न कर सकते थे।

२. दूसरा उपाय यही था कि 'ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई उपास्य देवता नहीं है। विभिन्न शब्द उसी के वाचक हैं जिनसे उसके गुण और शक्तियां प्रतीत होती हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋषि ने इसी पुरातन एवं प्रामाणिक मार्ग का अवलम्बन किया और यह प्रमाणित कर दिखाया कि सभी शब्द भगवान् के वाचक हैं। हां प्रकरणवशात् उनके दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं[1]।

नामों का वर्गीकरण

यह ऊपर बताया जा चुका है कि ऋषि ने सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम समुल्लास में जिन नामों का उल्लेख किया है उनकी संख्या १०० से १०९ तक पहुँचती है। हमने प्रारम्भ में एक ऐसी तालिका दी है जिसमें विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण को मिलाकर तीन प्रामाणिक संस्करण, बाल सत्यार्थप्रकाश, सत्यार्थप्रकाश भाष्य इस प्रकार कुल मिलाकर विभिन्न पाँच पुस्तकों के उसी प्रकरण का तुलनात्मक आलोचन कर पृथक् १०८ नाम छाँट लिये हैं, जिनका इनमें से अथवा अधिक में समावेश है। इन्हीं १०८ नामों का व्याख्यान करना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण को पढ़कर इस नाम समुदाय का वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है।

१—मुख्यनाम।

२—ओंकार से गृहीतनाम।

३—प्रथमसमुल्लासके प्रारम्भमें पठित मन्त्रान्तर्गत नाम।

४—अन्य मन्त्राद्यन्तर्गत नाम।

५—अवशिष्टनाम।

इन अवशिष्टनामों की संख्या ७३ है, इनके भी अवान्तर विभाग सात होते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर १०८ नाम हो जाते हैं।

व्याख्यान कहते हैं विशिष्ट आख्यान को। प्रकृत में आख्यान की विशेषता यही है कि व्याख्येय शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर तदनुकूल प्रकृति-प्रत्यय की कल्पनाकर उसका निर्वचन करना और इस प्रकार व्याकरण द्वारा शब्द का साधुत्व प्रतिपादन करना।

---

१ अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण, विशेषण नियामक हैं। (स० प्र० पृ० ४ सं० १)

शब्द-रचना के विषय में दो मत

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि शब्दतत्त्ववित् महानुभावों की दृष्टि में शब्दरचना के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। १. सब शब्द व्युत्पन्न हैं। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से उनकी रचना हुई है। उनके मूल में एक न एक धातु निहित है। २. कुछ अव्युत्पन्न प्रातिपदिक भी हैं जिनकी रचना में प्रकृति-प्रत्यय का हाथ नहीं है। निरुक्तकार ने **नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च, न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके'** (नि० १० । १२) लिखकर इन दोनों चिरन्तन प्रचलित तथा मान्य सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

सब शब्द आख्यातज नहीं हैं, इसके माननेवाले वैयाकरणों में पाणिनि हैं, इसलिये इन्होंने अनेक शब्दों को निपातन से सिद्ध किया है तथा 'यथोपदिष्टं' माना है अन्यथा उनके पास प्रकृति-प्रत्ययों की क्या कमी थी। निपातन शब्द का अर्थ है 'निपतत्यर्थविशेषे' आशय यह कि अमुक शब्द विशेष का अमुक अर्थ में व्यवहार होता है, किन्तु इसके समर्थक प्रकृति-प्रत्यय नहीं मिलते, जिससे इनकी रचना मानी जाय। इसी का नाम है निपातन से सिद्ध होना। यथोपदिष्ट का भी यही आशय है कि जो जैसे बोले जाते हैं वे वैसे ही साधु हैं। उनके साधुत्व में व्यवहार ही प्रमाण है, इसके लिये पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं, क्योंकि उनका साधुत्व प्रयोगबल से ही है। यद्यपि पिछले बुद्धिसागर वृत्तिकारों ने आचार्य पाणिनि के आशय के विरुद्ध इनका भी संबन्ध बलात् प्रकृति-प्रत्यय से कर दिया है यह दूसरी बात है। इसीलिये उपलब्ध उणादिकोष भी शाकटायन निर्मित नहीं है अन्यथा उसमें निपातन द्वारा शब्दों की सिद्धि न की जाती, अपितु प्रकृतिप्रत्ययों से शब्दों का निर्माण होता।

कुछ व्यक्तियों का कहना यह है कि जो सब शब्दों को आख्यातज मानते हैं उन्होंने शब्दों के साथ घोर अत्याचार किया है। जिस शब्द का जिस अर्थ में व्यवहार होता है उससे अत्यन्त विपरीत हास्यास्पद प्रकृतिप्रत्ययों की कल्पना की है। इसी दृष्टि से **अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः** (नि० १-१३) लिखकर इनपर आक्षेप किया गया है। इसका आशय यही है कि शाकटायनने सब शब्दों को आख्यातज बनाने की धुन में अत्यन्त असंगत कल्पनायें कर डाली हैं। इनका जो समाधान **'सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा'** (नि० १-४) कह कर किया गया है, वह कुछ सन्तोषजनक नहीं है। निरुक्तकार का **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्) नत्वेव न निर्ब्रूयात्'** यह लेख उक्त धींगाधींगी का समर्थन कर रहा है। साथ ही निरुक्तकारके अनेक निर्वचन बड़े ही असंगत हैं। उदाहरण के लिये संख्यावाचक तथा छन्दोवाचक शब्दों के निर्वचन उपस्थित किये जा सकते हैं। उणादिकार के कौशल को तो, पूजार्थक 'यक्ष्मा' धातु से 'यक्ष्मा' शब्द का निर्वचन करना ही प्रमाणित कर रहा है। मानो यक्ष्मा ऐसा अच्छा रोग है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके घर में आ विराजा करे। वस्तुतः यक्ष्मा शब्द का निर्वचन है **'क्षयं माति = निर्मिमीते इति 'यक्ष्मा' वर्णविपर्ययात्'** अर्थात् जो रोग क्षयका निर्माण करता है उसे यक्ष्मा कहते हैं।

इस प्रकार का आक्षेप करने वालों ने इन मतों के समझने में एक हल्की सी भूल की है और इसका कारण है इन मतों के इतिहास पर दृष्टिपात न करना। प्रारम्भ में सब शब्द आख्यातज हैं, इसका मतलब यही रहा कि सब शब्दों का सम्बन्ध धातु तथा प्रत्यय से है। उणादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमुक शब्द अमुक धातु से अमुक प्रत्यय करके बनता है यह बता देने के पश्चात् उनके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है, क्योंकि शब्दसाधुत्वसम्पादन करना ही व्याकरण का प्रयोजन है। उस समय इसी (प्रकृति और प्रत्यय के सम्बन्ध) का नाम ही योग था और इस योग से बने शब्द यौगिक कहाते थे। तब शब्दरचना में अर्थ का कोई मूल्य न था, क्योंकि शब्द का अर्थ व्यवहार, प्रयोग या प्रवृत्तिनिमित्त पर आश्रित था और अब भी है नकि व्युत्पत्तिनिमित्तपर। अतएव **"अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्'** यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। इसलिये उन प्रारम्भिक वैयाकरणों ने शब्दों को किन्हीं प्रकृति प्रत्ययों से बना हुआ बताना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझा, तब 'यक्ष पूजायाम्' से यक्ष्मा की रचना मानना कुछ दोषावह नहीं है।

अग्रिम विचारकों ने यह सोचा कि जब शब्दों को किसी न किसी प्रकृति प्रत्यय से बना हुआ मानना ही है, तब यही श्रेयस्कर है कि ऐसे प्रकृति प्रत्यय ढूंढे जाँय जो स्वरूप तथा अर्थ दोनों की दृष्टि से शब्द से मिलते हों। तब यौगिक का अर्थ हुआ ऐसे शब्द जिनका प्रयोग जिस अर्थ में होता

हैं वह अर्थ उनके शब्द प्रकृति प्रत्यय से भी निकलता हो ! इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त दोनों मिल गये या मिला दिये गये। यही शब्द जब उक्त वाच्य को लेकर किसी पदार्थ विशेष से संबद्ध हो जाते हैं तब 'योगरूढ' कहाते हैं। फिर भी कुछ शब्द ऐसे रह जाते हैं जिनका संबन्ध किसी प्रकृति प्रत्यय से नहीं हो सकता। अतएव वे योग बाह्य हैं जैसे पृषोदर, बलाहक, कपित्थ आदि शब्द हैं। इनके अतिरिक्त कुछ संज्ञावाचक शब्द भी ऐसे हैं या तो जिनका संबन्ध किसी प्रकृति प्रत्यय से न हो सकता था अथवा सम्बन्ध होने पर भी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निष्पन्न अर्थ से शब्द के प्रयुक्त अर्थ का कोई सम्बन्ध न बन सकता था, ऐसे शब्द रूढ़ कहाये। इस प्रकार के शब्दों के साथ निर्वचन तथा प्रत्ययान्वेषण करने में इस **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त के स्वीकर्त्ताओं ने वास्तव में बड़ा अत्याचार किया है। इनके लिये प्रकृति प्रत्यय की कल्पना में बड़ी अटकल से काम लिया गया है। अत्यन्त असम्बद्ध कल्पनाओं से इन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जैसा नहीं करना चाहिये था। उत्तरकाल के वैयाकरणों ने तो अपने व्याकरण ज्ञान का अत्यन्त दुरुपयोग किया विभिन्न भाषा के शब्दों को भी बलात् निर्वचनद्वारा संस्कृत का शब्द बना दिया। आदाव (आदाव अर्ज़) शब्द अरबी का है इसकी रचना इस प्रकार की 'दवः उपतापः = **असत्कारः स नास्त्यस्मिन्निति 'अदवः' आसमन्तात् अदवः आदवः = सम्यक्सत्कारः, सत्कारसूचकःशब्दो वा'** ! ऐसे ही मीं, मियां, मलिक शब्दों को डी,' डियाम्, तथा डलिक प्रत्यय करके सिद्ध कर लिया गया है। इसी का नाम है शब्दों के साथ अत्याचार। यद्यपि यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है कि 'संस्कृत सम्पूर्ण इतर भाषाओं की जननी हैं' तथापि इसको प्रमाणित करनेका यह ढंग नहीं है, अपितु उनके परिवर्तनों का क्रमिक विकास दिखाकर उनको सिद्ध करना यह ढंग है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति दोनों से भिन्न है न तो सब शब्द आख्यातज ही हैं और न सब अव्युत्पन्न ही, अपितु कुछ शब्द आख्यातज अथवा व्युत्पन्न हैं तथा कुछ अव्युत्पन्न।

अर्थ तथा निर्वचन का सम्बन्ध

निर्वचन तथा अर्थ का परस्पर का सम्बन्ध है यह विषय भी विचारणीय है। इस सम्बन्ध के विषय में दो मत हैं १. निर्वचन द्वारा शब्द के अर्थ को बताना। २. अर्थानुकूल निर्वचन करना। दोनों में भेद यह है कि प्रथम पक्ष में हम ध्रुव की कल्पना करते हैं। द्वितीय पक्ष में उपलब्ध परम्परा अथवा व्यवहार प्राप्त अर्थ का निर्वचन द्वारा समर्थन करते हैं। ऋषिदयानन्द द्वितीयपक्ष के ही समर्थक प्रतीत होते हैं। यद्यपि प्रथम पक्ष भी उनके मत्थे मढ़ा जाता है। वे प्रथम न्यायानुमोदित शास्त्रप्रसिद्ध व्यवहारानुमोदित यह मान लेते हैं कि सब शब्द भगवान् के वाचक हैं, अनन्तर अर्थानुसारी निर्वचन कर देते हैं। उसी प्रकार के प्रकृति-प्रत्यय ढूंढ निकालते हैं। उदाहरण के लिये 'प्राण' शब्द लीजिये अब यदि इसका निर्वचन **'प्राणिति इति प्राणः'** (प्राण श्वास लेने से भगवान् प्राण कहाते हैं) यह हो तो यह भूतार्थ नहीं, भगवान् सांस नहीं लेते। इसलिये इस शब्द का व्यवहार मुख्यार्थ में हो नहीं सकता। तब अवश्य यह व्यवहार औपचारिक है इसलिये महाराजने निर्वचन का स्वरूप रक्खा **'सर्वेषां प्राणस्य—जीवनस्य मूलं प्राणः'**। आशय यह कि **'प्राणनकारणत्वात् प्राणं ब्रह्म यथा आयुष्कारणत्वात् आयुर्घृतम्'**। अब स्पष्ट है कि प्रथम प्राण का अर्थ ईश्वर मानकर ही उक्त शब्द लिखे गये हैं। अन्यथा इस द्रविडप्राणायाम की क्या आवश्यकता थी। संक्षेप में आशय यह कि ऋषि ने अर्थानुसारी निर्वचन किये हैं न कि निर्वचनों से अर्थ निकालकर उलटी गंगा बहाई है। यास्क भी निर्वचन प्रकरण में **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (निरु० २।१) लिखकर इसी तत्त्व के समर्थक हैं। इसलिये पति तथा पिता शब्द एक ही धातु 'पा—रक्षणे' से एक ही कर्ता अर्थ में 'डति' तथा 'तृच्' प्रत्यय से बनकर भी परस्पर पर्यायवाची अथवा एकार्थ के वाचक लोक या वेद में कहीं भी नहीं माने जाते।

व्याख्यान का प्रकार

अभी पीछे व्याख्यान का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। इसी व्याख्यान को साङ्गोपाङ्ग बनाने के लिये इन्हीं शब्दों के विभिन्न दृष्टि से विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न निर्वचनों का प्रदर्शन कराया गया है जो ज्ञानवर्धक होने के साथ मनोरञ्जक भी होगा ही। नामों के व्याख्यान का क्रम इस प्रकार रक्खा गया है:—

(क) १ सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करणान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।

२. सत्यार्थप्रकाश अन्य संस्करणान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।

३. श्रीमहाराज के अन्यान्य ग्रन्थान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।

यथायोग्य इनपर शंका समाधान व्याख्या आदि।

(ख) १ वैदिकसाहित्य जैसे ब्राह्मण उपनिषत् आदि में उपलब्ध निर्वचनों का उल्लेख।
२ विभिन्न वेदभाष्यान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।
(ग) १ निघण्टु व्याख्या (देवराजयज्वा कृत) में उपलब्ध निर्वचनों का परिदर्शन।
२. निरुक्तसम्मत निर्वचनों का निर्देश, उनका स्पष्टीकरण तथा प्रकृत में संगतिप्रदर्शन।
(घ.) विष्णुसहस्रनाम की प्रमुख व्याख्याओं में उपलब्ध निर्वचनों का उल्लेख तथा उनकी दृष्टि से स्पष्टीकरण तथा अपने साथ समन्वय अथवा असमन्वय का प्रदर्शन।
(ङ.) अन्यान्य ग्रन्थान्तर्गत अथवा संभावित निर्वचनों का प्रदर्शन शब्द के ईश्वरपरक व्याख्यान को प्रमाणित करने के लिये सव्याख्यान वेद तथा शास्त्रों के वचनों का प्रमाणरूप से उपस्थित करना।

शैलीका दिग्दर्शन

नामों की व्याख्या करने से पूर्व कुछ उस शैली का दिग्दर्शन करा देना चाहिये। इसके लिये सर्वप्रथम नाम शब्द का निर्वचन कर उसे स्पष्ट किया जाता है। नाम शब्द के मूल में दो धातु मानी जाती हैं। एक 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' और दूसरी 'म्ना अभ्यासे' नम का अर्थ है नम्रता प्रकट करना तथा पुकारना, तब निर्वचन होगा' **'नम्यते = शब्दाय्यते अनेनेति नाम'** अर्थात् जिसके द्वारा हम किसी को पुकारते हैं उसे नाम कहते हैं। म्ना का अर्थ है अभ्यास। अभ्यास कहते हैं पौनःपुन्य को। इसका अर्थ है किसी क्रियादि का बार बार करना या होना। तब निर्वचन होगा **'म्नायते अभ्यस्यते अनेनेति नाम'** अर्थात्—जिसका बार बार प्रयोग किया जाता है उसे नाम कहते हैं। पुकारने आदि में संज्ञा शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग किया ही जाता है। निरुक्तकार की दृष्टि से संज्ञा शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त है 'व्यवहार लाघव' जैसा कि वे लिखते हैं **'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके'** (निरु० १–२–५)

इस प्रकार इस विषय में एक संक्षिप्त अनुसन्धानात्मक विवेचन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया। इससे इस विषय में समुचित ज्ञान उपलब्ध हो सकेगा। हो सकता है कि कुछ योग्य विद्वान् मेरे इन विचारों में सहमत न हों तथापि उनके विचार के लिये भूमिका अवश्य उपस्थित होती है॥

(क्रमशः)

ऋग्वैदिक-नदी-विमर्श

[*ले०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी बी० ए० पथिक, कानपुर*]

वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। वेदों में किसी प्रकार का अनित्य इतिहास नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् वेदों में ऐतिहासिक गाथा, नदी, पहाड़, आदि का उल्लेख करते हैं और उनके चरण-चिन्हों पर चलने वाले कतिपय भारतीय विद्वान् भी वैसी ही बातें लिखते व मानते हैं। प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर का 'मासिक पत्रिका 'सरस्वती' प्रयाग, वर्ष ५९ फरवरी १९५८, खण्ड १, संख्या २, पृष्ठ ८१ से ८४ तक ऋग्वेद में नदियों का उल्लेख' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी के लेख के आधार पर ऋग्वेद में से नदियों का वर्णन किया है। आपके लेखका सारांश यों है—

पृष्ठ ८१

"......ऋग्वेद में नदियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर आता है। श्रीसत्यव्रत सामश्रमी महोदय ने 'ऐतरेयालोचन' नामक पुस्तक में कुछ नदियों के, जिनका ऋग्वेद में उल्लेख है, वर्त्तमान अवस्थान भी दिखाने का प्रयत्न किया है। आर्यों की पुरानी आवासभूमि तुग्व, सुवास्तु (ऋ० ८, २०, ३७) नदी के तट पर थी, और उसका नाम तुग्व तीर्थ था। यास्क ने यहां सुवास्तु का अर्थ इस नाम की नदी ही किया और तुग्व को तीर्थ ही माना है।

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में अनेक नदियों के नाम दृष्टिगोचर होते हैं।......इस मन्त्र में रसा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और सरयू इन पांच नदियों के नाम आए हैं।... १०।७५।६ मन्त्र में 'रसा' नदी को सिन्धु से संगत कहा गया है।

पृष्ठ ८२ कॉलम १—

"जन्हुमुनि के प्रसिद्ध-आश्रम के नीचे बहनेवाली जाह्नवी का "पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जन्हाव्याम् (३ । ५८ । ६) में उल्लेख है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में नव ऋचाओं का एक सूक्त है। इसमें नदियों की स्तुति होने के कारण इसको नदी-सूक्त की संज्ञा दी गई है। इस सूक्त की प्रथम ऋचा का उत्तरार्ध है—

'प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः
प्रसृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा"।
(ऋग्वेद १० । ७५ । १)

अर्थात् नदियां सात सात की तीन श्रेणियां बनाकर बहती हैं।······

त्रिः सप्त सस्रा नद्यः १० । ६४ । ८ इत्यादि अन्य स्थानों में भी इन इक्कीस नदियों का उल्लेख मिलता है।

पृष्ठ ८३ कॉलम १—

"इस सूक्त की पांचवीं ऋचा है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥
ऋग्वेद १० । ७५ । ५

इस मन्त्र में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, मरुद्वृधा, आर्जीकिया और सुषोमा इन सात नदियों का उल्लेख है।

इस सूक्त की छठी ऋचा में इस प्रकार

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः। यजु० १०।७५।६

इस मंत्र में (१) तृष्टामा (२) सुसर्तु (३) रसा (४) श्वेती (५) कुभा (६) गोमती, (७) क्रुमु इन सात नदियों का नामोल्लेख है।

पृष्ठ ८४ कालम २.

"ऋग्वेद १।१०४।१।२।३ में वर्णित शिफा नाम की नदी तो निषध देश में सम्भव है। आठवें मण्डल के ९६।१३। १४।१५ में अंशुमती नदी का उल्लेख है। अन्य अनेक नदियों का वर्णन ऋग्वेद में है।"

समीक्षा—वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। वेदों के सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं। वेदों में किसी भी प्रकार का इतिहास, नदी, पहाड़ के नाम आदि नहीं हैं। चतुर्वेदीजी ने ही केवल नहीं वरन् अन्य कई विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में नदियों की कल्पना की हैं। यथा—

श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एम. ए.[१]; श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी एम. ए.[२]; श्रीनिवासाचारी एम. ए. तथा श्री एम. एस. रामस्वामी अयंगर एम. ए.[३]; श्रीसम्पूर्णानन्दजी बी. एस-सी.[४]; श्रीसत्यनारायणदूबे एम. ए.[५]; मिश्रबन्धु[६]; श्रीश्यामकिशोर मालवीय एम.ए.[७]; श्रीनेत्रपाण्डेय एम. ए., एल. एल. बी.[८]; श्रीगङ्गाप्रसाद मेहता एम. ए. प्राध्यापक इतिहास विभाग, काशी विश्वविद्यालय[९]; श्रीहरिदत्तजी वेदालङ्कार, एम. ए.[१०]; पं० नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ[११] डा० राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए., डी. लिट्.[१२]; श्रीबेनी प्रसाद एम. ए., पी. एच. डी.[१३]; पं०गिरीशचन्द्र अवस्थी व्याकरणाचार्य, प्रधानाध्यापक संस्कृत प्राच्य विभाग, लखनऊ

१. साप्ताहिक पत्र "दिवाकर" आगरा का "वेदाङ्क" भाग १, दिनाङ्क २६।१०।१९३५ ई०, अङ्क २८—२९ पृष्ठ २९-३० "वैदिक भूगोल" शीर्षक लेख तथा मासिक पत्रिका "गङ्गा'. का पुरातत्त्वाङ्क" प्रवाह ३, जनवरी सन् १९.३३ ई०. तरङ्ग १, पृष्ठ १०८ "वैदिक भूगोल" शीर्षक लेख।
२. मासिक पत्रिका "गङ्गा" का "वेदाङ्क" पृष्ठ २२३, "ऋग्वेद का भारतवर्ष" शीर्षक लेख।
३. "प्राचीनभारत" (हिन्दूकाल) प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३५.
४. "आर्यों का आदि देश" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३३.
५. "प्राचीन भारत का इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०.
६. "बुद्धपूर्व का भारतीय इतिहास" तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३२ तथा १५३.
७. "भारत का राष्ट्रीय इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३.
८. "भारत का बृहत् इतिहास" प्रथम भाग, प्रथम संस्करण. पृष्ठ ५७.
९. "प्राचीन भारत" द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३१.
१०. "भारत का सांस्कृतिक इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७.
११. "ऋग्वेदालोचन" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७ से २९ तक
१२. "Hiudiu Civilition" का अनुवाद "हिन्दूसभ्यता" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७१-७२.
१३. "हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३१.

विश्वविद्यालय [१४]; श्रीशिवदत्त ज्ञानी एम. ए. [१५]; श्रीहरिरामधस्माना [१६]; आचार्य श्रीचतुरसेन शास्त्री [१७]; पं० बलदेव उपाध्याय साहित्याचार्य, एम० ए० [१८]; श्री वी० एन० लूनिया एम० ए० प्राध्यापकः इतिहास तथा राजनीतिविभाग, होल्केर कॉलेज, इन्दौर [१९]; श्री रामत्यागी एम० ए० [२०]; श्री भगवत् शरण उपाध्याय एम० ए० [२१]; पं० राम गोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री[२२]; श्री उदयवीर शास्त्री, विद्याभास्कर [२३]; श्री शिवकुमार शुक्ल शास्त्राचार्य[२४]; पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी[२५]; पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर[२६]

श्री चतुर्वेदी जी तथा अन्य २६ विद्वानों ने भ्रमवश वेदों में नदियों का उल्लेख किया है। वेदमंत्रों के अर्थ निरुक्त, निघण्टु आदि की सहायता से करना उचित है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में महान् अन्तर है।[२७]

चतुर्वेदी जी ने स्वयं ऊहापोह से वेदमंत्रों का अनुशीलन नहीं किया, उन्होंने केवल श्री सत्यव्रत जी सामश्रमी की पुस्तक "ऐतरेयालोचन" को देखकर इस प्रकार की अनर्गल कल्पना की है।

ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ७५ के मन्त्रों में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी प्रभृति शब्दों को देख कर लौकिक नदियों की कल्पना की जाती है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षिदयानन्द जी महाराज ने ऋग्वेद १०।७५।५ के मन्त्र का जो अर्थ किया है वह ठीक है। आप गङ्गा, यमुना आदि नदियों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"...इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गंगादिसंज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणसिद्ध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात्। एवमेव, (सितासिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गंगायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। 'संगते' इति पदेन गंगायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति। तन्न संगच्छते।"[२८]

अर्थात्—"इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, कूर्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं। उनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं, क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण की जाती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिए उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि इस मन्त्र के प्रकरण में परमेश्वर का अनुवर्तन माना गया है। (सितासिते०)

१४. "वेद धरातल" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३७२,६८३.
१५. "भारतीय संस्कृति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७.
१६. "वेदमाता (ऋग्वैदिक भूगोल), प्रथम संस्करण, पृष्ठ १० से २२ तक
१७. "वेद और उनका साहित्य" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६७.
१८. "वैदिक साहित्य और संस्कृत" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३५५ से ३६२ तक
१९. "भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४३-४४
२०. "भारतीय इतिहास की रूप रेखा" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५.
२१. "प्राचीन भारत का इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९.
२२. "वैदिक साहित्य" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५ से ९६ तक
२३. मासिक "वेदवाणी" काशी, वर्ष ९, जुलाई १९५७ ई०, अङ्क ९. पृष्ठ ९ से १३ तक "ऋग्वेद की नदियाँ" शीर्षक लेख, तुलना करो "त्रैमासिक पत्रिका "राजस्थान भारती" जुलाई १९५६ ई० में "सरस्वती" शीर्षक लेख।
२४. मासिक पत्रिका "वेदवाणी" वर्ष १०, फरवरी १९५८ ई०, अङ्क ४ पृष्ठ २८ से २९ तक "ऋग्वेद की नदी-चर्चा" शीर्षक लेख।
२५. ऐतरेयालोचन" द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, पृष्ठ २६-२७.
२६. "दैवत संहिता" प्रथम खण्ड की भूमिका पृष्ठ ४३,४४ (सन् १९४१ ई० में मुद्रित)
२७. श्री वी. एस. घाटे कृत "लेक्चर ऑन ऋग्वेद" पुस्तक की भूमिका।
२८. "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"—ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य-विषय।

इस परिशिष्ट वचन से कई लोग गङ्गा, यमुना का ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि "सङ्गते" इस पद से गङ्गा, यमुना के मिलने के स्थान का नाम ही प्रयाग तीर्थ है। यह बात ठीक नहीं।"

वास्तव में महर्षि दयानन्द जी का अर्थ युक्तियुक्त तथा निरुक्त के अनुसार है। 'नदी' का अर्थ है–ये चलती हुई शब्द करती हैं, अतः इन्हें नदी कहते हैं। शब्दार्थक 'नद्' धातु में 'घञ्' और स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय।

यही मन्त्र "निरुक्त" ९ अ० ३ पा० ६४ खं० २० में आया है और महर्षि यास्क ने 'गंगा' आदि शब्दों के पृथक् २ निर्वचन दिए हैं। यथा—

गङ्गा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा, प्रवियुतं गच्छतीति वा। सरस्वती; सर इत्युदकनाम सर्तेः, तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। इरावतीं परुष्णीत्याहुः, पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी। असिक्न्यशुक्लाऽसिता, सितमिति वर्णनाम, तत्प्रतिषेधोऽसितम्। मरुद्वृधाः सर्वा नद्यः, मरुत एना वर्द्धयन्ति। वितस्ता विदग्धा, विवृद्धा महाकूला। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः' ऋजीकप्रभवा वा, ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाशयन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते। पूर्वमासीद् उरुञ्जिरा। सुषोमा सिन्धुः, यदेनामभि प्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्॥ ४। २४॥

पं० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार, पालीरत्न अर्थ करते हैं:—

"(गंगे यमुने) हे इड़ा! हे पिङ्गला! (शुतुद्रि परुष्णि सरस्वति!) और हे शुतुद्री तथा परुष्णी नामों वाली सुषुम्ना नाड़ी! (मे इमं स्तोमं आसचत) तुम मेरे इस परमेश्वर-स्तवन का सेवन करो! (मरुद्वृधे असिक्न्या) हे सुषुम्णा! तू पिङ्गला के साथ (आर्जीकीये) वितस्तया सुषोमया) और हे इड़ा! तू वितस्ता नामवाली सुषुम्णा के साथ मिली हुई (आश्रृणुहि) मेरे इस परमेश्वरस्तवन का श्रवण कर।"[२९]

गङ्गा—**उत्तमां गतिं गच्छन्त्यनयेति** गङ्गा, गम्+गम्+ड+टाप्। इस नाड़ी में प्राणों को वश में करने से योगी उत्तम गति को पाता है।

यमुना—यह पूरक प्राणायाम के द्वारा अपने में प्राण को संमिश्रित करती हुई शरीर में गति करती है। अथवा, इस नाड़ी के अभ्यास से योगी (प्रवियुतं) वियुक्तत्व को अर्थात् चित्त की स्थिरता को पाता है। एवं, मिश्रण तथा अमिश्रण। इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त 'यु' धातु से 'यमुना' की सिद्धि की गई है। यवना यमुना।

सरस्वती—'सरस्' शब्द जलवाची है, अतः यह गति करता है, बहता है, सृ+असुन्। एवं प्रशस्त रस वाली होने से सुषुम्णा नाड़ी को 'सरस्वती' कहा गया है।

शुतुद्री—(क) सुषुम्णा में ध्यान करने से योगी (शु) शीघ्र ब्रह्मलोक को जाता है, अतः शीघ्र ले जाने वाली होने से यह शुतुद्री है। शु+द्रु+ड+ङी और द्वित्व-शुद्रुद्री-शुतुद्री।

ऋग्वेद के इसी 'इमं मे गङ्गे' आदि वाले सूक्त (१०-७५) के अन्त में व्याख्या, रूप से कई शाखाओं में यह मन्त्र मिलता है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात्—जो ध्यानी लोग, यहाँ (सित) इड़ा (असित) और पिंगला, ये दोनों नाड़ियें मिलती हैं, उस संगम स्थान सुषुम्णा में स्नान करते हैं, वे ब्रह्मलोक में जाते हैं। अर्थात्, वे योगी शरीर को छोड़ने के पश्चात् अमृतत्व को भजते हैं। एवं यह वचन स्पष्टतया 'शुतुद्री' के आशय को प्रदर्शित कर रहा है।

(ख) अथवा–इस नाड़ी की गति बड़ी तेज है, अतः मानो कि यह किसी से ताड़ित होकर बड़ी शीघ्रता से दौड़ रही है। शु+'तुद्' व्यथने+द्रु+ड+ङीप्—शुतुद्री।

परुष्णी—'परुष' और 'पर्वन्' ये दोनों समानार्थक हैं। 'पर्व' धातु से 'उसि' प्रत्यय और वकार-लोप (उणा० २-११७)। उस 'परुष' से मतुप् अर्थ में 'न'। परुष्णी=पर्ववती, कुटिलगामिनी। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मप्राप्ति की साधिका होने से भास्वती है, और इसकी गति वक्र है। इस परुष्णी को 'इरावती' भी कहते हैं।

असिक्नी—पिङ्गला को 'असिता' या 'कृष्णा' कहा जाता है।...'अशुक्ला–अशुक्नी, 'टाप्' की जगह ङीवन्त का प्रयोग है। 'सित' श्वेत का वाचक है, उसका निषेध असित है।

२९. "निरुक्त-भाष्य" उत्तरार्ध, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५८७.

मरुद्वृधा—यह नाम सामान्यतया सब नाड़ियों का वाचक है, अतः वायुएँ इन्हें बढ़ाती हैं। फैलाती हैं। परन्तु यहाँ, मुख्य नाड़ी सुषुम्णा के लिए प्रयुक्त है।

वितस्ता—(क) सुषुम्णा के द्वारा सब आन्तरिक मल विशेषतया दग्ध किए जाते हैं, अतः विदग्धा होने से, इसे वितस्ता कहा गया है। वि+'तसु' उपक्षये+क्त–वितस्ता। (ख) अथवा, यह नाड़ी बड़ी होती है, अर्थात् इसके किनारे अधिक ऊँचे होते हैं। यहां 'वि' का अर्थ विगत है। एवं वितस्ता का शब्दार्थ 'क्षयरहित' है।

आर्जीकीया—(क) ऋजीकप्रभवा आर्जीका, आर्जीका एव आर्जीकीया। ऋजीक=उत्पत्ति स्थान। सब नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान नाभि केन्द्र है, अतः यहाँ 'ऋजीक' का अर्थ नाभि केन्द्र है। उस नाभि केन्द्र से 'इड़ा' की उत्पत्ति होने से, उसे 'आर्जीकीया' कहा गया है। (ख) अथवा, यह इड़ा नाड़ी पिङ्गला की तरह वक्र नहीं, प्रत्युत ऋजुगामिनी है। ऋजु गच्छतीति आर्जिकः–आर्जीकः, गच्छतौ परदारादिभ्यः' (वा० ४-४-१) से 'ठक्' प्रत्यय।

ऋ० ८-७-२९ में 'आर्जीक' सुषोम (सुषुम्णा) का विशेषण है, और ऋ० ८।६४।११। में 'आर्जीकीया' सुषोमा (सुषुम्णा) का विशेषण है। तथा, ऋ० ९।६५।२३ में 'आर्जीक' बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, जो कि सब नाड़ियों के लिए है।

इस 'इड़ा' को 'विपाट्' या 'विपाश्' भी कहते हैं। इस नाड़ी में अभ्यास करने से योगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञान-पाश कट जाते हैं, और विज्ञान की प्राप्ति होती है। 'विपाटयतीति विपाट्' विगताः पाशोऽनया सा विपाश्, विशेषेण प्राप्नोति ज्ञानमनयेति विप्राप्–विपाश्।

सुषोमा—इस सुषोमा (सुषुम्णा) का दूसरा नाम 'सिन्धु' है, अतः इसकी ओर अन्य कई इडा पिंगला आदि नाड़ियें जाती हैं। सुषुम्णा नाड़ी कई अन्य नाड़ियों का संगम स्थान है। 'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः' (यजु० ३४।११) से विदित होता है कि इस सरस्वती (सुषुम्णा) नाड़ी में पांच अन्य नाड़ियें आकर मिलती हैं, जिन सब का समान स्रोत नाभि केन्द्र है। 'सु' उपसर्ग-पूर्वक 'षु' धातु से 'मन्' प्रत्यय। 'सुषोमा' का ही रूपान्तर 'सुषुम्ण' है।

सिन्धु—स्यन्दन्ते नद्य एनमिति सिन्धुः, 'स्यन्द' के संप्रसारण रूप 'सिन्द्' से 'उ' प्रत्यय (उणा० १।११) इसकी ओर कई नाड़ियें बहती हैं, अतः यह सिन्धु कहलाती है।[३०]

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ—"हे (गंगे यमुने) हे गंगा, अर्थात् इडा नाडि, हे (यमुने) पिंगले! शुतुद्रि, परुष्णि, सरस्वता, शुतद्रु तथा परुष्णी नाम की सुषुम्नानाड़ी! तुम मेरे इस स्तोम स्तुति अर्थात् वेद-मंत्र में कहे गुणवर्णन को (आ सचत) प्राप्त करते हो, यह गुणवर्णन इन नाड़ियों का ही है। हे मरुद्वृधे! हे सुषुम्ना तू (असिक्न्या) पिंगला के साथ और हे (आर्जिकीये) आर्जिकीया, इडा तू (वितस्तया सुषोमया) वितस्ता नामक सुषुम्ना के साथ मिली हुई (आ शृणुहि) मेरे इस वर्णन को श्रवण कर"[३१]

वैदिक अनुसन्धान कर्त्ता पं० प्रियरत्न जी आर्ष लिखते हैं:—"वेदों में गङ्गा, यमुना आदि नामों का आ जाना किसी ऐतिहासिक घटना को सिद्ध नहीं करता है' क्योंकि ये नाम यौगिक हैं, अत एव लोकप्रसिद्ध रूढ़ व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। शरीरगत नाड़ियों के नाम भी गंगा आदि हैं और वसिष्ठ अमृत प्राण को कहते हैं, ऐसा कथन श्री० बाबू भगवानदास जी काशी और श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार आदि कई एक विद्वानों का है।"[३२]

पं० सुरेन्द्रशर्मा गौर काव्य-वेदतीर्थ,[३३]; पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक[३४]; मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी[३५]

---

३०. वही, पृष्ठ५९० से ५९२ तक, तुलना करो, पं० जयदेवशर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ कृत "ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य" सप्तम खण्ड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १८२-१८३.
३१. "क्या वेद में इतिहास है?" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १७९.
३२. "वेद में इतिहास नहीं" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११३.
३३. "जीवन का आनन्द" प्रथम भाग तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३१-३२.
३४. "सत्यार्थ-निर्णय" प्रथम खण्ड प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२९.
३५. मासिक पत्र "साहित्य विज्ञापक" बड़ोदा, वर्ष १४, फरवरी मार्च १९३८ ई०, संख्या २-३.

पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ [३६]; पं० रघुनन्दन शर्मा साहित्य भूषण[३७] डॉ० बालकृष्ण एम० ए०, पी० एच० डी०[३८] भी इसी मत के पोषक हैं।

वास्तव में वेदों में आए हुए शब्दों को देख कर ही आर्यों ने नाम रक्खा है। वेदों में आए हुए दशरथ, राम, कृष्ण, शन्तनु, अर्जुन, विश्वामित्र, वसिष्ठ, रावण, सीता, गङ्गा, यमुना, प्रभृति राजा, पहाड़, नद-नदियों के नाम रूढ नहीं वरन् यौगिक हैं। ये शब्द अनादि हैं। गङ्गा के आने के पूर्व 'गङ्गा' शब्द विद्यमान था।

क्या चतुर्वेदी जी तथा अन्य विद्वान् यह बतला सकते हैं कि दशरथ, राम, कृष्ण प्रभृति के उत्पन्न होने से पूर्व इन शब्दों के क्या अर्थ थे? महर्षि यास्काचार्य भी गङ्गा, यमुनादि नदीवाचक शब्दों के यौगिक अर्थ करते हैं।

राजर्षि मनुजी स्पष्ट लिखते हैं:—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

मनुस्मृति १।२१

अर्थः—उस (परमात्मा) ने सृष्टि के आरम्भ में उन सबके पृथक् पृथक् नाम और कर्म और व्यवस्था वेदशब्दों से रची।

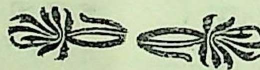
पं० चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार पालीरत्न—इस मत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं:—"जब वेद ही एक मात्र ज्ञान का आदिम स्रोत था, और वैदिक भाषा ही सृष्टि की आदि में मनुष्यों की भाषा थी, तब इन्हीं वेदों में से चुन चुन कर नदी आदिकों के नाम रक्खे जाते थे। ये नाम वैदिक नामों से भिन्न कैसे हो सकते थे।"[३९]

डॉ० बालकृष्णजी एम० ए०, पी० एच० डी०, एफ० आर० एस० एच०, अर्थशास्त्र महोपाध्याय, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, वेदों में अनित्य भूगोल और इतिहास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं:—

(क) वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से उनका प्रत्येक शब्द आर्यों के लिए माननीय था। अतः वेदों में से ही देख २ कर ऋषियों, राजाओं, देशों, नदियों, पर्वतों के नाम रक्खे गए। अतः वेदों में पाए जाने वाले उक्त नाम ही आज तक भारत तथा उसके आस पास की नदियों, जातियों, राजाओं वा ऋषियों के हैं।

(ख) हर एक जाति अपने २ धर्म ग्रन्थों को देखकर अपने बालकों के नाम रखती है। क्या आदिम आर्यों का कोई अन्य तरीका होता? हम आजकल वेदों को देखकर अपने नाम रखते हैं। गुरुकुल के विद्यार्थियों के नाम वैदिक ऋषियों के हैं। कल्पना करो कि उनमें से कुछ बहुत प्रसिद्ध होने से सहस्रों वर्षों तक याद रहे, कुछ हजार वर्षों के बीतने पर। यदि यह कहा जावे कि वेदों में इतिहास है क्योंकि उसमें मनुष्यों के नाम आए हैं तो यह मूर्खता होगी। हमने वेदों को देखकर नाम रखे, वेद कारण हैं और नाम कार्य हैं। इस सम्बन्ध को उलटा देने से ही भ्रम हुए।[४०]

अतएव वेदों में आधुनिक नदियों की कोई भी चर्चा नहीं है॥



---

३६. "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५०
३७. "वैदिक सम्पत्ति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७६ से ८१ तक.
३८. "ईश्वरीय ज्ञान वेद" प्रथमावृत्ति, ८१ से ८३ तक
३९. "निरुक्त भाष्य" पूर्वार्द्ध, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५४-१५५.
४०. "ईश्वरीय ज्ञान वेद" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ८३.

वेद में दार्शनिक दृष्टि

[ले०—काशी के उत्कृष्ट दार्शनिक विद्वान् पूज्य श्री पं० दुण्ढिराज जी शास्त्री, अगस्तकुण्डा, बनारस]

वेदप्रामाण्य

वेद को मतविशेष से अपौरुषेय अथवा पौरुषेय माना जाय किन्तु आस्तिकमतावलम्बियों में सभी वैदिक तथा लौकिक कर्म एवं आचार में इसे प्रमाण अवश्य माना है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि सर्व जगत् में व्यावहारिक वैदिक तथा शास्त्रोक्त आचार का मूल वेद ही है, जिसके आधार पर हमारे प्राचीन तथा नवीन वेदांग सहित शास्त्रों का अत्यन्त विस्तार हुआ है तथा हो रहा है, इसीलिये कहा है 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

जिन आस्तिक दर्शनकारों के मत में वर्णों के अनित्य होने से वर्णसमुदायात्मक पद तथा पदसमुदायात्मक वाक्य की रचना सकर्तृक मानी गई है, उनके मत में जीवों को सर्ववेदविषयक ज्ञान न होने से ईश्वर को ही वेद का कर्ता माना गया है, और वही ईश्वर उनके मत में सम्पूर्ण पृथिवी आदि जगत् का भी कर्ता माना गया है। अतः वेद को *पौरुषेय मानने वाले आस्तिक दार्शनिकों के मत से ईश्वरोक्त होने से वेद में प्रामाण्य सिद्ध होता है। अपौरुषेय मानने वाले मीमांसकादि मत से भी वेदप्रामाण्य अनिवार्य है। यद्यपि परलोक न मानने वालों को जब तक शरीरादि से भिन्न नित्य आत्मा है यह सिद्ध नहीं कर दिया जाय तब तक उन्हें वेदप्रामाण्य में आस्था नहीं हो सकती, तथापि परलोक शास्त्र सिद्ध होने से अवश्य है, ऐसा मानने वालों के लिये तो जगत् की विचित्रता का कारण कर्म की विचित्रता ही है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। कर्म विना अनुष्ठान (आचरण) के विचित्र फल कैसे दे सकते हैं, इसलिये उनके साङ्ग स्वरूप ज्ञान की आवश्यकता है।

कर्मस्वरूप ज्ञान का क्या उपाय है? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष से वेदोक्त स्वर्गादि अदृष्ट पुरुषार्थसाधक कर्मों को कोई भी जीव देख नहीं सकता, अतः कर्मस्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य ज्ञान नहीं है। तृप्ति तथा भोजन के समान। स्वर्ग तथा याग कर्म का अन्वय-व्यतिरेक से सम्बन्धावधारण न हो सकने से यहां अनुमान प्रमाण की भी गति नहीं है। जगद्वैचित्र्यरूप कार्य के अन्यथा उपपन्न न होने से 'विचित्र कर्म रूप कारण' का अनुमान हो सकता है, किन्तु उससे कर्मानुष्ठान की सिद्धि नहीं हो सकती। उपमान प्रमाण की तो यहां सम्भावना भी नहीं हो सकती। जीवों के परस्पर कथन से भी यह नहीं सिद्ध हो सकता कि अनुष्ठान से पारलौकिक फल प्राप्त होता है, क्योंकि अज्ञानी जीवों का वचन अनाप्तोक्त होने से प्रमाण नहीं माना जा सकता। और पुरुषोपदेश-कल्पना में अन्धपरम्परा दोष भी आजायगा। अतः परलोक वादी आस्तिकों की पारलौकिक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति होने के कारण उसका प्रथम कारण है कर्मस्वरूप का ज्ञान, यह अवश्य ही मानना होगा। इसलिये कर्माचरण के कारण कर्मस्वरूप ज्ञान में वेद शास्त्र से अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। तस्मात् वेद 'श्रुति' जो कि संपूर्ण आगमादि शास्त्रों की मूल है, वह परम आप्तोक्त होने या नित्य-निर्दुष्ट होने से स्वतःप्रमाण है, यह आस्तिक दर्शनकारों के मत से निर्विवाद सिद्ध है।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥

इस व्यासवाक्य के आधार पर यहाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि लोकप्रसिद्धि से ही धर्माधर्म साधनकर्मों का ज्ञान जब हो सकता है, तब वेद तथा शास्त्र के आधार की क्या आवश्यकता है, क्योंकि उपकार तथा अपकार ही को धर्म तथा अधर्म कहते हैं। इसका समाधान यह हो सकता है कि निर्मूल लोकप्रसिद्धि प्रमाण नहीं हो सकती, लौकिक अविच्छिन्न स्मृति ही को लोकप्रसिद्धि कहते हैं, श्रुतिमूलक ही स्मृति को प्रमाण माना जाता है न कि स्वतन्त्र क्योंकि, प्रत्यक्षादि प्रमाण स्मृति में मूल नहीं होते यह हम दिखा चुके हैं, अतः वेदशास्त्रमूलक ही लोकप्रसिद्धि प्रमाण हो सकती है तथा विरुद्ध अनेक प्रकार होने से स्वतन्त्र लोकप्रसिद्धि सर्वमान्य भी नहीं हो सकती। केवल उपकार तथा अपकार के जप उपासनादि कर्मों में प्रवृत्ति न होने से इन्हें धर्माधर्म कहना भी न बनेगा। अतः

* पुरुष अर्थात् परमात्मा का बनाया, ऐसा पौरुषेयका अर्थ न्यायादि में माना गया है—सम्पादक॥

धर्म तथा अधर्म को वेद शास्त्र शरण ही मानना पड़ेगा। एवं अदृष्ट फलसधाक कर्मों की इतिकर्तव्यता मंत्रादिरूपकरण, स्वर्गादिफल, देश, ऋत्विज इत्यादिकों का लोक प्रसिद्धी से ज्ञान होना असम्भव होने के कारण भी वेदशास्त्रादि के अधीन ही विशिष्ट कर्मों का अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान मानना आवश्यक होने से वेद तथा शास्त्रों का प्रामाण्य निर्विवाद सिद्ध है।

यद्यपि 'ऋग्भि: प्रातर्दिवि देव ईयते, यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽन्ह: सामवेदेनास्तमेति, वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यम्' इत्यादि। तैत्तिरीय ब्राह्मण (अ० प्रपा० अ० १८) के अनुसार तथा'······त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद:' शतपथ ब्राह्मण, (अ० ११ प्र० ४ ब्रा० ४) 'सैषा विद्यात्रयी तपति' (नारायणोपनिषद्) इत्यादि वेदानुसारी वचनों के बल से तीन ही वेद वदशब्द वाच्य कहे जा सकते है, तथापि 'यदि यज्ञोपयोगित्वं नेहास्त्यथर्वणश्रुते:। अर्थान्तरे प्रमाणत्वं केनास्य प्रतिहन्यते। इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार अथर्वणं को भी वेद मानना संगत है। तथा 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (पूर्वमीमांसा अ० १ पा० सू०—५) इस सूत्र में जैमिनि ने जिस मार्ग का अनुसरण किया है, एवं कणाद तथा गौतम महर्षि ने तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्, मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। इन सूत्रों में वेदप्रामाण्य साधक जिस पथ का अनुगमन किया है, उसमें अथर्वण को वेद न मानने का कोई विशेष अपवाद नहीं मिलता, जिससे उसे वेदकोटि में न स्वीकार किया जाय। क्योंकि मीमांसक कर्ता के स्मरण होने से तथा नैयायिक आप्तप्रणीत न होने के कारण अथर्वण वेद वेद नहीं है, यह नहीं कह सकते। अतः प्रामाण्यज्ञानोपयोगी उपाय में समानता होने से चारों वेद प्रमाण हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है।

व्यवहार भी चारों वर्ण तथा चारों आश्रमों का वेद चतुष्टयानुगामी उपलब्ध होता है। वेदानुसारी ब्राह्मण तथा उपनिषदों में अथर्वण वेद के वेदकोटिप्रविष्ट होने के सोऽयमाथर्वणो वेद:' (शतपथ १३-३ कं. ७) तथा छान्दोग्योपनिषद् ७ प्र० ६ खं० में 'ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेद आथर्वणश्चतुर्थो वेद:' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण मिलते हैं।

उक्त वेदविभाग का कारण यह है कि ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान भेद से चार वेदों के असाधारण विषय हैं। 'ऋचन्ति' स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावानया सा ऋक्–अर्थात् पदार्थों के गुणकर्म स्वभाव का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है। 'यजन्ति येन मनुजा ईश्वरम्, धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, शिल्पविद्यासङ्गतिं शुभविद्यागुणदानं च कुर्वन्ति तत् यजु:' अर्थात् जिससे मानवगण ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, शिल्पक्रियासहित विद्याओं तथा श्रेष्ठ विद्या तथा गुणों की सिद्धि हो, उसे यजुर्वेद कहते हैं। 'स्यति कर्माणीति सामवेद:' जिससे कर्मसमाप्ति द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो, उसे सामवेद कहते हैं। 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध:' येन संशयराहित्यं सम्पाद्यते (चर संशये) इत्यथर्ववेद:' अर्थात् जिससे संशय निवृत्त हो उसे अथर्ववेद कहते हैं। अतः ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद उपासनाकाण्ड तथा अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड कहाजाता है। उक्त विषयों की अपने २ वेद में प्रधानता है यह समझना चाहिये। महाभाष्यकार ने भी चारों वेद समान प्रमाण हैं, पस्पशाह्निक में स्पष्ट लिखा है—'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखा: सहस्रवर्त्मा सामवेद: एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेद:' इति।

वेद का लक्षण

यद्यपि उक्त प्रकार से चारों वेद कर्मानुष्ठान के कारणभूत कर्मस्वरूप ज्ञान में मुख्य कारण होने से सर्व आस्तिकमतानुयायिओं ने प्रमाण माने हैं, तथापि उनका सामान्य लक्षण क्या है यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है। जिसके उत्तर में नास्तिकमत खण्डनकर्ता नैयायिकप्रवर उदयनाचार्य न्यायकुसुमांजलि के ईश्वरसिद्धि प्रकरण में इस प्रकार वेदत्व का निर्वचन करते हैं—

'ननु किमिदं वेदत्वं नाम, वाक्यत्वस्यादृष्टविषयवाक्यत्वस्य च विरुद्धत्वात्। अदृष्टविषयवाक्यत्वस्य चासिद्धे:। मन्वादिवाक्ये गतत्वेन विरोधाच्चेति चेन्न। अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वस्य तत्त्वात्। नह्यस्मदादीनां प्रत्यक्षादिमूलम्। नापि भ्रमविप्रलिप्से, महाजनपरिग्रहादित्युक्तम्।'

अर्थात् केवल 'वाक्यं' या अदृष्टविषयक वाक्य को वेद नहीं कह सकते क्योंकि तब तो कोई भी वाक्य तथा अदृष्टविषयक प्रतारक वाक्य भी वेद हो जायगा। अर्थात् वेदत्व साध्य रहित सामान्य वाक्य तथा अदृ-

विषयक प्रतारक वाक्य में हेतु के रहने से विरोध दोष आ जायगा तथा मनु आदि के वाक्यों में अदृष्टविषयक वाक्यत्वरूप हेतु के रहने से उक्त दोष आ जायगा। अतः जिसके दूसरे मूल वाक्य नहीं पाये जाते और जिसे सभी बड़े [आप्त] लोग मानते हों उसे वेद कहते हैं, यह वेदका सामान्य लक्षण है। मनु आदि के वाक्यों में वेद दूसरा मूल पाया जाता है अतः वेद नहीं हैं, यही 'अनुपलभ्यमान' इत्यादि विशेषण से बतलाया है अर्थात् विशेषण की सार्थकता कही है।

उदयनाचार्य प्रदर्शित उक्त वेदलक्षण की आलोचना करते हुए उनके पुत्र वर्धमानोपाध्याय ने प्रकाश नामक व्याख्या में 'ननु वाक्यत्वमसिद्धम् समुदायस्याप्रतिपादकत्वात्...उच्यते शब्द तदुपजीविप्रमाणातिरिक्त-प्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दाजन्य-वाक्यार्थताजन्यप्रमाणशब्दत्वं वेदत्वम्' इत्यादि (५ स्त० ५ कारिका में) वेद का निष्कृष्ट लक्षण कहा है। उक्त लक्षण चारों वेदों में समान होने से भी चारों वेद अपने अपने विषय में प्रमाण हो सकते हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है।

वेद में दार्शनिक दृष्टि

उक्त मूलप्रमाण रूप वेदों में दार्शनिक दृष्टि है या नहीं? अर्थात् देहादिभिन्न नित्य आत्मा का स्वरूप है या नहीं? इस प्रश्न के समाधान में अन्वेषण करने पर आत्मरूप पदार्थ का गुणकर्मस्वभाव निरूपण करने वाले ऋग्वेद के प्रथमाध्याय के चतुर्थ मण्डल के २७ वें सूक्त क १ ऋचा में वास्तविक रूप निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है—

'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्।१।

इस ऋचा की व्याख्या सायणाचार्य ऐसी करते हैं— अत्रैष श्लोकः पठ्यते—

'श्येनभावं समास्थाय गर्भाद्योगेन निःसृतः।
ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति॥

गर्भे नु गर्भ एव सन् विद्यमानोऽहं वामदेवः, एषामिन्द्रादीनां देवानां, विश्वा विश्वानि सर्वाणि, जनिमानि जन्मानि, अन्ववेदम् आनुपूर्व्येणाज्ञासिषं परमात्मनः सकाशात्सर्वे देवा जाता इत्यवेदिषमित्यर्थः। इतः पूर्वं शतं बहूनि आयसी अयोमयान्यभेद्यानि, पुरः शरीराणि, मामारक्षन्नपालयन्, यथाहं शरीराद्व्यातिरिक्तमात्मानं न जानीयां तथा मामरक्षन्नित्यर्थः। अध अधुना, श्येनः श्येनवत्स्थितोहं, जवसा वेगेन, निरदीयं शरीरान्निरगमम्, अनावरणमात्मानं जानन्निर्गतोऽस्मीत्यथः। पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भ इति खण्डे गभीरावैतच्छयानो वामदेव एवमुवाचेत्यादिना अयमर्थः सम्यक्प्रतिवादितः। 'गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाचेति' ब्राह्मणम् ३) (ऐ० आ० २। ५। १)॥

अर्थात् श्येन (बाज) पक्षि रूप से वामदेव योगबल से, गर्भ से निकल कर ब्रह्म की स्तुति करते हैं कि में गर्भ में रहते हुए (गर्भावस्था में ही) सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान गया। इसके पूर्व अज्ञानवश होने से संसार प्रवाह में अभेद्य शरीरों ने मुझे ऐसा मोहजाल में फंसा रक्खा था कि मैं शरीर भिन्न नित्य आत्मा के स्वरूप को न जान पाया। किन्तु सांप्रत काल में श्येन पक्षी के समान स्थित मैं बड़े वेग से शरीर से निकल पड़ा, अर्थात् यह मेरी आत्मा शरीरादिरूप आवरण से रहित है यह जान गया, अतः मैं संसार चक्र से मुक्त हो गया। इस विषय का उल्लेख ऐतरेयोपनिषद् तथा ब्राह्मण में भी पाया जाता है।

नीतिमंजरीकार द्या द्विवेद ने इस विषय पर ऐसा उल्लेख किया है कि—

आत्मबुद्धिर्न कर्तव्या देहादावात्मवेत्तृभिः।
वामदेव इति प्राह भिन्नो नीडाच्छकुन्तवत्॥

आत्मवेत्तृभिर्ब्रह्मवेदिभिर्देहादावात्मबुद्धिर्न कर्तव्या। तथोक्तम्—

अनात्मभूते देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
साविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।

इत्यात्मवृत्तौ। तस्मद्देहातिरिक्त आत्मनि एतस्मिन्नर्थं वामदेवो गर्भेनु सन्नन्वित्यनया इति प्राह। किमिति अयमात्मा नीडाच्छकुन्तवद्भिन्नः यथा शकुन्तः पक्षी नीडास्थानाद्भिन्नः तथा देहात्पृथग् भवति।"

अर्थात् यह आत्मा नीड (खोता) से जिस प्रकार पक्षी भिन्न है उसी प्रकार देह आदि से भिन्न है। इस कारण ब्रह्म-ज्ञानियों को शरीर इत्यादिकों में आत्मबुद्धि न करनी चाहिये अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि को आत्मा न मानना चाहिये। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी इस मन्त्र में जीवात्मा के गुण बतलाते हुए व्याख्या में कहा है मनुष्यैस्सदा सृष्टिविद्याबोधस्य जन्ममरणयोः शारीरिकी च विद्या विज्ञेया यतः सदैव निर्भयता वर्तेत।

इससे भी स्पष्ट है कि जन्म मरण शरीर का है और आत्मा उनसे रहित नित्य भिन्न है। इस विषय का विस्तार उक्त प्रकार से वेदमूल दार्शनिक ग्रन्थों में इस प्रकार उल्लिखित है। जिसमें शरीरादिक आत्मा नहीं हो सकते यह विषय न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने तृतीयाध्याय प्रथमाह्निक में दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् (३, १, १,) इस सूत्र से नियमश्च निरनुमानः' ३, १, १८ सूत्र तक अच्छी तरह दिखाया है। कणाद महर्षि ने भी वैशेषिक सूत्रों में 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियर्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः' 'सोऽनपदेशः' 'कारणज्ञानात्' 'कार्येषु ज्ञानात्' 'अज्ञानश्च' इन (अ० ३, १ आ० २ से ६ सूत्र) तक इसी बात की पुष्टि की है। अर्थात् इन्द्रियार्थप्रसिद्धि (ज्ञानादिक) इन्द्रिय तथा अर्थों से भिन्न आत्मारूप पदार्थ-सिद्धि में कारण है, शरीरादिकों में ज्ञानादिगुणसाधक हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास है, क्योंकि उनके कारण पृथिव्यादि परमाणुओं में ज्ञानादिक नहीं जाने जाते, यदि हों तो उनके कार्यघटादिकों में जाने जाँय, नहीं जाने जाते। अतः ज्ञानादि गुणवान् आत्मा शरीरादिकों से भिन्न हैं यह वैशेषिक मत से भी सिद्ध है। सांख्यदर्शनकार ने तो 'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्' (अ० १ सू० १२९) सूत्र में स्पष्ट ही उक्त विषय की पुष्टि की है। योगसूत्रकार ने यद्यपि किसी सूत्र में स्पष्ट यह विषय नहीं कहा है तथापि पाद ३ के ३५ वें सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् इस सूत्र की व्याख्या में व्यास महर्षि के तस्माच्च सत्त्वा-परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः इस भाष्य व्याख्यान, तथा 'क्लेशकर्मविपाका-शयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस सूत्र में आत्मा-विशेष के ईश्वर कहने से तथा द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः (यो० २ द० ३) इस सूत्र में द्रष्टा आत्मा के स्वरूप कथन से, एवं भूतेन्द्रियादिकों के धर्म-लक्षणावस्थापरिणामत्रय कथन से (यो० ३ सू० १३), भी यही सिद्ध होता है पुरुषातिरिक्त पदार्थों के परिणामी होने के कारण अपरिणामी चितिशक्ति रूप आत्मा शरीरादि-कों से भिन्न है। पूर्व मीमांसाकार के मत में भी परलोक मानने के कारण शरीराद्यतिरिक्त ही आत्मा सिद्ध होता है। उत्तर मीमांसा वालों ने ये तो उपाधिरहित जीव शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप होने से शरीरादिक से भिन्न आत्मा है यह कैमुतिक न्याय से सिद्ध ही है इसी प्रकार बौद्ध जैन आदि दर्शनों में भी परलोकास्तित्व तथा मुक्तिद्वार होने से शरीराद्यतिरिक्त आत्मा है यह मानना पड़ेगा यद्यपि शरीरा-भिन्न वा आत्मा को कोई ज्ञानस्वरूप तथा कोई ज्ञानाश्रय मानते हैं तथापि वह शरीरादि भिन्न नित्य है। यह चार्वाक से भिन्न सभी दार्शनिकों की दृष्टि उक्त प्रकार से वेद मूल है इसमें सन्देह नहीं। इसीलिये सर्वदार्शनिक मान्यता न्याय सिद्धान्त मुक्तावली कार विश्वनाथ पंचानन ने कारिकाओं में कहा है। 'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। इन्द्रियाणां तथात्वं चेदुपघाते कथं स्मृतिः। मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यध्यक्षं तदा भवेदित्यलम्॥

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्त वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे; क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है ॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

पुस्तक-परिचय

१—साम-संस्कार-भाष्य

यह सामवेद उत्तरार्चिक के (१२२५) मन्त्रों का भाष्य है। **भाष्यकर्त्ता—पण्डितराज श्री स्वामी भगवदाचार्य जी राजनगर सोसाइटी–अहमदाबाद** है। यह भाष्य संस्कृत और हिन्दी दोनों में है। साइज़ २०×३० / १६ कागज़ और छपाई बढ़िया। पृष्ठ संख्या ८०६ है। **प्रकाशक—अध्यक्ष श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर-अलवर (राजस्थान। मूल्य ८) रुपये ॥**

श्री० पण्डितराज स्वामी भगवदाचार्य जी संस्कृत के सुयोग्य विद्वान्, वैष्णव सम्प्रदाय के महात्मा-संस्कृत विद्या के अनुरागी-उदार हृदय-और धार्मिक प्रवृत्ति के साधु-स्वभाव संन्यासी हैं।

९ वर्ष पहिले सामवेद संस्कार भाष्य प्रथमभाग आप प्रकाशित कर चुके हैं, जिसमें सामवेद के पूर्वार्चिक के ६५० मन्त्रों का भाष्य आपने किया है। यह ग्रन्थ उसी का दूसरा भाग है।

हमने इसमें के कुछ मन्त्रों का भाष्य बड़े ही प्रेम-निष्पक्षभाव से ध्यानपूर्वक देखा। जिससे मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। सायणाचार्य, उवट आदि ने वेद का भाष्य याज्ञिक प्रक्रिया के आधार पर किया है। यह भाष्य स्वतन्त्र बुद्धि से प्रायः अध्यात्मपरक किया गया है। हमारी दृष्टि में वेद का मुख्य अर्थ आध्यात्मिक ही है, यद्यपि आधिदैविक और आधिभौतिक (वा आधियाज्ञिक) अर्थ भी वेदमन्त्रों का है। जिनकी परम्परा आज से १५०० वर्ष पहिले (सायणाचार्य ने ८०० वर्ष पहिले भी) विद्यमान थी, जिसे या तो सायणाचार्य समझ नहीं पाये, या उस समय की याज्ञिक प्रक्रिया में ही बह गये।

वह भी समय था जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्द पर आक्षेप करते हुये लिखा था कि "और जो कुछ हो 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा कदापि नहीं हो सकता" (देखो भ्रान्ति निवारण पृ० ६)। इस भाष्य में पदे पदे अग्नि-रुद्र-सोम आदि पदों का अर्थ 'परमेश्वर' किया गया है। प्रायः सर्वत्र यही अर्थ मिलता है। विद्वान् भाष्यकर्त्ता ने उक्त सायणादि के रूढ़ वा प्रचलित याज्ञिक अर्थों का सर्वथा परित्याग कर दिया है, जो बड़े साहस की बात है। विद्वान् इनके किये सब अर्थों से चाहे सहमत न भी हों, तो भी इनके किये आध्यात्मिक अर्थों की अवहेलना नहीं की जा सकती। रूढिवाद को परे हटा कर मन्त्रों के अर्थों पर ध्यान दिया गया है। जिसे पढ़कर पाठक के हृदय पर एक छाप पड़ती है कि परम कारुणिक परमदेव परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ कितने गम्भीर उपदेश वा प्रेरणायें मन्त्रों में पढ़ी हैं जिस से मानव अपना जीवन सफल कर सकता है ॥

हम इस भाष्य को पढ़ने के लिये सामान्यतया सभी भारतीयों से, विशेष कर वेदप्रेमी सज्जनों से विशेष अनुरोध करते हैं कि इस भाष्य से अवश्य लाभ उठावें ॥

इस विषय में कुछ एक विचार हम और भी उपस्थित करते हैं, जो विद्वान् भाष्यकर्त्ता ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपस्थित किये हैं। यद्यपि लेखक ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में मौन ही रखा। अनुकूल प्रतिकूल कुछ नहीं लिखा। पर सायणादि का तो नाम लेकर खण्डन किया है।

"सायणाचार्य और महीधराचार्य के भाष्य, यद्यपि अवश्य ही वे पाण्डित्यपूर्ण हैं, तथापि वेदों के माहात्म्य की रक्षा करने में असमर्थ हैं—ऋग्-यजुः और साम के सभी मन्त्रों को कर्मकाण्ड में विनियुक्त कर देना बुद्धिमत्ता और भविष्यद्वेतृत्व से दूर की बात है। यदि वेद केवल कर्मार्थ ही आये हैं तो अवश्य ही वे आज निरर्थक हैं······मेरे इस भाष्य में यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध नहीं है—वेद में से ऐसे सिद्धान्तों का स्वरूप बाहर आना चाहिये, जो सदा ही देश और काल से अबाधित रहें। वेदों में से ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये जाने चाहियें जो किसी वर्ण किसी आश्रम, किसी भी मानवीय विभाग में पढ़े हों। मेरा यह साम-संस्कार-भाष्य इसी प्रकार का है······केवल गाने के लिये वेद नहीं आये हैं, केवल यज्ञ के लिये वेद नहीं आये हैं। यह मेरा अपना दृढ़ मत है।" (देखो भूमिका पृ० १ से ३)॥

आपने मन्त्रों पर स्वर नहीं लगाये। हम जानते हैं यदि आपको वैदिक-स्वर-प्रक्रिया का ठीक २ ज्ञान होता तो आप स्वर कभी नहीं हटाते और देखते स्वर आपको कितना सहयोग देते हैं। बहुत से विद्वान् इसी डर से स्वर को छोड़ देते हैं, जो उनकी भूल है वा कमी है। वेदाङ्ग

व्याकरणादि से अनभिज्ञ (मूर्खों में विद्वान् प्रसिद्ध) तो भले ही स्वर छोड़ दें, पर गुरुमुख से व्याकरणादि आर्षशास्त्रों के पढ़े स्वर छोड़ दें, तो यह अक्षम्य ही कहा जायगा।

एक बात और इस भाष्य की हमें अखरी। सांख्यदर्शन और मीमांसा दर्शन को आप ने अनीश्वरवादी लिखा, देखें (भूमिका पृ० १) तथा भाष्य पृष्ठ ३ कालम ४ पर लिखा है।

'कश्यपपुत्र असित ऋषि कहते हैं' यह कश्यप ऋषि सदाचारपरायण जीव को उद्देश्य बनाकर कहते हैं, इति कश्यपर्षितात्पर्यम्"।

इन नामों से तो यही विदित होता है कि लेखक मन्त्रों के कर्ता = बनानेवाले ऋषि हैं ऐसा समझते हैं वा क्या समझते हैं। भारतीय परम्परा में अर्थात् समस्त ऋषि मुनि वेद को अपौरुषेय मानते हैं। हम समझते हैं लेखक महोदय भविष्य में अपनी इस धारणा को स्पष्ट कर देंगे। यदि पं० दा० सातवलेकर जी भी वेदमन्त्रों को ऋषियों की कृति मानते हैं तो हम उसे भी भारतीय परम्परा (ऋषि मुनियों) के विपरीत मानते हैं। बहुत से भारतीय विद्वान् वेद को ऋषि की कृति मानते हुये भी उसे उच्चकोटि के ग्रन्थ मानते हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर वे भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं। हमारा इतना ही कहना है।

अन्त में हम साम संस्कारभाष्य के पढ़ने के लिये तथा ऐसे भाष्य पाठ्यक्रमों में रखे जावें, इसके लिये सब भारतीयों से अनुरोध करते हैं॥

२—मेरा धर्म

वैदिक धर्म के जनकल्याणकारी विभिन्न पहलुओं का मौलिक अध्ययन—लेखक—श्री० पं० **प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति-आचार्य—गुरुकुल काङ्गड़ी हरिद्वार॥ प्रकाशक—विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार। साइज़ $\frac{१८×२२}{८}$। कागज़ तथा छपाई बहुत बढ़िया। पृष्ठ संख्या ३९४॥ मूल्य ७)**

यह ग्रन्थ वैदिक धर्म की उदात्त भावनाओं पर उत्कृष्ट प्रकाश डालने वाला, वेदशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त–तर्क और लौकिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये उत्तम प्रेरणा देने वाला है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अपने ढंग पर अनेक आवश्यक विषयों पर प्रकाश डाला है तथा—

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति, वैदिक समाज व्यवस्था वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति, वैदिक धर्म और मांसभक्षण, वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर, वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी, वेद और इलहाम आदि विषयों का योग्यतापूर्ण विवेचन किया गया है। हमने इनमें जिस विषय को भी देखा, बहुत उपयोगी और प्रेरणादायक पाया। "वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य" वाला प्रकरण तो निःसन्देह अतीव उत्तम और प्रेरणादायक है। ये विचार स्कूलों, कालेजो, कन्याविद्यालय तथा महाविद्यालयों में प्रत्येक छात्र तक जाने चाहियें। इन से छात्र छात्रओं का महान् लाभ हो सकता है। यह ग्रन्थ पठनपाठन में रखने योग्य है। राज्य की ओर से ऐसे ग्रन्थ को पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिये। आर्यसमाज की संस्थाओं को चाहिये कि वे ऐसे सात्त्विक-पवित्र विचारों को अपने छात्र छात्राओं तक अवश्य पहुँचावें।

हम विद्वान् लेखक तथा प्रकाशन संस्था को ऐसे उत्तम ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिये हार्दिक बधाई देते हैं॥

(३) अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक—**श्री वैद्यरत्न श्री प्रताप सिंह जी। प्रकाशक—अमृतधारा ट्रस्ट—देहरादून॥ आकार—$\frac{२०×३०}{८}$। कागज छपाई–अच्छी। पृष्ठ सख्या १६०॥**

मिलने का पता—कवि विनोद पं० ठाकुरदत्तशर्मा वैद्य (अमृतधारा फार्मेसी) देहरादून।

इसमें श्री पं० ठाकुरदत्तशर्मा जी आविष्कारक अमृतधारा की जीवनी—उनकी धर्मपत्नी जी की जीवनी–२२ प्रसिद्ध विद्वानों तथा नेताओं की श्रद्धाञ्जलियां–विद्वानों के लेख–६० वर्ष से ऊपर के वृद्धों के रहन सहन तथा अनुभव, अनुभूतयोग (नुस्खे) हैं॥

श्री० पं० ठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य (अमृतधारा) उन व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने छोटी स्थिति से बहुत बड़ी उन्नति की। जहाँ अपार धन कमाया, वहाँ लाखों ही दान भी दिया। इनकी इस सफलता में इनकी पतिपरायणा—धार्मिका पत्नी का भी हाथ था। "अमृतधारा" द्वारा इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। यह स्वाध्यायशील–धार्मिक–भक्त और लेखक भी हैं। पाकिस्तान में इनकी लाखों की हानि हुई, पुनरपि इन्होंने अपने पुरुषार्थ से देहरादून में अपना कार्य फिर से चला लिया है। हम इनके दीर्घजीवन की प्रभु से कामना करते हैं॥

(४) आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोश

सङ्ग्राहक तथा सम्पादक श्री पं० रामस्वरूप जी शास्त्री—एम० ए० एम० ओ० एल विद्यावाचस्पति, प्रोफैसर हंसराज कालेज देहली। प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरिज़—बनारस। आकार—रायल अठपेजी। कागज-मध्यम। छपाई अच्छी ॥ पृष्ठ संख्या ७६० ॥

प्राप्ति स्थान—चौखम्बा विद्याभवन-चौक बनारस मूल्य १२॥)

इस पुस्तक में हिन्दी के लगभग ३० सहस्र शब्दों के संस्कृत शब्दों का संग्रह किया गया। इसमें विशेषता यह है कि प्रचलित हिन्दी शब्दों का संग्रह किया गया है जिसमें स्कूलों-कालेजों-संस्कृत विद्यालयों में हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद करने वालों को बड़ी भारी सहायता मिलेगी। हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाने से इस कोश का गौरव और भी बढ़ गया है।

यद्यपि इससे पूर्व एक 'हिन्दी-संस्कृत-कोश' लगभग ४६ वर्ष पहिले अलीगढ़ के पं० रामस्वरूप जी ने छपवाया था। वह आरम्भिक प्रयत्न था उससे भी कुछ सहायता मिलती ही थी। पर यह प्रयत्न बहुत व्यवस्थित और उपयोगी ढंग में हुआ है। हम इसके लिये सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों को ही बधाई और धन्यवाद देते हैं। निश्चय ही इससे भारतीय जनता का महान् उपकार होगा ॥

(५) वैदिक संस्कृति का विकास

लेखक—श्री० डा० मंगलदेव जी शास्त्री—भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस।

प्रकाशक—समाज विज्ञान परिषद काशी विद्यापीठ-बनारस।

मिलने का पता—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय—पो० बाक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, बनारस। मूल्य ७)

इस पुस्तक के विषय में हम अपने विचार पुनः उपस्थित करेंगे। इसमें वर्णित कई विचारों के साथ हम सहमत नहीं हैं। भारतीयता की दृष्टि से इस में अनेक उत्तम विचार व्यक्त किये गये हैं। वेद के अनेक मन्त्रों के बहुत सुन्दर और जीवन को प्रेरणा देनेवाले अर्थ किये हैं। मानव के लिये उदात्त भावनाओं का निरूपण सुन्दर ढङ्ग से किया गया है ॥

(६) पञ्जाब का हिन्दी-सत्याग्रह

लेखक—श्री० भगवतशरण जी। प्रकाशक—हिन्दी रक्षा समिति ५ मीराबाई रोड—लखनऊ। पृष्ठ संख्या ४८। मूल्य ।)

गत हिन्दी सत्याग्रह के विषय में इसमें बहुत उपयोगी सामग्री दी गई है, जिससे उक्त सत्याग्रह के विषय में आवश्यक जानकारी मिलती है ॥

(७) आत्मकथा अर्थात् आपबीती जगबीती

लेखक—श्री० पं० नरदेवशास्त्री जी वेदतीर्थ—प्रकाशक—तथा प्राप्ति स्थान—महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)। आकार—२०×३०/८। कागज़ और छपाई मध्यम। पृष्ठ संख्या ६५० ॥ मूल्य लागतमात्र ५)

श्री० पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ—कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर—आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान्—आचार्य हैं, जो लगभग ५० वर्ष से आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। आप उत्तरप्रदेशीय विधानसभा के सदस्य भी रहे हैं। आप का सम्बन्ध जहां आर्य समाज से रहा है, वहां आप कांग्रेस में भी सक्रिय भाग लेते रहे हैं।

यह आत्मकथा इन्होंने स्वयं लिखी है। इसके प्रथम भाग में प्रारम्भिक जीवनवृत्त दिया गया है। दूसरे भाग में कारावाससम्बन्धी वृत्त है, जिसमें आप ५ वार जेल गये १९२१ ई०-१९३०-१९३२-१९४२-४३ में लगभग ५ वर्ष जेल में रहे। तीसरे भाग में भिन्न २ विषय हैं। महात्मा मुंशीरामजी का प्रकरण भी है जो हमारी दृष्टि में बहुत छोटा और अपूर्ण है। इससे कहीं अधिक हमें पता है। यह प्रकरण तो १०० पृष्ठ का लिखा जाता तो ठीक था, केवल ४ ही पृष्ठ लिखा गया है। इसी में तो पं० जी की राजनीति के दिग्दर्शन होते। एक दृष्टि से तो अच्छा ही किया जो इतना ही लिखा। चतुर्थ भाग में महाविद्यालय ज्वालापुर में कार्यादि का विवेचन है। पांचवें भाग में संस्मरण हैं जिनमें कई एक बड़े महत्त्व के हैं।

एक बात हमने ढूंढी जो नहीं मिली कि आप आर्यसमाजी कैसे बने? इस पर विशद प्रकाश डाला जाना चाहिये था। इससे बहुतों को लाभ होता। आपने अपने को 'आर्य समाजी' कहने में संकोच किया प्रतीत होता है। दूसरी बात अखरनेवाली यह है कि ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में आपकी धारणा आरम्भ में क्या थी, बीच में क्या रही और वर्त्तमान में क्या बनी है सो तो स्पष्ट लिखनी

चाहिये था, तथा वर्णव्यवस्था के विषय में आप के डगमगाते विचार अन्त में कहां पर पर्यवसित हुये हैं, इस पर भी प्रकाश अवश्य डालना चाहिये था। आपका लिखा आर्यसमाज का इतिहास अत्यन्त ही निराशाजनक और भ्रान्तिपूर्ण कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है आपके उक्त विचारों में कुछ भी परिवर्तन नहीं आया। इस आत्मकथा से तो यही प्रतीत हो रहा है॥

मेरे साथ आप को प्रेम है (यद्यपि विचारों में बहुत विभिन्नता है), इसीनाते मैं यह पङ्क्तियां लिख रहा हूँ॥

आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध के आपके जीवन से महाराष्ट्र में गहरी छाप लगनी चाहिये। ऐसी हम अब भी आशा करते हैं। आप आर्य समाज के गत ५० वर्ष के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। इतना और लिखना अनुचित न होगा कि यह आत्मकथा गहराई से वा गम्भीरतापूर्व नहीं लिखी गई। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे चलते चलते जो आया सो लिखा गया। अन्यथा ६५० पृष्ठों में तो बहुत कुछ लिखा जा सकता था।

(८) बिखरे मोती

लेखक—राजकुमार जौहरी। प्रकाशक—तथा प्राप्तिस्थान-न्यूलिट्रेचर-जीरो रोड-इलाहाबाद। आकार—रायल अठपेजी। कागज छपाई—अच्छी। पृष्ठ संख्या ६४ मूल्य१)

ये उत्तम विचारों के सुन्दर मोती हैं। ऐसी पुस्तक मिडिल श्रेणियों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य है। सुन्दर प्रेरणादायक भावपूर्ण संग्रह है॥

पत्रपत्रि-कायें

(१) 'अणुव्रत' निर्माण अङ्क

यह एक हिन्दी का पाक्षिक पत्र कलकत्ता से प्रकाशित होता है॥ आकार—रायल अठपेजी। पृष्ठ संख्या ६४।

वार्षिक मूल्य ६)॥ पता—अणुव्रत कार्यालय कलकत्ता नं० १॥

जनता में व्याप्त अनैतिकता, भ्रष्टाचार, अनाचार, विषमता, एवं अन्य आत्मद्रोही दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक अहिंसक किन्तु सबल मोर्चा 'अणुव्रत आन्दोलन' है। अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य है (क) जाति, वर्ण, देश और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्यमात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करना (ख) अहिंसा और विश्वशान्ति की भावना का प्रसार करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के साधन स्वरूप मनुष्य की महिमा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रती बनाना है॥

यह घोषणा उक्त आन्दोलनकर्ताओं की है। हम समझते हैं यह बहुत उत्तम योजना है। यदि यह सफल हो जायेतो देश का महान् कल्याण होगा॥

अणुव्रत का निर्माण अङ्क बहुत उत्तम लेखों से भरा है। हमने इस अङ्क तथा अन्य में जो भी लेख पढ़ा, बहुत उपयोगी और भावपूर्ण पाया।

अणुव्रत का हमारा यह प्रथम परिचय है। इनके सब अङ्कों को पढ़कर हमें बहुत प्रसन्नता होगी, ऐसा प्रतीत होता हैं॥

हम अणुव्रत आन्दोलन और इसके इस पाक्षिक पत्र की पूरी सफलता चाहते हैं। प्रत्येक भारतीय के लिये यह उपादेय है॥

(२) 'आर्यावर्त' मासिक

सम्पादक—श्री पं० अशोक कुमारआयुर्वेदालङ्कार॥ प्राप्तिस्थान—नया बाजार—लश्कर (गवालियर)

प्रकाशक—आर्यप्रतिनिधि सभा (मध्यभारत) आकार—$\frac{20 \times 30}{8}$। कागज छपाई—अच्छी पृष्ठ संख्या ३६। वार्षिक शुल्क ४)।

इस पत्रिका में मध्यभारत आर्यसमाज सम्बन्धी समाचार तथा धार्मिक तथा सामाजिक लेख रहते हैं। हम समझते हैं ऐसे उपयोगी पत्र से मध्यभारत की जनता में सदाचार धार्मिक भावनाओं तथा नैतिकता का प्रसार होता है। विशेष कर मध्य भारत के आर्य पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे सदा इसका प्रचार करें और जनता में इसकी उन्नति के लिये प्रयत्नशील हों। भारत के अन्य प्रान्तों के आर्य सज्जनों को चाहिये कि वे अपने अपने आर्यसमाजों में ऐसे पत्रों को अवश्य मंगावें जिन से आर्य समाज वैदिक धर्म सम्बन्धी प्रगतियों का परिचय हर एक आर्य को रहे। इससे आर्य पुरुषों को बड़ी प्रेरणा मिलती है। आर्य समाज के दृढ़ संगठन का परिचय मिलता है। जैसा कि गत हिन्दी सत्याग्रह आन्दोलन में मिला। आर्य समाज की शक्ति बढ़ती है। हम इसके लिये सम्पादक तथा मध्यभारत आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों को बधाई और धन्यवाद देते हैं। जो वे ८ वर्ष से इसे चला रहे हैं॥

सम्पादकीय

विशिष्ट आर्यपुरुषों का निधन

देशभक्त श्री० कुँवरचान्दकरण जी शारदा अजमेर

आप आर्य समाज के अनथक–परमभक्त–तेजस्वी नेता थे। महात्मा गांधी के बारदोली सत्याग्रह में सबसे आगे झण्डा उठाने वाले आप थे। हिन्दू सभा के नेताओं में आप का उच्च स्थान था। और सब होते हुए भी आप आर्य समाज के लिये हर समय प्राण देने वाले थे। हैदराबाद सत्याग्रह के द्वितीय सेनानी थे। कराची में सत्यार्थ प्रकाश के लिये सत्याग्रह में भी आप थे। आर्य स्वराज्य सभा के आप संस्थापकों में से थे। बड़े योग्य वकील होते हुये भी देश के लिए परम त्याग आपने किया। राजस्थान में आर्य समाज के प्रचार में आप का मुख्य हाथ रहा। परोपकारिणी सभा अजमेर के आप विशिष्ट सदस्यों में थे। बड़े उदार-उत्साही–त्यागी और कर्मठ नेता थे। इस परिवार ने अपने पूज्य पिता राम विलास शारदा जी की ऋषि तथा आर्यसमाज के प्रति भावना वा वैदिक धर्म की निष्ठा को सफलता पूर्वक निभाया।

इनके निधन से आर्य समाज का एक सच्चा सेवक चला गया। प्रभु इनके परिवार में वैदिक धर्म के प्रति सब की निष्ठा बनाये रखे॥

पं० चन्द्रबलि पाण्डेय काशी

आप हिन्दी के प्रौढ़ लेखक–उच्चकोटि के विद्वान्–गम्भीर विचारक और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान रहे। ये बहुत सादा जीवन–सरल हृदय–उदार विद्वान् और उदारचरित थे। हमें इनके साथ स्वर्गीय श्री० पं० महेश प्रसाद जी मौलवी के द्वारा परिचय हुआ था। आपने इस्लामी साहित्य के विषय में भी पर्याप्त पुस्तकें लिखी हैं। जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा मिल सकती हैं। कई मास बीमार रह कर आप का शरीरान्त काशी में हुआ। आप एक बार हमारे आश्रम (विरजानन्द आश्रम) लाहौर रावी तट पर भी रहे थे। आप एक तपस्वी और त्यागी नेता थे। देश की बड़ी भारी सेवा आपने की। ऐसे विद्वान् के न रहने में देश की एक अपूरणीय क्षति हुई है। पर संसार तो चलता ही चला जा रहा है, चलता ही रहेगा। हम न रहेंगे॥

श्री० पं० श्यामबिहारीलाल जी वानप्रस्थ ज्वालापुर

आप का निधन गतमास में हुआ। आप का मृत शरीर गङ्गा की नहर में प्राप्त हुआ, यह पता नहीं लग सका कि कारण क्या हुआ। आप के सम्बन्धियों और मित्रों का कई प्रकार का अनुमान हुआ। निश्चित कुछ नहीं किया जा सकता। आप आर्यसमाज के एक सच्चे कार्य कर्त्ता—वैदिक धर्म में निष्ठावान्—तपस्वी और योगाभ्यासी आर्य सज्जन थे। आप अपने भ्राता डाक्टर जी के साथ आर्ष गुरुकुल एटा में वानप्रस्थी के रूप में रहते थे। बड़े सात्त्विक और वेद के स्वाध्यायी थे। कभी कभी वेदवाणी में आप के लेख किसी वेद मन्त्र की व्याख्या रूप में सुन्दर निकलते रहते थे। आप का स्वाध्याय निरन्तर चलता था। पिछले दिनों आपने काशी में रह कर विशेष अध्ययन की इच्छा भी प्रकट की थी। आप के पुत्र पतञ्जलि शर्मा जि० बाराबंकी में डाक्टर हैं॥

आर्य समाज के मूक कार्यकर्ताओं में आप का एक ऊँचा स्थान था। इनके निधन से आर्य समाज का एक सच्चा सेवक चला गया॥

श्री० हेमराज जी आर्य–राजेन्द्र नगर नई देहली

आप कमालिया जि० मुजफ्फगढ़ (पाकिस्तान) के निवासी थे। आप एक सच्चे आर्य, ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म में निष्ठावान्—सच्चे कांग्रेसी— स्वयं तथ पत्नी और पुत्री को भी सदा खद्दर धारण करानेवाले रहे। ईमान दार और सत्यवादी सीमा से अधिक—सारा जीवन कष्ट उठाया पर कभी कोई बेईमानी–झूठ–छल व्यवहार में या नौकरी में कभी नहीं किया। बड़ी २ कम्पनियों बैंकों आदि में काम किया, एक पैसे की भी बेईमानी न स्वयं की और न किसी की बेईमानी में सम्मिलित हुए। उनकी सारी आयु की यही कमाई थी जो बहुत ऊँची कही जा सकती है। अपनी बात के बड़े धनी थे, वचन सदा पूरा करते थे। हम समझते हैं इन्होंने अपना आर्य जीवन सफल किया, अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग रहे। अपनी एक मात्र पुत्री स्नेहलता के लिये उसे योग्य बनाने में घोर कष्ट बाधायें उठाईं पर निराश नहीं हुए। ऋषि की पाठविधि के परम भक्त थे। जीवन भर उसके लिये कष्ट भी उठाते रहे। हम ऐसे आर्य पुरुषों को धन्य समझते हैं जिन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक अपने आर्यत्व को बट्टा नहीं लगने दिया। आप की २२ अप्रैल १९५८ को पानीपत में एक

[शेष टा० पृ० २ पर]

विविध-समाचार

खोदाई में कुशाण-काल का महल मिला

कानपुर, ७ मई। पुरातत्त्वविभाग द्वारा जाजामऊ टीले की खोदाई में एक ऐसे महल के खण्डहर मिले हैं जो लगभग १० मील के फैलाव में फैला है। महल बड़े ही कलात्मक ढंग से बना हुआ है।

विशेषज्ञों का मत है कि उक्त महल अब से लगभग १४ सौ वर्ष पूर्व कुषाणकाल का है। इस खोदाई में कई प्राचीन ऐसी वस्तुएं मिली हैं, जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है॥

'गीता' का जापानी भाषा में अनुवाद

बम्बई, ११ मई। भगवद्गीता का प्रथम जापानी अनुवाद टोकियो में अगले महीने प्रकाशित किया जायेगा- इसका आयोजन 'भारत-जापानी संघ' (बम्बई) ने किया है।

उक्त अनुवाद के प्रकाशन का निरीक्षण टोकियो में भारतीय राजदूतावास कर रहा है। ऐसा प्रस्ताव किया गया है कि भारतीय प्राचीन शास्त्रों की एक शृंखला का जापानी भाषा में अनुवाद किया जाय॥

प्रसिद्ध आर्य विद्वान् का सत्कार

श्री माननीय पं० रामगोपाल जी शास्त्री वैद्य (लाहौर निवासी) आर्य समाज के उच्चकोटि के विद्वान् हैं। आरम्भ में आपने डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान विभाग में वर्षों तक अनुसन्धान का कार्य किया। पश्चात् आपने आयुर्वेदीय चिकित्साक्षेत्र में पदार्पण किया। इसमें भी आपने महती ख्याति प्राप्त की। उदर-रोगों के तो आप महान् विशेषज्ञ हैं। आयुर्वेदीय विद्वत्समाज में आपकी गगना इने गिने श्रेष्ठ चिकित्सकों में होती है।

लाहौर में रहते हुए आपने वेदों में विभिन्न स्थानों में आये हुए आयुर्वेद सम्बन्धी मन्त्रों के आधार पर महान् परिश्रम करके **"वेदों में आयुर्वेद"** नामक एक बृहत्काय ग्रन्थ रचा था, वह देश विभाजन काल में वहीं नष्ट हो गया। देहली में आकर पुनः सारी सामग्री को संग्रह करके और वह भी उस अवस्था में जब कि आपकी दृष्टि अत्यन्त निर्बल हो गई है, उक्त ग्रन्थ को पुनः लिखा। यह आपके अध्यवसाय की पराकाष्ठा है।

हर्ष का विषय है कि उत्तर प्रदेश राज्य की आयुर्वेदिक तथा युनानी तिब्बे एकेडमी लखनऊ ने माननीय पण्डित जी के ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्ता को समझ कर **"वेदों में आयुर्वेद"** ग्रन्थ पर ३५०) पुरस्कार प्रदान किया॥

हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के समाचार

सरकार पर वचनभंगता का आरोप

दिल्ली में आर्य नेताओं का अधिवेशन

दिल्ली, २८ अप्रैल। सार्वदेशिक-भाषा-स्वातन्त्र्य-समिति ने रविवार को अपनी बैठक में एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से अनुरोध किया कि पंजाब की भाषासमस्या के उचित तथा न्यायपूर्ण समाधान के लिये शीघ्र ही कोई सक्रिय पग उठाये।

उक्त बैठक हिन्दी-रक्षा-समिति के अग्रिम कदम पर विचारार्थ श्रीघनश्याम सिंह जी गुप्त की अध्यक्षता में दीवान हाल में हुई। बैठक में देशभर से ५०० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। बैठक के आरम्भ में समिति के मन्त्री श्री रघुवीर सिंह शास्त्री ने सत्याग्रह-स्थगन से लेकर आजतक की स्थिति पर प्रकाश डाला। आपने बताया कि हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रह सरकार द्वारा सद्भावना का आश्वासन दिये जाने के पश्चात् स्थगित किया गया था। बैठक में निम्न प्रस्ताव पारित किया गया—

प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए दैनिक 'वीर अर्जुन' व 'प्रताप' जालन्धर के सम्पादक श्री वीरेन्द्र ने कहा कि सत्याग्रह के समय कांग्रेस उच्चसत्ता के विभिन्न नेताओं ने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत रूप से कहा था यदि सत्याग्रह आन्दोलन वापिस ले लिया जाय तो वे इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु अब जब कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया है, वही नेता इस ओर ध्यान तक भी नहीं दे रहे। यह सरासर वचनभंग है। यदि इस समस्या को हल करने का प्रयत्न न किया गया तो स्थिति हाथ से बाहर हो जायेगी।

आपने उपस्थित प्रतिनिधियों के उत्साह की सराहना करते हुए कहा कि हमें अभी अपने नेता श्री गुप्त जी को अवसर देना चाहिये कि वे इस सिलसिले में सरकार से जो बातचीत कर रहे हैं, उसे सफलता तक पहुँचाने का प्रयत्न करें। यदि इस बातचीत का कोई सन्तोषजनक परिणाम न निकला तो फिर आगामी पग के बारे में निश्चय किया जायेगा।

स्वामी रामेश्वरानन्द जी के समर्थन के पश्चात् प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और इस विषय पर विचारार्थ ९ जून को पुनः बैठक बुलाने का निश्चय किया गया।

श्रीघनश्याम सिंह जी गुप्त ने कलकत्ता रवाना होने से पूर्व अपने एक वक्तव्य में सरकार को चेतावनी देते हुए कहा यदि पंजाब की भाषा समस्या का शीघ्र हल न किया गया तो स्थिति गम्भीर हो जायगी॥

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड

अजमेर की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

चारों वेदों का सरल भाषा भाष्य १४ खण्डों में पूर्ण

भाष्यकारः—श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार।

वेद के प्रत्येक पद का बहुत सरल हिन्दी अनुवाद टीका सहित किया है। प्रत्येक जिल्द स्वर्ण अक्षरों में अङ्कित, पूरे कपड़े की जिल्द सहित, प्रत्येक जिल्द का मूल्य ७) रु०। सम्पूर्ण सेट का ९८) रु० मूल्य है।

२. **क्या वेद में इतिहास है:**—ले०—पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार—इस विषय पर युक्ति एवं खोजपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ अभी तक नहीं था। उसी विषय की महान् कमी को विद्वान् लेखक ने पूर्ण किया है। मूल्य २॥) रु०।

३. **चरक संहिता का नवीन भाष्य:**—भाष्यकार—डा० विनयचन्द्रजी वशिष्ठ व पं० जयदेव जी शर्मा। प्रथम भाग मू० ८) रु०, दूसरा भाग मू० ८) रु०, तृतीय भाग तैयार हो रहा है।

४. **कर्म-मीमांसाः**—ले०-आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री-कर्म के विविध विषयों तथा कर्तव्यों पर बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। मूल्य केवल सवा दो रुपया २।) है।

५. **दयानन्द-वचनामृतः**—ले०—महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती जी। सुललित भाषा में महर्षि के जीवन की अद्भुत झाँकी तथा उनके सुन्दर वचनों के संग्रह के साथ-साथ कवर पर सुन्दर तिरङ्गा चित्र, मूल्य ६ आना। ।=)

६. **उपनिषद्-संग्रह**—अनुवादक—श्री पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ। इसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय व छान्दोग्य उपनिषद् का सरल और सुबोध भाषानुवाद है। सजिल्द मूल्य ६) रु०।

भारतवर्षीय आर्य विद्यापरिषद् की विद्यारत्न, विद्याविशारद, विद्यावाचस्पति आदि परीक्षाएं हमारे मण्डल के तत्त्वावधान में होती हैं। सब में उपाधि मिलती है। पाठविधि मुफ्त मंगावें॥

प्रकाशक:—**आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर।**

वेद व अन्य आर्षग्रन्थों का सूचीपत्र मुफ्त मंगावें।

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छपेगी

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित होगा। ऊपर श्लोक पूरी लाइन में रहेगा, नीचे भाषार्थ भी पूरी लाइन में रहेगा।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ कोष्ठ [ ] सहित सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। बिना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

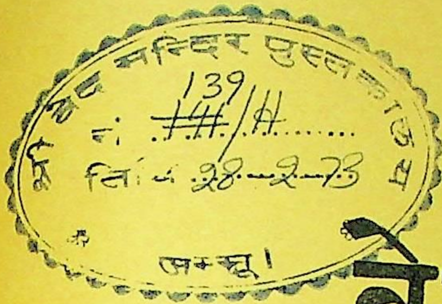
यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

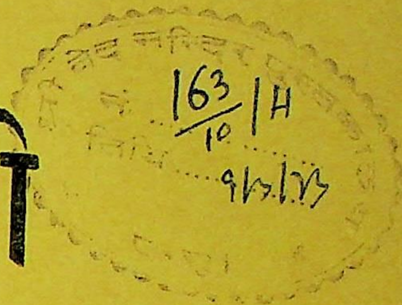
वैदिकधर्म का सेवक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥







वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०] [अङ्क ९



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आषाढ़ २०१५ वि०, जुलाई १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५९

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५॥=)
,, ,, विदेश से ६)
इस अङ्क का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक हो चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १० } काशी, आषाढ़ सं० २०१५ वि०, जुलाई १९५८ ई० { अङ्क ६

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

हृदय में तेरी ज्योति जगे

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः ।

सुमृळीको न आविश ॥ ऋग्वेद० । १ । ६ । २१ । ११ ॥

हे सोम	हे उत्तम पदार्थों को प्रिय-अनकूल रूप में प्रस्तुत करने वाले !	वचोविदः	सत्यविद्या से युक्त
वयं	हम सब	गीर्भिः[3]	आपके समग्र गुणों को समझते हुए और उनमें विभोर होते हुए

अर्थबोधक टिप्पणी

१ (अ) सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः—उ० १ । १४०

(आ) सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः—श० ५ । १ । २ । १०

२ a command : precept : injunction : advice : hymn.

३ appreciation.

त्वा	आपको (अपने भीतर)	(भूत्वा)	देते हुए
वर्द्धयामः	सुषुप्तावस्था से जागृतावस्था में लाने में लगे हैं (जिसमें आप)	नः	हमें
सुमृडीकः	प्रसन्न होकर और हमारे दोषों पर ध्यान न	आविश[6]	अपने वश में करलो

ऋषिव्याख्यान

हे "सोम" सर्वजगदुत्पादकेश्वर ! आपको "वचोविदः" शास्त्रवित् "वयं गीर्भिः त्वा 'वर्द्धयामः'" हमलोग स्तुति सँमूह से सर्वोपरि विराजमान मानते हैं। "सुमृडीको नः आविश" क्योंकि हमको सुष्ठु सुख देने वाले आप ही हो, सो कृपा करके हमको आप आदेश करो जिससे हम लोग अविद्यान्धकार से छूट और विद्या सूर्य को प्राप्त हो के आनन्दित हों।

४ व्यु० वृध् = to exalt : to ascend.
५ व्यु० मृड् = सुखने तुदा०, to be pleased : forgive: pardon.
६ आविश = take possession of
७ स्तुतिसमूह से = आपके गुणों को समझते हुए ८ सुष्ठु = सुन्दर : अच्छा
९ आदेश करो = हमपर अधिकार करो, हृदय में प्रकाश करो

मानवता—मनुष्यजन्म का उद्देश्य

[*ले०—श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज, रोहतक*]

विद्यार्थियों का सम्बन्ध गुरुजनों के साथ होता है सहवास भी। गुरुजनों से दो प्रकारकी शिक्षा उन्हें मिलती है—एक मस्तिष्क से दूसरी मन से। जितना गुरु का ज्ञान तथा योग्यता मस्तिष्क में होगी, उतना वह वाणी द्वारा विद्यार्थी पर प्रभाव डाल सकेगा। दूसरी शिक्षा (मन से शिक्षा) उसके जीवन से मिलेगी। जितना मन विकसित होगा उतना ही वह अपने आचरण से सिखाएगा। वह जीवन की शिक्षा क्या है ? वह है मानवता—मानव जीवन बनाना।

मानव जीवन का प्रारम्भ आध्यात्म विद्या से होता है। बिना आध्यत्मविद्या के मानवता की शिक्षा नहीं मिल सकती। मानव के शब्द और अक्षरों में एक बड़ा गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। मानव = मा + नव। गणित में नव का अङ्क पूर्ण गिना जाता है। मानव जीवन अथवा मनुष्य का मन नव इन्द्रियों से प्रकट होता है जो और किसी प्राणी में नहीं। यह नव इन्द्रियां निम्न हैं:—

१. आंख, २. कान, ३. नाक, ४. वाणी, ५. जिह्वा, ६. हाथ, ७. पांव, ८. उपस्थेन्द्रिय, ९. गुदा।

अन्य किसी प्राणी में यह नौ इन्द्रियां पूरी नहीं होतीं। केवल एक मनुष्य है जिसमें यह नौ इन्द्रियां पूरे रूप में पाई जाती हैं।

गणित में मन चालीस सेर का होता है। खसखस के दाने से तोल का प्रारम्भ करके चावल, रत्ती, माशा, तोला, छटांक, सेर, धड़ी और मन पर समाप्त किया जाता है। यदि इस मन या खसखस के तोल को मनुष्य उठाना चाहे तो किस से उठाएगा ? हाथ से। मालूम हुआ कि मन का उत्थान और पतन हाथ की क्रिया से ही होगा। इस हाथ को कर कहते हैं। कर के अर्थ हैं कर्तव्य कर्म। यह हाथ ही मन के सब कार्य्य तुरन्त करता है। सिर में खुजली हो तो हाथ उठेगा। मल कपड़े पर लग जाय तो हाथ धोएगा। सारांश यह कि सब कार्य्य—खाने, पीने, कमाने, पकाने आदि के यही करता है।

यदि उस मन को प्रकट करना हो कि यह मन है, सेर नहीं, आधा मन नहीं, तो किससे प्रकट कर सकेंगे ? वाणी से । वाणी इस मन की अभिव्यक्ति का साधन है । बिना वाणी मन का प्राकट्य नहीं हो सकता । निष्कर्ष यह कि हाथ और वाणी के कार्य्य मुख्यतया मानवजीवन को प्रकट करने वाले हैं । इनसे लोकव्यवहार और परलोकव्यवहार होता है । यही बन्धवाते हैं यही छुड़वाते हैं । यदि बाहर के मन (परिमाणवाचक) को देखना चाहें तो आंख से देख सकेंगे । जिनकी अन्तर की आंख नहीं, वह मन (अन्तः) दर्शन नहीं कर सकते । मन के निर्देशों को सुनना चाहें तो कान से सुन सकेंगे । इसलिए ये सब मन के सहायक साधन हैं ।

मानव = मा = माया, नव = नौ । यह सब माया मानव के लिये ही खेल खिला रही है और मनुष्य इन नौ इन्द्रियों से सारी माया को भोगता है । इन्हीं नौ के कारण माया में फँसा रहता है ।

मा = न, नव = नौ । मनुष्य अगर इन नौ इन्द्रियों को माया में लिप्त नहीं करता है तो उसका इन नौ इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है । जिस प्रकार 'म' के उच्चारण से ओष्ठ बन्द हो जाते हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं तथा मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाता है । ऐसा मानव पूर्ण पुरुष बन जाता है—भीतर के मन का स्वामी—मन वाला मानव—मान वाला बन जाता है, माननीय पुरुष बन जाता है ।

मानव = मा = माया का विस्तार नव = नौ पर समाप्त हुआ, जैसे नौ पर सब गणित समाप्त है ।

सृष्टि दो प्रकार की है—ब्राह्मी अथवा अदृश्य सृष्टि और दृश्य सृष्टि अर्थात् कार्य्यरूप जगत् । अदृश्य सृष्टि में १. ब्रह्म, २. प्रकृति, ३. महत्तत्व, ४. सूक्ष्म प्राण, ५. समष्टि अहंकार, ६. समष्टि मन, ७. समष्टि ज्ञानेन्द्रियां, ८. समष्टि कर्मेन्द्रियां, ९ पञ्च तन्मात्रा ।

दृश्य (कार्य्यरूप) जगत् में भी नौ पर समाप्ति हुई । आठ वसु—१. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. आकाश, ६. सूर्य्य, ७. चन्द्र, ८. नक्षत्र, ९. जीवात्मा ।

तो मानव सच्चे अर्थों में वही होगा जिसका मा = माप अर्थात् परिमाण पूर्ण मानवता की होगी । उसकी पूजा प्रतिष्ठा नव = नवीन—रूप में होगी । जैसे सब महापुरुषों की होती है ।

यह मानवता कैसे आयेगी ? मानवता की शिक्षा देने का केन्द्र केवल गुरुकुल ही हो सकता है । जब बालक को गुरुकुल में प्रवेशार्थ पहली बार गुरु के सामने माता-पिता लाते हैं तो गुरु और बालक के पिता के उस समय के विचारों को वेद के निम्न पवित्र मन्त्र से बहुत सुन्दर रूप में दर्शाया गया है ।

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि ऋतस्य त्वा देवहविः । पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥

यजु० अध्याय ६, मन्त्र ८ ॥

जब पिता बालक को साथ लेकर गुरुकुल भूमि में पहुंचता है तो बालक वहां के रमणीक दृश्य तथा अन्य बालकों को खेलते देखकर उसमें सम्मिलित हो जाता है, तब उसका पिता निश्चिन्त होकर गुरु-सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना करता है–बृहस्पते—हे वेदज्ञ गुरु, वसूनि–धन आदि को धारया = स्वीकार कीजिए । गुरु के अस्वीकार करने पर बालक का पिता पुनः आग्रह करते हुए कहता है—ऋतस्य = यह धन सत्य न्याय व्यवहार से मैंने अर्जित किया, इसलिए इसे आप को स्वीकार करना चाहिए । गुरु पूछते हैं कि तुम यह धन मुझे किसलिए देते हो । पिता उत्तर देता है—देवहविः । अब गुरु प्रसन्न होकर उस धन-राशि व द्रव्य आदि को स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा करता है कि मैं इस तेरे बालक को पाशेन = अविद्या बन्धन से प्रतिमुञ्चामि = छुड़ाऊंगा ।

गुरु अविद्या बन्धन से किस प्रकार छुड़ायगा यह आगामी लेख में बताऊंगा ॥



आत्म-कल्याण का मार्ग

[ले०—श्री स्वा० गंगागिरि जी महाराज, गुरुकुल रायकोट]

मनुष्य जीवन का लक्ष्य आत्मा का कल्याण करना है। यह काम सरल नहीं है। इसमें बड़े २ समझदार कहे जाने वाले महानुभाव भी भटक जाते हैं मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। साधारण जनों का तो कहना ही क्या है। कः पन्थाः ? मार्ग कौन सा है ? यह सनातन प्रश्न है। सब कालों, सब देशों में यह प्रश्न सब विचारकों के समक्ष आया है। बहुत थोड़े ऐसे भाग्यवान् हैं जो इस प्रश्न का पूरा समाधान कर सके हैं और तदनुसार स्वजीवनयात्रा व्यतीत कर सके हैं। यह मार्ग अति कठिन है इसके लिए वेद हमें क्या उपदेश देता है ? पाठक ध्यान से इस मन्त्र के भाव को समझें। मन्त्र इस प्रकार है:—

मैतं पन्थामनुगा भीम एष येन पूर्व नेयथ तं ब्रवीमि। तम एष पुरुष मा प्रपत्थाः भयं परस्तात्, अभयं ते अर्वाक्।

अ० ८। १। १०।

इस मार्ग पर "मा अनुगाः" मत चल, "भीम एषः" क्योंकि यह भयंकर है, येन = जिस मार्ग से "पूर्व" पहिले "नेयथ" ले जाया गया "तं ब्रवीमि" उसे बताता हूं "पुरुष" हे पुरुष ! नागरिक ! "एतत् तमः" इस अन्धकार को "मा प्रपत्थाः" मत प्राप्त हो—अथवा अन्धकार में मत गिर। "परस्तात् भयम्" = पिछली ओर भय है "अर्वाक्" इस ओर तुझे "अभयं" अभय है। वेद उल्टे मार्ग में चलने से मनुष्य को बन्द करता है। "मैतं पन्थामनुगाः" वेद कहता है कि इस मार्ग पर मत चल। सभी मनुष्यों का यह अनुभव है कि कठोर कर्त्तव्य—पालन के समय उन्हें सांसारिक मोह घेर लेता है। न्यायाधीश का अपना पुत्र अपराधी के रूप में उसके सामने आता है, अपराध प्रमाणित हो जाता है किन्तु पुत्र—प्रेम न्याय के मार्ग में आ खड़ा होता है, यह न्याय नहीं करने देता। क्या वह **"गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्"** = कानून का भङ्ग करनेवाला धर्म का उल्लंघन करने वाला पुत्र हो या शत्रु हो—उसके लिए वेद कहता है कि "मैतं मन्थामनुगाः" मत इस राह पर चल। मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या यही है ? कि बस खाना पीना और भोग भोगना। प्राचीन समय में रावण ने सीता को कहा था कि—

भुङ्क्ष्व भोगान् यथाकामं पिब भीरु रमस्व च।
वा० रा० सुन्दर काण्ड २०—४०।

अर्थात् = खा—पी—और भोगों को भोग, आनन्दपूर्वक जीवन को व्यतीत कर। किन्तु सीता माता ने वेद पढ़ा था "मैतं पन्थामनुगाः"। सीता इस भोग मार्ग पर न चली, और राक्षस रावण के प्रणय—प्रलाप को उसने ठुकरा दिया। इससे पता लगता है कि भोग भोगना मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं है। क्या मनुष्य खान पानादि विषयों में पशुओं की बराबरी कर सकता है ? क्या कोई हाथी के बराबर खा सकता है ? खाना, पीना, मौज उड़ाना तो राक्षसों का धर्म है। रावण ने सीता को कहा है कि—

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सं प्रमथ्य वा।
वा० रा० सुं० २०—५।

अर्थात्—हे धर्मभीरु ! सीते ! परस्त्रीगमन या व्यभिचार तो राक्षसों का अपना धर्म है। तो क्या हम राक्षस बनें ! वेद कहता है कि—'ना भाई ! "भीम एषः" यह मार्ग भयंकर है। आज भी जो लोग कहते हैं कि:—"खाओ, पीओ, आनन्द करो"—उन्हें भी रावण का भाई समझो। वे लोग राक्षस धर्म के प्रचारक हैं। जब जीवनयात्रा के लिए मनुष्य तय्यार होता है तो उसके सम्मुख 'दोराहा' आता है। एक मार्ग पर तो सब लुभावनी सामग्री = नाच गान—स्त्री—खान—पान आदि २ होता है। दूसरे मार्ग पर ऐसा कुछ दीखता नहीं है। साधारण मनुष्य = जिसका विवेक अपक्व है, वह तो पहले मार्ग को ही चुनता है। 'पहले = मार्ग के चुनने में दो कारण हैं। पहला कारण "मन्द-मति" दूसरा कारण = 'सांसारिक भोगों की लालसाओं की पूर्ति की संभावना। यम ने नचिकेता को इस दोराहे की बात भलीभांति समझाई थी। उसने कहा था कि:—**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतत्** कठ—१—२—२। यम ने कहा श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग दोनों ही मनुष्य को मिलते हैं। किन्तु **प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते** कठ० १—२—२। मन्दमति मूर्ख,

'योग क्षेम' के कारण, सांसारिक भावना के कारण—प्रेय मार्ग को पसन्द करता है। मूर्ख मनुष्य दोनों का भेद नहीं जानता है। वह उनकी पहिचान नहीं कर सकता है। पहिचान तो धैर्यवान्—विचारशील ही कर सकता है। "तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः" कठ० १–२–२। धीर मनुष्य ही इन दोनों मार्गों = (श्रेय और प्रेय) की जांच करके भेद कर सकता है। महा अज्ञानी मूढ़ ही इस प्रेय मार्ग पर चलते हैं। यम कहता है नचिकेता को—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः,
स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः,
अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः॥
कठ० १–२–५।

अर्थात् जो अविद्या में फंसे हैं किन्तु अपने आपको ध्यानी और पंडित मान रहे हैं—ऐसे दुरवस्थाग्रस्त महामूढ़ ही इस प्रेय मार्ग में चलते हैं। वे स्वयं अन्धे हैं—और अंधों के पीछे चल रहे हैं। वेद कहता है कि:—"मत चल इस मार्ग पर" तुझे मैं बताता हूँ मार्ग। पहिले भी इसी मार्ग से तुझे और तेरे बड़ों को चालया था। "येन पूर्वे नेयथ तं ब्रवीमि"। अरे! यह प्रेय-मार्ग अंधकार से ढांपा हुआ है। अन्धकार मृत्यु है। तू अंधकार में मत फंस। भगवान् ने कहा है कि:—

"तं एतत् पुरुष मा प्रपत्थाः" नगर के रहने वाले! यह अन्धकार है, इसमें मत गिर। नगरवासी तो प्रकाश का अभ्यासी है। पुरुष की नगरी शरीर है। ज्योति से आवृत है। "प्रकाश से ओत प्रोत" का अन्धकार में गिरना लज्जास्पद है। यदि संसार पथ में "प्रेयो मार्ग"—अर्थात् भोगपद्धति इतनी भयावह है तो ऐसा हमें प्रतीत क्यों नहीं होता है? इस पुराने प्रश्न की मीमांसा यम ने इस प्रकार की है:—

न संपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्त-मोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" । कठ० १–२–६।

अर्थातः—यह संपराय = आनी जानी = विनश्वर संसार "बालक" को = मूढ़ अज्ञानी को—सही रूप में नहीं दीखता है। प्रमादी को यह सही नहीं सूझता है। भर्तृहरि के शब्दों में उसने तो शराब पी रखी है।

"पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां उन्मत्तभूतं जगत्"

अर्थात् प्रमाद की—मोह की मदिरा पीकर यह संसार पागल हो रहा है—धन के मद में मत्त पुरुष भी इसकी यथार्थता को नहीं पहिचान सकता है। धन का नशा बड़ा तीव्र होता है। इन तीनों की दृष्टि संसार से परे नहीं जाती। वे तो इस लोक एवं अपने शरीर को ही सब कुछ समझते हैं। अतः जन्ममरण के चक्र में फंसे रहते हैं। वेद कहता है कि:—"भयं परस्तात्" = अरे! पीछे तो भय है। अतः इस पथ पर मत चल। "अभयं ते अर्वाक्" तेरे लिए इस ओर अभय है—तू इधर चल॥

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे, क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

मीमांसा दर्शन और उसकी कुछ समस्यायें

[ले०—श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय एम. ए. सिद्धान्त वाचस्पति, जोधपुर]

मीमांसा दर्शन हमारे देश की दार्शनिक चिन्ता का एक उत्कृष्ट फल है। यह अत्यन्त प्राचीन है और याज्ञिक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त व्यापक और लोकप्रिय भी रहा है। यह अवश्य है कि आज मीमांसा दर्शन का जिस रूप में अध्ययन किया जाता है, उससे उसके मौलिक स्वरूप और मूल विचारधारा का पता नहीं चलता। जिस ध्येय को लेकर आचार्य जैमिनि ने इसकी रचना की, वह मीमांसा के परवर्ती लेखकों की दृष्टि से ओझल होने लगा और इस दर्शन के विषय में कुछ शंकायें और प्रवाद प्रचलित हो गये। प्रस्तुत लेख में हम कुछ ऐसी ही समस्याओं का उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि मीमांसा कर्ममूलक दर्शन है, ज्ञान और उपासना के लिये इसमें कोई स्थान नहीं है। आधुनिक युग के चार्वाक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दर्शन दिग्दर्शन' नामक ग्रन्थ में इसे पुरोहितों की आजीविका का दर्शन कहकर इसका उपहास किया है। परन्तु क्या वास्तव में इस आक्षेप में कुछ सत्यता है? यह सत्य है कि मीमांसा ने वेदोक्त कर्मानुष्ठान को ही धर्म का लक्षण और अपवर्ग प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया है, परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इससे ज्ञान और उपासना का खण्डन हो जाता है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** मानने वाले वेदान्ताचार्यों ने भी कर्म की आवश्यकता एक मत से स्वीकार की है। अतः मीमांसा का ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड से कोई विरोध नहीं। यह अवश्य है कि जैमिनि के परवर्ती आचार्यों ने मीमांसा के कर्म सिद्धान्त को अत्यन्त संकुचित (rigid) बना दिया। शबर स्वामी तो धार्मिक पुरुष भी उसे ही मानते हैं जो यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करता हो। **"यो हि यागादिकर्मानुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते।"**[१] यहाँ हमें बरबस मुण्डिक उपनिषद् के उस वचन का स्मरण आ जाता है जहाँ केवल यज्ञादि पर निर्भर रहने वालों के लिये **"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा"** आदि वाक्य कहे गये हैं। और ज्ञान-विरहित कर्म' का सम्पादन करने वालों के लिये **"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"** की उक्ति का प्रयोग किया गया है। मीमांसा में **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"** आदि सूत्रों को देखकर हिन्दी में मीमांसा दर्शन के लेखक पं० मण्डनमिश्र शास्त्री ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि जैमिनि ने तो कर्मकाण्ड के अतिरिक्त वेदभाग को अनर्थक तक कहा है।[२] परन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं हो सकते। मीमांसा कर्म-मार्ग का प्रतिपादन अवश्य करती है, परन्तु उसका ज्ञान और उपासना से विरोध नहीं है। ज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय ही वैदिक धर्म का अभीष्ट है।

मीमांसा के विषय में दूसरी विचारणीय समस्या है—इस दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का आरोप। आक्षेप-कर्ताओं की दृष्टि में मीमांसा में ईश्वर की सर्वप्रमुख सम्पन्न सत्ता को अस्वीकार किया गया है। षट् दर्शनों में अनीश्वरवादी होने का आरोप केवल मीमांसा पर ही नहीं अपितु सांख्य और वैशेषिक पर भी लगाया जाता है। अस्तु, प्रथम तो मीमांसा और वेदान्त दोनों एक दूसरे के पूरक (Supplementary) दर्शन हैं जो प्रत्यक्षतः वेदों के कर्म और ज्ञानकाण्ड का सामञ्जस्यपूर्ण विवेचन करते हैं। जिस प्रकार वेदान्त में उपनिषदों की आध्यात्मज्ञानपरक वाक्यावली का परस्पर समन्वय और अविरोध सिद्ध किया गया है उसी प्रकार मीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित कर्मकाण्डमूलक वाक्यों का विचार करता है। ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों ही ईश्वरवादी वैदिक धर्म के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं जो वेदों की व्याख्या के रूप में ही समय २ पर ऋषियों द्वारा रचे गये थे। ऐसी परिस्थिति में यह कहना सर्वथा अज्ञानमूलक है कि मीमांसा अनीश्वरवाद का प्रचारक है।

प्रत्येक दर्शन अपना एक प्रतिपाद्य विषय चुन लेता है। मीमांसा का प्रतिपाद्य है—कर्म पर आश्रित धर्म। इससे ईश्वर की सत्ता का तो निषेध नहीं होता। पं० मण्डनमिश्र शास्त्री ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में इस आक्षेप का

१ मीमांसा शाबर भाष्य।

२ मीमांसा दर्शन पृ० ८०, प्र० रमेश बुकडिपो जयपुर।

बलपूर्वक खण्डन किया है कि मीमांसा अनीश्वरवादी दर्शन है। उन्होंने जैमिनीय मत को ईश्वरवादी आस्तिक सिद्ध करते हुये यह अवश्य कहा है कि जैमिनि के परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में ईश्वर का खण्डन किया है। शबर, कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र आदि सभी अर्वाचीन मीमांसक इस दोष के दोषी हैं। उपर्युक्त विद्वान् के विचारानुसार उस समय बौद्ध विचारधारा के वेदविरोधी दृष्टिकोण का निरास करने के लिये ईश्वरवाद का खण्डन करना भी उसी प्रकार आवश्यक था जिस प्रकार शंकर का अद्वैतवाद को स्वीकार करना। अतः मीमांसकों ने ईश्वर विरोध as a mater of policy किया है, ताकि बौद्ध लोग भी बुद्ध की सर्वोपरि अलौकिक सत्ता को ईश्वर का स्थान न दे सकें। आर्य-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् और लेखक स्व० महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि जी ने भी अपने मीमांसादर्शन भाषाटीका तथा 'षड्दर्शनादर्श' नामक एक अन्य ग्रन्थ में इस आक्षेप पर विचार किया है और मीमांसा के ईश्वरवाद का उद्घाटन किया है।

कई लोगों का यह भी विचार है कि मीमांसा बहुदेववादी दर्शन है और उसमें ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता के दर्शन नहीं होते। यज्ञप्रधान होने के कारण यदि मीमांसा में देवतावाद का सिद्धान्त मिलता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, परन्तु यह देवतावाद भी अन्त में जाकर 'एकदेववाद' के सिद्धान्त में समाविष्ट हो जाता है। **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** और निरुक्तकार के **'माहाभाग्या-देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते'** आदि वचन इसी ओर संकेत करते हैं।

मीमांसा में वेदप्रामाण्य पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। वेद का स्वतःप्रमाणत्व और अन्यान्य ब्राह्मण, स्मृति आदि ग्रन्थों का परतःप्रमाणत्व मीमांसा में बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से सिद्ध किया गया है। वैसे तो सभी आस्तिक दर्शन वेद प्रमाण्य को स्वीकार करते हैं और ईश्वरोक्त होने के कारण उन्हें अपौरुषेय कहते हैं, परन्तु मीमांसा में वेदों की अपौरुषेयता को एक भिन्न दृष्टिकोण से परखा गया है। मीमांसक कहते हैं—वेद अपौरुषेय हैं, वे नित्य और अनादि हैं। उन्हें किसी पुरुष की रचना नहीं माना जा सकता, अतः वे अपौरुषेय हैं। यहां तक तो ठीक। परन्तु वे एक पग आगे बढ़ कर यह भी कहते हैं कि वेद को किसी तथाकथित ईश्वर की रचना मानने की भी क्या आवश्यकता है? यहां आकर मीमांसा का न्याय दर्शन से विरोध हो जाता है। न्याय दर्शन वेद को पौरुषेय मानता है, इस अर्थ में नहीं कि वह किसी साधारण लौकिक पुरुष की रचना है, अपितु इस अर्थ में कि वेद परम पुरुष परमात्मा की दिव्य कृति है। इस प्रकार वेदप्रामाण्य को सर्वोपरि स्वीकार करते हुये भी मध्यकालीन दार्शनिक वाद-विवाद के युग में मीमांसा और न्याय का वेदविषयक दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध समझा जाने लगा। मीमांसकों ने वेद को अपने अर्थों में अपौरुषेय सिद्ध किया और नैयायिकों ने उसके ईश्वरकृत होने पर बल दिया। वेदान्त ने भी **'शास्त्रयोनित्वात्'**[1] कहकर वेदको परमात्मा का शाश्वत ज्ञान माना है।

वेद के विषय में मध्यकालीन मीमांसकों और नैयायिकों में जो मतभेद पाया जाता है हम उसमें अधिक सार नहीं देखते। इन दोनों दृष्टिबिन्दुओं में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। मीमांसकों का वेदों को अपौरुषेय कहना इसी अर्थ में सत्य है कि वेद किसी साधारण मानव की रचना नहीं है, परन्तु इससे आगे बढ़ कर उसके ईश्वरकृत होने से इन्कार करना हमारी दृष्टि में साहस मात्र है। और नैयायिकों को भी वेदों के अपौरुषेय कहे जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वेद किसी साधारण मनुष्य की रचना तो है नहीं। इस प्रकार बड़ी सरलता से इस मतभेद को समाप्त करके आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाले इन सिद्धान्तों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

मनुष्य के कर्मों का फल उसे स्वयं मिल जाता है अथवा उसका नियामक ईश्वर है, यह प्रश्न भी इस प्रसंग में मीमांसनीय है। मीमांसकों ने कर्मफल के लिये 'अपूर्व' की कल्पना की है। उनके मत में ब्राह्मणों में लिखित विधिवाक्य **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** और **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** आदि इस बात के सूचक हैं कि कर्म अपना फल स्वयं देता है। परन्तु 'अपूर्व' का सिद्धान्त भी ईश्वर की अपेक्षा रखता है। ईश्वर की फलदातृत्व शक्ति ही 'अपूर्व' है, इस प्रकार मीमांसा की सर्वविध आस्तिकता में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता।

क्या वैदिक यज्ञों में पशुबलि होती थी? यह एक प्रश्न है जो मीमांसा के अध्येताओं के समक्ष बार बार उपस्थित होकर इस अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे विवाद की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करता है। मीमांसा की रचना ब्राह्मणग्रन्थों के विधिवाक्यों के समन्वय के लिये हुई।

[1] वेदान्त १।१।३॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में पशुहिंसासूचक बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनके विषय में विभिन्न विद्वानों की विविध धारणायें हैं।[1] यह तो एक सर्वसम्मत तथ्य है कि संस्कृत ग्रन्थों में समय समय पर अनेक प्रक्षिप्तांशों का समावेश होता रहा है, पशुहिंसाविधायक स्थलों को प्रक्षिप्त मानने में कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। ऐतरेय और शतपथ में ऐसे स्थलों की भरमार दिखाई पड़ती है। पशुओं के अंगों का बांट का विषय कसाई घर की बीभत्सता का नग्न चित्र उपस्थित कर देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में **"अग्निषोमीयं पशुमालभेत"** जैसी आज्ञायें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं, परन्तु आलंभन, संज्ञपन आदि शब्दों का अर्थ केवल मारना ही नहीं होता यह पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार और पं० धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड आदि वैदिक विद्वानों ने भली प्रकार सिद्ध कर दिखाया है। (द्रष्टव्य-'किसकी सेना में भर्ती होगें, कंस की या कृष्ण की' ले० पं० बुद्धदेव जी वि० मा० तथा बेदों का यथार्थस्वरूप' ले० पं० धर्मदेव जी वि० मा०) अतः हमें ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करते समय अत्यन्त विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा और सूक्ष्मता से प्रक्षिप्त अंश को छोड़ते हुये ऋषियों की रहस्यपूर्ण शैली में लिखे गये इस वाङ्मय का वास्तविक अभिप्राय समझना होगा।

यों तो **"मांसपाकप्रतिषेधाश्च"** १२।२।२ जैसे स्पष्ट सूत्र भी मीमांसा दर्शन में मिलते हैं जिनमें यज्ञ में मांस पाक का स्पष्ट निषेध किया गया है। यह सब होने पर भी ऐसे सूत्रों की भी कमी नहीं है जो रहस्यमय आवरण से आच्छन्न हैं, जिनमें पशुओं के नामों की चर्चा है, उनके बांधने के यूपों का वर्णन है। यह कहा जा सकता है कि यज्ञ के समय दान के लिये, दुग्ध आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये अथवा प्रदर्शन के लिये यज्ञस्थान पर पशुओं को लाया जाता था, परन्तु फिर भी अभी इस विषय में अधिक गवेषणा करने की आवश्यकता हैं। पं० आर्यमुनि जी ने अपने मीमांसा भाष्य में पशुवधसूचक स्थलों की संगति लगाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

कुछ और भी छोटे बड़े प्रश्न इस दर्शन से सम्बन्धित हैं। मीमांसकों ने आत्मा को विभु माना है या अणु? षट् दर्शनों के आधुनिक अध्येताओं की यह धारणा है कि न्याय, सांख्य, वेदान्त और मीमांसा आदि सभी दर्शन जीवात्मा को विभु मानते हैं, परन्तु दार्शनिक शिरोमणि दयानन्द का मत इसके प्रतिकूल है। वे जीवात्मा को 'अणु' मानते हैं। दर्शन सूत्रों में ऐसे प्रमाण ढूंढे जा सकते हैं जिनसे आत्माओं का 'अणुत्व' सिद्ध हो सके। यह विषय भी अभी अन्वेषणीय और मीमांसनीय है। इसी प्रकार इस दर्शन के विषय में एक यह भी प्रवाद प्रचलित है कि इस दर्शन में मोक्ष की अपेक्षा स्वर्गप्राप्ति को ही मनुष्य का चरम लक्ष्य और परम पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। मीमांसा के स्वर्ग और वेदान्त की मुक्ति को भिन्न भिन्न माना गया है। इस आक्षेप का भी समाधान होना आवश्यक है। यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति होती है, यह तो मीमांसा का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मुक्तावस्था में जीव को आनन्द और सुख की अनुभूति होती है या वह सब प्रकार के ज्ञान और सुख के अनुभव से निर्लिप्त रह कर जड़ की भांति रहता है। न्याय और मीमांसा मुक्तावस्था में जीव में आनन्द का अभाव मानते हैं और वेदान्त भाव मानता है। तभी तो नवीन वेदान्त के प्रौढ़ लेखक श्रीहर्ष ने अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' में न्याय वैशेषिक की मुक्ति को शिला की उपमा दी है। मूल सूत्रों के आधार पर इन सभी समस्याओं पर विशद विचार होना आवश्यक है, क्योंकि यह तो सभी जानते है कि मूल सूत्र ग्रन्थों के पश्चात् मध्यकाल में जो दार्शनिक साहित्य लिखा गया, उस समय उसके लेख किसी दर्शन विशेष की विचार धारा से बंध कर पृथक् पृथक् शिविर रचना कर शास्त्रार्थ संग्राम में प्रवृत्त हो गये थे। न्याय और वेदान्त, वेदान्त और सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि के झगड़े दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध ही हैं।

महर्षि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने प्रमाणपूर्वक यह घोषित किया कि षट्दर्शन एक दूसरे के

[शेष पृष्ठ ११ पर]

१ ऋषि दयानन्द ऐसे ग्रन्थों को अप्रामाणिक मानते हैं। देखो संस्कार विधि वेदारम्भ प्रकरण की पाद टिप्पणी। पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने ऐतरेय ब्राह्मण अनुवाद की भूमिका में ऐसे वाक्यों को प्रक्षिप्त स्वीकार किया है। पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ऐसे सभी स्थलों को आलंकारिक वर्णन मान कर उनकी अन्य प्रकार से व्याख्या करने में विश्वास रखते हैं।

विद्वानों के विचारार्थ—

'हिरण्यगर्भ योगशास्त्र' के वचन

[ले०—श्री पं० रामशंकर जी भट्टाचार्य, वाराणसी]

आचार्य हिरण्यगर्भ की योगसम्बन्धी कोई संहिता थी, ऐसी प्रसिद्धि है। वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है, अतः व्याख्यानग्रन्थों में इसके यदि कुछ वचन उद्धृत मिलें, तो उसका संकलन होना चाहिए।

'महाभारत' में कहा गया है—'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' (शान्तिपर्व ३४९।६५)। वाचस्पतिमिश्र ने भी इस शास्त्र का नाम लिया है—'नानेन योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भपातञ्जलादेः सर्वथा प्रामाण्यं निराक्रियते……' (भामती २।१।२) वाचस्पति ने 'तत्त्ववैशारदी' के आरम्भ में भी कहा है—'ननु हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतेः कथं पुनः पतञ्जलेः योगशास्त्रकर्तृत्वम्…' (तत्त्ववैशारदी १।१)। विज्ञान भिक्षु ने भी 'योगवार्त्तिक' में इस बात को माना है। मधुसूदनसरस्वती ने भी गीताटीका में 'हैरण्यगर्भों' (प्रपञ्चपरमार्थतावादी) का उल्लेख किया है (६।२९); हैरण्यगर्भ = हिरण्यगर्भप्रोक्त योगशास्त्र का अध्येता। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में भी एक योगशास्त्रीय गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, भीष्म और युधिष्ठिर। यहां यह स्पष्ट लिखा है कि 'वसिष्ठ ने हिरण्यगर्भ से सांख्यविद्या प्राप्त की थी'। शान्तिपर्व अ० ३०३-३०८ में वसिष्ठप्रोक्त सांख्यविद्या का वर्णन है। यही वस्तुतः हैरण्यगर्भ योगविद्या है।

यह हिरण्यगर्भ कौन है यह अज्ञात है। किसी किसी के अनुसार हिरण्यगर्भ कपिल का नामान्तर है (योगदर्शन-टीका भास्वती का आरम्भ)।

हिरण्यगर्भ का यह योगशास्त्र आज लुप्त है। इसके तीन वचन 'सनतसुजातीय' (महाभारतीय) के शांकरभाष्य[1] में उद्धृत हैं। यथा—

(१) "उक्तं च हिरण्यगर्भे" (हिरण्यगर्भ = तत् प्रोक्त शास्त्र–औपचारिक प्रयोग)—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतः।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिर्हेतुर्मौनमिति स्मृतम्॥
(१।४१)।

यहां मान और मौन का लक्षण कहा गया है।

(२) "तथा च हिरण्यगर्भे—'या नित्या चिद् घनानन्ता गुणरूपविवर्जिता। आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते' (१।४२ भाष्य)। यहां ब्राह्मी श्री का लक्षण कहा गया है।

(३) "उक्तं च हिरण्यगर्भे—

'यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गमा नृणाम्॥"
(२।१७)॥

विद्वानों को चाहिए कि वे यदि अन्य ग्रन्थों में भी हिरण्यगर्भयोगशास्त्र के वाक्य मिलें, तो उनका संकलन करें॥

---

१. आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यह भाष्य आदि शंकराचार्य का नहीं है। इसमें हेतु हैं—
(१) इस भाष्य में सुरेश्वर का वार्त्तिक उद्धृत है, (२) एक श्लोक का जैसा पाठ १।२० भाष्य में उद्धृत हैं, शारीरक २।१।९ भाष्य में उसका कुछ भिन्न पाठ दिखाया गया है, (३) इस भाष्य में एक श्लोक को 'श्रुति' कहकर उद्धृत किया गया है, पर शारीरक भाष्य में उस वाक्य को 'उक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिः आचार्यैः' कहकर उद्धृत किया गया है। इस भाष्य को जो आदिशंकरकृत मानते हैं, उन्हें इन युक्तियों की परीक्षा करनी चाहिए॥

पुराण वेदार्थ के विरोधी हैं

[ले० —श्री स्वा० अनन्तानन्द जी, बम्बई]

वेदों में ईश्वर ने प्रायः सर्वत्र ही आलङ्कारिक भाषा में उपदेश किया है। अलङ्करायुक्त भाषा को प्रयुक्त करने में अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि, वह प्रज्ञा बुद्धि का विषय है जिसको प्राचीन ऋषि मुनियों ने भी अनुभव कर लिया था। तभी यह विज्ञप्ति निर्धारित करनी पड़ी थी कि, **पूर्वा बुद्धि कृतिर्हि वेदेषु**। वेदों में पूर्वा = प्रज्ञैवास्ति सा। बुद्धि से की कृति क्रिया है, ऐसा निश्चय होता है। वह पूर्वा बुद्धि प्रज्ञा है। जैसे बुद्धि, धी, मेधा, ऋतम्भरा, उमा, माया और प्रज्ञा ये सात बुद्धि की भूमिका हैं। उसमें से अध्यात्म के सम्बन्ध का निश्चय कराने वाली एक मात्र प्रज्ञा है। आत्मा के साथ उसकी प्राप्ति कारणदेह में स्थित होने पर ही होती है; वहां परावाणी का अधिष्ठान है जिसके साथ अमृत ज्योतिष्मा ज्योतिरूप मन का योग हो रहा है। उसी मन में ऋग् यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद रथनाभि में अरों के समान अवस्थित हो रहे हैं। अतः उस भूमिका को वही विद्वान् पुरुष प्राप्त हो सकता, जिस वंश में वेदानुकूल संस्कार करने की परम्परा अविच्छिन्न प्रचलित है जो, अग्रजा ब्राह्मण वा द्विज भी ब्राह्मण है। जिसको बाल्यावस्था में ही देवनागरी अक्षरों के शुद्धोच्चारण का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास कराया गया हो, उसके साथ २ प्राणायाम योगाभ्यास और जितेन्द्रिय के उपदेश से उसको ब्रह्मचर्य रक्षण में श्रद्धा विश्वास कराया गया हो। जिसने गुरुचरणों में बैठ के न्यूनातिन्यून एक वेद कण्ठस्थ करके साङ्गोपाङ्ग सहित पढ़ा हो। इसके सिवाय उसको ईश्वर के विषय में सात्विक ही ज्ञान हो और उसी ज्ञानगम्य स्वात्मान्तर्यामी का निश्चय हो के उसी की अनन्य भक्ति करता हो, वही इन्द्रियों से परे मन, मनसे परे बुद्धि और बुद्धि के साथ जुड के रहने से जो अविद्या अस्मिता अभिनिवेश क्लेशों से छटके अपने से बुद्धि से परे केवल स्वात्मा को परमात्मा में और परमात्मा को स्वात्मा के समीप अणुप्रमाणयुक्त आनन्दिस्वभावको पहिचान लेता है तब उसको जडचेतन संयोग वियोग का यथार्थ बोध होके विज्ञानवान् आत्मदर्शी बन जाता है उसको तीनों शरीर पांचों कोश और चारों वाणियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। वही पुरुष वेदार्थ सम्बन्ध को जान सकता है। वही वेदों में आये अलंकारों को देख सकता है और वैदिक शब्दों की निरुक्ति कर सकता है। शेष विद्वान् उक्त आप्त पुरुषों के किये अर्थों को पढ़पढ़ा सुनसुना के अपने आचरणों को सुधार सकते और अपने आत्मा के स्तर को भौतिकवाद से ऊपर करने मात्र के अधिकारी बन सकते हैं जिसका अनुकरण सब साक्षरों को करना उचित है। उन आप्त पुरुषों के अनुसरण में भी वही विद्वान् करने में समर्थ होता है जिसने अस्मिता = अहंकार राग द्वेष अविद्या और अभिनिवेश का सर्वथा त्याग कर दिया हो। विद्याभिमानी दुराग्रही जन कदापि नहीं। उसका हृदय लवदग्ध अग्नि के समान सदा ही डाहरूप अग्नि से जलता रहेगा, उसका जीवन चिरमपि धूमायितम को प्राप्त रहेगा।

उस वेदार्थ की वे लोग कल्पना भी नहीं कर सकते जो सदा मन के विकल्प विकारों के विषयों में रंजित रहते हैं। जैसे ईश्वर अनन्त अनादि अनुपम और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द विज्ञानघन स्वरूप निराकार है, जिसका गुणज्ञान है वह ज्ञान शब्द से प्राप्त होता, शब्द आकाश का गुण है, ये सब ही गुण गुणी निराकार हैं। तब ही वेद में ईश्वर को (ओ३म् खम्ब्रह्म) सर्वरक्षक ओ३म् अतिसूक्ष्म अनन्त सर्वाधिष्ठान सर्वाधार खम् और इस एक पाद तक परिसमाप्ति आकाश की रहती है। परन्तु ओ३म् वाच्य ईश्वर बृहत्त्वात् ब्रह्म है। जिसकी सीमा नहीं है, वह ईश्वर पूर्ण विद्वान् और क्रान्तदर्शी कवि मनीषी है। वह जीवात्मा मल मूत्र से उत्पन्न होने हारे पांचभौतिक देहशक्ति में नहीं संयुक्त होता और नाहीं उससे वियोगी होता, किन्तु वह सनातन काल से जड़ के कारण कार्य में और जीवात्मा के सचित् के साथ तद्रूप के प्रतिस्वरूप बन के वर्त्त रहा है वा बाहर भी विद्यमान है। उसकी मूर्ति बन ही सकती तो पौराणिक वैकल्पिक विद्वान् = साक्षरों ने बना ली होती, पर वह असंभव रही इसीलिये ही राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर आदि देहधारी जनों को उसी के अवतार होने की कल्पना करके उनकी मूर्तियों को ईश्वर संज्ञा दी है। वह पौराणिक साक्षरों की कल्पना मन के विकल्प पक्ष से कल्पित है जो अनन्तार्थ अल्प और अहेतुक होने से वस्तुतत्त्व से शून्य है। यथा **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**। वह उन के तामस ज्ञान का ही परिणाम है। वेद ईश्वर को अकायो

धीरो अमृतः स्वयम्भूः-रसेन तृप्तो न कुतश्च नो नः। अमृत और यूनः-जवान है। राम में उक्त लक्षण नहीं घटते। उसमें न्यूनता थी जो सुग्रीव और हनुमान की साहाय्य प्राप्त्यर्थ बाली को मारा था। सर्वशक्तिमान् रहता तो आप वन को गये पीछे स्वपिता को क्यों मरने देते? वैसे ही श्री कृष्ण जी में भी न्यूनता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक एक प्रबल दृष्टान्त मिलता है कि दुर्योधन के प्रति उनके वाणी आदि सब प्रयत्न व्यर्थ हो गये थे, जब दुर्योधन ने यह कहा था कि, **सूच्यग्रं न दास्यामि विना युद्धेन केशव।** योगविद्या **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्** भी वहां न चली। तब क्या उनको किसी प्रकार मिथ्यात्व का आरोप लगाया जाने से कोई बचाव है? ये सब बातें वेदार्थ वा वेदसिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध मनः कल्पित और निरी कल्पना की हैं। वेद में **न तस्य प्रतिमा अस्ति।** परन्तु रामजी के प्रति रावण भी बलवान् योद्धा था, अहिरावण तद्वत् ही प्रतिमारूप था, न होता तो वह उन दोनों को देवी के सामने बली दे दिया होता। तब हनुमान प्रतिमा अहिरावण को मार छुड़ा के लाया था। तब राम को ईश्वर की प्रतिमा मानना किसकी धारणा के ज्ञान की झांकी बनाई वा मानी जावे? **अतो वेदार्थविरोधकान्येव खलु पुराणानि सन्तीति बोध्यम्।**

ईश्वर के स्थान में तो शरीरधारी क्षत्रियों की मूर्ति प्रस्थापित कर दी, परन्तु यह कितने अचम्भे की बात है आकाश के गुण शब्द राशी गीर्वाग्वाणी सरस्वती, को भी, वह पद स्त्री लिङ्गी होने से स्त्री स्वरूपिणी मूर्ति घड़मारी, वा रे मन के विकल्प में प्रवहन करने हारे साक्षर पुरुषो! अच्छी विपरीत गति सूझी है। अरे भाई वाणी तो आकाश निराकार का गुण वह भी तो निराकार ही है ना। भला उस निराकार को साकाराकृति में प्रयुक्त करने में प्रयोजन क्या है? ईश्वर स्थानीय पाषाण मूर्ति को तो तुमने जैसे बालक को शून्य के बोधार्थ एक बिन्दु को रक्खा उसके सामने यह उदाहरण भक्त के लिये निराकार के ज्ञानार्थ उसको प्रथम पैड़ी का डंडा बनाया जो सर्वथा असंगत है। और सरस्वत की मूर्त्ति से किस तात्पर्य को सिद्ध किया है। अर्थात् जैसे पत्थर पूजा से जनसाधारण में आत्मान्तःकरणस्थ प्रभु की अस्तिता को भुलाने के लिये नेत्र का विषय बता के संसार को नास्तिकता का पाठ पढ़ाया है, उसी प्रकार सरस्वती की साकार रूप में परिणति करके उसी की पूजा आरती कराके मानव समाज को शिक्षा की व्यवस्था में घातक रुकावट उपस्थित नहीं करदी है। जिसका परिणाम जनता को अज्ञानान्धकार के गढे में निमज्ज करना सिद्ध करता है। पुनः वह देवी है। और देव हैं वे आषाढी एकादशी के दिन से सो जाते और पुनः वे कार्तिकी एकादशी को जाग उठते हैं। उनमें सरस्वती भी शयन करती है। तब देश में अविद्या निरक्षरता का प्रचार क्यों न हो। भारत में अविद्या का प्रचार करने में मूल कारण तुम भागवती वैकल्पिक नहीं तो और कौन हो सकता है। तुमने (तैने कृष्णबलदेव को नचायो रे...हे भांड जी) जडपूजा से ही देह इस विद्यमान स्थिति को प्राप्त हुआ, वही इस कार्य का कारण उपादान है। अन्य कुछ नहीं बता सकते।

वेद कहता है कि **यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तं सामानि यन्ति। और न देवास्वप्नं स्पृहयन्ति।** अर्थ जो जागता है उसको ऋग्वेद चाहते हैं, जो जागता है उसी को सामवेद की गीतियां कंठस्थ होते हैं॥ १॥ देव निद्रालु से और निद्रा की प्रशंसा नहीं करते। तब देव शयन करते हैं यह बात वेदार्थ के विरुद्ध नहीं कैसे सिद्ध कर सकते हैं? इसी प्रकार अनेक उदाहरण से प्रमाणित कर सकते हैं कि पुराणों की रचना ही वेदार्थ व सिद्धान्त के विरोधार्थ है की गई है॥

[पृष्ठ ८ का शेष]

विरोधी नहीं अपितु परस्पर पूरक हैं। अतः षट् दर्शनों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करने वालों को चाहिये कि वे महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट सूत्रों का सहारा लेकर दर्शन वाङ्मय का ऊहापोह करें और संसार को यह प्रत्यक्ष दिखलादें कि ऋषियों के सिद्धान्तों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

मीमांसा विषयक राष्ट्रभाषा में उपलब्ध साहित्य—

(१) मीमांसार्य भाष्य—पं० आर्यमुनि ६ अध्याय पर्यन्त।
(२) मीमांसादर्शन भाष्य—पं० देवदत्त शर्मोपाध्याय।
(३) मीमांसा भाष्य—पं० गोकुलचन्द्र शर्मा।
(४) मीमांसा दर्शन भाष्य—पं० तुलसीराम स्वामी केवल २५ सूत्र।
(५) मीमांसा दर्शन—पं० मण्डनमिश्र शास्त्री।

पत्रपत्रिका-परिचय

आर्यसमाज (मासिकपत्र) कलकत्ता

सम्पादक—श्री० पं० अवधविहारीलाल पाण्डेय बी० एल० वेदतीर्थ—साहित्याचार्य । सह सम्पादक श्री० पं० रामावतार जी शर्मा तीर्थचतुष्टय। प्रकाशक—आर्यप्रतिनिधि सभा बंगाल आसाम । आकार—२०×३०/८ । कागज—अखबारी, छपाई—साधारण । पृष्ठ संख्या—२४ वार्षिक शुल्क ३) ॥

यह पत्र कलकत्ता से निकलना आरम्भ हुआ है। इसके सम्पादक योग्य विद्वान् व्यक्ति मिले हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल को चाहिये कि वह इस पत्र को उत्साह से चलावे। इसमें धार्मिक-सामाजिक बहुत अच्छे लेख रहते हैं। कलकत्ते के आर्य पुरुषों को इसमें पूरा सहयोग देना चाहिये। अन्य प्रान्तों के आर्य पुरुषों को भी इसमें प्रोत्साहन देना चाहिये ॥

आर्य भारती

दक्षिण कलकत्ता आर्य विद्यालय का मासिक पत्र। इस के सम्पादक पूर्ववत् हैं। प्रकाशक—तथा प्राप्तिस्थान आर्य विद्यालय—१०४।१ जी० टी० रोड—सलकिया—कलकत्ता, शेष पूर्ववत्। वार्षिक शुल्क ३)

दिव्य ज्योति

संस्कृत का मासिक पत्र—शिमला। संस्थापक तथा सम्पादक—श्री० पं० दिवाकरदत्त शर्मा शास्त्री—विद्यावाचस्पति-विद्यालंकार। प्रकाशक तथा प्राप्ति स्थान—दिव्य ज्योतिः कार्यालय—आनन्द लाज, जाखू, शिमला १। आकार—२०×३०/८। कागज़—साधारण। छपाई—सुन्दर। पृष्ठ संख्या—२४। वार्षिक शुल्क ६)।

यह पत्र संस्कृत में लगभग १॥ वर्ष से शिमला से निकल रहा है। शिमला जैसे स्थान से संस्कृत मासिक पत्र निकलना एक 'किमाश्चर्यमतः परम्' वाली बात ही कही जा सकती है। हमें तो संस्कृत में पत्रिका प्रकाशित करने का साहस देख कर ही बड़ी प्रसन्नता होती है। इसमें बड़े ही सुन्दर—सारगर्भित और सरल संस्कृत में लेख होते हैं। सम्पादकीय टिप्पणियां भी बहुत योग्यता और भावपूर्ण होती हैं। हम चाहते हैं ऐसे उपयोगी पत्र की पूरी सहायता धनी मानी-संस्कृतप्रेमी सज्जनों को अवश्य करनी चाहिए। साधारण जन भी इसके अधिक से अधिक ग्राहक बनावें। सर्वत्र पुस्तकालयों-वाचनालयों में यह पत्र अवश्य मंगाना चाहिये। एक हजार ग्राहक हो जावें तो इस पत्र को और भी अधिक उपयोगी बनाने के लिये प्रयत्न हो सकता है॥

इसके प्रकाशक बहुत ही बधाई और धन्यवाद के और जनता के सहयोग के पात्र हैं॥

आयुर्वेद रहस्य

हिन्दी-मराठी अंग्रेजी मासिक-गोण्डल। आद्यस्थापक-राजवैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री। सम्पादक—श्री० नानर लाल जी व्यास। प्रकाशक—रसशाला औषधाश्रम-गोण्डल (सौराष्ट्र)। आकार—रायल अठपेजी। कागज़ छपाई—साधरण। पृष्ठसंख्या ७०।

यह पत्र मराठी भाषा में है अतः सौराष्ट्रवासियों को इससे लाभ उठाना चाहिये। इसमें कुछ लेख वैद्यक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। हिन्दी-अंग्रेजी-संस्कृत में भी कुछ अंश रहता है। इसके संस्थापक भारतवर्ष भर में वैद्यक विषय के एक प्रामाणिक और बहुत योग्य-उदार विद्वान हैं। यह परिचय हमें थोड़े दिनों से प्राप्त हुआ है॥

पंचायती राज्य

उत्तर प्रदेश—पाक्षिक हिन्दी-लखनऊ। सम्पादक तथा प्रकाशक—श्री भगवतीशरण सिंह जी—संचालक सूचना विभाग-उत्तर प्रदेश लखनऊ। प्राप्तिस्थाने—प्रकाशन व्यूरो, सूचना विभाग-उत्तर प्रदेश-लखनऊ। आकार २२×३६/८ बड़ा। कागज़ अखबारी। छपाई-अच्छी। पृष्ठ संख्या—४८। वार्षिक मूल्य १०)।

इस पत्र में ग्रामीणों विशेषकर कृषकों के लिये बहुत उपयोगी लेख रहते हैं। ग्रामीणों की सभी समस्याओं पर इसमें प्रकाश डाला जाता है। जैसे हमने फरवरी ५८ के अंक में राज्य के त्यागी-निर्लोभ-महात्मागांधी के सच्चेभक्त सच्चेकांग्रेसी निर्भीक—तेजस्वी नेता श्री० चौधरी चरणसिंह जी का लेख "चकबन्दी में जनता का सहयोग" बहुत उपयोगी और जनता को जानकारी और उत्साह देने वाला है। और भी लेख 'ग्राम स्वशासन का दायित्व' 'ग्राम सुधार की

पहिली सीढ़ी पशु सुधार, 'स्वास्थ्य संवर्धनकी समस्या, "उत्तर प्रदेश में गन्ने की खेती" आदि लेख एकही अङ्क में बहुत उपयोगी और जनता को जानकारी प्राप्त कराने वाले हैं। हम समझते हैं उत्तर प्रदेश राज्य ऐसी पाक्षिक पत्रिका निकाल कर बहुत ही उपयोगी कार्य कर रहा है ॥

पञ्चायतों की सबसे भारी समस्या नैतिक भ्रष्टाचार की है। चचा भतीजे वा अपनों को पक्षपात पूर्ण ढङ्ग से लाभ पहुँचाना, इसमें दूसरों के साथ चाहे कितना भी अन्याय होता हो, जब तक यह बात जनता में से क्रियात्मक रूप से न निकलेगी, तब तक पञ्चायतों की स्थापना का उद्देश्य पूरा न होगा। तब तक भारत की स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता नहीं कहला सकती। हम समझते हैं ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने के लिये इस में लेख रहने चाहिये। जिसमें ग्रामीण ही ऐसा प्रकाश डालें कि यह भ्रष्टाचार दूर कैसे हो सकता है।

ऐसी सामग्री भी इस पत्र में रहे तो सम्भव है अधिक लाभ हो। हम प्रेमपूर्वक संचालकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं। ग्रामों के परस्पर झगड़े और भ्रष्टाचार हमारे स्वराज्य पर कुठाराघात हैं। इन्हें दूर करने के लिये हम सबको प्रयत्नशील होना चाहिये ताकि देशोन्नति का यह कोढ़ दूर हो ॥

कृषि समाचार (मासिक)

उत्तर प्रदेश–लखनऊ। सम्पादक–**श्री० राम कृपाल द्विवेदी**। प्रकाशक—श्री० **शेरसिंह जी**–उपसंचालक कृषि सूचना एवं प्रचार—उत्तर प्रदेश–लखनऊ प्राप्ति स्थान—कृषि सूचना व्यूरो उत्तर प्रदेश–लखनऊ। आकार–$\frac{२२\times३६}{८}$ कागज–अच्छा छपाई–अच्छी, टाइप बहुत सुन्दर मोटा। पृष्ठ संख्या—१६ ॥ वार्षिक शुल्क १॥)

इस में हम सुयोग्य कृषि मन्त्री का 'किसान भाइयों से' लेख जब ग्रामों की चौपालों में बड़ी बड़ी खाटों पर बैठ कर बचों से यह लेख सुनते होंगे तो उन्हें यही प्रेरणा मिलती होगी—धान की भूसी से खाद—ईख में बीमारी का नियन्त्रण आलू के तीन रोग और इनका नियन्त्रण—भारतीय तम्बाकू की खेती—अगले महीने में क्या करें गृह उद्यान में आलू की खेती, टमाटर के रस की बोतल बन्दी आदि आदि विषय ग्रामीण किसानों की दृष्टि से अत्यन्त लाभकर और महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे किसानों का महानलाभ होता है। इस पत्र के मोटे अक्षर विशेष महत्त्व रखते हैं। बूढ़ा किसान थोड़ी हिन्दी जानने वाला भी इन से भारी लाभ उठा सकता है। हमारी सरकार का यह काम जनता के लिये अत्यन्त लाभदायक है। सरकार और संचालक बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं ॥

कृषि और पशुपालन

मासिक—सम्पादक प्रकाशक प्राप्तिस्थान आकारादि—पूर्ववत्। पृष्ठ संख्या—४१ वार्षिक मूल्य ८)

यह पत्रिका भी पूर्ववत् सब गुणों से विभूषित है।

फरवरी तथा मार्च, अप्रैल १९५८ का प्रगति अंक हमारे सामने है। इसमें कृषि सम्बन्धी बहुत ही उपयोगी और आवश्यक लेख दिये गये हैं। प्रगति अंक में ११ लेख विविध विषयों के अनुसन्धान के हैं जो किसानों के लिये अत्यन्त ही लाभकारी हैं, ७ लेख विकास विषय के हैं जिनसे पर्याप्त जानकारी मिलती है। शेष ६ लेख भी बड़े सुन्दर हैं। हमें इन लेखों को देखकर बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष हो रहा है कि हमारी सरकार के संचालक जनता को उठाने में जी जान से यत्न कर रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। एक भ्रष्टाचार काबू नहीं आ रहा है, और सबतो ठीक उन्नति की ओर जा रहा है ॥

कृषि-पशुपालन पत्रिका तो प्रत्येक ग्राम में अवश्य पहुँचना चाहिये। यह हमारी दृढ़ सम्मति है ॥

हां! हमारी समझ में एक बात नहीं आ रही कि जब कृषि और पशुपालन पत्रिका निकल ही रही है तो फिर कृषि समाचार अलग क्यों छापा जा रहा है। हां यदि यह १॥) वार्षिक होने से ग्रामों में बिना मूल्य बांटा जाता हो तब तो ठीक है। तब उस पर १॥) वार्षिक मूल्य भी न रहना चाहिये ॥

दूसरा यह है कि इन पत्रिकाओं के विज्ञापन प्रान्त के सभी पत्र पत्रिकाओं में छापने चाहिये ताकि लोगों को पता लगे कि इतने उपयोगी पत्र हमारी सरकार की ओर से निकल रहे हैं ॥

भारत सेवक

मासिक हिन्दी-नई देहली। सम्पादक—**श्री० रामनारायण चौधरी**। प्रकाशक तथा प्राप्ति स्थान—भारत सेवक समाज-सूचना विभाग-कनाट सरकस-नई देहली ॥ आकार $\frac{२०\times३६}{८}$। कागज़ बहुत बढ़िया। छपाई बहुत अच्छी। पृष्ठसंख्या ३२। वार्षिक मूल्य ५) ॥

यह पत्र प्रतिमास भारत सेवक समाज की ओर से हिन्दी अंग्रेजी तथा उर्दू तीनों भाषाओं में निकलता है। इसके सम्पादक त्यागी-तपस्वी-देशभक्त श्री रामनारायण चौधरी अजमेर निवासी हैं। इसमें भारत का परम्परागत हाथ करघे का उद्योग, खाद्य समस्या सुलझाने की दिशा में—संविधान में सामाजिक नवनिर्माण के लिये प्रेरणा-हम दहेज लेने वाले लड़कों से विवाह नहीं करेंगी-मधु मक्खी पालन-उन्नति का पथ और भारत सेवक समाज के अन्य कार्य तो हम नहीं जानते कैसे हैं, पर यह पत्रिका बहुत उपयोगी कार्य कर रही है। यह पत्रिका कई दृष्टियों से पढ़ने योग्य है॥

युवक कांग्रेस

पाक्षिक हिन्दी- नई देहली। सम्पादक—श्री० रवीन्द्र वर्मा। प्रकाशक—श्री० रामलाल पारिख। प्राप्ति स्थान अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी-७ जन्त्रतन्त्र रोड-नई देहली। आकार २२×३६/८। कागज़ छपाई बहुत बढ़िया। पृष्ठ संख्या २०। एक प्रति १५ नये पैसे॥

युवकों द्वारा कांग्रेस कार्य की विविध जानकारी इससे मिलती है। अन्य लेख भी सुन्दर-जानकारी पूर्ण रहते हैं॥

आज का चीन

पाक्षिक हिन्दी सचित्र। प्रकाशक—सूचना कार्यालय-चीन लोक गणराज्य का दूतावास-नई देहली। आकार २२×३६/८। कागज़ और छपाई-बहुत बढ़िया। पृष्ठसंख्या २०। वार्षिक मूल्य १॥)।

इसमें चीन और कोरिया का संयुक्त वक्तव्य, चीनी लोक स्वयं सेवकों के प्रधान कार्यालय का वक्तव्य—चीन द्वारा संयुक्त अरब गण राज्य को मालता—चीनी सैनिक सद्भावना मिशन की भारत यात्रा समाप्त—चीन की अल्प संख्यक जातियों की स्त्रियाँ—अध्यक्ष माओ द्वारा स्वास्थ्य कार्य का निरीक्षण—कृषिक्षेत्र की हलचलें—चीन में वसन्तोत्सव की चहल पहल—दो करोड़ चौरासी लाख किसान लिखना पढ़ना सीख रहे हैं—चीन यत्र तत्र—आदि विषयों पर सुन्दर लेख हैं, जिन्हें देखकर पाठकों को चीन की प्रगतिशीलता की अच्छी जानकारी होती है। कम्युनिस्ट विचारधारा के इस देश में क्रमिक विकास का एक इतिहास है जिससे अन्य देशों को कई प्रकार का अनुभव मिल सकता है। चाहे उनकी विचार धारा भारत की विचार धारा से विपरीत ही क्यों न हो॥

संसार में सब देश विदेशों में अपने २ प्रकार की योजनायें कैसे चला रहे हैं और इस में चीन क्या कर रहा है। इसका ज्ञान हमें इस पत्र से मिलता है॥ हम भारतीयों को भी अपने देश के सम्बन्ध में गम्भीर जानकारी के लिये बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

चीन के नेता संसार के देशों से बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने इतनी जल्दी चीन को संसार के महान् देशों की पङ्क्ति में एक अच्छे स्थान पर खड़ा कर दिया है॥

"अमीव" क्या है ?

[*ले०—मास्टर मातुराम आर्य रोहतक*]

यह शब्द ऋग्वेद मण्डल सात सूक्त५४।१ तथा ५५।१ में आया है।

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवान:॥ अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रुपाण्याविशन्। सखा सुशेवा एधि न:॥

इसमें यह कहा गया है कि (न:) हमारे प्रति (स्वावेश:) उत्तम व्यवहारों वाला (अन-मीव:) रोग पीडा न देने वाला (भव) तू राष्ट्ररूपी गृहपति = नृपति हो। हे राष्ट्र प्रभो! तू (अमीव-हा) सब प्रकार के कष्टों का नाशक हो। "अमीव" का अर्थ = पाप, दुख, रोग, कष्ट (देखो शब्द कोश नालन्दा विश्वविद्यालय)।

शातातप स्मृति अ० १ श्लोक ४ में आता है कि:—

दुष्कर्मजा नृणां रोगा यान्ति चोपक्रमै: शमम्... इत्यादि रोग मनुष्यों के दुष्ट कर्मों से उत्पन्न होते हैं। आगे चलकर बताया कि—**स्त्रीहन्ता चातिसारी स्यात्** (अ० २ श्लोक ३८) = स्त्री को मारने वाला अतिसारी होता है। नि:सन्देह "अमीव" रोग = कष्ट है। पाप है। ऐमेबिक Amobeaic डिसैन्ट्री का कारण Amoeba है (Zool)। यह Chamber's Technical Dicfionary में यूं वर्णन किया गया है—A form of primitive PROTOZON of indeterminata shape, which moves by the protrusion of blunt, thick pseudopodia-यह एक अत्यन्त सूक्ष्म क्रिमि है जिसका रूप निर्णीत नहीं। और जो झूठों पैरों से सरकता है। तो कहा जा सकता है कि यह क्रिमिरोग है। अनेकों रोग क्रिमियों द्वारा उत्पन्न होते और उनके नष्ट होने से दूर हो जाते हैं। Germ Theory आज की नहीं प्राचीन ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं। 'क्रिमि' द्वारा रोग "अमीव" है। केवल मरोड़ (DYSENTRY) अत्यन्त सीमित सी बात है। इस का व्यापक रूप में अर्थ लेना अति उचित होगा॥

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। मूल्य -)

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। वालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू० =)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है।

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू०-)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)।

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य ।=)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। मूल्य -)

" " " " " मूल्य ≡)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म-विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। मूल्य सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ, २ सं० (डाक व्यय =) पृथक्) मूल्य ॥=)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य—प्रथम भाग** मूल्य २॥)

१२—**वैदिक ईश्वरोपासना**—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य १ प्रति ≡), सैकड़ा १५)

१३—**संस्कृतपठनपाठन की अनुभूतसरलतमविधि**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु—दूसरा सं० १।)

१४—**वैदिक वाङ्मय का इतिहास—प्रथम भाग, वेदों की शाखाएँ**—द्वितीय परिवर्धित संस्करण—लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० रिसर्च स्कालर। मूल्य १०)

१५—**ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—सम्पादक श्री० पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर—द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। इस नये संस्करण में पहिले के ऋषि के ५०० पत्रों विज्ञापनों से अतिरिक्त नये ३४४ पत्र और विज्ञापन और छापे गये हैं। ऋषि का एक असली चित्र और उनके २ असली पत्रों की फोटो भी छापी गई है॥ ६०० पृष्ठों का मूल्य ७) वेदवाणी के ग्राहकों से ६) रु०

१६—**क्षीरतरंगिणी**—धातुपाठ की सबसे प्राचीन व्याख्या। मूल्य १२)

१७—**वैदिक-स्वर-मीमांसा—ले०—युधिष्ठिर मीमांसक** मू० ३)

१८—**ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट**— मू० ॥।)

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स लि० पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। ५१ सुतार चॉल, बम्बई। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय पो० अजमतगढ़ पैलेस (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६।

विविध समाचार

हिन्दी भाषा सम्मेलन

लखनऊ में जुलाई में होगा

लखनऊ, २९ मई। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में यहाँ हिन्दी भाषा सम्मेलन होगा। सम्मेलन की तैयारी के लिये ४ व्यक्तियों की समिति गठित की गयी है। अन्य राज्यों के समर्थकों को भी सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया जा रहा है।

सम्मेलन में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने तथा हिन्दी-भाषा के क्षेत्रो में एक मात्र हिन्दी के ही व्यवहार पर विचार किया जायेगा।

हाल में कांग्रेस कार्य समिति ने भाषा के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया है, उस पर भी सम्मेलन में विचार होगा।

उपनिर्वाचन में श्रीप्रकाशवीरशास्त्री विजयी

नई दिल्ली, ३ जून। पंजाब के गुड़गाँव निर्वाचन क्षेत्र से संसदीय उपनिर्वाचन में श्री पं० प्रकाशवीर शास्त्री अपने कांग्रेसी प्रतिद्वन्दी श्री मौलिचन्द्र शर्मा को लगभग ३८००० मतों से पराजित कर निर्वाचित घोषित किये गये।

इसमें प्रकाशवीर शास्त्री को ९४५१७ वोट मिले और उनके प्रति श्री श्रीमौलिचन्द्र शर्मा को ५६५५४।

विदित हो कि यह उपनिर्वाचन मौलाना आजाद की मृत्यु के कारण हुआ, जिन्होंने गत आम चुनाव में जनसंघी प्रत्याशी को ९५ हजार से अधिक वोटों से पराजित किया था। कांग्रेस की इस जबरदस्त हार से कांग्रेसियों में घोर निराशा छा गई।

सैनिक और संस्कृत शिक्षा अनिवार्य करने की आवश्यकता—

श्री पं० कमलापति त्रिपाठी—

मन्सूरी, १६ जून। प्रान्तीय शिक्षा दल के ग्रीष्मकालीन शिविर की समाप्ति पर यहाँ पोलो मैदान में दी गई सलामी के समय राज्य के गृह एवं शिक्षामन्त्री श्री कमलापति त्रिपाठी ने कल अपने भाषण में कहा—भारतीय संस्कृति के महान् सद्गुण और अनुशासन की भावनाएँ छात्रों में जागरित करने के लिये सैनिक शिक्षा और संस्कृत इन दोनों को स्कूलों में अनिवार्य कर देने की आवश्यकता है।

आपने भाषण में कहा—भारतीय युवक किन्हीं भी बातों में विदेशी युवकों से कम नहीं हैं। तथोक्त अनुशासनहीनता का दोष उन्हें दी जाने वाली शिक्षा की त्रुटि से है। सैनिक शिक्षा उन्हें अनुशासन और किसी भी कठिनाई का सामना करने की भावना प्रदान कर सकती है॥

हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के समाचार

भाषा-स्वातन्त्र्यसमिति द्वारा आन्दोलन जारी रखने का निश्चय

नई दिल्ली, १० जून। श्री घनश्यामसिंहगुप्त की अध्यक्षता में कल श्रद्धानन्द भवन में भाषा-स्वातन्त्र्य-समिति तथा हिन्दी-रक्षा-समिति का संयुक्त अधिवेशन हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के विचारार्थ हुआ।

बैठक में हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन को जारी रखने के विषय में विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधियों ने अपने अपने विचार व्यक्त किये, अन्त में पाँच घण्टे के लम्बे विचार के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि आन्दोलन को जारी रखना आवश्यक है ताकि भाषा के प्रश्न पर आर्यसमाज की मांगें पूरी हों और सरकार इनको क्रियात्मक रूप दे। इस उद्देश्य के लिये एक संघर्ष समिति बना दी गई है जो कि इस बात का निश्चय करेगी कि हिन्दी-आन्दोलन समय २ पर क्या रूप धारण करे।

श्री घनश्यामसिंह गुप्त को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह संघर्ष समिति के सदस्यों के नामों की घोषणा करें। तदनुसार संघर्ष समिति की घोषित नामावली इस प्रकार है—

सर्व श्री रघुवीरसिंह शास्त्री (संयोजक), जगदेवसिंह सिद्धान्ती, ला० रामगोपाल शालवाले, वीरेन्द्र एम० एल० सी, प्रो० शेरसिंह एम० एल० ए०, प्रिंसिपल भगवान्दास, वीर यज्ञदत्तशर्मा, कैप्टेन केशवचन्द्र, पं० प्रकाशवीर शास्त्री एम० पी०, पं० नरेन्द्र और स्वा० रामेश्वरानन्द।

बताया जाता है कि यदि सरकार ने गुड़गांव उपनिर्वाचन में प्रगट जनमत की ओर कोई ध्यान न दिया तो आन्दोलन अनिवार्य हो जायेगा।

पता चला है कि समिति पहले सरकार को चेतावनी देगी कि वह अपने उन आश्वासनों का पालन करे जो उसने आर्यसमाजी नेताओं को सत्याग्रह बन्द करने से पूर्व दिये थे। इसके साथ ही सरकार को चेतावनी भी दी जायगी कि यदि ये आश्वासन पूरे न किये गये तो समिति सत्याग्रह करने पर विवश हो जायेगी।



श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

बालकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

नारदवाक्यम्

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् । नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम् ॥ १ ॥
को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् । धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः । विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः । कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे । महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥
श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः । श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः । मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥

रामायण बाल-काण्ड

सर्ग १

[नारद-वाक्य]

तप और स्वाध्याय में निरन्तर लगे हुए, वाणी के जाननेवालों में श्रेष्ठ, और मुनियों में उत्तम नारद से तपस्वी वाल्मीकि ने पूछा ॥ १ ॥ इस समय लोक में निश्चय से कौन व्यक्ति उत्तम गुणों से युक्त, पराक्रमी, धर्म को जाननेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढ़व्रती है ॥ २ ॥ कौन उत्तम चरित्र से युक्त है, कौन सब प्राणियों में हितकारी है, कौन विद्वान् (सकल पदार्थ-तत्त्वज्ञ) है, कौन शक्तिशाली है और कौन एक ऐसा है जिसका दर्शन प्रिय हो ॥ ३ ॥ कौन आत्मज्ञानी, क्रोध को जीतनेवाला और कान्तिमान् है, कौन असूया से रहित है और किस क्रुद्ध हुए व्यक्ति से देवगण भी युद्ध में डरते हैं ॥ ४ ॥ यह मैं सुनना चाहता हूँ। मुझे बड़ी उत्सुकता है । हे महर्षे [नारद]! आप ऐसे मनुष्य को जानने में समर्थ हैं ॥ ५ ॥ वाल्मीकि के इस वचन को सुनकर तीनों लोकों के जाननेवाले[1] नारद 'सुनो' ऐसा कह कर प्रसन्न होकर बोले ॥ ६ ॥ हे वाल्मीके ! आपने जो ये बहुत से गुण कहे हैं वे दुर्लभ हैं । [फिर भी] हे मुने ! विचार कर कहता हूँ । उन दुर्लभ गुणों से युक्त मनुष्य के विषय में सुनो ॥ ७ ॥

---

१. नारद की देवलोक (स्वर्ग), मनुष्य लोक तथा असुर लोक (पाताल) इन तीनों लोकों में अबाध गति थी। अत एव नारद को यहां त्रैलोकज्ञ कहा है ।

गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् । अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥३५॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् । रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ॥३६॥
न चैच्छत् पितुरादेशाद् राज्यं रामो महाबलः । पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनःपुनः ॥३७॥
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः । स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ॥३८॥
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं रामागमनकाङ्क्षया । गते तु भरते श्रीमान् सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ॥३९॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च । तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान्प्र विवेश ह ॥४०॥
प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः । विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥४१॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा । अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ॥४२॥
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ । वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह ॥४३॥
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम् । स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तथा वने ॥४४॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम् । ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥४५॥
तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी । विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥४६॥
ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान् । खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥४७॥
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान् । वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥४८॥
रक्षसां निहतान्यासन् सहस्राणि चतुर्दश । ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥४९॥

उन्होंने सत्य पराक्रमी महात्मा राम के पास जाकर आर्य भाव (=श्रेष्ठ विचारों) को आगे करके (विनीत होकर) राम से [अयोध्या वापस लौटने की] मांग की। [और] ॥ ३५ ॥ 'आप ही धर्म को जाननेवाले राजा [हो]' ऐसा राम से कहा। परम उदार, प्रसन्नमुख महायशस्वी राम ने भी ॥ ३६॥ पिता की आज्ञा से राज्य की इच्छा नहीं की। महाबली राम ने इन [भरत] के लिए राज्यार्थ खड़ाऊं धरोहर के रूप में देकर बार बार ॥ ३७ ॥ भरत के बड़े भाई [राम] ने भरत को वहां से लौटाया। वे (भरत) [राम को लौटाने रूप] इच्छा को पूर्ण न करके, राम के चरण छूकर[1] [वापस लौटे। और] ॥ ३८॥ राम के लौटने की आकांक्षा से नन्दी ग्राम में राज्य किया। भरत के लौट जाने पर श्रीमान्, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय ॥ ३९ ॥ राम ने वहां [अयोध्या] नगर के मनुष्यों के पुनरागमन [की संम्भावना] विचार कर एकाग्र (=सावधान) होकर दण्डक वन में प्रवेश किया ॥ ४० ॥ कमल के समान नेत्रवाले रामने महारण्य में प्रवेश करके विराध नामक राक्षस को मारकर शरभङ्ग नामक ऋषि को देखा ॥ ४१ ॥ तथा सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और अगस्त्य के भाई को [भी देखा]। अगस्त्य [मुनि] के कहने से [राम ने] इन्द्र के धनुष को ग्रहण किया [और] ॥ ४२ ॥ [इन्द्रकी] तलवार तथा अक्षय तूणीर को परम प्रसन्न होकर [स्वीकार किया], वन में वनचरों के रहते हुए राम के [समीप] ॥४३॥ असुर और राक्षसों के वध [की प्रार्थना] के लिए सब ऋषि आए। [और रामने] ऋषियों के वन में [रहने वाले] राक्षसों के [वधसम्बन्धी] वचन को स्वीकार किया ॥ ४४ ॥ दण्डकारण्यवासी अग्नि के समान तेजस्वी ऋषियों के [सम्मुख] राम ने युद्ध में राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की ॥४५॥ उन [राम] ने दण्डकारण्य में रहते हुए उसी जनस्थान में रहनेवाली, इच्छानुसार रूप बदलनेवाली शूर्पणखा नाम की राक्षसी को कुरूप कर दिया ॥४६॥ उसके अनन्तर शूर्पणखा के कहने से चढ़कर आए हुए, त्रिशिरा और दूषण [आदि] राक्षसों को ॥४७॥ तथा उनके अनुयायियों को राम ने युद्ध में मारा। उस वन में निवास करते हुए [रामने] जनस्थान में रहनेवाले ॥४८॥ चौदह

१. तिलकटीकानुसार। अन्य टीकाकारों ने 'राम की खड़ाऊओं की पूजा करते हुए' अर्थ दर्शाया है।

सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम्। वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥५०॥
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते। अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥५१॥
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा। तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥५२॥
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम्। गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥५३॥
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः। ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥५४॥
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह। कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥५५॥
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः। स चापि कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ॥५६॥
श्रमणीं धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघवम्। सोऽभ्यगच्छन् महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ॥५७॥
शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः। पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह ॥५८॥
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः। सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद् रामो महाबलः ॥५९॥
आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः। सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥६०॥
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम्। ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ॥६१॥
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद् दुःखितेन च। प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ॥६२॥
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः। सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥६३॥

सहस्र राक्षसों का नाश किया। तत्पश्चात् अपने संबन्धियों के वध को सुनकर क्रोध से मूर्च्छित रावण ने ॥ ४९ ॥ मारीच नाम के राक्षस को अपना सहायक बनाया। [मारीच के] 'हे रावण उस बलवान् [राम] से तेरा विरोध करना ठीक नहीं है' इस प्रकार बहुधा मना करने पर भी काल से प्रेरित रावण उसके वाक्य को न मानकर ॥ ५०, ५१ ॥ मारीच के साथ राम के आश्रम पर गया। उस मायावी [मारीच] के द्वारा राजा के पुत्रों (राम–लक्ष्मण) को दूर हटवा कर ॥ ५२ ॥ गृध्र जाति के जटायु को मारकर राम की भार्या [सीता] को चुराया। गृध्र[1] (जटायु) को मरा हुआ देखकर और मैथिली [सीता] को चुराया हुआ सुन कर ॥ ५३ ॥ शोक से दुःखी व्याकुल इन्द्रियों वाले राम ने विलाप किया। तथा उसी शोक के साथ गृध्र जटायु का दाह कर्म करके ॥ ५४ ॥ वन में सीता को ढूँढते हुए [राम ने] विकृत रूप और भयानक आँखों वाले कबन्ध नाम के राक्षस को देखा ॥ ५५ ॥ महाबाहु राम ने उसको मारकर उसका दाह किया और वह स्वर्ग को प्राप्त हुआ। उस [कबन्ध] ने कहा—'शबरी (शबर जाति की स्त्री) धर्म का पालन करने हारी ॥ ५६ ॥ धर्म में निपुण सन्यासिनी के पास हे राम तुम जाओ।' वे शत्रुओं का नाश करनेवाले महातेजस्वी [राम] शबरी के पास गए ॥ ५७ ॥ शबरी के द्वारा पूजित दशरथपुत्र राम पंपा [सर] के किनारे वानरजाति के हनुमान् से मिले। ५८ ॥ हनुमान् के वचन से राम ने सुग्रीव से भेंट की। महाबल-वाले राम ने सुग्रीव के प्रति आदि से, जैसा हुआ वैसा सब, विशेषकर सीता का वृत्त कहा। वानर जाति के सुग्रीव ने भी राम के उस सब वृत्तान्त को सुनकर ॥ ५९, ६० ॥ अग्नि के सामने राम के साथ मित्रता और प्रीति की। इसके पश्चात् वानरराज सुग्रीव ने वैर के अनुकूल (बाली के साथ वैर कैसे हुआ इत्यादि) ॥ ६१ ॥ सब वृत्त विश्वास और दुःखी होने के कारण राम से कहा। तत्पश्चात् राम ने बाली के वध की प्रतिज्ञा की ॥ ६२ ॥ वानर [सुग्रीव] ने बाली के बल के विषय में कहा। सुग्रीव राघव के पराक्रम के विषय में नित्य शङ्कित था ॥ ६३ ॥

[1] गृध्रजातीय क्षत्रिय राजर्षि।

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम् । दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ॥६४॥
उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः । पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप *संपूर्णं दशयोजनम् ॥६५॥
बिभेद च पुनः सालान् सप्तैकेन महेषुणा । गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ॥६६॥
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः । किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ॥६७॥
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः । तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ॥६८॥
अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः । निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः ॥६९॥
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे । सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥७०॥
स च सर्वान् समानीय वानरान् वानरर्षभः । दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥७१॥
ततो गृध्रस्य वचनात् संपातेर्हनुमान् बली । *शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम् ॥७२॥
तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् । ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ॥७३॥
निवेदयित्वाभिज्ञानं प्रवृत्तिं च निवेद्य च । समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम् ॥७४॥
पञ्च सेनाग्रगान् हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि । शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ॥७५॥
अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद् वरात् । मर्षयन् राक्षसान् वीरो यन्त्रिणस्तान् यदृच्छया ॥७६॥

सुग्रीव ने [बाली के बल के प्रति] राघव को विश्वास दिलाने के लिए [बाली से मारे गए] दुन्दुभि नामक राक्षस के महापर्वत के समान भारी शरीर [के अस्थिपंजर] को दिखाया ॥ ६४ ॥ महाबाहु (घुटने तक लम्बे हाथवाले) महाबली राम ने [दुन्दुभि की] हड्डियों [के कंकाल] को देखकर और ऊँचे से हँस कर पैर के अँगूठे से [उस] सम्पूर्ण [कंकाल] को दशयोजन[1] दूर फेंक दिया ॥ ६५ ॥ और [बाली के वध के योग्य स्वसामर्थ्य के प्रति] विश्वास को उत्पन्न करते हुए [राम ने] एक बड़े बाण से पृथिवी जल और पर्वतों को प्रतिध्वनित करते हुए साल के सात वृक्षों को बींधा और पहाड़ को रसातल को [पहुँचा दियाअर्थात् नष्ट कर दिया] ॥६६॥ उसके बाद विश्वास को प्राप्त कर प्रसन्न मन वाला वह महाकपि [सुग्रीव] राम के सहित किष्किन्धा नाम की गुहा की ओर चला ॥ ६७ ॥ [गुहा के समीप जाकर] सुवर्ण के सदृश वर्णवाले वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने गर्जना (सिंहनाद) की। उस महती गर्जना से वानरराज [बाली गुहा से] बाहर निकला ॥ ६८ ॥ उस समय [अपनी पत्नी] तारा को सन्तुष्ट (धैर्य बँधा) कर सुग्रीव के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुआ। उस युद्ध में राघव ने एक बाण से बाली को मार डाला ॥ ६९ ॥ सुग्रीव के वचन से बाली को युद्ध में मारकर [भगवान्] राम ने सुग्रीव को ही उस राज्य पर बैठा दिया ॥ ७० ॥ जनक की पुत्री [सीता] को देखने (= ढूँढने) की इच्छावाले वानरों में श्रेष्ठ [सुग्रीव] ने सब वानरों को इकट्ठा करके सब ओर (चारों दिशाओं में) भेजा ॥ ७१ ॥ तत्पश्चात् सम्पाति नामक गृध्र के वचन से बलवान् हनुमान् ने सौ योजन फैले हुए समुद्र को पार किया ॥ ७२ ॥ [समुद्र पार] रावण से पालित लङ्कापुरी में प्रविष्ट होकर अशोक वाटिका में विद्यमान [राम को] स्मरण करती हुई सीता को देखा। [तत्पश्चात्] ॥ ७३ ॥ [राम की अंगूठीरूपी] स्मृतिचिह्न को देकर [राम और सुग्रीव की मैत्री आदि के] समाचार कह कर[2] सीता को आश्वासन देकर तोरण (= अशोक वाटिका के मुख्यद्वार) को नष्ट किया ॥७४॥ पाँच सेनापतियों और मन्त्रियों के सात पुत्रों को मार कर तथा वीरअक्ष (= रावण पुत्र) को चूर्णित करके पितामह (ब्रह्मा) के वर से अस्त्र से अपनी आत्मा को मुक्त (= अस्त्र मुझे बाँध नहीं सकता ऐसा) जानकर [हनुमान्] बाँधने वाले राक्षसों को क्षमा करते हुए रावण को देखने के लिए अपनी इच्छा से बन्धन को प्राप्त हुए ॥ ७५, ७६ ॥

* 'दूराद् दूरतरं तथा' इति तु सम्यक्तरं स्यात् ॥ १ अर्थात् बहुत दूर (अतिशयोक्ति–अलङ्कार)

२ यह अर्थ टीकाकारों के अनुसार है। 'स्मृति चिह्न देकर तथा तुम्हें प्राप्त करने के लिए क्या कर रहे हैं यह बताकर' अधिक युक्तिसंगत जँचता है।

ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम् । रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ॥७७॥
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् । न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा सीतेति तत्त्वतः ॥७८॥
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः । समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ॥७९॥
[दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितां पतिः । समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ॥८०॥]
तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे । रामः सीतामनुप्राप्य परां *व्रीडामुपागमत् ॥८१॥
[तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि । अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ॥८२॥
ततोऽग्निवचनात् सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम् । बभौ रामः संप्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः ॥८३॥]
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् । सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः ॥८४॥
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् । कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥८५॥
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् । अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ॥८६॥
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः । भरतस्यान्तिकं रामो हनुमन्तं व्यसर्जयत् ॥८७॥
पुनराख्यायिकां जल्पन् सुग्रीवसहितस्तदा । पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥८८॥
नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः । रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥८९॥
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥९०॥

उसके बाद महाकपि (हनुमान्) मैथिली सीता [के स्थान] को छोड़कर लंका को जलाकर राम को प्रिय समाचार सुनाने के लिए वापस लौटे ॥ ७७ ॥ उस अमेयात्मा (= अपरिमित बुद्धि और धृतिवाले) [हनुमान्] ने महात्मा राम के समीप आकर और प्रदक्षिणा करके "देखी सीता" ऐसा साररूप[1] से कहा ॥ ७८ ॥ उसके अनन्तर सुग्रीव के साथ समुद्र के किनारे जाकर [राम ने] सूर्य के समान तेजस्वी बाणों से समुद्र को क्षुब्ध किया (= मथा) ॥ ७९ ॥ नदियों के स्वामी समुद्र ने अपने स्वरूप को प्रकट कर दिया। और समुद्र के वचन से ही नल को पुल बनाने के लिए प्रेरित किया ॥ ८० ॥ उस पुल के द्वारा लंकापुरी को प्राप्त होकर, युद्ध में रावण को मार और सीता को प्राप्त कर राम अत्यन्त सङ्कोच को प्राप्त हुए ॥ ८१ ॥ तत्पश्चात् राम ने जनसमुदाय के मध्य सीता को कठोर वचन कहा । [राम के कठोर वचन को] न सहती हुई सती (= पवित्र) सीता अग्नि में प्रविष्ट हुई ॥ ८२ ॥ तदनन्तर अग्नि के वचन से सीता को पापरहित (= पवित्र) जानकर राम अत्यन्त प्रसन्न हुए और सब देवताओं से पूजे गए ॥ ८३ ॥ महात्मा राघव के उस महान् कर्म से देव और ऋषि गणों के सहित चराचर तीनों लोक सन्तुष्ट हुए ॥ ८४ ॥ लङ्का में राक्षसेन्द्र विभीषण का अभिषेक करके कृतकृत्य और सन्तापरहित होकर राम प्रसन्न हुए ॥ ८५ ॥ देवों से वर को प्राप्त करके और [सेना के] वानरों को उठाकर मित्रों से घिरे हुए राम ने पुष्पक [विमान] से अयोध्या के लिए प्रस्थान किया ॥ ८६ ॥ सत्य पराक्रम वाले राम ने भरद्वाज के आश्रम पर जाकर भरत के समीप हनुमान् को भेजा ॥ ८७ ॥ पुनः सुग्रीव के सहित पुष्पक [विमान] पर चढ़कर और [भरत सम्बन्धी]वृत्तान्त को कहते हुए नन्दीग्राम को प्राप्त हुए ॥ ८८ ॥ पापरहित राम ने सीता को प्राप्त कर, भाइयों के साथ जटा का परित्याग करके पुनः राज्य को प्राप्त किया ॥ ८९ ॥ [राम के राज्य में] लोग प्रहृष्ट, मुदित[2] सन्तुष्ट, पुष्ट, धार्मिक, निरामय, रोगरहित[3] और दुर्भिक्ष के भय से रहित [थे] ॥ ९० ॥

* चिन्त्यमिदम् 'शान्तिं' इति तु शोभनतरं स्यात् ॥

१ एक टीकाकार ने 'तत्वतः' का अर्थ 'वास्तविक सीता' किया है' और दूसरे ने 'ठीक प्रकार से' ।

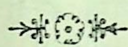
२ क्रमशः शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रसन्नता ।

३ क्रमशः मानसिक और शारीरिक व्याधि से रहित ।

न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् । नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥९१॥
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः । न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥९२॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा । नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥९३॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा । [अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥९४॥
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम् । असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥९५॥
राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः । चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥९६॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च । रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥९७॥]
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च संमितम् । यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९८॥
एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः । सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥९९॥

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयात् जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥१००॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
बालकाण्डे नारदवाक्यं नाम प्रथमः सर्गः ॥



पुरुष पुत्र की मृत्यु नहीं देखते थे[1], स्त्रियाँ विधवा नहीं होती थीं, सब काल में पतिव्रता होती थीं ॥ ९१ ॥ न अग्नि से होने वाला कोई भय था, न प्राणी जल में डूबते थे, वायु से उत्पन्न भय भी नहीं था और न ज्वर था ॥ ९२ ॥ और नहीं क्षुधा से होने वाला भय था और न चोर का । नगर और राष्ट्र धन धान्य से पूर्ण थे ॥ ९३ ॥ सब लोग सदा वैसे ही प्रसन्न थे जैसे सतयुग में । बहुत सुवर्ण [की दक्षिणा] वाले शत (सौ) अश्वमेधों से यजन करके ॥ ९४ ॥ विद्वानों को विधिपूर्वक दस सहस्र कोटि गौवें देकर [और] महायशस्वी [राम] ने ब्राह्मणों को असंख्येय धन देकर ॥ ९५ ॥ अनेक राजवंशों को स्थापित किया और चारों वर्णों को लोक में अपने अपने धर्म में चलाया ॥ ९६ ॥ राम ने दश सहस्र और दश सौ वर्ष राज्य करके ब्रह्मलोक को प्रयाण किया ॥ ९७ ॥ इस पवित्र पापनाशक वेद के समान पुण्य [रूप] रामचरित को जो पढ़ेगा [वह] सब पापों से मुक्त हो जाएगा ॥ ९८ ॥ इस आयु के लिए हितकारी इस रामायण नामक कथा को पढ़ता हुआ मरकर पुत्र पौत्र भृत्यों के सहित स्वर्ग में पूजा को प्राप्त होता है[2] ॥९९॥ [इस रामायण को] पढ़ता हुआ ब्राह्मण वाणी में श्रेष्ठता को प्राप्त होवे, क्षत्रिय राजत्व को प्राप्त होवे, वैश्य दुकान के फल (=लक्ष्मी) को प्राप्त होवे और शूद्र भी श्रेष्ठता को प्राप्त होवे ॥ १०० ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का नारदवाक्यविषयक यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥

१ यहाँ 'द्रक्ष्यन्ति' भविष्यार्थ बोधक क्रिया को ९२ श्लोक की वर्तमानकालिक 'मज्जन्ति' क्रिया से मिलाकर अभिप्राय समझना चाहिए ।

२ यह तथा अगला वचन रामायण के अध्ययन का प्रशंसापरक अर्थवादरूप है ।

द्वितीयः सर्गः

ब्रह्मागमनम्

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः । पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिः ॥ १॥
यथावत्पूजितस्तेन देवर्षिर्नारदस्तदा । आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम् ॥ २॥
स मुहूर्तं गते तस्मिन् देवलोकं मुनिस्तदा । जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्तु विदूरतः ॥ ३॥
स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा । शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४॥
अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय । रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५॥
न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम । इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६॥
एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना । प्रायच्छत मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो गुरोः ॥ ७॥
स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः । विचचार ह पश्यंस्तत्सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८॥
तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम् । ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९॥
तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः । जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः ॥१०॥
तं शोणितपरीताङ्गं वेष्टमानं महीतले । भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥११॥
वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन सहचारिणा । ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्रिणा च हितेन वै ॥१२॥
तथाविधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् । ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥१३॥

सर्ग २

[ब्रह्माजी का आगमन]

नारद के वचन को सुनकर शिष्यों के सहित वाक्यविशारद (=बोलने में श्रेष्ठ) धर्मात्मा [वाल्मीकि] ने महामुनि [नारद] की पूजा की ॥ १ ॥ [वाल्मीकि के द्वारा] यथावत् पूजा को प्राप्त होकर देवर्षि नारद [वाल्मीकि को] पूछकर और [उनसे] स्वीकृति पाकर विहायस (= देवलोक) को चले गए ॥ २ ॥ उस [देवर्षि नारद] के देवलोक को चले जाने पर [वाल्मीकि] मुनि थोड़ी देर [आश्रम पर ठहर कर] गंगा के समीप वर्तमान तमसा नदी के तीर पर गए ॥ ३ ॥ तब उस मुनि ने तमसा के तट को प्राप्त कर जल को कीचड़ से रहित देखकर समीप में विद्यमान शिष्य को कहा ॥ ४ ॥ हे भरद्वाज ! कीचड़ से रहित इस तीर्थ (घाट) को देखो । [यह] सत्पुरुष के मन के समान रमणीय और शुद्ध जल वाला है । ॥ ५ ॥ हे तात ! घड़े को यहीं रखो, मेरा वल्कल[1] दो, मैं तमसा के इसी उत्तम जल का अवगाहन (जल में स्नान) करूँगा ॥ ६ ॥ महात्मा वाल्मीकि[2] के द्वारा इस प्रकार कहे गए गुरुसेवा में तत्पर भरद्वाज ने उस मुनि का वल्कल दिया ॥ ७ ॥ वह जितेन्द्रिय [वाल्मीकि] शिष्य के हाथ से वल्कल लेकर विस्तीर्ण वन को सब ओर देखते हुए घूमने लगे ॥८॥ उस वन के समीप ही सुन्दर शब्द करने वाले और साथ साथ विचरते हुए क्रौञ्चपक्षी के जोड़े को [वाल्मीकि ने] देखा ॥ ९ ॥ पाप कर्म का निश्चय किए हुए अकारण वैरी निषाद (व्याध) ने वाल्मीकि के देखते हुए उस क्रौञ्च के जोड़े में से नर को मार डाला ॥ १० ॥ [व्याध के द्वारा] मारे गए, रुधिर से भरे हुए अङ्गों वाले, भूमि पर तड़पते हुए क्रौञ्च को देखकर साथ साथ रहने वाले लाल चोटी वाले काम से मत्त, फैलाए हुए परों वाले अपने साथ रहने वाले पक्षीरूपी पति से वियुक्त भार्या (क्रौञ्ची) करुण स्वर से रोने लगी ॥ ११, १२ ॥ निषाद के द्वारा उक्त अवस्था वाले मारकर गिराये गए पक्षी को देखकर उस धर्मात्मा ऋषि [वाल्मीकि] को करुणा उत्पन्न हुई ॥ १३ ॥

---

१ वृक्ष-त्वक्-निर्मित वस्त्र । २ 'तस्यापत्यम्' (अष्टा० ४ । १ । ९२) से औत्सर्गिक अण् ।

ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः । निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥१५॥
तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः । शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥१६॥
चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान् मतिम् । शिष्यं चैवाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः॥१७॥
पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः । शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥१८॥
शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् । प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥१९॥
सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन् यथाविधि । तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥२०॥
भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान् गुरोः । कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥२१॥
स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित् । उपविष्टः कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः ॥२२॥
आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयंप्रभुः । चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुंगवम् ॥२३॥

उसके पश्चात् रोती हुई क्रौञ्ची [के रुदन] को सुनकर करुणा को प्राप्त वाल्मीकि ने 'यह अधर्म है' ऐसा [निश्चय करके] यह वचन कहा- ॥ १४ ॥ हे व्याध ! तूने क्रौञ्च के जोड़े में से काम से मोहित एक [नर] को मारा, [इस कारण] तू सदा के लिए उत्तम गति को प्राप्त मत हो[1]॥ १५ ॥ इस प्रकार कहते हुए [और उस पर] विचार करते हुए उस [वाल्मीकि] के हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि पक्षी के कारण शोक से दुःखी होकर मैंने यह क्या कह दिया[2]॥ १६ ॥ महाबुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ [वाल्मीकि] ने विचार करते हुए निश्चय किया और उस मुनिश्रेष्ठ ने शिष्य से यह वाक्य कहा—॥ १७ ॥ मुझ शोकार्त से [सहसा] निकला हुआ, पादों [चरणों] से बँधा हुआ, अक्षरों से सम (समवृत्त) वीणा के लय से युक्त (=वीणा पर गाने योग्य) यह वचन श्लोक रूप से प्रसिद्ध हो, [इन धर्मों से विपरीत] श्लोक न कहावे[3] ॥ १८ ॥ इस प्रकार कहते हुए मुनि के अतिश्रेष्ठ वचन को सन्तुष्ट हुए शिष्य ने स्वीकार (=अनुमोदन) किया । मुनि [वाल्मीकि] उस पर प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥ तत्पश्चात् मुनि [वाल्मीकि] उस घाट पर यथाविधि स्नान करके उसी [श्लोकोत्पत्तिरूपी] अर्थ को विचारते हुए [आश्रम पर] लौटे ॥ २० ॥ गुरु का बहुश्रुत और विनीत शिष्य भरद्वाज [जल से] भरे हुए कलश को उठाकर [मुनि के] पीछे चला ॥ २१ ॥ उस धर्म के जानने वाले [वाल्मीकि] ने शिष्य के साथ आश्रम को प्राप्त होकर [और] ध्यान में स्थित (एकाग्र) होकर[4] अन्य कथाएँ कहीं ॥ २२ ॥ तदनन्तर लोकों के रचने वाले, महातेजस्वी, चतुर्मुख,[5] प्रभु[6] ब्रह्मा उस मुनिश्रेष्ठ [वाल्मीकि] के पास स्वयं आये ॥ २३ ॥

१ इस श्लोक की टीकाकारों ने बहुविध व्याख्या की है ।

२ मुनिवृत्ति का आश्रय करनेवाले व्यक्ति के लिये शाप देना भी अयुक्त है ।

३ टीकाकारों ने इस श्लोक की विचित्र व्याख्याएं की हैं । वेद में श्लोक शब्द वाणी के लिए प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं कहीं ऋक् और श्लोक पर्याय भी देखे जाते हैं । यथा—श० ब्रा० १२ । ३ । २ । ७-८ में 'श्रमादन्यत्र' वचनों के लिए श्लोक शब्द का व्यवहार हुआ है, परन्तु गोपथ ब्रा० १ । ५ । ५ में इन्हें ऋक् कहा है। निरुक्त ३ । ४ । में ऋक् और श्लोक का साथ साथ प्रयोग करके पार्थक्य दर्शाया है । सम्भव है श्लोक शब्द का प्रयोग पहले लौकिक वृत्तों के लिए न होता हो । रामायण के निर्देश से श्लोक पद का अर्थ समवृत्त अनुष्टुभ् मात्र प्रतीत होता है ।

४ टीकाकारों ने यहाँ भी अनेक क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं ।

५ चारों वेदों का ज्ञाता होने से ब्रह्मा चतुर्मुख कहाता है ।

६ टीकाकारों ने 'स्वयं प्रभु' को एक पद मानकर 'सहायक रहित' अर्थ दर्शाया है ।

वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः। प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः ॥२४॥
पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः। प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैवाप्यनामयम् ॥२५॥
अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते। वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥२६॥
ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने। उपविष्टे तदा तस्मिन् साक्षाल्लोकपितामहे ॥२७॥
तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः। पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥२८॥
यस्तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात्। शोचन्नेव मुहुः क्रौञ्चीमुपश्लोकमिमं पुनः ॥२९॥
जगावन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः। तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहस्य मुनिपुंगवम् ॥३०॥
श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा। मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥३१॥
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम। धर्मात्मनो गुणवतो लोके रामस्य धीमतः ॥३२॥
वृत्तं कथय वीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्। रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥३३॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः। वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥३४॥
यच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति। न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥३५॥

तत्पश्चात् वाल्मीकि ब्रह्मा जी को देखकर जल्दी से उठ कर, मौन, विनम्र, हाथ जोड़ और अत्यन्त विस्मित होकर खड़े हो गये। [तथा] ॥ २४ ॥ उस देव [ब्रह्मा] को प्रणाम कर पाद्य, अर्घ्य, आसन और स्तुति द्वारा [उनकी] विधि के अनुसार पूजा की। मुनि से कुशल पूछ कर ॥ २५ ॥ भगवान् ब्रह्मा ने परम पूजित आसन पर बैठ वाल्मीकि ऋषि के लिए आसन [पर बैठने] का निर्देश किया ॥ २६ ॥ साक्षात् लोकपितामह [ब्रह्मा] के [आसन पर] बैठ जाने पर [वे] वाल्मीकि भी ब्रह्मा जी से स्वीकृति पाकर आसन पर बैठ गये ॥ २७ ॥ वाल्मीकि [अकारण] वैर का संग्रह करने की बुद्धि वाले पापी [निषाद] से जो निन्दित कर्म किया गया था, उसी के चिन्तन में लगे हुए मन से ध्यान को प्राप्त हो गये ॥ २८ ॥ जो [उस व्याध ने] इस प्रकार सुन्दर शब्द करनेवाले क्रौञ्च पक्षी को बिना कारण ही मारा और क्रौञ्च [के दुःख] को सोचते हुए श्लोक का उच्चारण किया[1] ॥ २९ ॥ तत्पश्चात् पुनः अन्तर्लीन होकर शोकमग्न [हो गए] उस मुनिश्रेष्ठ [वाल्मीकि] से ब्रह्मा जी हंस कर बोले ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन्! आप का वचन श्लोक रूप ही होगा, इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये। मेरी इच्छा से ही यह सरस्वती प्रवृत्त हुई है ॥ ३१ ॥ हे ऋषियों में श्रेष्ठ! आप धर्मात्मा बुद्धिमान् भगवान् राम के सम्पूर्ण चरित को लोक में [प्रकट] करो ॥३२॥ उस बुद्धिमान् राम का रहस्य तथा प्रकट रूप जैसा भी चरित आपने नारद से सुना है, वैसा धीर [राम] का चरित कहो ॥ ३३ ॥ लक्ष्मण से युक्त राम का, राक्षसों का तथा वैदेही (सीता) का जो भी प्रकट अथवा एकान्त में व्यवहार हुआ, उस सब को [कहो] ॥ ३४ ॥ और जो कुछ भी आपको अज्ञात है, वह भी ज्ञात हो जाएगा। आप की वाणी इस काव्य में कभी अनृत (=कुण्ठित)[2] नहीं होगी ॥ ३५ ॥

---

१ आदि भाषा (अतिभाषा) में वेद के समान लोक में भी उपसर्गों का व्यवहित प्रयोग होता था। उत्तर काल में लोकभाषा में उपसर्गों का व्यवहित प्रयोग लुप्त हो गया। जैसे यहां 'उपश्लोकमिमं जगौ' में 'उप' और 'जगौ' का व्यवहित प्रयोग हुआ है। ऐसा महाभारत आदि में भी देखा जाता है। यथा–'अति मां निन्दयत्येव'(द्रोण ४८। २२) 'सर्वाण्यति च सैन्यानि भारद्वाजो व्यरोचयत्'(द्रोण २३। ८१)। लक्षणैकचक्षु टीकाकारों ने इस बात को नहीं समझा। इसलिए एक ने 'उप समीपेब्रह्मणः समीपे' तथा दूसरे ने 'तस्य [क्रौञ्चस्य], समीपे क्रौञ्ची' आदि विविध कल्पनाएं की हैं।

२ टीकाकारों ने 'अनृत' का अर्थ 'असत्य' किया है अर्थात् जो कहा जाएगा वह सत्य ही होगा। हमारा अर्थ प्रकरण के अनुकूल है। ऋ गतौ, ऋतं गमनम्, न ऋतमनृतम्—इस प्रकार अनृत का अर्थ गतिरहित अथवा कुण्ठित होता है।

कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् । यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥३६॥
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति । यावद् रामायणकथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥३७॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि । इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ॥३८॥
ततः सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ । तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः ॥३९॥
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः । समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ॥४०॥
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः । तस्य बुद्धिरियं जाता वाल्मीकेर्भावितात्मनः ॥
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥ ॥४१॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैस्ततः स रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥ ॥४२॥

श्रेष्ठ मनोहर राम की कथा को श्लोकबद्ध करो । जब तक पृथिवी पर पर्वत और नदियां विद्यमान रहेंगी ॥३६॥ तब तक रामायण की कथा लोक में प्रचलित रहेगी । जब तक आप की बनाई राम की कथा प्रचलित रहेगी ॥ ३७ ॥ तब तक तुम मेरे लोकों में ऊपर नीचे[1] (अव्याहतगति होकर) निवास करोगे । ऐसा कह कर भगवान् ब्रह्मा वहीं तिरोहित हो गए । तत्पश्चात् शिष्य सहित भगवान् [वाल्मीकि] मुनि आश्चर्य को प्राप्त हुये ॥ ३८ ॥ तदनन्तर वाल्मीकि के सब शिष्यों ने इस श्लोक को पुनः कहा और अत्यधिक विस्मित तथा सन्तुष्ट होकर बार बार उच्चारण किया ॥ ३९ ॥ सम (न्यूनाधिक्य रहित) अक्षरों[2] तथा चारों पादों से महर्षि ने जिस महान् शोक (क्रौञ्चवधरूप) का गान किया, वही [छन्दः शास्त्र के] अनुकूल उच्चारण करने से श्लोकरूप हो गया[3] ॥ ४० ॥ उस भावितात्मा (आत्मचिन्तक) महर्षि की यह बुद्धि हुई कि मैं रामायण नामक काव्य को इसी प्रकार [के श्लोकों] से पूर्ण करूं ॥ ४१ ॥ बड़ी कीर्तिवाले, उदारदर्शन (दीर्घदृष्टि) वाल्मीकि ने उदार (महान् राम के) चरित के अनुकूल (अथवा अभीष्ट अर्थ को प्रकाशित करनेवाले) पदों से युक्त, मनोहर (श्रुति-कटु-वर्ण-रहित), तथा सम अक्षरवाले सैकड़ों श्लोकों[4] से युक्त यशस्वी राम के यश को देनेवाले काव्य को बनाया ॥ ४२ ॥

१ 'ऊर्ध्वमधश्च' का भाव टीकाकारों के अनुसार लिखा है । निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'अनेक प्रकार' अर्थ को द्योतित करने के लिए 'उच्चावच' शब्दों का व्यवहार मिलता है । यथा—'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' १ । ४) अनेक प्रकार के अर्थों में । इसी प्रकार 'ऊर्ध्व' और 'अधः' शब्द भी 'अनेक प्रकार के' इस अर्थ को द्योतित कर सकता है । तदनुसार अर्थ होगा 'ब्रह्मनिर्मित विविध लोकों में' ।

२ वेद के गायत्री आदि छन्दों में एक अथवा दो अक्षरों की न्यूनता तथा अधिकता देखी जाती है । जाना-श्रयीछन्दोविचितिकार ने लौकिक छन्दों में भी एक दो अक्षरों की न्यूनता तथा अधिकता के उदाहरण दिखलाएं हैं। इस दृष्टि से हमारा विचार है कि यहां 'समाक्षर' पद का अर्थ 'पूर्णअक्षरों वाला' अधिक युक्त होगा ।

३ टीकाकारों की व्याख्या यहां भिन्न भिन्न है ।

४ रामायण में २४००० श्लोक हैं, ऐसा आगे कहा जाएगा । २४००० श्लोकों का निर्देश 'श्लोकशतैः' से करना युक्त प्रतीत नहीं होता । सम्भव है, यहां प्रथम सर्ग के १०० श्लोकों से वर्णित रामचरित का संकेत हो और 'श्लोक शतेन' के स्थान में 'श्लोक शतैः' बहुवचन निर्देश छन्दोऽनुरोध से किया हो ।

तदुपगतसमाससन्धियोगं सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे
ब्रह्मागमनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥

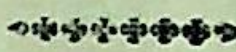
तृतीयः सर्गः

काव्यसंक्षेपः

श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मात्मा धर्मसंहितम् । व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥
उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः । प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणावेक्षते गतिम् ॥ २ ॥
रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च । सभार्येण सराष्ट्रेण यत्प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्या यच्च चेष्टितम् । तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् संप्रपश्यति ॥ ४ ॥
स्त्रीतृतीयेन च तथा यत्प्राप्तं चरता वने । सत्यसन्धेन रामेण तत्सर्वं चान्ववेक्षितम् ॥ ५ ॥

[शास्त्रानुसार] स्थापित किए हैं समास, सन्धि और योग[1] (=प्रकृति प्रत्यय संबन्ध) जिसमें तथा सम[2] (=उचित=न्यूनाधिक्य रहित) और मधुर गुण से युक्त अर्थ वाले वाक्यों का प्रयोग है जिसमें, ऐसे मुनिप्रणीत रामचरित तथा रावणवध काव्य को सुनो ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड का ब्रह्मागमनविषयक यह दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥



सर्ग ३

[काव्य-संक्षेप]

धर्मात्मा [वाल्मीकि] ने उस बुद्धिमान् [राम] के धर्म और अर्थ से युक्त सम्पूर्ण वस्तु (=चरित) को [देवर्षि नारद से] सुनकर उसको पुनः स्पष्ट रूप से जानना चाहा । [इसलिए] ॥ १ ॥ मुनि [वाल्मीकि] ने यथाविधि आचमन कर और हाथ जोड़ पूर्व दिशा में अग्रभाग हैं जिनका, ऐसी कुशाओं पर बैठकर धर्म (=योगबल)[3] से [राम आदि की] गति (चरित) को जानने का यत्न किया ॥ २ ॥ राम लक्ष्मण और सीता ने तथा राष्ट्र और पत्नियों से युक्त राजा दशरथ ने निश्चय रूप से जो कुछ किया [अर्थात्] ॥ ३ ॥ हंसना, बोलना, जाना और जितने प्रकार की चेष्टा की, उस सब को योगबल से यथावत् रूप में जाना ॥ ४ ॥ स्त्री (सीता) है तृतीय जिसकी अर्थात् लक्ष्मण और सीता के सहित सत्यवादी राम ने वन में विचरते हुए जो कुछ आचरण किया, उस सब को जाना ॥ ५ ॥

१ यह व्याख्या टीकाकारों के मतानुसार है । यदि इस श्लोक का यही भाव समझा जाए, तो मानना होगा कि इस काव्य में कोई भी पद ऐसा प्रयुक्त नहीं हुआ जो शब्दशास्त्र से विरुद्ध हो । तदनुसार 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, आर्षत्वात् साधुः' वचनों द्वारा इस काव्य में प्रयुक्त शब्दों को अपशब्द कहना परम धृष्टता होगी । वर्तमान संक्षिप्त पाणिनीय व्याकरणानुसार जिन पदों के साधुत्व का ज्ञान न होता हो उन्हें भी साधु ही समझना चाहिए, अपशब्द नहीं मानना चाहिए ।

२ सम शब्द से प्रतीत होता है कि ऋषि ने रामचरित का यथार्थ रूप में चित्रण किया है । अतिशयोक्ति आदि से कार्य नहीं लिया । अत एव यह काव्य होते हुए भी इतिहास (इति+ह+आस=ऐसा ही था) माना जाता है (द्र० युद्धकाण्ड १३१ । ११६) । इसे ऐतिहासिक (=इतिहासाश्रित) काव्य कहना अयुक्त है ।

३ इस सर्ग में धर्मपद योगबल के लिए प्रयुक्त हुआ है । चतुर्थ श्लोक में 'धर्मवीर्येण' का यही अर्थ है ।

ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः । पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥
तत्सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महाद्युतिः । अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥
कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् । समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥
स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महर्षिणा । रघुवंशस्य चरितं चकार भगवानृषिः ॥ ९ ॥
जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् । लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥ १० ॥
नानाचित्रकथाश्चान्या विश्वामित्रसमागमे । जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥ ११ ॥
रामरामविवादं च गुणान् दाशरथेस्तथा । तथा रामाभिषेकं च कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥
विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् । राज्ञः शोकविलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥
प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम् । निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥
गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम् । भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥
वास्तुकर्मनिवेशं च भरतागमनं तथा । प्रसादनं च रामस्य *पितुश्च सलिलक्रियाम्* ॥ १६ ॥
पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् । दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥
दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम् । अनसूयासहास्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥
दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य धनुषो ग्रहणं तथा । शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥ १९ ॥
वधं खरत्रिशिरसोरुत्थानं रावणस्य च । मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥ २० ॥
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम् । कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥ २१ ॥

योग (समाधि) में स्थित होकर धर्मात्मा [वाल्मीकि] ने [राम के द्वारा] वन में जो कुछ कार्य हुआ, उस सब को हाथ पर रखे हुए आंवले के समान देखा ॥ ६ ॥ महाज्ञानी [वाल्मीकि] योगद्वारा दर्शनीय राम के उस सब [वृत्त] को यथावत् रूप से जानकर उस सारे [वृत्त] को काव्यबद्ध करने को तैयार हुए ॥ ७ ॥ रत्नपूर्ण समुद्र के समान कामनारूपी पुरुषार्थ गुण से युक्त धर्मरूपी पुरुषार्थ गुण से विस्तृत सब के कानों को मनोहर लगने वाले रामचरित को नारद ने जैसे पहले कहा था [उसी प्रकार] भगवान् मुनि ने रचा ॥ ८, ९ ॥ राम का जन्म, [उसका] महान् पराक्रम, सब की अनुकूलता (सरलता), लोगों की प्रियता, क्षमा, सौम्यपन, सत्यशीलता ॥ १० ॥ विश्वामित्र के साथ जाते हुए [कही गईं] नाना विचित्र कथाएं, सीता का विवाह, धनुषका तोड़ना ॥ ११ ॥ [दाशरथि] राम और [जामदग्न्य] राम का परस्पर विवाद, राम के गुण, राम का अभिषेक, कैकेयी का दुष्ट स्वभाव ॥ १२ ॥ राम के अभिषेक में विघ्न, [राम का] वन में जाना, राजा [दशरथ] का शोक और विलाप तथा परलोक गमन ॥ १३ ॥ प्रजाओं का दुखी होना, प्रजाओं का अयोध्या के प्रति वापस लौटना, निषादों के राजा से संवाद, सारथि को लौटाना ॥ १४ ॥ गंगा को पार करना, भारद्वाज का दर्शन, भारद्वाज के कहने से, चित्रकूट का दर्शन (चित्रकूट पर जाना) ॥ १५ ॥ चित्रकूट पर कुटिया बनाना, उसमें रहना, भरत का आना, राम को प्रसन्न करना, पिता को पानी देना ॥ १६ ॥ [राम की] श्रेष्ठ खड़ाऊँओं का अभिषेक, नन्दिग्राम में निवास, दण्डकारण्य में जाना, विराध को मारना ॥ १७ ॥ शरभंग का दर्शन, सुतीक्ष्ण से मिलना, अनसूया के साथ [सीता का] बैठना [सीता को] अङ्गराग देना ॥ १८ ॥ अगस्त्य का दर्शन, [ऐन्द्र] धनुष का ग्रहण करना, शूर्पणखा से संवाद, तथा [उसे] विरूप करना ॥ १९ ॥ खर और त्रिशिरा का वध, रावण का उत्थान (= चढ़ कर आना), मारीच का वध, वैदेही [सीता] का हरण ॥ २० ॥ राम का विलाप, गृध्रराज (जटायु) का

शबरीदर्शनं चैव हनुमद्दर्शनं तथा। विलापं चैव पम्पायां राघवस्य महात्मनः ॥२२॥
ऋश्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम्। प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥२३॥
वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम्। ताराविलापसमयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥२४॥
कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम्। दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥२५॥
अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम्। प्रायोपवेशनं चापि संपातेश्चैव दर्शनम् ॥२६॥
पर्वतारोहणं चैव सागरस्य च लङ्घनम्। समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्यापि दर्शनम् ॥२७॥
राक्षसीतर्जनं चैव छायाग्राहस्य दर्शनम्। सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ॥२८॥
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम्। आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम् ॥२९॥
दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम्। अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ॥३०॥
अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चाभिभाषणम्। राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥३१॥
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च। राक्षसीविद्रवं चैव किंकराणां निबर्हणम् ॥३२॥
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम्। प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ॥३३॥
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा। संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ॥३४॥
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम्। विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ॥३५॥
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम्। रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः पुरे ॥३६॥

मारा जाना, कबन्ध का दर्शन, तथा पंपासर का दर्शन ॥ २१ ॥ शबरी का दर्शन, तथा [उससे दिए गए] फलमूल का खाना, [पंपा के किनारे राम का] विलाप, तथा हनुमान् का दर्शन ॥ २२ ॥ ऋष्यमूक पर जाना, सुग्रीव के साथ मिलना, विश्वास उत्पन्न करना, मित्रता, बाली और सुग्रीव का युद्ध ॥ २३ ॥ बाली को मारना, सुग्रीव को [राज्य] देना, तारा (=बाली पत्नी) का विलाप, [शरद् ऋतु में सीता को ढूंढूंगा ऐसा] निश्चय, वर्षा की रातों में निवास ॥ २४ ॥ [चातु- र्मास्य के बीत जाने पर भी सुग्रीव के प्रयत्न न करने से] राम का कुपित होना, सेना का संग्रह, [वानरों को चारों] दिशाओं में भेजना, पृथिवी का वर्णन ॥ २५ ॥ अंगूठी देना, ऋक्ष का बिल दिखाना, [हनुमान् आदि का] मरणान्त उपवास, सम्पाति का दर्शन ॥ २६ ॥ पर्वत पर चढ़ना, सागर का लांघना, समुद्र के वचन से मैनाक पर्वत का दर्शन ॥ २७ ॥ राक्षसियों द्वारा हनुमान् का भर्त्सन, छायाग्राह सिंहिका का दर्शन तथा वध, लंका में मलय पर्वत का दर्शन ॥ २८ ॥ रात में लंका में घुसना, अकेले का [कर्तव्य] निश्चय, [राक्षसों के] मद्यपान स्थान में जाना, [रावण के] अन्तःपुर को देखना ॥ २९ ॥ रावण का दर्शन, पुष्पक विमान का दर्शन, अशोक वाटिका में जाना, और सीता को देखना ॥३०॥ स्मृतिचिह्न (अंगूठी) का देना, सीताका भाषण, राक्षसियों का सीता को डराना, त्रिजटा का स्वप्न देखना ॥ ३१ ॥ सीता का [चूड़ा] मणि का देना, [वाटिका के] वृक्षों को नष्ट करना, राक्षसियों का भागना, नौकरों का नाश करना ॥ ३२ ॥ वायुपुत्र [हनुमान्] को बांधना, लंका को जलाना, सिंहनाद करना, [समुद्र का] वापस पार करना, [मधुवन से] मधु का हरण करना ॥ ३३ ॥ राघव को आश्वासन देना, चूड़ामणि का देना, समुद्र के साथ हनुमान् का समागम, नल द्वारा सेतु (पुल) का बांधना ॥ ३४ ॥ समुद्र का पार करना, रात में लंका का घेरा डालना, विभीषण के साथ संबन्ध, [रावण के] वध का उपाय बताना ॥ ३५ ॥ कुम्भकर्ण का मारा जाना, मेघनाथ का वध, रावण का विनाश, सीता की प्राप्ति शत्रु के नगर में ॥ ३६ ॥ विभीषण का अभिषेक, पुष्पक का दर्शन, अयोध्या के

विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य निवेदनम् । अयोध्यायाश्च गमनं भरतेन समागमम् ॥३७॥
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् । स्वराज्यरञ्जनं चैव [वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥३८॥
अनागतं च यत्किंचिद् रामस्य वसुधातले । तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥३९॥]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे
काव्यसङ्क्षेपो नाम तृतीयः सर्गः ॥

चतुर्थः सर्गः

अनुक्रमणिका

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः । चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ॥ १ ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः । तथा सर्गशतान् पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम्॥ २ ॥
कृत्वापि तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् । चिन्तयामास को न्वेतत्प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥
तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः । अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥
कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ । भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ । वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥

गमन भरद्वाज से मिलाप, वायुपुत्र हनुमान् को [नन्दीग्राम] भेजना, भरत से मिलना, राम का अभिषेक, सब सेना को विसर्जित करना, अपने राष्ट्र का प्रसन्न करना और वैदेही का विसर्जन ॥ ३७,३८॥ और पृथिवी पर जो कुछ राम का अज्ञात [अथवा भविष्य का] कर्म था उस सबका कथन भगवान् वाल्मीकि ऋषि ने उत्तर काव्य (काण्ड) में किया ॥ ३९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का काव्यसंक्षेपविषयक यह तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥

सर्ग ४

[अनुक्रमणिका]

भगवान् वाल्मीकि ऋषि ने राज्य को प्राप्त हुए राम का विचित्र पद और अर्थ से युक्त सम्पूर्ण काव्य रचा ॥ १ ॥ ऋषि ने चौबीस सहस्र श्लोक रचे, पांच सौ सर्ग तथा छ काण्ड रचे ॥ २ ॥ महाबुद्धिवाले [वाल्मीकि] ने भविष्य तथा उत्तर काण्ड सहित काव्य रच कर कौन समर्थ व्यक्ति इस काव्य के प्रयोग में समर्थ है, ऐसा विचार किया ॥ ३ ॥ उस चिन्तन करते हुए शुद्धात्मा महर्षि के पैरों को मुनिवेषधारी गायकों[1] ने छुआ ॥ ४ ॥ [मुनि ने] आश्रम में रहनेवाले, धर्मज्ञ, स्वरसम्पन्न (=गानविद्या में कुशल) यशस्वी, राजा के पुत्र गान करनेवाले भाइयों को देखा ॥ ५ ॥ उस प्रभु [वाल्मीकि] ने उनको बुद्धिमान् और वेदों में निष्णात जानकर वेद की वृद्धिरूपी प्रयोजन के लिए[2] उन्हें ही [उक्त काव्य] पढ़ाया ॥ ६ ॥

१ मूल पाठ के "कुशीलव" पद का वास्तविक अर्थ 'गायक' है। हारीत धर्मसूत्र में श्राद्ध में निमन्त्रण के अयोग्य व्यक्तियों का निर्देश करते हुए 'कुशीलव' को भी गिना है। टीकाकार ने कुशीलव का अर्थ चारण = स्तुति करने वाला किया है। देखो, कृत्यकल्पतरु, श्राद्ध काण्ड, पृष्ठ ८८। रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलव' का अर्थ रामपुत्र 'कुश और लव' किया है। 'कुशी' में ईकार पृषोदरादि से अथवा छान्दस माना है। टीकाकारों का व्याख्यान सर्वथा अशुद्ध है।

२ महाभारत का ज्ञान वेद के उपबृंहण (= विस्तार) के लिए आवश्यक है, ऐसा भगवान् कृष्ण द्वैपायन का कथन है (आदि पर्व १ । २६८)। महाभारत में वेद के अनेक रहस्य साक्षात् अथवा आख्यान रूप में खोले गए हैं। रामायण के लिए भी यहां 'वेदोपबृंहणार्थ' पद का प्रयोग किया है। रामायण में महाभारत के समान वेद के किन्हीं रहस्यों को साक्षात् अथवा आख्यान रूप द्वारा प्रकट किया गया हो, ऐसा हमें अज्ञात है। इस दृष्टि से भी रामायण का अनुशीलन होना चाहिए।

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छपेगी

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार इस अंक से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) टाईप प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ कोष्ठ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। बिना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥







वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]



[अङ्क १०

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

श्रावण २०१५ वि०, अगस्त १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५९

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक हो चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १० } काशी, श्रावण सं० २०१५ वि०, अगस्त १९५८ ई० { अङ्क १०

आर्याभिविनय से—

प्रार्थना विषय

हे अज ! जगत् आप में स्थिर है

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि
बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा
मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर
स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥ १८ ॥

य० ५ । ३३ ॥

व्याख्यान—"समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः" हे द्रवणीयस्वरूप ! सब भूतमात्र आप ही में द्रवै हैं, क्योंकि कार्य कारण में ही मिले हैं। आप सबके कारण हो तथा (व्याज) सहज से सब जगत् को विस्तृत किया

है। इससे आप 'विश्वव्यचाः' हैं। "अजोऽस्येकपात्" आपका जन्म कभी नहीं होता और यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है, आप अनन्त हो। "अहिरसि बुध्न्यः" आपकी हीनता कभी नहीं होती तथा सब जगत् के मूल कारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप ही पूर्ण रहते हो। "वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि" सब शास्त्र के उपदेशक अनन्त विद्यास्वरूप होने से आप "वाक्" हो, परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप "ऐन्द्र" हो। सब संसार आप में ठहर रहा है, इससे आप "सदः" (सभास्वरूप) हो। "ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्" सत्य विद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आपकी प्राप्ति के द्वार हैं, उनको सन्तापयुक्त हम लोगों के लिए कभी मत रक्खो, किन्तु सुखस्वरूप ही खुले रक्खो, जिससे हम लोग सहज से आपको प्राप्त हों। "अध्वनामित्यादि" हे अध्वपते! परमार्थ और व्यवहार मार्ग में मुझको कहीं क्लेश मत होने दे, किन्तु उन मार्गों में मुझको स्वस्ति (आनन्द) ही आप की कृपा से रहै, किसी प्रकार का दुःख हमको न रहै ॥ १८ ॥



उपासना-योग

[ले०—श्री० महा० आनन्दस्वामी जी महाराज, देहरादून]

उपासना—योग एक ऐसा सरल, सीधा, सुन्दर साधन है, जिस के द्वारा मानव भव से पार हो सकता है और साथ ही परम-आनन्द को भी प्राप्त कर सकता है। उपासना का प्रयोजन क्या है?—ईश्वर के सुन्दर दिव्य स्वरूप में मग्न हो जाना और उसी प्रभु की आज्ञापालन को अपना परम कर्तव्य समझना।

महर्षि दयानन्द ने अपने सुन्दर जीवन का बहुमूल्य समय योग के साधनों और उप साधनों को क्रियारूप में लाने ही के लिये व्यतीत किया। नर्बदा नदी के तट पर रहने वाले हर प्रकार के योगियों की कुटियाओं में पर्याप्त समय लगाया, जब वहाँ से पूरी तृप्ति नहीं हुई तो हिमालय की कन्दराओं तथा उत्तराखण्ड में रहने वाले योगियों की खोज में निकल पड़े, और निरन्तर २८ वर्ष सच्चे शिवदर्शन के लिये प्रयत्नशील रहे।

सम्वत् १८९४ की शिवरात्री को मूलशंकर के कोमल हृदय में सच्चे शिव के दर्शन पाने की अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जब घर में प्रेमी मूलशंकर को प्रियतम से मिलाप करने की युक्ति न मिली, तब दस वर्ष की प्रतीक्षा के पश्चात् मूलशङ्कर सम्वत् १९०३ में घर से निकल पड़ा और योगियों के द्वार खटखटाने लगा, हठ योग की कठिन क्रियायें भी करता रहा, जब इस विधि से भी मिलाप नहीं हुआ तो सन्यास धारण करके अलख जगाई और शरीर पर राख पोत कर अवधूत वृत्ति में प्रियतम की खोज प्रारम्भ कर दी। अब आप स्वामी दयानन्द सरस्वती बन चुके थे, हर प्रकार के योग की विधियाँ और क्रियायें सीखीं, और अन्त में ध्यान योग अथवा उपासना योग द्वारा अपने ही मनमन्दिर में बैठे दिव्य भगवान् को पाकर कृतकृत्य हो गये। तब विचार हुआ कि सच्चे शिव का पता भटकती दुनिया को भी देना चाहिये, तब प्रचार कार्य में जुट गये, परन्तु क्या देखा कि जनता उनकी बात सुनती नहीं।

सम्वत् १९२४ के हरिद्वार कुम्भ की बात है, व्याख्यान देते देते स्वामी दयानन्द के नेत्र जलपूर्ण हो गये, कंठ से आर्तनाद निकल पड़ा, और 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' कह कर अपने सारे वस्त्र, पुस्तक, पैसे वहीं बाँट दिये, अपने पास रखली केवल एक कौपीन और चल पड़े ऋषिकेश की ओर। "अभी तपस्या में कुछ कमी है, अभी आत्म-दर्शन की अवस्था परिपक्व नहीं हुई, अभी प्रभु-कृपा पूरी प्राप्त नहीं हुई"। सात वर्ष गङ्गा ही के तट पर निरन्तर भ्रमण करते और योगाभ्यास द्वारा अधिक आत्मिक बल प्राप्त करते रहे। इस प्रकार २८ वर्ष व्यतीत किये, और जब योग के साधनों के द्वारा बुद्धि प्रतिभा और ऋतम्भरा के स्तर पर पहुँच गई, तब केवल नौ ही वर्षों के अन्दर दुनियाँ को ऐसा झटका दिया कि गहरी निद्रा में सोने वाले भी जाग उठे, प्रभु की पवित्र वाणी वेद फिर सामने आ गयी, सच्चा योगी दयानन्द अकेला ही नौ वर्षों में जो अद्भुत कार्य कर गया, वह पिछले ७५ वर्षों में सहस्रों महानुभाव भी न कर पाये, क्योंकि योग का पावर हाउस पास नहीं था। कोरे व्याख्यान-कोरा शब्दाडम्बर, कोरी राजनीति, थोड़े समय के लिये शायद सफल हो जाये, परन्तु पूर्ण सफलता योग ही से मिल सकती है।

योग वह वैज्ञानिक क्रिया है जिस के द्वारा प्रकृति तथा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसीलिये महर्षि ने योगविद्या सीखने का विधान सब के लिये किया है, और तो और दुनियादारी तथा राजनीति के लिये भी इसे आवश्यक बतलाया है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के छटे समुल्लास में लिखते हैं कि—"राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों का कर्मोपासना ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्याय विद्या, आत्मविद्या—अर्थात् परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें। सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रख के सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे हटाए रहें। इसलिये रात दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जाने बिना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।"

योगाभ्यास एक जीवन-क्रम है, जिस को प्रयोग में लाकर मानव प्रकृति तथा परमात्मा दोनों की वास्तविकता को भली भान्ति साक्षात् देख सकता है। पश्चिमी देशों वाले आज कल प्रकृति की खोज में लगे हुए ध्यानावस्थित होकर नाना प्रकार के आविष्कार कर रहे हैं और शारीरिक सुख के कितने ही साधन जुटा रहे हैं, हमारे पूर्वजों ने भी इस खोज में पर्याप्त समय लगाया, इतिहास बतलाता है कि हमारे पूर्वज वायुयान, बेतार के तार, अग्नि शस्त्र-अस्त्र इत्यादि के स्वामी थे, परन्तु, उन्होंने अन्त में देख लिया होगा कि इस भौतिक खोज में न मानसिक शान्ति है न आत्मतृप्ति। तब वह उसकी खोज में निकले, जिस के पास पहुंच कर शाश्वत शान्ति और आत्मतुष्टि मिलती है, और जिस मार्ग पर चलकर उन्होंने यह रत्न पाये, जिस साधना द्वारा वह परम आनन्द पाने में सफल हुए, उसका नाम योगाभ्यास है, उसी को 'उपासना योग' या 'भक्तियोग' कहते हैं।

योग के सम्बन्ध में कितनी ही उपनिषदों में कितने ही पुराणों में और कितने ही अन्य ग्रन्थों में वर्णन आता है, परन्तु दो पुस्तकों में तो केवल योग ही की बात है, हठयोग की क्रियाओं को बतलाने वाली "हठयोग प्रदीपिका" है और राज-योग अथवा उपासना-योग का निरूपण करने वाला ग्रन्थ "योग दर्शन" है। इसी का नाम अष्टांग-योग है, क्योंकि इस में साधक के लिये आठ मञ्जिलों में से गुजरना होता है, (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी योग दर्शन के आदेशानुसार प्रभु-दर्शन पाने का विधान किया है। वैसे योग शब्द के अन्दर तीन प्रकार का योग आता है:—

उपासना योग, कर्मयोग और ज्ञानयोग। बिना

ज्ञान के शुभ अथवा अशुभ कर्म का विवेक होना कठिन है और बिना शुभ कर्म के उपासना में चित्त का टिकना कठिन है, अतएव जब उपासना योग की बात कही जाती है तो सम्यक् ज्ञान और निष्काम शुभ कर्म की बात साथ ही आ जाती है।

योग दर्शन चार भागों या पादों में विभक्त है॥ पहला समाधिपाद है, जिसमें समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिये उपयोगी योग की क्रियायें लिखी हैं। दूसरा साधनपाद है जिसमें पूरे अष्टांग योग का वर्णन है और सर्व साधारण के लिये क्रियात्मक साधन बतला दिये गये हैं। तीसरा विभूतिपाद है जिस में नाना प्रकार के संयम करने से नाना प्रकार की उनचास (४९) सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। और चौथा कैवल्य पाद है जिसमें आत्मा तथा चित्त के भेद का साक्षात्कार करने की बात बतला कर स्वरूप स्थिति या मुक्ति का आनन्द पाने का साधन बतलाया है। यह सारा दर्शन पूरा वैज्ञानिक शास्त्र है, यह कोरी युक्तियों का ग्रन्थ नहीं, अपितु पूर्ण रूप से क्रियात्मक विज्ञान (Practical Science) से भरपूर है, परन्तु इस से लाभ वही उठा सकते हैं, जो इस ग्रन्थ के कर्ता ऋषि पतंजलि मुनि के अनुभवों पर आचरण करेंगे। केवल पढ़ लेने या इस के १९५ सूत्र रट लेने से योगविद्या का यथार्थ और पूरा लाभ नहीं हो सकता।

कुछ लोग योगदर्शन के विभूति पाद की बातों पर शङ्का करते हैं जिस में सिद्धियों का वर्णन है, परन्तु महर्षि दयानन्द ने तो इन सिद्धियों से कभी इनकार नहीं किया, अपितु उनकी पुष्टि की है, और यजुर्वेद भाष्य के कितने ही स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में सिद्धियों की बात लिखी है। विभूति पाद के १३–१४ १५–तथा १६ वें सूत्र में यह बतलाया है कि इन्द्रियों और पंच भूतों और तीन गुणों में जो परिमाण होते हैं, उनमें संयम करने से भूत भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है और महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य में चौंतीसवें अध्याय के चौथे मन्त्र—येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्...का भावार्थ यह लिखा है:—

हे मनुष्यो! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का ज्ञाता सब सृष्टि का जाननेवाला कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही प्रिय करो।"

शिव संकल्प के इसी मन्त्र का अर्थ महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में यह लिखा है:-

"हे जगदीश्वर! जिस (मन) से सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्य, वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान क्रिया है, पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन योगविज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे।"

इन अर्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संयम (धारणा ध्यान समाधि) द्वारा योगी तीनों कालों का जाननेवाला हो सकता है। शंका हो सकती है कि त्रिकालज्ञ तो परमात्मा है जीव कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि परमात्मा सर्वज्ञ है, इस लिये उस का ज्ञान भी सर्वज्ञ है, परन्तु जीव तो अल्पज्ञ है इस लिये उसकी त्रिकालज्ञता भी अल्पज्ञता के बन्धन में ही बंधी रहेगी, इसलिये योगी के त्रिकालज्ञ होने में कोई आपत्ति नहीं आ सकती, और न ही योग की सिद्धि में कोई बाधा पड़ती है, और महर्षि दयानन्द ने भी इसीलिये इसका समर्थन किया।

इसी प्रकार से दूसरी सिद्धियों को भी महर्षि ने माना है, यजुर्वेद भाष्य ही में महाराज लिखते हैं—

"योग जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम-नियम आदि योग के अङ्गों से चित्त आदि अंतःकरण की वृत्तियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों को सिद्ध करें॥

(अध्याय सात मंत्र ४ का भावार्थ)

—यजुर्वेद सप्तदश अध्याय के ६७ वें मन्त्र—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम्.........

अर्थ महर्षि यह लिखते हैं कि हे मनुष्यो के जैसे किये हुए योग के अङ्गों के अनुष्ठान संयमसिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण मैं पृथिवी के बीच आकाश को उठ जाऊं वा आकाश से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊं वा सुख करानेहारे

प्रकाशमान इस सूर्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊँ, वैसा तुम भी आचरण करो।" और इसका भावार्थ महर्षि ने यह लिखा है—

"जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे कहीं से न रुकनेवाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार इससे अगले मंत्र "स्वर्यन्तो नापेक्षन्त" का अर्थ इस प्रकार महर्षि करते हैं—"जो पंडित योगी जन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुये के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं, वा आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते अर्थात् लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते वा प्रकाशमय योगविद्या और सब ओर से सुशिक्षायुक्त वाणी है, जिससे प्राप्त करने योग्य उस यज्ञादि कर्म का विस्तार करते हैं, वे अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं १७।६८।"

यह विभूतिपाद की सिद्धियों ही का समर्थन है, यही नहीं अपितु परकाया प्रवेश की बात भी यजुर्वेद भाष्य में लिखी है महाराज यजु० अ० १७ मंत्र ७१ के भावार्थ में लिखते हैं:—

"जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग धारण, ध्यान समाधि रुप संयम) के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता है। उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये।"

यह परकायाप्रवेश मानसिक है या सूक्ष्म शरीर द्वारा यह बात यहां स्पष्ट नहीं, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि योगी योगबल द्वारा दूसरों से अपनी इच्छानुसार कार्य करा सकता है॥ (क्रमशः)

सांख्य और योग में बन्ध और मोक्ष

[ले०—श्री स्वा० ओमानन्द जी महाराज, पुष्कर]

सांख्य और योग में तीन प्रकार का बन्ध और तीन प्रकार का मोक्ष बतलाया गया है।

त्रिविधो बन्धः॥ १९॥

त्रिविधो मोक्षः॥ २०॥

(सांख्य तत्त्व समास)

बन्ध तीन प्रकार का है, वैकृतिक (वा वैकारिक), दाक्षिणिक और प्राकृतिक। जो योगी वितर्कानुगत वाली प्रथम भूमि में आत्म-साक्षात्कार से शून्य केवल भूत, इन्द्रिय, मन आदि १६ विकारों में ही आसक्त हो रहे हैं अथवा राजसी प्रकृति वाले मनुष्य जिनके कर्म सतोगुण तमोगुण, दोनों से मिश्रित हैं, वे इन वैकृतिक वासनाओं के आधीन उसी भूमि में मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध वैकृतिक वा वैकारिक कहलाता है।

जो विचारानुगत भूमि में आत्म-साक्षात्कार से शून्य रहकर केवल सूक्ष्म विषयों में ही आसक्त हो रहे हैं तथा जो आत्म-साक्षात्कार से शून्य रहकर फल-कामना के आधीन होकर केवल सकाम इष्ट पूर्त आदि परोपकार और अहिंसात्मक सात्त्विक कर्मों में लगे हुये हैं, वे इन सात्त्विक वासनाओं के आधीन होकर दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोक अर्थात् सात्त्विकता के तारतम्यानुसार 'सांख्य-तत्त्व' समास सूत्र १८ तथा उपनिषदों में बतलाई हुई देव सर्गों में सात्त्विक वासनाओं का फल भोग कर आत्म-साक्षात्कार के लिये अपनी पिछली भूमि की योग्यता को लिये हुये मनुष्य लोक में फिर जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध दाक्षिणिक कहलाता है। (देखो पा० यो० प्रदीप विभूति पाद सूत्र ३९ का विशेष वक्तव्य)। सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम भूमि

आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को प्राप्त किये हुये योगी जो आत्म-साक्षात्कार से शून्य रहकर केवल इन भूमियों के आनन्द में आसक्त रहते है और विवेकख्याति द्वारा स्वरूपावस्थिति का यत्न नहीं करते हैं, वे शरीर त्यागने के पश्चात् इन वासनाओं के आधीन लम्बे समय तक विदेह और (अस्मिता) प्रकृतिलय अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति में रहकर आत्म-साक्षात्कार के लिये पानी में डुबकी लगाने वाले पुरुष के सदृश फिर उठते हैं, अर्थात् उच्चकुल वाले योगियों के घर में अपनी पिछली भूमि की योग्यता को प्राप्त किये हुये फिर जन्म लेते हैं, (देखो समाधिपाद सूत्र १८, १९)। इनका बन्ध प्राकृतिक बन्ध है। अर्थात् आत्म-साक्षात्कार से शून्य रहकर वितर्कानुगत भूमि में आसक्त हुये योगियों का बन्ध वैकृतिक, विचारानुगत में आसक्त हुये योगियों का बन्ध दाक्षिणिक और आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमियों में आसक्त हुये योगियों का बन्ध प्राकृतिक कहलाता है।

इन तीनों बन्धों से छूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। स्थूल विषयों से आसक्ति हटाना तथा राजसी, तामसी वासनाओं का छोड़ना वैकारिक बन्ध से मोक्ष है। सूक्ष्म विषयों से आसक्ति हटाना तथा सात्त्विक कार्यों में निष्काम भाव होना दाक्षिणिक बन्ध से मोक्ष है। आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमि के आनन्द में आसक्ति से पर-वैराग्य द्वारा चित्त को हटा कर—स्वरूपावस्थिति का लाभ प्राप्त करना प्राकृतिक बन्ध से मोक्ष है।

ऊपर तीन प्रकार का बन्ध और मोक्ष दिखलाकर यह बतला देना आवश्यक हो जाता है कि बन्ध और मोक्ष किसको होता है। उसका क्या स्वरूप है और किस कारण से होता है। तथा नास्तिकों को इस शंका का समाधान कर देना उचित प्रतीत होता है कि यदि संसार की उत्पत्ति करने वाला कोई ईश्वर माना जाता है तो जीवों के बन्ध और दुःखों का उत्तरदायित्व भी उसी पर आ जाता है।

दो अनादि तत्त्व

सांख्य और योग में चेतन और जड़ दो अनादि तत्त्व माने गये हैं। पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय, असंग, निर्लेप और कूटस्थ नित्य है। और जड़ तत्त्व (सत्त्व, रजस्, तमस्) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। सत्त्व प्रकाश हल्का, सुख, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वभाव वाला है। तमस्—भारी, अन्धकार, मोह, अज्ञान, अवैराग्य और अधर्म स्वभाव वाला है। रजस्—क्रिया, गति, चंचलता और दुःख स्वभाव वाला है। इन तीनों के सरूप अर्थात् साम्य परिणाम की अवस्था का की नाम मूल प्रकृति है। जो केवल अनुमान और आगमगम्य है। चेतन तत्त्व की सन्निधि से इस जड़ तत्त्व में एक प्रकार का विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है।

अवरोहणक्रम (Descent)

(१) महत्तत्त्व—पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व है। सत्त्व में रजस् क्रिया मात्र और तमस् का उस क्रिया को रोकना मात्र है। यह महत्तत्त्व सत्त्व की विशुद्धता से समष्टि रूप में विशुद्ध सत्त्व-मय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहंकार बीज रूप से रहता है जो ईश्वर का चित्त है, और अपने व्यष्टि रूप में सत्त्व चित्त कहलाता है, जो अनन्त है। इन अनन्त सत्त्व चित्तों से व्यष्टि अहंकार बीजरूप से रहते हैं। ये जीवों के चित्त कहलाते हैं। चेतन तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश डालने की और महत्तत्त्व में इस ज्ञान के प्रकाश को लेने की अनादि योग्यता चली आ रही है। उदाहरण थोड़े ही अन्शों में घटा करता है, किन्तु चेतन तत्त्व और महत्तत्त्व जैसी कोई भी वस्तु भौतिक संसार में उदाहण देने के लिये नहीं मिल सकती। इसलिये पारिभाषिक उदाहरणों से इन दोनों तत्त्वों की सन्निधि बतलाने के विषय को समझ लेना चाहिये। इनके लौकिक अर्थों पर नहीं जाना चाहिये।

योग का उदाहरण

जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब अनन्त जलाशयों में पड़ रहा है, इसी प्रकार चेतन तत्त्व के ज्ञान का प्रकाश समष्टि विशुद्ध सत्त्व-मय चित्त में तथा व्यष्टि सत्त्वों चित्तों में पड़ रहा है। यथा:—

एक एव तु भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः
क्षेत्रेष्वेवमजोऽप्ययमात्मा ॥

अर्थः—एक ही भूतात्मा भूत भूत में विराज रहा है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल में अनेक होकर दीखता है, उसी प्रकार वह आत्मा (चेतन तत्त्व) भी अनेक रूप में प्रतीत हो रहा है।

जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न भिन्न जलाशयों में अनेक होकर दीखता है यह भेद उसका केवल उपाधि के कारण है, उसी प्रकार अनादि परमात्म देव (चेतन तत्त्व) क्षेत्र-भेद से अनेक रूप में दिखाई दे रहा है।

सांख्य का उदाहरण

जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया होती है, इसी प्रकार चेतन तत्त्व की सन्निधि से समष्टि तथा व्यष्टि चित्तों में ज्ञान-नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ॥

अर्थः—जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा (आप से आप) गतिशील होता है, वैसे ही सत्ता मात्र देव (चेतन तत्त्व) से जगत् की उत्पत्ति आदि होती है। इस कारण परमात्मा (चेतन तत्त्व) में कतृत्व और अकतृत्व भी अच्छी प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होने से अकर्ता और सामीप्य मात्र से कर्ता है।

उपनिषदों का उदाहरणः—जिस प्रकार वायु सारे भुवनों में व्यापक हो रहा है, वैसे ही चेतन तत्त्व समष्टि तथा व्यष्टि चित्तों में व्यापक हो रहा है। यथा

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्त-
रात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

अर्थः—जैसे एक ही अग्नि सारे भुवनों में प्रविष्ट होकर प्रतिरूप हो रहा है, इसी प्रकार एक ही आत्मा (चेतन तत्त्व) जो सब भूतों के भीतर है, रूप रूप में प्रतिरूप हो रहा है। जैसे एक ही वायु सारे भुवनों में प्रविष्ट होकर रूप रूप में प्रतिरूप हो रहा है, इसी प्रकार एक ही आत्मा जो सब भूतों के भीतर है, रूप रूप में प्रति रूप हो रहा है और बाहर भी है।

महत्तत्त्व के ज्ञानस्वरूप चेतन तत्त्व से प्रकाशित होने को गीता में अति सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है। है यथा

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (९-१०)
मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (१४-३)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (१४-४)

अर्थः—हे अर्जुन! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत् को रचती है, इसी कारण सारा जगत् परिवर्तित हो रहा है। हे अर्जुन। मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) महत्तत्त्व है, उसी में मैं गर्भ रखता हूँ (अपने ज्ञान का प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड़ चेतन के संयोग) से सब भूतों की उत्पत्ति हो रही है।

हे अर्जुन। सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब की योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीज को डालने वाला मैं चेतन तत्त्व पिता हूँ॥

(क्रमशः)

जीवन

(ले०—श्री० डा० मुंशीराम जी शर्मा एम० ए० पी० एच० डी० डी० लि०, कानपुर)

जीवन की विशालता, जीवन की गम्भीरता, जीवन की सबलता, और जीवन की विचित्रता क्या आजतक किसी की समझ में आ सकी है ? जीवन कब से प्रारम्भ हुआ है, इसे कोई नहीं जानता। जिसके आदि का पता नहीं, उसके अन्त का भी क्या पता है ? जीवन कितनी गहराई तक कार्य कर रहा है, इसका पता भूखे वैज्ञानिक और पिपासाकुल दार्शनिक को तुरन्त मिल जाता है। इसमें कितनी शक्ति है, इसका ज्ञान पत्थरों को फोड़ कर उगते हुये अंकुरों से पूछिये और इसमें कितनी विचित्रता है, यह प्राणियों के विविध रङ्ग रूपों से पहचानिये।

जीवन मिट्टी को गति देता है। जीवन न हो तो मिट्टी क्या कर सकती है ? मिट्टी, ईंट, सीमेण्ट, बालू, गारा, राखी, चूना सब बेकार पड़े रहेंगे, यदि जीवन न हो। जीवन के हाथ इनको रूप प्रदान करते हैं, इनको एकत्र करते हैं, एक क्रम देते हैं और व्यवस्थित ढङ्ग से इन्हें एक दूसरे के ऊपर रख कर सुन्दर भवन का निर्माण कर देते हैं। यह रूप, यह सौन्दर्य मिट्टी में नहीं था। जीवन ने उसे यह प्रदान किया।

शरीर मिट्टी है—निरी मिट्टी—पर जीवन इसके अन्दर बैठ कर इसे मिट्टी ही नहीं रहने देता। वह इसे चेतना देता है, गति देता है, दर्शनीय बनाता है और दूसरी मिट्टी तथा जीवन के साथ इसका मेल कराता है। जीवन जब तक शरीर के अन्दर है, तभी तक यह शरीर इस रूप को रख सकता है। जीवन के निकलते ही यह रूप भी बिखर जायगा। जीवन के रहते हाथ कलम पकड़ता है, कागज पर कुछ लिखता है, आँख उसे देखती है और पढ़ती है। जीवन रसना को बोलने की शक्ति प्रदान करता है, कानों को सुनने का सामर्थ्य। पैरों में चलने का बल जीवन से ही आता है। धमनियों में रक्त-संचरण, हृदय का स्पन्दन, और मस्तिष्क का चिन्तन सब जीवन की देन है। जीवन के निकलते ही शरीर समस्त अवयवों के कार्य अवरुद्ध हो जाते हैं।

जीवन सब का आधार है, रक्षक है। बाहर का वातावरण न जाने कितनी बार धक्के नहीं देता, कितने आघात और उनसे उत्पन्न कितने घाव हम प्रतिदिन अनुभव नहीं करते ! पर धन्य है, इस अन्दर बैठे हुये जीवन को। यह वैद्य और औषध दोनों का कार्य करता है। धक्कों को झेलता है, आघातों को सहन करता है और घावों की मलहम पट्टी करके उन्हें पूर देता है। कभी-कभी बाहरी वातावरण के साथ सामंजस्य भी कर लेता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों इसके अन्दर हैं।

जीवन व्यष्टि और समष्टि, इकाई और विश्व, सबके मूल में है, यही इन सबका संचालक है। वही प्राण और अपान के रूप में दिखाई देता है—एक ओर अस्तित्व को स्थिर रखता है तो दूसरी ओर उसके मार्ग में आने वाले विघ्नों का अपनयन भी करता है। सुरक्षा और स्वस्तिमत दोनों का यही कारण है। इसी से दुःख का दमन और सुख का संचय होता है। जीवन की यह द्विविध क्रिया व्यक्ति और प्रकृति दोनों स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। सत्ता का एकमात्र हेतु जीवन है। ऐसे जीवन को बार-बार नमस्कार॥

'पश्येम' और 'जीवेम' का सम्बन्ध

[ले०—श्री० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम.ए., प्रयाग]

एकदा व्याख्यान देते हुये मुझसे यह प्रश्न किया गया कि संध्या के मंत्रों में पहले कहा 'पश्येम शरदः शतम्' फिर कहा 'जीवेम शरदः शतम्'। प्रार्थना का यह क्रम ठीक नहीं हैं। 'जीना' पहले होता है और 'देखना' पीछे। जब जियेंगे ही नहीं तो देखेंगे कैसे ? जीवन पहले है और आखें पीछे। मैंने इसका क्या समाधान किया उसी को यहाँ लिख रहा हूँ।

'जीवेम' का यहाँ अर्थ साधारण जीवन नहीं है। प्रार्थना करने वाला जीवित तो है ही, तभी तो प्रार्थना कर रहा है। साधारण जीवन सौ वर्ष का हो या एक वर्ष का। उससे केवल काल की सूचना मिलती है, जीवन के स्वरूप की नही। केवल मनुष्य ही नहीं जीता। सभी प्राणी जीते हैं।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। 'शरदः शतम्' काल वाचक पद अवश्य है। परन्तु काल तो सामान्य वस्तु है। इसीलिये सांख्य दर्शन में आरंभ में ही कह दिया कि—

'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्' अर्थात् धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सुख, दुःख आदि का सम्बन्ध मुख्यतः काल से नहीं है। कलियुग या सतयुग, शरद् या ग्रीष्म, २५ वर्ष या ३० वर्ष इस प्रकार के कालसूचक शब्द जहाँ कहीं मिलते हैं, वे मुख्य नहीं गौण हैं। वे किसी अन्य गुण या योग्यता की अपेक्षा रखते हैं। जहां कहा कि २५ वर्ष की आयु में विवाह करे, वहाँ 'यौवन' का गुण मुख्य है। २५ बार पृथिवी का सूर्य्य के चारों ओर घूम जाना गौण। ५० वर्ष के पश्चात् वनी हो, यहां भी ५० वर्ष की संख्या गौण है, मुख्य है आत्मोन्नति के स्तर का स्वरूप। अर्थात् इतना वैराग्य हो जाना कि गृहस्थोत्तर-विधि का पालन कर सके। हमारे कार्य, हमारी मर्य्यादायें, हमारे जीवन के विधान यह सब हमारे आत्म-अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, पृथिवी की चाल या घड़ी की सुइयों से नहीं। छठे मास अन्नप्राशन करे। यहां १८० दिन गौण हैं ? मुख्य नहीं। यदि बच्चा इतना रोगी है कि १८० दिन के पश्चात् अन्न नहीं पचा सकता तो अन्नप्राशन के लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये। पृथिवी की परिक्रमा या घड़ी की सुई हमारे विकास की प्रतीक्षा नहीं करती। हम उसके साथ अनुकूलता करें या न करें।

अतः पहली बात तो यह है कि 'शरदः शतम्' आदि काल-सूचक शब्द गौण हैं, मुख्य नहीं। मुख्य तो विधिवाक्य है 'जीवेम' (विधि लिङ्)। विधि सदैव कर्तव्यता बताती है। आचार्य जैमिनि महाराज लिखते हैं—

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्। (पूर्वमीमांसा १। १। २५)।

अर्थात् हम किस प्रकार जीवें ? जीवन एक यज्ञ है। हम यजमान हैं। हम जीवन के अधिकारी हैं। अधिकारी के लिये योग्यता की आवश्यकता है। हर यज्ञ के अपने अपने धर्म हैं, जिनके द्वारा यज्ञ की पूर्ति होती है। जीवन-यज्ञ के भी धर्म हैं। 'जीवन' का अर्थ केवल सांस लेना या खाना पीना नहीं है। जीवन की एक विधि है। जो विधिवत् जीवन नहीं, वह मानवजीवन नहीं। उसके लिये प्रार्थना की आवश्यकता नहीं। यदि जीवन विधिवत् बनाना है तो विधि के ज्ञान की आवश्यकता होगी। इसलिये जीवन की विधि की स्कीम या प्लान बनाने से पूर्व ज्ञान की आवश्यकता होगी। पशुजीवन ज्ञान के विना संभव है। परन्तु मनुष्यजीवन नहीं। यदि आप स्वास्थ्य को नियमित बनाना चाहते हैं तो आपको आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान आवश्यक होगा। यदि आप धार्मिक बनना चाहते हैं तो धर्मशास्त्र को पढ़ना होगा। जीवन का कोई विभाग जिस पर मनुष्य का अधिकार है, विना ज्ञान के संभव नहीं। अतः 'पश्येम' का अर्थ केवल देखना नहीं अपितु सभी प्रकार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में आंख, कान, नाक आदि सभी शामिल हैं, अतः 'पश्येम' में भी ऐसा ही समझना चाहिये। इस लिये 'जीवेम' का अर्थ होगा 'धर्मपूर्वक जीना'।

'आत्मा' का साधारण लक्षण यह किया है—जिसमें 'कर्तुम्' 'अकर्तुम्' 'अन्यथाकर्तुम्' की शक्ति हो। कर भी सके, न भी कर सके और उलटा भी कर सके। इसलिये निर्वचन करना होगा। क्या करूं, क्या न करूं, इसके लिये ज्ञान की आवश्यकता होगी। अर्थात् आंखें खोलकर जियो। आंखें बन्द करके नहीं। धारा पर बहो नहीं, धारा पर तैरो। तैरने के लिये प्रयत्न करना होगा।

एक बात और कही है। मंत्र के पहले भाग की 'पश्येम' आदि वाक्यों के साथ एकवाक्यता है, पहले वाक्य में 'शुक्र' का उल्लेख है। क्या 'शुक्र' चक्षु का विशेषण है? यदि ऐसा मानोगे तो एकवाक्यता व स्पष्ट न होगी। शुक्र का अर्थ है बीजशक्ति (Potentiality) जो जन्म के साथ ईश्वर हर प्राणी में देता है। उस बीज-शक्ति का विकास करना मनुष्य का कर्तव्य है। आंख का विकास करके मनुष्य अच्छा द्रष्टा होता है। हर एक आंख वाला देख नहीं सकता। वेद ने कहा 'पश्यन् न ददर्श'। देखता हुआ नहीं देखता। 'शृण्वन् न शृणोति' (सुनता हुआ नहीं सुनता)। अतः हम को अपनी शक्तियों का पहले विकास करना पड़ेगा। फिर उस विकसित शक्तियों का हम जीवन-निर्माण में उपयोग कर सकेंगे।

सारांश यह है कि इस प्रार्थना में जीवन-विकास के मूल तत्त्वों की ओर संकेत हैं। पांच बातें बताईं। पश्येम, जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम और अदीनाः स्याम। शृणुयाम का अर्थ है वेद पढ़े, प्रब्रवाम का अर्थ है सुने हुये वेद का दूसरों को उपदेश करे। यदि चार बातें पूरी हो गईं तो अदीनत्व का फल तो मिला रखा है। अदीनता ही स्वातंत्र्य है। अदीनता ही मोक्ष है। अदीनता ही परम धाम है। वही परम पुरुषार्थ है। उस पद के प्राप्ति के यह सब साधन हैं। और सब से पहला साधन है 'पश्येम'॥

गायत्री-मंत्रार्थ-गायन

[पद्यार्थलेखक—श्री पं० अमरसिंह जी आर्यपथिक अरनियां, बुलन्द शहर]

ओम्—भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ यजु० ३६। ३

ओम् हो रक्षक हमारे सब गुणों की खान हो।
अज अमर अद्वैत अव्यय विश्वविद्विद्वान् हो॥
भूः सदा सब प्राणियों के प्राण के भी प्राण हो।
आप हे भगवान्! प्राणीमात्र के कल्याण हो॥
भुवः सब दुख दूर करते आप कृपा-निधान हो।
स्वः सदा सुखरूप सुखमय सुखद सुखधि महान् हो॥
तत् वही सुप्रसिद्ध ब्रह्मन्! वेद-वर्णित सार हो।
देव सवितुः सर्व उत्पादक हो पालन-हार हो॥
शुभ वरेण्यं वरण करने योग्य भगवन् आप हो।
शुद्ध भर्गः मल-रहित भजनीय हो निष्पाप हो॥
दिव्यगुण देवस्य दिव्य-स्वरूप देव अनूप के।
धीमहि धारें हृदय में दिव्यगुण गुणरूप के॥
धियो यो नः वह हमारी बुद्धियों का हित करे।
"अमर" प्रचोदयात् नित्य सन्मार्ग में प्रेरित करे॥

विद्वानों के विचारार्थ—

जीव अपने कर्मों का फल कैसे भोगता है

[ले०—देशरत्न श्री डा० गुरुवक्षराय जी, नई देहली]

कर्म-सिद्धांत पर कई विद्वानों के लेख वेदवाणी में छप चुके हैं। परन्तु किसी भी लेख में इस बात की चर्चा नहीं की गई, कि जीव कर्म कैसे करता है और कर्मों का फल कैसे भोगता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर के पास कौन से साधन हैं, जिनसे वह जीव को उसके कर्मों का शुभ अशुभ फल देता है। जब तक यह बात साफ नहीं होती, कर्मसिद्धांत की बात समझ में नहीं आसकती। यह कारण है कि जो लेख छप चुके हैं, उनमें कई बातें वैदिक सिद्धांतों के प्रतिकूल थीं। कुछ विचार ऐसे भी थे, जिनसे विषय और भी जटिल सा हो गया है। इसलिए मैं इस लेख में यह विचार उपस्थित करता हूँ, कि जीव अपने कर्मों का फल कैसे भोगता है? मेरे विचार आधुनिक अवश्य है, परन्तु वह वैदिक सिद्धांतों के प्रतिकूल नहीं, अनुकूल हैं।

आज कल किसी विषय पर लिखते समय दो बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए (१) संसार बदल गया है और बदल रहा है। आज से सौ वर्ष पहिले जितना समय दिल्ली से अमृतसर जाने में लगता था, आज उससे कम समय में दिल्ली से लंदन पहुँचा जा सकता है। आज हम दूसरे देश की संस्कृति, आचार विचार से प्रभावित हो रहे हैं। हमारे लेख, हमारे विचार केवल उन लोगों के लिए नहीं, जो वेदों को ईश्वर का ज्ञान मानते हैं। हमारे लेख और विचार ऐसे होने चाहियें, जिनसे वह लोग भी प्रभावित हों जो वैदिक सिद्धांतों को नहीं मानते। (२) विज्ञान की प्रगति को भी भूल नहीं सकते। विज्ञान ने प्रकृति के गुप्त भेद खोल दिये हैं। केवल इतना कहने से काम नहीं चल सकता, यह बात वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल है, जब तक हम यह भी सिद्ध न करदें कि हमारी बात विज्ञान की खोज के अनुकूल है।

मेरे इस लेख के आधार यह हैं:—

१. ईश्वर, जीव और प्रकृति और उसके गुण अनादि हैं।

२. सृष्टि के रचने का कारण जीव और प्रकृत्ति के अनादि गुण हैं, ईश्वर की इच्छा नहीं। मुसलमान और ईसाई यह मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा हुई, और सृष्टि रचना हो गई।

३. ईश्वर चेतन शक्ति है, वह सृष्टि का कर्ता है, परन्तु वह न तो सर्वशक्तिमान् है, न सहायक और न ही रक्षक।

४. न्यायकारी तो है, परन्तु दया नहीं करता।

यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् होता, तब सृष्टि की रचना ही न करता, यदि रचना करता सृष्टि और ही होती, कहीं दुःख न होता, पाप न होता। व्यभिचार न होता। ईश्वर सच्चिदानन्द हैं, फिर उसकी बनाई सृष्टि में दुःख, पाप व्यभिचार क्यों? वैर क्यों? संसार में पाप, अत्याचार बहुत है, दुःख बहुत, सुख कम। यह क्यों? इसका एक ही उत्तर है कि सृष्टि के रचने का कारण जीव और प्रकृति के अनादि गुण हैं, जिन्हें ईश्वर भी नहीं बदल सकता।
वैसे तो बड़े-बड़े महात्मा संत और कवि इस विचार धारा को मानते आए हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी एक कथा लिखकर यही माना है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ने बन जाना ही था। कैकेयी केवल निमित्त कारण थी। लोक उक्ति "दाने दाने पर मोहर" भी इसी विचार धारा की पुष्टि करती है। एक मुसलमान कवि ने भी कहा "होता है वही जो मनजूरे खुदा होता है"। परन्तु यह विचार धारा वैदिक धर्म के अनुकूल नहीं। इस विचार-धारा को मानने पर कई शंकाएं उत्पन्न हो जाती हैं। जिसने मुझे कतल किया, परमात्माने उसे मेरे कतल का निमित्त कारण क्यों बनाया? किसी और को क्यों नहीं बनाया? मुझे कतल किस अपराध में करवाया गया, क्या पूर्व जन्म से मैं उस अपराध का, जिसके कारण मुझे कतल किया गया, निमित्त कारण न था? जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। क्या वह कतल नहीं कर सकता। कतल करने में वह स्वतन्त्र नहीं? क्या कैकेयी ऐसा कर्म नहीं कर सकती थी, जिसके कारण राम को वन जाना पड़ता। इस विचारधारा को मानने पर पाप पुण्य की कोई व्यवस्था नहीं रह जाती, कर्म सिद्धांत पर विचार करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता

न दया, न न्याय न दंड की व्यवस्था, जो हो रहा है वह होना ही था। जीव निमित्त मात्र रह जाता है। आशा है कि योग्य सम्पादक महोदय बतायें कि इस विचार धारा के बारे में उनके विचार में वैदिक मत क्या है। जीव शुभ या अशुभ कर्म क्यों करता है? इस प्रश्न के उत्तर में उपाध्याय जी ने यह माना है कि शुभ अशुभ कर्मों का कारण जीव की अज्ञानता है। यह भी बात समझ में नहीं आती। शराबी को ज्ञान होता है कि शराब पीना बुरा है। वह कभी नहीं चाहता कि उसका भाई या बेटा शराब पीए, फिर वह शराब पीता है। व्यभिचार करने वाले को ज्ञान होता है कि व्यभिचार पाप है, उसका फल दुःख होता है। फिर वह व्यभिचार करता है, दुःख भोगते हैं। परन्तु कुकर्म से बाज नहीं रहते। जीव केवल अज्ञानता के कारण ही पाप नहीं करते, ज्ञान होने पर भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर ही पाप और कुकर्म करता जाता है। शुभ कर्मों का कारण तो ज्ञान माना जा सकता है। परन्तु अशुभ कर्मों का कारण केवल अज्ञान नहीं माना जा सकता। अशुभ कर्मों का कारण केवल अज्ञान नहीं मन और इन्द्रिय हैं। मैं तो इस बात को मानता हूं, कि हमको दूसरोंके लिये अच्छे बुरे कर्मों का अच्छा बुरा फल भोगना पड़ता है। कौन नहीं जानता कि कुपुत्र से माता पिता को दुःख होता है, सुपुत्र से सुख। परन्तु इन्द्रियों के वश होकर जीव कई ऐसे कर्म भी करता है जिसका फल उसे आप भोगना पड़ता है कोई और नहीं भोग सकता। इन्द्रियों की अच्छी बुरी चेष्टाऐं जीव आप पैदा करता है, ईश्वर नहीं। मान लो जीव अपनी इन्द्रियां आप बनाता है ईश्वर नहीं बनाता। इस बारे में विज्ञान के आधार पर अपने विचार लिखता हूँ।

श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० अपने लेख कर्म सिद्धान्त, (देखो वेदवाणी अंक ७ वैशाख २०१३ पृष्ठ १६, प्रश्न में लिखते हैं, परमेश्वर दयालु है, क्योंकि कर्मों के फल देने की व्यवस्था इस प्रकार की है, जिससे जीव का हित हो, परमेश्वर के दयालु होने का यह कोई सबूत नहीं, जब भी हम किसी को उसके काम का पूरा पूरा दाम देते हैं, न कम न अधिक हम न्याय करते हैं, दया नहीं। जब हम किसी को उसके अपराध का दंड देते हैं, उसमें न्याय की दृष्टि से हम उस अपराधी का हित ही चाहते हैं। हम चाहते हैं कि वह ऐसा अपराध फिर न करे। उसका उद्धार करते हैं। दंड इसलिये नहीं देते कि अपराधी का अहित हो। ऐसा करना बदला लेना है। बदले की भावना न्याय नहीं कहलाती, वह भी एक अपराध हो जाता है। यदि कर्मों का फल देने की व्यवस्था इस प्रकार की है कि जिससे जीव का हित है यह न्याय है, दया नहीं।

निराकार ईश्वर को किसी की सहायता करते अथवा रक्षा करते न तो किसी ने देखा, नहीं कोई कभी देखेगा। निराकार न ईश्वर ऐसा कभी करता है, नहीं कभी करेगा॥ द्रौपदी की लाज रखनेवाला निराकार ईश्वर न था। साकार योगिराज भगवान् कृष्ण था। यदि कहो कि कृष्ण रक्षा करने का कारण न था, निमित्त मात्र था, या दूसरे शब्दों में द्रौपदी की लाज निराकार ईश्वर ने की और इस काम के लिए ईश्वर ने भगवान् कृष्ण को निमित्त कारण बनाया, यह भी एक भूल है, निराकार ईश्वर किसी भी अवस्था में किसी जीव से कोई कर्म नहीं करा सकता। यदि ऐसा कर सकता, फिर जीव को पाप करने का अवसर ही न रह जाता। ईश्वर सबसे अच्छे कर्म ही करवाता, इस प्रश्न पर चरचा करते हुये कि क्या दूसरे के किये कर्मों का फल हमको मिलता है अथवा नहीं, उपाध्याय जी ने उसी अंक आर उसी लेख में लिखा है कि मित्र हित चिन्तन और शत्रु अहित चिन्तन तो कर सकते हैं, परन्तु न मित्र हित करने में सफल हो सकते हैं न शत्रु अहित करने में, मित्र या शत्रु हमारे सुख दुख के कारण नहीं, निमित्त कारण मात्र हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि मान लो किसी ने मुझे कत्ल कर दिया तो उपाध्याय जी के विचार में हत्या करने वाला हत्या का कारण नहीं, निमित्त मात्र है। अर्थात् मुझे अपने पूर्व कर्मों के कारण कत्ल होना था। निराकार ईश्वर ने साकार कातिल को मेरे कत्ल का निमित्त कारण बनाकर ईश्वरीय फल व्यवस्था के अनुसार मेरे साथ न्याय भी किया और दया भी। कर्म सिद्धान्त में यह भी एक विचार धारा है, जिसमें उपाध्याय जी कह रहे लगते हैं कि जो कुछ भी संसार में अच्छा या बुरा हो रहा है, वह ईश्वर की व्यवस्था के अनुकूल पहले से निश्चय हो चुका है कि जिस आमको जिसके हाथ से लेकर जिस स्थान में बैठकर अथवा खड़ा होकर मैं खा रहा हूँ, वही आम का उसी व्यक्ति के हाथ से लेकर उसी स्थान में उसी अवस्था में मैंने खाना ही था बदलने का किसी भी अवस्था में किसी को ईश्वर को भी क्षमता नहीं, जिसने व्यभिचार किया, उसने व्यभिचार करना ही था, उस व्यभिचार में अबला स्त्री का हित था, न्याय भी क्योंकि उस स्त्री का उसी पूर्व जन्म के कर्मों का फल देने के लिये ईश्वर ने उसे व्यभिचार करनेवाले का निमित्त कारण

बनाया ॥ ईश्वररोय फल व्यवस्था के साथ दया थी।

विज्ञान की भाषा और सर्व-साधारण की भाषा में भारी अन्तर होता है। साधारण बातचीत में जो गंगा में बह रहा है, वह भी पानी है। जो नल से निकल रहा है, वह भी पानी है। जो कूप में है वह भी पानी। परन्तु वैज्ञानिक भाषा और वैज्ञानिक काम के लिए पानी उसी का कहा जाता है, जो $H2^{0}$ हो, जिसमें किसी प्रकार का भी मिश्रण न हो। अधिक स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण देता हूँ किसी स्त्री ने सोने की चूड़ियाँ पहनी हैं। जिसमें २ रत्ती का खोट है। हम बात चीत मे यह नहीं कहते कि उस स्त्री ने २ रत्ती खोट वाले सोने की चूड़ियां पहनी हैं, परन्तु जब हम सराफ से चूड़ियां लेने जाते हैं, तब हमको देखना होता है कि इसमें कितना खोट है। यदि सराफ खोट नहीं बताता अथवा कम खोट बताता है, तब हम कहते हैं कि उसने हमको धोखा दिया है। विज्ञान इससे भी आगे चलता है। वैज्ञानिक काम के लिये, जांच के लिये सोना वही है जो सौ प्रतिशत शुद्ध सोना है। ठीक इसी प्रकार बोल चाल में आप ईश्वर को किस नाम से पुकारें "सर्व शक्तिमान्" 'दयालु' कुछ भी कहें, मुझे कोई आपत्ति नहीं। आप गायें मैं भी आपके साथ झूम-झूम कर गाऊँगा, "जल डूबते गजराज राखे गनका चड़ी विमान"। परन्तु जब हम वैज्ञानिक दृष्टि से प्रभु के गुणों को देखना चाहते हैं, तब हमको सौ प्रतिशत शुद्ध गुणों का ही वर्णन करना होगा। इस कारण ही मैंने कहा है कि मैं प्रभु को सर्वशक्तिमान् और दयालु नहीं मान सकता। मैं ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता किस प्रकार मानता हूँ, इसको साफ करने के बाद ही कर्म सिद्धांत पर आगे कुछ लिख सकता हूँ।

किसी वस्तु के निर्माण के लिए सारी सामग्री के वर्तमान होने पर उस वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता, उसके निर्माण के लिये एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो चेतन भी हो और उसमें उस वस्तु के बनाने की क्षमता भी हो। लोहा पीतल और शीशे के मौजूद होने पर घड़ी-साज घड़ी का निर्माण कर सकता है। जीव और प्रकृति वर्तमान थे, प्रभु ने सृष्टि का निर्माण किया, परन्तु जो वस्तु नहीं थी, उसे वह पैदा नहीं कर सकता था। न ही जो वस्तु वर्तमान थी, उसका विनाश ही कर सकता था। "नासतो विद्यते भावा नाभावा विद्यते सतः"। जीव और प्रकृति के जैसे गुण थे, वैसी ही सृष्टि की रचना हुई। इसमें कोई हेर फेर करने की प्रभु में भी क्षमता नहीं थी और न है।

घड़ी को बना कर घड़ीसाज उसे किसी दूर देश में बेचने के लिए भेज देता है, हम उस घड़ी को खरीद लेते हैं। उसके साथ घड़ीसाज को नहीं खरीदते। चाभी देने पर घड़ी टिक टिक कर चलती रहती है, और समय देती रहती है। हमको जानने की भी आवश्यकता नहीं होती कि उस घड़ी को किस व्यक्ति ने बनाया है, और न ही हमको घड़ी बनाने वाले की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मा ने सृष्टि रचकर चला दिया। अब यह सृष्टि अपने आप चल रही है। ब्रह्मा की अब आवश्यकता नहीं, वह अब विष्णु का रूप धारण कर आराम से क्षीर-सागर में शेष नाग पर सोते रहें, घड़ी के बिगड़ने पर ही किसी घड़ी साज की आवश्यकता होगी। प्रलय आने पर ही फिर ब्रह्मा की आवश्यकता होगी, फिर वह उठ कर यथा-पूर्व सृष्टि का निर्माण करेंगे।

राजा नियम बनाता है। राज कर्मचारी उनका पालन करते हैं, राजा हस्तक्षेप नहीं करता। हस्तक्षेप तभी करेगा जब राजा स्वयं पक्षपाती होगा, अथवा उसके कर्मचारी सचाई से काम न करते रहेंगे, ईश्वर के विधान में ऐसी गड़बड़ नहीं हो सकती, हर एक देवता हर एक शक्ति ईश्वर के नियमों का यह पालन कर रहा है, संसार सब अपने आप चलरहा है, इसको चलाने के लिये हेरफेर की आवश्यकता नहीं। जो कर्म हम करते हैं, उसका फल अपने आप हमको मिलता जाता है। आज मैं आग में कूद पड़ूं, मैं जल जाऊंगा, मुझे बचाने के लिए भगवान् दौड़ कर नहीं आसकते। अग्नि देवता का धर्म है जलाना। ईश्वर ने आप उसकी इस शक्ति को स्वीकार किया है। फिर वह इसमें हस्तक्षेप क्यों करें!

मानलो मैं आम चूस कर उसकी गुठली को भूमि पर फेंक देता हूं। वह मिट्टी में दब जाता है। वर्षा में उससे आम का पौदा फूटकर बाहर आ जाता है क्या कोई यह मान सकता है कि ब्रह्मा उस गुठली में बैठकर पौदे को बनाकर बाहर निकाल देता है। क्या हम यह मानते हैं कि वह माता के गर्भ में बैठकर शिशु का निर्माण करता है। वनस्पति शास्त्र से हम जान सकते हैं कि किस प्रकार गुठली में आम का पौदा बनता है, किस प्रकार से एक फूल लाल एक फूल पीला होता है। हम यह भी बता सकते हैं कि

किस प्रकार रज और वीर्य के मिलने से धीरे धीरे प्रत्येक अंग और फिर बच्चे का निर्माण हो जाता है। ब्रह्मा अब इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। उसने एक बार सृष्टि का चक्र घुमा दिया है, अब यह अपने आप चल रहा है। इसी चक्र में मनुष्य कर्म करता है और अपने आप उसका फल भोगता जाता है।

श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय यह नहीं मानते कि हमारे समाज के किये अथवा दूसरे के किये अच्छे या बुरे कर्मों का फल हमको मिलता है।

मैं यह नहीं मान सकता। किसी ने भूल की थी, कांग्रेस ने, मुसलिम लीग ने, या अंग्रेजों ने जिसके फल-स्वरूप भारत का विभाजन हुआ, उसका अच्छा बुरा फल न केवल हम भुगत रहे हैं, आने वाली नसलें भी उससे बच नहीं सकती। यह कह देना कि विभाजन के कारण जिनका नुकसान हुआ, उनको उनके अपने किये कर्मों का फल मिला है, ठीक नहीं। मानलो किसी ने एक पुरुष को कत्ल कर दिया। उसकी पत्नी विधवा हो गई, बच्चे अनाथ। अब यह कहा जाय कि उन सबने अपने ही किये कर्मों का फल पाया है। फिर कातल को दण्ड क्यों दें? उसका क्या अप-राध रह जाता है? पाप वह है जिससे किसी को दुःख हो। जब हम यह मान लें कि दूसरे के किये कर्म का फल हमको नहीं मिल सकता फिर पाप रह ही नहीं जाता। हां कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका फल करने वाला ही भोगता है दूसरा नहीं भोग सकता।

श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय ने स्वयं यह इच्छा की है कि उनके लेख की खुले दिल से मीमांसा की जाय और वे कृतज्ञतापूर्वक उसपर ऊहापोह करेंगे। मुझे खेद है कि मेरा लेख कुछ लम्बा हो गया है। इस कारण इसे यहीं बन्द करता हूं। इस पर उपाध्याय जी ने फिर अपने विचार लिखे तब फिर जिन और बातों का मेरा उनके साथ मतभेद है, उसपर अपने विचार लिखूंगा॥

[यह लेख हम लेखक के विशेष आग्रह से विद्वानों के विचारार्थ पूर्वपक्ष के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इस लेख में प्रदर्शित बहुत से विचार वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं, और इन सबका प्रायः समाधान 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के वेदवाणी में छपे पूर्व के लेखों से हो जाता है। आशा है लेखक महोदय उनपर पुनः गम्भीरता से विचार करने का कष्ट करेंगे—सम्पादक]

वेद-मन्त्रों का विपरिणमयितव्यत्व

[*ले०—श्री पं० रामशंकर जी भट्टाचार्य, वाराणसी*]

उपर्युक्त शीर्षक में श्री नन्दकिशोर जी का एक लेख "सिद्धान्त" के वर्ष १५ अंक १-२ में मुद्रित हुआ है। ऊहा संबन्धी जो चर्चा उन्होंने की है, उस पर अधिकारी विद्वान् को प्रकाश डालना चाहिए।

इस लेख में उन्होंने प्रसंगतः एक प्रश्न किया है—"क्या 'मधुवाताः' में 'व' को द्वित्व करने का व्याकरण का कोई नियम है, क्योंकि यहां कुछ लोग 'मधुव्वाताः' पढ़ते हैं ?"।

इसका उत्तर यहां दिया जा रहा है। वैदिक पाठाभ्यास पर मेरी गति नहीं है और न मैंने किसी परम्परा से वेद को पढ़ा है, अतः अपनी परिमित जानकारी के अनुसार ही कुछ लिख रहा हूँ। यदि विद्वान् इस विचार को आगे बढ़ाएंगे तो सब को प्रसन्नता होगी।

'मधुवाताः' में व के द्वित्व के लिये कोई नियम ज्ञात नहीं है। प्रकृत बात यह है कि 'मधुवाताः' में वकार का द्वित्व नहीं है, वहाँ वकार गुरु है और इस गुरुत्व को दिखाने के लिये लिपि में दो 'व' लिखे जाते हैं। यह बात मुझे याज्ञवल्क्य शिक्षा की अमरनाथ शास्त्रीकृत शिक्षावल्ली विवृति टीका से ज्ञात हुई है (पृ० ११३)। यथा—

याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है—

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघुतरः॥

(पृ० ११२ अमरनाथ शास्त्रि संस्क०) अर्थात् पदादिस्थ वकार गुरु, पदमध्यस्थ वकार लघु तथा पदान्त का वकार लघूतर माना जाता है।

शुक्लयजुः संहिता के प्रथम मन्त्र में पठित 'वायवस्थ' इस प्रयोग में 'वकार' पदादि होने के कारण गुरु है (गुरु = सुसंस्पृष्टता से उच्चारणीय)। उच्चारण की इस गुरुता को दिखाने के लिये ही 'व्वायवस्थ' ऐसा लिखा जाता है—

अत एव सुसंस्पृष्टकरणे कालविलम्बप्रदर्शनार्थम् वकारद्वयं लिखन्ति सम्प्रदायविदः' (पृ० ११३)—

यह शास्त्री जी की व्याख्या है। पदमध्यस्थ वकार लघु है, अतः उसके उच्चारण को दिखाने के लिये द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं होती। कभी-कभी लघु वकार को गुरु माना जाता है। यह विषय लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा में भी आया है। 'य' का उच्चारण-भेद दिखाने के लिये वैदिक ग्रन्थों में 'य' ऐसी लिपि का प्रयोग किया जाता है, यह प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यह जाना जाता है कि यहां 'व' का द्वित्व नहीं है, 'व' का गुरु उच्चारण किया जाय, इसलिये 'व्व' ऐसा लिखा जाता है। इस प्रकार गुरु उच्चारण करना कठिन ही है, अतः आधुनिक वेदपणी यदि यथार्थतः वकार को द्वित्व करके ही स्पष्टतः उच्चारण करते हैं तो पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार वह उच्चारण का अर्थ कदापि द्विरुच्चारण नहीं है।

ऊह के विषय में श्री झा जी के आग्रह को देखकर यह निवेदन करने की इच्छा होती है कि ऊह संबन्धी पर्याप्त पुष्कल विचार भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य टीका में किया है (पस्पशाह्निक व्याख्या में)। इस टीका का थोड़ा अंश मुद्रित हुआ था, उसमें मैंने यह विचार देखा था। शायद उसको देखने से झा जी को कुछ सामग्री मिले, इसलिये यह सूचना दे रहा हूँ॥



वेद का पढ़ना पढ़ाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥ ऋषिदयानन्द ॥

विविध समाचार

संस्कृत आयोग के सुझावों के कार्यान्वय का प्रश्न

नई दिल्ली, २९ जून। भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की एक विज्ञप्ति में बताया गया है कि संस्कृत आयोग के इस सुझाव पर कि पूरे देश में परम्परागत संस्कृत शिक्षा की एक-सी पद्धति चलनी चाहिये, भारत सरकार विचार कर रही है।

देश भर में फैली संस्कृत पाठशालाओं की विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम और उनमें लगनेवाले समय में एकरूपता ले आने से तरह-तरह की पद्धतियों और उपाधियों को एक करने में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही उन पण्डितों की वे कठिनाइयाँ भी दूर हो जायँगी जो देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले उपाधि-पत्रों के सम्बन्ध में नियमों के अभाव के कारण हैं। इस तरह की एकरूपता से छात्रों और विद्वानों को देश भर में पढ़ने और पढ़ाने के लिए इधर-उधर जाने की सुविधा भी हो जायगी।

भारत सरकार ने संस्कृत की शिक्षा देनेवाली उन सभी प्राइवेट संस्थाओं से आवेदन-पत्र माँगे हैं, जो अपनी परीक्षाओं को सरकार से मान्यता दिलाना चाहती हैं॥

उत्तर-प्रदेश में संस्कृत-शिक्षा का पुनर्गठन

राज्य सरकार द्वारा जाँच समिति नियुक्त

लखनऊ, ५ जुलाई। उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्य में संस्कृत शिक्षा की वर्त्तमान स्थिति और उसकी आवश्यकताओं की जाँच करने के लिये आठ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की है, जो अपनी जाँच का प्रतिवेदन सरकार के समक्ष एक मास के भीतर प्रस्तुत करेगी।

समिति का मुख्य कार्यालय वाराणसी में होगा। तथा इसके अध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा होंगे।

समिति संस्कृत शिक्षा के प्रति सर्वसाधारण की उदासीनता के कारणों पर विचार करेगी। संस्कृत पाठशालाओं की वर्त्तमान स्थिति की समीक्षा एवं संस्कृताध्यापकों की नौकरियों की दयनीय दशा एवं वेतन आदि के बारे में जाँच करके उनमें सुधार के विषय में आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करेगी॥

राष्ट्रभाषा का स्थान हिन्दी ही ले सकती है

डा० सम्पूर्णानन्द का सुझाव

लखनऊ, १४ जुलाई। पता चला है कि उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन को दिये गये प्रतिवेदन में भारत की राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में कुछ सुझाव प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हमारे लिये यह बड़ी लज्जा की बात है कि हमारा राष्ट्र कोई अपनी राजभाषा न रखे और अंग्रेजी को मान्यता दे। अपनी भाषा प्रचलित करने में हमारे राष्ट्र को गौरव समझना चाहिये। पूर्व काल में हमारे देश की राज भाषा संस्कृत थी और अब उसका स्थान तो केवल हिन्दी ही ले सकती है।

हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के समाचार

पुनः आन्दोलन छिड़ा तो जिम्मेदारी सरकार की होगी

रायपुर, ३ जुलाई। अखिल भारतीय जनसंघ के प्रधान मन्त्री श्री दीनदयाल उपाध्याय ने यहाँ पत्रप्रतिनिधियों के बीच कहा — यदि पंजाब में हिन्दी रक्षा आन्दोलन फिर प्रारम्भ हुआ तो इस सम्बन्ध की स्वीकृत माँगें चारितार्थ न करने के कारण आन्दोलन की सारी जिम्मेदारी सरकार पर होगी।

पंजाब के भाषा-विवाद पर गोलमेज सम्मेलन

नई दिल्ली, ९ जुला०। श्री घनश्याम सिंह गुप्त के निकटतम आर्य समाजी सूत्रों से यहाँ पता चला है कि गृहमन्त्री गोविन्दवल्लभपन्त ने हिन्दी आन्दोलन के विषय में श्री गुप्त को एक पत्र लिखा है। पत्र के विवरण का तो पता नहीं चला, परन्तु अनुमान किया जा रहा है कि सरकार द्वारा भाषा के विषय को लेकर एक गोलमेज सम्मेलन की गतिविधि जारी है।

इसी बात को लेकर संघर्ष-समिति की एक बैठक १८ जुलाई को देहली में हुई, जिसमें हिन्दी आन्दोलन के सम्बन्ध में नया कदम उठाने का निश्चय किया गया। पहले प्रधान-मन्त्री श्री नेहरू के पास संघर्ष-समिति एक स्मृति-पत्र भेजेगी। अग्रिम नीति उसीके उत्तर पर अधारित होगी।

२० जुलाई को संघर्ष-समिति की अपील पर सारे भारत में हजारों हिन्दीप्रेमियों ने पंजाब में हिन्दी की रक्षा करने और उसे उचित स्थान दिलाने की प्रतिज्ञा की॥

'वाल्मीकिरामायण' का भाषानुवाद

(गतांक से आगे)

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक देहली तथा परिशोधक श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् । पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥
पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् । जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः । वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥
तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्च्छनास्थानकोविदौ । भ्रातरौ स्वरसंपन्नावश्विनाविव रूपिणौ ॥१०॥
रूपलक्षणसंपन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ । बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ रामदेहात्तथापरौ॥११॥
तौ राजपुत्रौ कात्स्न्र्येन धर्म्यमाख्यानमुत्तमम् । वाचो विधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥१२॥
ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे । यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥१३॥
महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ । तौ कदाचित् समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्॥१४॥
आसीनानां समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् । तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥१५॥
साधुसाध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः । ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥१६॥
प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायन्तौ तौ कुशीलवौ । अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥१७॥
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् । प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावमगायताम् ॥१८॥
सहितौ मधुरं रक्तं संपन्नं स्वरसंपदा । एवं प्रशस्यमानौ तैस्तपःश्लाघ्यैर्महर्षिभिः ॥१९॥
संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम् । प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यामुत्थितः कलशं ददौ ॥२०॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महायशाः । अन्यः कृष्णाजिनं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः॥२१॥

चरित लिखना ही व्रत है जिसका [अथवा श्रेष्ठ चरित वाले] उस वाल्मीकि ने राम के अयन (= चरित), सम्पूर्ण सीता चरित और पौलस्त्य (= रावण) के वध का प्रतिपादन करनेवाले काव्य को रचा ॥ ७ ॥ पाठ और गान में मधुर, [द्रुत मध्यम विलम्बित] तीनों प्रमाणों से युक्त, [षड्जादि] सात स्वरों से संयुक्त, वीणा की लय से समन्वित ॥ ८ ॥ शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर आदि (= बीभत्स, अद्भुत, शान्त) रसों से युक्त काव्य का गान किया ॥ ९ ॥ वे दोनों भाई गन्धर्व [वेद के] तत्त्व को जाननेवाले, स्थान और मूर्छना के तत्त्वज्ञ, उत्तम स्वर से युक्त, अश्विनियों के समान रूपवाले, रूप और [उत्तम] लक्षण से युक्त, मधुर स्वर से भाषण करनेवाले [सूर्य आदि] बिम्ब से उत्पन्न [प्रति] बिम्ब के समान राम के देह से उत्पन्न उन्हीं जैसे प्रतीयमान ॥ १०, ११ ॥ वे दोनों प्रशंसित राजपुत्र, धर्मयुक्त, आख्यानरूप, काव्य को पूरी तरह कण्ठाग्र करके ऋषियों, द्विजातियों और साधुओं के सम्मेलन (जमघट) में तत्त्व को जानने वाले और एकाग्र मनवाले, [वाल्मीकि के] उपदेश के अनुसार गाते थे ॥ १२, १३ ॥ महात्मा (महाबुद्धि वाले), उत्तम भाग्य वाले, सब लक्षणों से युक्त, उन गायकों ने किसी समय आत्मा का परिशीलन करने वाले ऋषियों की सभा के मध्य जाकर रामायण का गान किया । उसको सुनकर सब आंसुओं से युक्त आंखों वाले मुनियों ने "साधु साधु" (बहुत अच्छा) ऐसा कहा । और उन सब परम विस्मय को प्राप्त प्रसन्न मनवाले, धर्मप्रिय मुनियों ने प्रशंसा के योग्य गानेवाले गायकों की प्रशंसा की तथा विशेष रूप से श्लोकों के गान की मधुरता की [प्रशंसा की] ॥ १४-१७ ॥ उन दोनों ने भाव (काव्य के अभिप्राय रूप उन उन रसों में) प्रवेश करके [षड्जादि] स्वर से सम्पन्न ऐसा मधुर, तथा अनुरागयुक्त गान किया कि बहुत काल पूर्व के [रामचरित को] प्रत्यक्ष के समान दिखा दिया ॥ १८, १९ ॥ उत्तम रागपूर्वक अत्यन्त मधुर गान किया । [उसे सुनकर] किसी मुनि ने प्रसन्न होकर [सभा में] खड़े होकर उन्हें कलश दिया ॥ २० ॥ किसी महायशस्वी ने प्रसन्न होकर उन्हें वल्कल दिया, किसी ने मृगचर्म दिया, किसी महामुनि ने मौञ्जी (= कमर में बांधने की रस्सी) दी ॥ २१ ॥

१ इस श्लोक में 'रामायण' और 'पौलस्त्य वध' ये रामचरित के नाम हैं, ऐसा टीकाकारों का मत है ।

कश्चित् कमण्डलुं प्रादाद् यज्ञसूत्रमथापरः । औदुम्बरीं बृसीमन्यो जपमालामथापरः ॥२२॥
बृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः । तस्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ॥२३॥
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः । जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः ॥२४॥
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित् काष्ठभारं तथापरः । आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः ॥२५॥
ददुश्चैव वरान् सर्वे मुनयः सत्यवादिनः । आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम् ॥२६॥
परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम् । अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतेषु कोविदौ ॥२७॥
आयुष्यं पुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम् । प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित्तत्र गायकौ ॥२८॥
रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः । स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ च कुशीलवौ ॥२९॥
पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः । आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥३०॥
उपोपविष्टः सचिवैर्भ्रातृभिश्च परंतपः । दृष्ट्वा तु रूपसंपन्नौ तावुभौ नियतस्तदा ॥३१॥
उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा । श्रूयतामिदमाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ॥३२॥
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ समचोदयत् । तौ चापि मधुरं व्यक्तं स्वचित्तायतनिःस्वनम् ॥३३॥
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् । ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ॥३४॥
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद्बभौ जनसंसदि ॥

किसी ने कमण्डलु दिया, किसी ने यज्ञोपवीत [दिया], किसी ने गूलर की लकड़ी का बना आसन [दिया], दूसरे ने जप की माला [दी] ॥ २२ ॥ किसी ने उस समय बृसी (=मुनियों के बैठने का आसन) दिया, किसी मुनि ने कौपीन (=लंगोटी) [दी], अन्य प्रसन्न हुए मुनि ने उन को कुठार दिया ॥ २३ ॥ किसी ने कषाय रंग का वस्त्र [दिया], किसी ने चीर (=कपड़ा) दिया, किसी प्रसन्न हुए मुनि ने जटा बांधने के लिए काष्ठरज्जु (=पलाश आदि की जड़ से बनाई रस्सी) दी ॥ २४ ॥ किसी ऋषि ने यज्ञपात्र [दिए], किसी ने काष्ठभार (=समिधाएं) [दीं], अन्य महर्षियों ने प्रसन्न होकर आयुष्य (=दीर्घायु वाले होवो, ऐसा) कहा ॥ २५ ॥ इस प्रकार सब सत्यवादी मुनियों ने [उन्हें] वर दिए। मुनि [वाल्मीकि] ने आश्चर्यरूप यह आख्यान कहा है ॥ २६ ॥ हे सब गतियों में कुशल! तुम दोनों ने कवियों के परम आधार, आयु के देनेवाले, पुष्टि (=लौकिक सुख) के उत्पादक, सब के कानों को मधुर लगने वाले इस काव्य का गान किया और यथाक्रम समाप्त किया। किसी समय गलियों और सड़कों पर सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त हुए गायकों [लव-कुश दोनों] को भरत के बड़े भाई [राम] ने देखा और उन दोनों कुश और लव नामक भाइयों को अपने महल में बुलाकर ॥ २७, २८ ॥ [सभा में] बैठे हुए मन्त्रियों और भाइयों के साथ सुवर्णमय दिव्य सिंहासन पर बैठे हुए, शत्रुओं का नाश करने हारे महाराज राम ने पूजा के योग्य [कुश और लव] की पूजा की। उन दोनों भाइयों को नम्र और रूपसम्पन्न देखकर ॥ ३०, ३१ ॥ राम ने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न से कहा—इन देवतुल्य तेजस्वी [बालकों] से इस आख्यान को सुनो। [तदनन्तर] ॥ ३२ ॥ विचित्र अर्थ और पदवाले [आख्यान] के अच्छे प्रकार गान करनेवाले [कुश और लव] को गाने के लिए कहा। उन दोनों ने भी मधुर, स्पष्ट तथा अपने और श्रोताओं के चित्त के अनुकूल, ऊँचे स्वर से युक्त[1] ॥ ३३ ॥ वीणा की लय सदृश, स्पष्ट अर्थवाला गान किया। [उसने] सब के शरीर, मन और हृदय को प्रसन्न कर दिया। सभा में वह गान श्रोत्र-सुख का देने वाला हुआ ॥ ३४ ॥

1 यह अर्थ टीकाकारों के अनुसार है।

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ।
ममापि तद्भूतिकरं प्रचक्षते महानुभावं चरितं निबोधत ॥३५॥
ततस्तु तौ रामवचः प्रचोदितावगायतां मार्गविधानसंपदा।
स चापि रामः परिषद्गतः शनैर्बुभूषयासक्तमना बभूव ह ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे
अनुक्रमणिका नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



पञ्चमः सर्गः

अयोध्यावर्णना

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत् कृत्स्ना वसुंधरा। प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥
[येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः। षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥]
इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्। महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

ये दोनों कुश और लव मुनि, महातपस्वी और राजा के लक्षणों से युक्त [हैं, ये] मेरे लिए भी सुखकारी, सब को आह्लादित करनेवाले चरित को कहेंगे[1]। उसे [तुम सब] सुनो ॥ ३५ ॥ तदनन्तर राम से प्रेरित किए गए उन दोनों ने मार्ग [शास्त्रीय गान[2]] के विधान की सम्पन्नता से युक्त गाया। सभा में विद्यमान राम भी [वैसे ही] होने की इच्छा से [गान श्रवण में] आसक्त मनवाले हो गए ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का अनुक्रमणिका-
विषयक यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥



सर्ग ५

अयोध्या-वर्णन

प्रजापति मनु से लेकर जिन विजयी राजाओं की यह सारी (सात द्वीपवाली) पृथिवी थी ॥ १ ॥ जिनमें वह सगर नाम का [राजा हुआ] जिसने सागर को खुदवाया, जिसको कार्य करते हुए साठ हजार पुत्र घेरे रहते थे ॥ २ ॥ उन इक्ष्वाकु वंशवाले महात्माओं के वंश में यह श्रेष्ठ आख्यान उत्पन्न हुआ, [जो] रामायण नाम से विश्रुत है ॥ ३ ॥

१ श्लोक में 'प्रचक्षते' एकवचनान्त क्रिया है। कर्ता पूर्वार्ध में 'कुशीलवौ' द्विवचनान्त है। तिलक टीकाकार ने इस दोष को हटाने के लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। वस्तुतः आदि भाषा में वर्तमान के समान वचनों की समानता का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता था। महाभारत में भी 'विराड्द्रुपदौ ययुः' (द्रोण १८६। ३१) आदि में ऐसे विसदृश वचन उपलब्ध होते हैं। 'प्रचक्षते' के स्थान में 'प्रचक्ष्यते' पाठ भी मिलता है। उसके लिए 'ताभ्यां' पद का अध्याहार करना होगा—'……लक्षणों से युक्त [हैं, उनके द्वारा] मेरे लिए भी हितकारी तथा सब को आल्हादित करनेवाला चरित कहा जाएगा, उसे सुनो ऐसा अर्थ होगा।

२ संगीत शास्त्र में गान के दो भेद कहे हैं—मार्गी और देशी। शास्त्रीय गान मार्गी कहाता है और लोकमात्र प्रसिद्ध देशी। उपर्युक्त अर्थ टीकाकारों के मतानुसार है। 'मार्गविधान सम्पदा' का सीधा अर्थ यह भी हो सकता है—गान विधान का जो मार्ग, उसकी पूर्णता से युक्त।

तदिदं वर्तयिष्यामि सर्वं निखिलमादितः । धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्यमनसूयया ॥ ४॥
कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् । निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता । मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी । श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७॥
राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता । मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८॥
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः । पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ ९॥
कवाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् । सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः ॥१०॥
सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् । उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥११॥
वधूनाटकसङ्घैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् । उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥१२॥
दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् । वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥१३॥
सामन्तराजसङ्घैश्च बलिकर्मभिरावृताम् । नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥१४॥
प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम् । कूटागारैश्च संपूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥१५॥

उस [रामायण] को हम दोनों आदि से अन्त तक गाएँगे। धर्म, काम और अर्थ (तीनों पुरुषार्थों) से युक्त आख्यान को असूया छोड़ कर सुनिए ॥ ४ ॥ सरयू नदी के किनारे धन-धान्य से भरा हुआ, प्रसन्न और महान् फैला हुआ कोसल नाम का देश है ॥ ५ ॥ उस देश में अयोध्या नाम की लोकप्रसिद्ध नगरी है। जिसे मनुष्यों के स्वामी मनु ने स्वयं बसाया था ॥ ६ ॥ वह चौड़े चौड़े मार्गों से अच्छे प्रकार विभक्त, ऐश्वर्य से भरपूर महानगरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी थी[1] ॥ ७ ॥ [वह] अच्छे प्रकार विभाग करनेवाले, नित्य जल से सिंचे हुए, गिरे हुए फूलों से भरे हुए राजमार्ग से सुशोभित थी ॥ ८ ॥ महान् राष्ट्र को बढ़ानेवाले राजा दशरथ ने उस नगरी को उसी प्रकार सुशोभित[2] किया जैसे स्वर्ग को इन्द्र करता है ॥ ९ ॥ कपाट और तोरण से युक्त, अच्छे प्रकार से विभक्त दुकानों वाली, सब प्रकार के यन्त्र और अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित और सब प्रकार के शिल्पियों (= कारीगरों) के वासवाली ॥ १० ॥ सूत (= पुराणों के पढ़नेवाले), मागध (= वंशावलियों के जाननेवाले[3]), जनों से व्याप्त, ऐश्वर्य-युक्त, उत्तम कान्तिवाली, ऊंची अट्टालिकाओं और ध्वजों से सुशोभित सैकड़ों तोपों से युक्त ॥ ११ ॥ नगर के सब ओर नृत्य करनेवाली स्त्रियों के नाटक गृहों से युक्त, उद्यान (= क्रीडा के लिए बगीचे) तथा आमों के वनों से युक्त और प्राकार (= परकोटा) अथवा सालवृक्षों की मेखलावाली ॥ १२ ॥ कठिनाई से पार होने योग्य (विशाल) गहरी खाई से युक्त, दुर्गम और शत्रुओं से प्राप्त होने (= जीतने) के अयोग्य, घोड़े, हाथी, गाय, ऊंट और गदहों से भरी हुई ॥ १३ ॥ नियमपूर्वक कर देनेवाले सामन्तों (= जागीरदारों) और राजाओं के संघों से ढकी हुई, विभिन्न देशों के रहनेवाले बनियों से सुशोभित ॥ १४ ॥ इन्द्र की अमरावती के समान रत्नों से बने ऊंचे महलों तथा [कृत्रिम] पर्वतों[4] से सुशोभित, [गृह के] छज्जों से युक्त ॥ १५ ॥

१. पूर्वकाल में नदीतटवर्ती नगर नदी के साथ साथ लम्बे बसाए जाते थे। काशी और पटना की पुरानी बस्ती इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। नगरों के कम चौड़े होने से प्रत्येक नगरवासी को आवश्यक कार्य से नगर से बाहर जाने तथा जल के समीप सन्ध्यावन्दन करने की सुविधा प्राप्त होती थी। नगरों का वायु भी अधिक दूषित नहीं होता था।

२. टीकाकारों ने 'आवासयामास' का अर्थ 'पूर्व की अपेक्षा अधिकजनों का बसाया।' किया है।

३. गोविन्दराज ने सूत का अर्थ 'बन्दी' (स्तुति करनेवाले) और मागध का अर्थ 'जगानेवाले' किया है।

४. कहीं कहीं 'पर्वतैरिव' पाठ है। उसमें 'पर्वत सदृश ऊंचे महलों' से ऐसा अर्थ होगा।

चित्रामष्टापदाकारां वरनारीगणैर्युताम् । सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥१६॥
गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम् । शालितण्डुलसंपूर्णामिक्षुकाण्डरसोदकाम् ॥१७॥
दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा । नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥१८॥
विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि । सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥१९॥
ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरावरम् । शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः ॥२०॥
सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने । हन्तारो निशितैर्बाणैर्बलाद्बाहुबलैरपि ॥२१॥
तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः । पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥२२॥
तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः ।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभिर्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे
अयोध्यावर्णना नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



अनेक प्रकार के रङ्गों से सुशोभित, जुआ खेलने के काष्ठपट्ट के समान आकारवाली[1], सुन्दर स्त्रियों के समुदाय से युक्त, सब प्रकार के रत्नों से व्याप्त, सात मञ्जिल के घरों[2] से सुशोभित ॥ १६ ॥ गृहों से भरी हुई, दोषरहित, समभूमि में बसाई गई, शालि (=जौ) और चावल से पूर्ण, गन्ने के रस के समान मीठे जलवाली ॥ १७ ॥ दुन्दुभि (=भेरी), मृदङ्ग, वीणा और पणव (वाद्यविशेष) से अत्यन्त निनादित, पृथिवी में अति श्रेष्ठ, उस ॥ १८ ॥ तप के द्वारा स्वर्ग में प्राप्त किए गए सिद्ध पुरुषों के विमान के सदृश, गृहों के अन्तभाग (पिछवाड़ा) जिसमें अच्छे प्रकार स्थापित किए गए हैं, और जो श्रेष्ठ पुरुषों (विद्वानों) से घिरी हुई ॥ १९ ॥ जो लघुहस्त (=शीघ्रवेधी) और अस्त्रशस्त्र के प्रयोग में निपुण, विविक्त (=अकेले), अपरापर (=कुल के एकमात्र व्यक्ति अथवा प्रेक्षक), शब्द से वेध्य (=छिपे हुए) और वितत (=युद्ध से भागे हुए) को बाणों से नहीं मारते, तथा ॥ २० ॥ जो बलपूर्वक फेंके गए तेज शस्त्रों तथा बाहुबल से वन में मस्त और शब्द करनेवाले शेर, चीते और सूअरों को मारनेवाले [हैं]॥ २१ ॥ ऐसे सहस्रों महारथियों से भरी हुई, आहिताग्नि, और शमदम आदि गुणों से युक्त, वेद और छहों अङ्गों में पारङ्गत ब्राह्मणों, बहुत दानी, और सत्यवादी महात्माओं, महर्षि सदृशों और प्रधान ऋषियों से आच्छादित नगरी को राजा दशरथ ने सुशोभित किया ॥ २२, २३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का अयोध्यावर्णनविषयक
यह पांचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥



१. इस शब्द की व्याख्या में गोविन्दराज ने लिखा है—मध्य में राजमहल, चारों दिशाओं में राजमार्ग, बीच में खाली स्थान, इस प्रकार की बसावट वाली। कई व्याख्याकारों ने 'सुवर्ण के समान आकृतिवाली अर्थात् सुवर्ण के समान रंगवाले गृहों से युक्त' अर्थ किया है।

२. कोशकारों के मतानुसार सात मञ्जिल का गृह विमान कहाता है।

षष्ठः सर्गः

राजवर्णना

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः । दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥ १ ॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मरतो वशी । महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥
बलवान्निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः । धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥ ३ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता । तथा दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ ४ ॥
तेन सत्याभिसन्धेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता । पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ॥ ५ ॥
तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः । नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥
नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत्तस्मिन् पुरोत्तमे । कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥ ७ ॥
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् । द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥ ८ ॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः । उदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥ ९ ॥
नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान् । नामृष्टो नानुलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ॥ १० ॥
नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् । नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥ ११ ॥

सर्ग ६

राज-वर्णन

उस अयोध्या नाम की नगरी में वेदों को जानने वाले, [विद्वानों, शूरवीरों, चतुरङ्गसेना[1] और दुर्ग आदि] सबका संग्रह करनेवाले, दीर्घदर्शी (=दूर की सोचनेवाले), महातेजस्वी, नगर और देश के लोगों के प्रिय ॥ १ ॥ इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में अतिरथ[2], यज्ञशील, धर्मात्मा, स्वाधीन, महर्षि तुल्य, राजर्षि, तीनों लोकों में प्रसिद्ध ॥ २ ॥ [चतुरङ्ग सेना रूपी] बल से युक्त, शत्रुओं से रहित, उत्तम मित्रों वाले, जितेन्द्रिय, सुवर्णादि धन और अन्य [धान्य आदि] के संग्रह से इन्द्र और कुबेर के समान [राजा दशरथ थे] ॥ ३ ॥ जैसे महातेजस्वी मनु लोक के रक्षक थे। वैसे ही राजा दशरथ ने भी लोक की पालना की ॥ ४ ॥ उस सत्य प्रतिज्ञावाले, धर्म, अर्थ, और काम के सम्पन्न करनेवाले राजा दशरथ से वह श्रेष्ठ पुरी उसी प्रकार पालित हुई, जैसे इन्द्र से अमरावती ॥ ५ ॥ उस श्रेष्ठ नगर में सब मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता, अपने अपने धनों से संतुष्ट, लोभरहित और सत्यवादी थे ॥ ६ ॥ उस श्रेष्ठ पुर में कोई भी [मनुष्य उत्तम वस्तुओं के] अल्पसंग्रह वाला नहीं था, कोई कुटुम्बी [धर्म आदि पुरुषार्थों को] सिद्धि से रहित और गौ, अश्व, धन धान्य आदि से रहित नहीं था ॥ ७ ॥ उस अयोध्या में कहीं भी कामी, कंजूस, क्रूर, अविद्वान् और नास्तिक नहीं देखा जा सकता था (अर्थात् कोई ऐसा निन्दित पुरुष वहां नहीं था) ॥ ८ ॥ सब मनुष्य और स्त्रियां धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, प्रसन्न, स्वभाव और आचार से महर्षियों के समान निर्मल थे ॥ ९ ॥ न कोई कुण्डल से रहित, न मुकुट से रहित, न माला से रहित, न अल्प सुखों वाला, न मैला, न [चन्दन आदि के] लेप से रहित और न सुगन्ध से रहित था ॥ १० ॥ न कोई सड़ा गला अथवा बलिवैश्वकर्म से रहित अशुद्ध भोजन करनेवाला, न दानरहित, न अंगद (बाहु के) और निष्क(छाती के सुवर्ण के) आभूषणों से रहित, न हाथ के भूषण से रहित और न अजित अन्तःकरण वाला था ॥ ११ ॥

---

१. सेना के हस्ती-अश्व-रथ और पदाति (=पैदल) ये चार अङ्ग माने गए हैं।

२. दश सहस्र योद्धाओं से अकेला युद्ध करनेवाला महारथी कहाता है और दश सहस्र महारथियों से अकेला लड़ने में समर्थ अतिरथी।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः । कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः ॥१२॥
स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः । दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥१३॥
न नास्तिको नानृतको न कश्चिद्बहुश्रुतः । नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते तदा ॥१४॥
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः । न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥१५॥
कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान् । द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥१६॥
वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः । कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥१७॥
दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः । सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥१८॥
क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः । शूद्राः स्वधर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ॥१९॥
सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता । यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥२०॥
योधानामग्निकल्पानां पेशलानाममर्षिणाम् । संपूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥२१॥
काम्बोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः । वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥२२॥
विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि । मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥२३॥
ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा । अञ्जनादपि निष्पन्नैर्वामनादपि च द्विपैः ॥२४॥

न अग्नि का आधान न करनेवाला (अर्थात् अग्निहोत्र न करनेवाला), न [सोमादि] याग से रहित, न नीच, न चोर, न सदाचाररहित, और न वर्णसंकर कोई अयोध्या में था ॥ १२ ॥ ब्राह्मण अपने कर्मों में लगे हुए, जितेन्द्रिय, दान और अध्ययन के स्वभाववाले और प्रतिग्रह संयत (प्रतिषिद्ध दान न लेनेवाले) थे ॥१३ ॥ उस समय न कोई नास्तिक, न झूठ बोलनेवाला, न थोड़ा पढ़ा, न चुगलखोर, न असमर्थ, और न मूर्ख था ॥ १४ ॥ न कोई वहां षडङ्गों [1] का न जाननेवाला था, न व्रतरहित, न अल्प देनेवाला [2], न दीन, न उन्मत्त अथवा [रोगादि से] पीड़ित था ॥ १५ ॥ अयोध्या में कोई नर और नारी शोभा और उत्तम रूप से रहित दिखाई नहीं देता था और न कोई राजभक्ति से रहित था ॥ १६ ॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में सभी देवता और अतिथियों के पूजक, कृतज्ञ (= किए गए उपकार को मानने वाले) दानवीर, शूर, पराक्रम युक्त और ॥ १७ ॥ दीर्घ आयुवाले थे । उस श्रेष्ठ नगर में सभी पुत्र पौत्र और स्त्रियों सहित धर्म और सत्य में निरत थे ॥ १८ ॥ क्षत्रिय ब्राह्मणों के आज्ञावर्ती, वैश्य क्षत्रियों के अनकूल, और शूद्र अपने धर्म में रत तीनों वर्णों की सेवा करनेवाले थे ॥ १९ ॥ वह अयोध्या नगरी उस इक्ष्वाकुओं के स्वामी [दशरथ से उसी प्रकार] से अच्छे प्रकार रक्षित थी, जैसे पहले मानवों के स्वामी बुद्धिमान् मनु से [रक्षित थी] ॥ २० ॥ अतिशय तेजस्वी, अकुटिल, [पराभव को] सहन न करनेवाले, और शस्त्रास्त्रविद्या के जानने वाले योद्धाओं से [वह नगरी उसी प्रकार] पूर्ण थी जैसे सिंहों से पूर्ण गुहा हो ॥ २१ ॥ कम्बोज, बाह्लीक, वनायु और नदीज अर्थात् सिन्धु देश में उत्पन्न इन्द्र उच्चैश्रवा अश्व के समान उत्तम अश्वों से [वह अयोध्या] पूर्ण थी । ॥ २२ ॥ विन्ध्याचल और हिमालय में उत्पन्न, मस्त, मदयुक्त, अतिबलवान् पर्वतसदृश आकार वाले ऐरावत, महापद्म, अञ्जन और वामन कुलोत्पन्न [3] हाथियों से वह नगरी पूर्ण थी ॥ २३, २४ ॥

---

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष ये वेद के छ अङ्ग माने जाते हैं ।

२. 'नासहस्रदः' का अर्थ टीकाकारों ने 'न अधिक न देनेवाला' किया है । निघण्टु ३।१ में 'सहस्र' पद बहुत नामों में पढ़ा है ।

३. टीकाकार इन 'ऐरावत' आदि नामों को कल्पित दिग्गज का वाचक मानते हैं । हमारे विचार में ये गजों की देश भेद से जाति विशेष हैं ।

भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा । भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥२५॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः । सा योजने च द्वे भूयः सत्यनामा प्रकाशते ॥२६॥
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् । शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः॥२७॥
तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृपसिंहसंकुलां शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे
राजवर्णना नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



सप्तमः सर्गः

अमात्यवर्णना

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोस्तु महात्मनः । मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः । शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥
धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः । अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽभवत् ॥ ३ ॥
ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ । वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥

[हिमालयोत्पन्न] 'भद्र' संज्ञक, [विन्ध्याचलोत्पन्न] 'मन्द्र' संज्ञक [सह्यादि उत्पन्न] 'मृग' संज्ञक तीन प्रकार की जातिवाले, भद्र, मन्द्र और मृग तीनों जातियों के गुणों से युक्त, भद्र और मन्द्र अथवा भद्र और मृग अथवा मृग और मन्द्र दो दो जातियों के गुणों से युक्त नित्य मस्त रहनेवाले पर्वतसदृश हाथियों से वह नगरी सदा पूर्ण थी। वह दो योजन से भी अधिक बड़ी [अयोध्या अर्थात् जिससे युद्ध न किया जा सके ऐसे] सत्यनामवाली [लोक में प्रसिद्ध थी] ॥ २५, २६ ॥ उस नगरी में महातेजस्वी शत्रुओं को नष्ट करने वाले महाराज दशरथ [उसी प्रकार] राज्य करते थे जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा ॥ २७ ॥ उस यथार्थ नामवाली मुख्य द्वार के कपाटों को दृढ़ रखनेवाले यन्त्र से युक्त, विचित्र गृहों से सुशोभित, सुखप्रद और अनेक राजाओं से युक्त इस अयोध्यापुरी को इन्द्र के समान महाराज दशरथ शासित करते थे ॥ २८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का राज-वर्णन-विषयक
यह छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥



सर्ग ७

अमात्य-वर्णन

उस इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न महात्मा [दशरथ] के अमात्य मन्त्रज्ञ (= कार्य अकाय विचार के जानने वाले), इङ्गितज्ञ (= दूसरे के अभिप्राय को जानने हारे) और प्रिय [स्वामी के] हित में नित्य रहने वाले गुणों से युक्त थे ॥ १ ॥ उस वीर यशस्वी [राजा दशरथ] के शुचि (वाणी और मन से पवित्र = कपट रहित) और राजकार्य में सदा अनुरक्त आठ अमात्य थे ॥ २ ॥ [उन के नाम थे—] धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मन्त्रपाल और आठवें सुमन्त्र थे ॥ ३ ॥ उस [राजा दशरथ] के दो ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ और वामदेव प्रधान ऋत्विक् थे और दूसरे ऋषि मन्त्री थे ॥ ४ ॥

सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः । मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः ॥ ५ ॥
एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्नित्यमृत्विजस्तस्य पूर्वकाः । विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
परस्परानुरक्ताश्च नीतिमन्तो बहुश्रुताः । श्रीमन्तश्च महात्मानः शस्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ॥ ७ ॥
कीर्त्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः । तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ॥ ८ ॥
क्रोधात् कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः । तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा ॥ ९ ॥
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् । कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ॥१०॥
प्राप्तकालं यथादण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि । कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे ॥११॥
अहितं वापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम् । वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः ॥१२॥
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् । ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन् ॥१३॥
सुतीक्ष्णदण्डाः संप्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् । शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां संप्रजानताम् ॥१४॥
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् । कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतो नरः ॥१५॥
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत् । सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे शुचिव्रताः ॥१६॥
हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा । गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः ॥ १७॥
विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः । अभितो गुणवन्तश्च न चासन् गुणवर्जिताः ॥१८॥
संन्धिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः । मन्त्रसंवरणे शक्ताः श्लक्ष्णाः सूक्ष्मासु बुद्धिषु॥१९।

सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु मार्कण्डेय और द्विज कात्यायन ॥ ५ ॥ इन ब्रह्मर्षियों के साथ [वसिष्ठ और वामदेव] पूर्वजों के ऋत्विक् थे। विद्या से विनीत, लज्जा वाले, कुशल, जितेन्द्रिय ॥ ६ ॥ परस्पर अनुरागी, नीतिशास्त्र जाननेहारे, बहुश्रुत, लक्ष्मीयुक्त, महात्मा, शस्त्र के जाननेहारे, दृढ़ पराक्रमी ॥ ७ ॥ उत्तम कीर्तिवाले, सावधान, वचन के अनुसार कार्य करनेहारे, तेजस्वी, क्षमाशील, यशस्वी, हंसकर भाषण करने वाले ॥ ८ ॥ क्रोध, काम और धन के कारण झूठ न बोलने वाले अपने और दूसरों के विषय में जिनको कुछ भी अविदित नहीं है ॥ ९ ॥ किया जानेवाला, किया गया अथवा करने को इष्ट भी गुप्तचरों के द्वारा [अविदित नहीं है]। व्यवहारों में कुशल और मित्र भाव में परीक्षित ॥ १० ॥ समय पर अपने पुत्रों को भी दण्ड देने वाले, कोश के संग्रह और बल = सेना के संरक्षण में लगे हुये ॥ ११ ॥ दोषरहित, अहित = शत्रु को न मारने वाले, वीर, नित्य उत्साही, राज शास्त्र के अनुसार कार्य करने वाले ॥ १२ ॥ देश और [नगर] के रहने वाले पवित्र पुरुषों के सदा रक्षक [थे]। वे ब्राह्मण और क्षत्रिय को पीड़ा न पहुँचाकर कोश को पूर्ण करते थे ॥ १३ ॥ [वे] पुरुष के [अपराध के] बलाबल [तारतम्य] का विचार करके तीक्ष्ण दण्ड देने वाले [थे]। पवित्र, समान विचारवाले, [राज्यसम्बन्धी कार्य के] विचार करनेवाले उन मन्त्रियों के ॥ १४ ॥ नगर तथा राष्ट्र में कोई भी झूठ बोलनेवाला नहीं था, न कोई दुष्ट था और न कोई पुरुष परस्त्रीगामी था ॥ १५ ॥ वह नगर और सारा राष्ट्र शान्त (बाधारहित) था। सब [नरनारी] पवित्राचरणवाले, सुन्दर वस्त्र और अच्छे वेशधारी थे। ॥ १६ ॥ नीतिरूपी आंखों से महाराज [दशरथ] का हित करनेवाले, बड़े लोगों के गुणों का ग्रहण करनेहारे [अर्थात् दोष को स्वीकार न करनेहारे], और पराक्रमों से प्रसिद्ध ॥ १७ ॥ विदेशों में भी प्रसिद्ध, सब ओर से निश्चित बुद्धिवाले, सब प्रकार के गुणों से युक्त और गुणों से रहित न थे ॥ १८ ॥ सन्धि और विग्रह (=युद्ध) [आदि] के यथोचित जाननेहारे, स्वाभाविक सम्पत्ति से युक्त, मन्त्र के लक्षण में समर्थ, सूक्ष्म विचार करने में समर्थ [अथवा श्लक्ष्ण = प्रतिभा वाले] ॥ १९ ॥ नीति शास्त्र के

नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः । ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः ॥२०॥
उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद् वसुंधराम् । अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रक्षयन् ॥२१॥
प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् । विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः ॥२२॥
स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् । नाध्यगच्छद् विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः॥२३॥
मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः । स शशास जगद् राजा दिवि देवपतिर्यथा ॥२४॥
तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते नियुक्तैर्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः ।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्तस्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे अमात्यवर्णना नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



अष्टमः सर्गः

सुमन्त्रवाक्यम्

तस्य त्वेवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः । सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः ॥१॥
चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः । सुतार्थं ❀ वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥२॥
स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान् । मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरेव कृतात्मभिः ॥३॥
ततोऽब्रवीदिदं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् । शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरूंस्तान् सपुरोहितान् ॥४॥

विशेषज्ञ और सदा प्रियवादी थे । इस प्रकार के गुणों वाले अमात्यों से युक्त निष्पाप राजा दशरथ ने पृथिवी पर शासन किया । गुप्तचरों द्वारा [अपने और पराए वृत्तान्त] को जानते हुए, धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करते हुए, ॥ २०, २१ ॥ प्रजा का पालन करते हुए और अधर्म को दूर करते हुए तीनों लोकों में प्रसिद्ध, दानवीर, सत्यप्रतिज्ञ ॥ २२ ॥ उस पुरुषश्रेष्ठ [दशरथ] ने इस पृथिवी पर शासन किया। और [उसे] अपने से बड़ा (बलवान्) अथवा अपने तुल्य कोई शत्रु प्राप्त नहीं हुआ ॥ २३ ॥ श्रेष्ठ मित्रवाले, [चरणों में] झुके हुए मण्डलाधीशों वाले और पराक्रम से विनष्ट शत्रु राजा दशरथ ने पृथिवी पर [उसी प्रकार] शासन किया जैसे इन्द्र स्वर्ग पर करते हैं ॥ २४ ॥ उन मन्त्र (= कार्य अकार्य के विचार) के हित में लगे हुए, अनुरागी, कुशल और समर्थ मन्त्रियों से घिरे हुए वह राजा [दशरथ उसी प्रकार] दीप्ति = तेज को प्राप्त हुये, जैसे उदय हुआ सूर्य अपनी किरणों से तेजस्वी होता है ॥ २५ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का अमात्य-वर्णन-विषयक यह सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥



अष्टम[1] सर्ग

सुमन्त्र-वाक्य

पूर्व कहे गए प्रभाववाले उस धर्मात्मा, महात्मा और पुत्र के लिए दुःखी रहनेवाले [राजा] का कोई वंश चलाने हारा नहीं था ॥ १ ॥ उस राजा का इस प्रकार सोचते हुए विचार हुआ कि पुत्र के लिए अश्वमेध से यज्ञ क्यों न करूँ ? ॥ २ ॥ उस बुद्धिमान् [दशरथ] ने सब पर्याप्त बुद्धिवाले धर्मात्मा मन्त्रियों के साथ 'यज्ञ करना चाहिए' ऐसा निश्चित करके ॥ ३ ॥ सुमन्त्र नाम के श्रेष्ठ मन्त्री को कहा मेरे पुरोहितसहित गुरुओं (= पूज्य जनों) को शीघ्र लाओ ॥ ४ ॥

❀ 'पुत्रयागेन' इति तु युक्ततरं स्यात् । १ इस सर्ग के विषय में सर्ग ११ के प्रथम श्लोक की टिप्पणी देखो।

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः । समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान् ॥५॥
सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् । पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥६॥
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा । इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥७॥
मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् । तदर्थं + हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥८॥
तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा । कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥९॥
ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् । वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम् ॥१०॥
ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः । सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥११॥
संभाराः संभ्रियन्तां ते ❀ तुरगश्च विमुच्यताम् । सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥१२॥
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता । ततस्तुष्टोऽभवद् राजा श्रुत्वैतद्द्विजभाषितम् ॥१३॥
अमात्यांश्चाब्रवीद् राजा हर्षपर्याकुलेक्षणः । संभाराः संभ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥१४॥
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् । सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥१५॥
शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि । शक्यः प्राप्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥१६॥
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे । छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥१७॥
निहतस्य च यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति । तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥१८॥

इसके पश्चात् शीघ्रकार्य करनेहारे सुमन्त्र ने शीघ्र जाकर सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वसिष्ठ और जो अन्य श्रेष्ठ द्विज थे, उन सम्पूर्ण वेद के पारंगत [पुरुषों को] अच्छे प्रकार बुलाये ॥ ५, ६ ॥ तत्पश्चात् धर्मात्मा राजा दशरथ ने उन सबकी पूजा करके धर्म और अर्थयुक्त विनम्र वचन कहा—॥ ७ ॥ पुत्र के लिए विलाप करते हुए मुझे कोई सुख नहीं है [इसलिए] पुत्रप्राप्ति के लिए मैं अश्वमेध से यज्ञ करूँ ऐसा मेरा विचार है ॥ ८ ॥ इसलिए मैं शास्त्रों की विधि से [अश्वमेध] यज्ञ करना चाहता हूँ, मैं कामना को कैसे प्राप्त होऊँ—अर्थात् मेरी इच्छा कैसे पूरी हो, इस विषय में उपाय कर विचार करें ॥ ९ ॥ उसके अनन्तर राजा के मुख से निकले हुए वचन को वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणों ने 'बहुत ठीक है' ऐसा [कह कर] स्वीकार किया ॥ १० ॥ और सब परम प्रसन्न होकर दशरथ से बोले—सरयू नदी के उत्तरी किनारे पर यज्ञभूमि तैयार की जाए ॥ ११ ॥ यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की जाए और तुम्हारा अश्व छोड़ा जाए। हे राजन्! सब प्रकार से इच्छित पुत्रों को प्राप्त होओगे। ॥ १२ ॥ जिस तुम्हारी पुत्रविषयक यह धार्मिक बुद्धि उत्पन्न हुई। तदनन्तर ब्राह्मणों के कथन सुनकर राजा प्रसन्न हुये ॥ १३ ॥ हर्ष से गीली आँखों वाले राजा ने अमात्यों से कहा—मेरे गुरुजनों के वचनानुसार [अश्वमेधयज्ञ की] सामग्री का सम्पादन करो ॥ १४ ॥ [रक्षा करने में] समर्थ पुरुषों से युक्त और उपाध्याय के साथ [यज्ञीय] अश्व को छोड़ा जाए और सरयू के उत्तरी तट पर यज्ञभूमि तैयार की जाए ॥ १५ ॥ [अश्वमेध कर्म में उत्पन्न होने वाले विघ्नों के लिए] शान्ति कर्म यथाक्रम और यथाविधि किए जायें, [जिससे] सब राजाओं द्वारा यह यज्ञ प्राप्त किया जा सके (अर्थात् सब इसमें उपस्थित हों) ॥ १६ ॥ इस श्रेष्ठ यज्ञ में कोई कष्ट देने वाला अपराध न हो, ब्रह्म राक्षस विद्वान् यज्ञ कर्म में छिद्र=त्रुटि ढूँढते रहते हैं ॥१७॥ [विधिरहित] नष्ट हुए यज्ञ का कर्त्ता शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए मेरा यह यज्ञ जिस

+ 'पुत्रयागेन' इति तु युक्ततरं स्यात्।

❀ 'सुहृदश्च निमन्त्र्यताम्' इति सम्यक्तरं भवेत्॥

तथाविधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह। तथेति चाब्रुवन् सर्वे मन्त्रिणः प्रतिपूजिताः ॥१९॥
पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तं निशम्य ते। तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥२०॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम्। विसर्जयित्वा तान् विप्रान् सचिवानिदमब्रवीत् ॥२१॥
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं यथावत् क्रतुराप्यताम्। इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान् समुपस्थितान् ॥२२॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः। ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयप्रियाः ॥२३॥
उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात्। तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ॥२४॥
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सुमन्त्रवाक्यं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥



नवमः सर्गः

ऋश्यशृङ्गोपाख्यानम्

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्। [श्रूयतां तत्पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम् ॥ १ ॥
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः। सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥ २ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति।] कश्यपस्य तु पुत्रोऽस्ति विभण्डक इति श्रुतः ॥३॥

प्रकार विधिपूर्वक समाप्त हो ॥१८॥ वैसा कर्म करें। इस कार्य के करने में आप लोग समर्थ हैं। आदर को प्राप्त हुए सब मन्त्रियों ने तथा = 'ऐसा ही होगा' इस प्रकार कहा ॥ १९ ॥ राजा के उस यथाज्ञप्त वाक्य को सुनकर वे धर्मज्ञ द्विज राजाओं में श्रेष्ठ [दशरथ] को आशीर्वादों से बढ़ाते हुए ॥ २० ॥ [राजा से] स्वीकृति पाकर सब जहाँ से आये थे, लौट गये, उन द्विजों को विसर्जित करके [राजा ने] मन्त्रियों से यह कहा ॥ २१ ॥ ऋत्विजों द्वारा कहे हुए इस [अश्वमेध] यज्ञ को यथाविधि बढ़ाओ = सम्पन्न करो, ऐसा कह राजा ने उपस्थित मन्त्रियों को ॥ २२ ॥ विसर्जित करके अपने महल में प्रवेश किया। तदनन्तर उस महातेजस्वी राजा ने अपनी हृदय से प्यारी पत्नियों के [समीप] जाकर ॥ २३ ॥ कहा, [यज्ञ की] दीक्षा में प्रविष्ट होवो, मैं सन्तान के लिए यज्ञ करूंगा। इस अतिप्रिय वचन से उन तेजस्विनी रानियों के मुख कमल वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे सरदी के बीत जाने पर कमल सुशोभित होते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का सुमन्त्रवाक्यविषयक
यह आठवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥



नवम सर्ग

ऋश्यशृंग—उपाख्यान

यह सुनकर सूत (= इतिहास पुराण को जानने हारा[1]) सुमन्त्र नामक सचिव ने एकान्त में राजा से कहा—यह प्राचीन इतिहास जिसे मैंने पुराणों में सुना है, सुनिए ॥ १ ॥ ऋत्विजों से कहा गया यह पुराना वृत्त मैंने सुना है। हे राजन्! भगवान् सनत्कुमार ने तुम्हारे पुत्रप्राप्ति की इस कथा को ऋषियों के सम्मुख कहा था

---

१ टीकाकारों ने सूत शब्द का अर्थ सारथि किया है। हमारे विचार में वह ठीक नहीं। पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यान सुनाने वाले व्यक्ति को भी सूत कहते हैं। पौराणिकःसूतस्स्वन्यः।

ऋश्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो ❀ भविष्यति । स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ॥ ४ ॥
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात् । [द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ॥ ५ ॥
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा ।] तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तत ॥ ६ ॥
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् । एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
अङ्गेषु प्रथितो राजा † भविष्यति महाबलः । तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो ‡ भविष्यति सुदारुणा ॥८॥
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वभूतभयावहा । अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः ॥९॥
ब्राह्मणाञ्छ्रुतवृद्धांश्च समानीय + प्रवक्ष्यति । भवन्तः श्रुतकर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ॥१०॥
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् । इत्युक्तास्ते ततो राज्ञा सर्वे ब्राह्मणसत्तमाः ॥११॥
× वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः । विभण्डकसुतं राजन् सर्वोपायैरिहानय ॥१२॥
आनाय्य च महीपाल ऋश्यशृङ्गं सुसत्कृतम् । प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहित ॥१३॥
तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा ÷ चिन्तां प्रपत्स्यते । केनोपायेन वै शक्यमिहानेतुं स वीर्यवान् ॥१४॥
ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् । पुरोहितममात्यांश्च {} प्रेषयिष्यति सत्कृतान् ॥१५॥
ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता वनताननाः । न गच्छेम ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥१६॥

कश्यप का विभण्डक नाम का प्रसिद्ध पुत्र है ॥ २, ३ ॥ उसका पुत्र ऋश्यशृङ्ग होगा । वह वन में [वनचरों के साथ] बढ़ा हुआ, वन में विचरने वाला मुनि ॥ ४ ॥ वह ब्राह्मणों में श्रेष्ठ नित्य पितृसेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता । इस महात्मा [ऋश्यशृङ्ग] का ब्रह्मचर्य खण्डित होगा ॥ ५ ॥ ऐसा हे राजन् लोक में प्रसिद्ध और विप्रों से सदा कहा गया । उस यशस्वी [ऋश्यशृङ्ग] का इसी प्रकार अग्नि और पिता की सेवा करते हुए काल बीत गया । [अर्थात् वह युवा हो गये], उसी काल में रोमपाद का प्रतापी ॥ ६, ७ ॥ महाबलवान् और प्रसिद्ध राजा अङ्ग देश में होगा । उस राजा के व्यतिक्रम (= राजा के कर्तव्यलोप के कारण) अत्यन्त कठिन (चिरकाल की) अति भयानक (सब देशव्यापी) और सब भूतों को भयभीत करनेवाली अनावृष्टि होने पर राजा दुःखी होकर ॥ ८, ९ ॥ अति विद्वान् ब्राह्मणों को बुला कर पूछेगा-आप सब कार्यों और लौकिक कर्तव्यों के जानने वाले ॥ १० ॥ नियम = कर्त्तव्य का उपदेश करें, जिससे [मेरे दुष्कर्म का] प्रायश्चित्त हो । राजा से इस प्रकार कहे गए सब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ॥ ११ ॥ वेद के पारगामी ब्राह्मण उस राजा को कहेंगे — विभण्डक के पुत्र [ऋश्यशृङ्ग] को सब उपायों से यहाँ लाओ ॥ १२ ॥ हे महिपाल ! अच्छे प्रकार सत्कार किए गए ऋश्यशृङ्ग को लाकर उसे विधिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर [अपनी] शान्ता नामवाली कन्या को दें ॥ १३ ॥ उसके वचन को सुनकर राजा चिन्ता को प्राप्त होगा—वह पराक्रमी (तेजस्वी) किस उपाय से यहाँ लाया जा सकेगा ॥ १४ ॥ तत्पश्चात् आत्मवान् (= जितेन्द्रिय) राजा मन्त्रियों के साथ निश्चय करके सत्कार करके पुरोहित और अमात्यों को भेजेगा ॥ १५ ॥ वे राजा के वचन सुनकर दुखी और मुख झुकाए हुए ऋषि (ऋश्यशृङ्ग) से डरे हुए, हम जाना नहीं चाहते, इस प्रकार राजा की अनुनय (प्रार्थना) करेंगे ॥ १६ ॥

❀ 'महामतिः' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ † 'सत्यसंधो' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ ‡ 'तस्य राष्ट्रे' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ + 'अब्रवीद्वचः' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ × 'अब्रुवन्' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ ÷ 'चिन्तातुरोऽभवत्' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ {} 'प्रेषयामास' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥

१ यह अर्थ गोविन्द की टीकानुसार है । अन्य टीकाकारों ने ब्रह्मचर्याश्रम का तथा गृहस्थसम्बन्धी दो प्रकार का ब्रह्मचारी ऋतुकालगामी रूप अर्थ किया है । इसमें प्रकरणानुसार गोविन्द राज का अर्थ युक्त प्रतीत होता है ।

†वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तान् क्षमान्। आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥१७॥
एवमङ्गाधिपेनैव × गणिकाभिर्ऋषेः सुतः। आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥१८॥
ऋश्यशृंगस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति। [सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ॥१९॥
अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत। यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन सोच्यताम्]॥२०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे ऋश्यशृङ्गोपाख्यानं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

—❀—

दशमः सर्गः

ऋश्यशृङ्गस्याङ्गदेशानयनप्रकारः

[❀ सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा। यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः ॥१॥
तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह। रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः ॥२॥
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः। ऋश्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायतत्परः ॥३॥
अनभिज्ञः स नारीणां विषयाणां सुखस्य च। इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ॥४॥
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम्। गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ॥५॥
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः। श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ॥६॥
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तथा चक्रुश्च ते तदा। वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ॥७॥
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन् यत्नं कुर्वन्ति दर्शने। ऋषिपुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ॥८॥

और वे सोच विचार कर उस को लाने में समर्थ उपायों को कहेंगे। हम विप्र (ऋष्यशृङ्ग) को ले आएँगे और कोई दोष भी नहीं होगा ॥ १७ ॥ इस प्रकार अङ्गदेश के राजा ने गणिकाओ के द्वारा ऋषि के पुत्र (ऋष्यशृङ्ग) को बुला लिया, तदनन्तर वर्षा हुई और [राजा ने] उसे [अपनी कन्या) शान्ता व्याह दी ॥१८॥ [रोमपाद का] जामाता तुम्हारे पुत्रों को उत्पन्न करेगा यह मैंने सनत्कुमार द्वारा कही हुई कथा कही है ॥ १९ ॥ तदनन्तर हर्षित हुए दशरथ ने सुमन्त्र से कहा—जिस प्रकार ऋष्यशृङ्ग लाया गया वह मुझे बताओ ॥ २०॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का ऋष्यशृङ्ग-उपाख्यान-विषयक यह नवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥



दशम सर्ग

[ऋश्यशृंग का अङ्गदेशानयन-प्रकार]

तब राजा से प्रेरित सुमन्त्र यह वचन बोला—मन्त्रियों के द्वारा जिस उपाय से जिस तरह ऋश्यशृङ्ग को लाया गया ॥ १ ॥ वह सब मुझसे कहा हुआ मन्त्रियों के साथ सुनो। रोमपाद से महा अमात्य पुरोहित यह बोले ॥ २ ॥ हमने हानिरहित यह उपाय सोचा है। ऋष्यशृङ्ग वन में विचरने वाले, तप और स्वाध्याय में लगे हुये ॥ ३ ॥ स्त्रियों तथा विषयसम्बन्धी सुखों से अनभिज्ञ हैं। मनुष्य के चित्त को मथने वाले, और मनोहर लगने वाले इन्द्रियों के विषय के द्वारा ॥ ४ ॥ हम [ऋष्यशृङ्ग] को शीघ्र ही नगर में ले आएँगे, यह निश्चित समझें। सुन्दर रूप वाली और अच्छे प्रकार अलंकृत गणिकाएँ [वेश्याएँ] वहाँ जाएँ ॥ ५ ॥ सत्कार को प्राप्त हुई [गणिकाएँ] नाना प्रकार के उपायों से लुभाकर [ऋष्यशृङ्ग को] यहाँ ले आएँगी। यह सुनकर राजा ने पुरोहित से 'तथा' (ऐसे ही हो) कहा ॥६॥ तब पुरोहित और मन्त्रियों ने वैसा ही किया। [उक्त वचन सुनकर] गणिकाएँ उस महावन में प्रविष्ट हुईं ॥ ७ ॥ इस [ऋष्यशृङ्ग] के आश्रम के समीप [रहकर] ऋषिपुत्र, धीर, नित्य आश्रम में रहने वाले [ऋष्यशृङ्ग] के दर्शन में यत्न करती रहीं ॥८॥

† 'अवदन्' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ × 'विभण्डकस्यर्षेः' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥ ❀ सम्पूर्णोऽप्ययं सर्गःप्रक्षिप्तः ॥

पितुः स नित्यसंतुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् । न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ॥ ९ ॥
स्त्री वा पुमान् वा यच्चान्यत् सर्वं नगरराष्ट्रजम् । ततः कदाचित्तं देशमाजगाम यदृच्छया ॥१०॥
विभण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद् वराङ्गनाः । ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वनैः ॥११॥
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् । कस्त्वं किं वर्त्तसे ब्रह्मन् ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ॥१२॥
एकस्त्वं विजने घोरे वने चरसि शंस नः । अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ॥१३॥
हार्दात्तस्य मतिर्जाता ह्याख्यातुं पितरं स्वकम् । पिता विभण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः॥१४॥
ऋश्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि । इहाश्रमपदेऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ॥१५॥
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् । ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ॥१६॥
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वाश्च तेन ताः । आगतानां ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ॥१७॥
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलमिदं फलम् । प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ॥१८॥
ऋषेर्भीतास्तु शीघ्रं ता गमनाय मतिं दधुः । अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि वै द्विज ॥१९॥
गृहाण प्रति भद्रं ते भक्षयस्व च मा चिरम् । ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ॥२०॥
मोदकान् प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्छुभान् । तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते॥२१॥
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् । आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ॥२२॥
गच्छन्ति स्मापदेशात्ता भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः । गतासु तासु सर्वासु कश्यपस्यात्मजो द्विजः ॥२३॥

पिता से सदा सन्तुष्ट, आश्रम से [बाहर कहीं] नहीं गये । उस तपस्वी ने जन्म से लेकर [उस समय तक] कोई भी पूर्व देखी स्त्री, पुरुष अथवा नगर या राष्ट्र में उत्पन्न हुई वस्तु नहीं देखी । [वह] कभी अचानक उस स्थान पर पहुँचा [जहाँ गणिकाएं थीं] ॥ ९, १० ॥ विभाण्डक के पुत्र [ऋष्यशृङ्ग] ने वहाँ उन गणिकाओं को देखा । वे विचित्र वेशवाली और मधुर ध्वनि से गाती हुई स्त्रियाँ ॥ ११ ॥ ऋषिपुत्र के समीप जाकर बोलीं—हे ब्रह्मन् ! तुम कौन हो, क्या करते हो, यह हम जानना चाहती हैं ॥ १२ ॥ तुम अकेले निर्जन घोर जंगल में विचरते हो, हमें [अपना परिचय] दो । उसने वन में, नहीं देखा है पहले रूप जिनका ऐसी कमनीय रूपवाली स्त्रियों को [देखकर] ॥ १३ ॥ उनके दर्शन मात्र से स्नेह उत्पन्न होने से अपने पिता का परिचय देने की उसकी मति हुई । [और कहा] हमारे पिता विभाण्डक हैं और मैं उनका औरस पुत्र हूं ॥ १४ ॥ ऋष्यशृङ्ग यह नाम और कर्म मेरा लोक में प्रसिद्ध है। हे शुभ दर्शनों वालियो ! यहाँ समीपवर्ती हमारे आश्रम में ॥ १५ ॥ आप सबकी विधिपूर्वक पूजा करूंगा । ऋषिपुत्र [ऋष्यशृङ्ग] का वचन सुनकर सबकी इच्छा हुई ॥ १६ ॥ उस आश्रम स्थान को देखने की । उसके साथ वे सब [उसके आश्रम पर गई । ऋषिपुत्र ने आश्रम पर] आई हुई [उन सब] की पूजा की ॥ १७ ॥ यह अर्घ्य (=मुंह धोने का जल) है, यह पाद्य (=पैर धोने का जल) है, ये फल हैं । उन सब ने उत्सुक होकर उस पूजा को स्वीकार कर ॥ १८ ॥ ऋषि से भय को प्राप्त [उन गणिकाओं ने] शीघ्र लौटने की इच्छा की। हे ब्राह्मण ! हमारे भी ये मुख्य फल [हैं] ॥ १९ ॥ [इन्हें] स्वीकार करो, तुम्हारे लिये कल्याण हो, [इन्हें] खाओ, विलम्ब मत करो। तदनन्तर वे सब उसका आलिङ्गन कर प्रसन्न हुईं, [उन्होंने] ॥ २० ॥ उसे मोदक (लड्डू) विविध प्रकार के उत्तम तथा खाद्य पदार्थ दिए । उनको खाकर वह तेजस्वी उन्हें वन में नित्य रहनेवालों से पहले न खाए फल ही समझते रहे । तत्पश्चात् विप्र [ऋष्यशृङ्ग] से पूछकर और व्रतचर्या (=हमें कुछ व्रत करना है ऐसा) कह कर ॥ २१, २२ ॥ वे स्त्रियां उसके पिता से भयभीत होकर बहाना कर चली गईं । उन सब के चले जाने पर कश्यप का आत्मज (पौत्र) द्विज [ऋष्यशृङ्ग]॥२३॥

अस्वस्थहृदयश्चासीद् दुःखाच्च परिवर्तते । ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान् ॥२४॥
विभण्डकसुतः श्रीमान् मनसा चिन्तयन् मुहुः । मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः ॥२५॥
दृष्ट्वैव च तदा विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः । उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ॥२६॥
एह्याश्रमपदं सौम्य ह्यस्माकमिति चाब्रुवन् । चित्राण्यत्र बहूनि स्युर्मूलानि च फलानि च ॥२७॥
तत्राप्येष विधिः श्रीमान् विशेषेण भविष्यति । श्रुत्वा तु वचनं तासां सर्वासां हृदयंगमम् ॥२८॥
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तदा स्त्रियः । तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन् महात्मनि॥२९॥
ववर्ष सहसा देवो जगत् प्रह्लादयंस्तदा । वर्षेणैवागतं विप्रं विषयं स्वं नराधिपः ॥३०॥
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रह्वः शिरसा च महीं गतः । अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै न्यायतः सुसमाहितः ॥३१॥
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा विप्रं मन्युराविशेत् । अन्तःपुरं प्रवेश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि॥३२॥
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः । एवं स न्यवसत्तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ॥३३॥
ऋश्यश्रृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे ऋश्यश्रृङ्गस्याङ्ग-
देशानयनप्रकारो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



अस्वस्थ हृदय (=चलायमान चित्त वाला) हो गया और दुःख से घूमने लगा। तत्पश्चात् अगले दिन वह वीर्यवान् श्रीमान् विभाण्डकपुत्र मन से बार २ चिन्तन करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ उसने उन सुन्दर अलंकृत गणिकाओं को देखा था ॥ २४, २५ ॥ उस विप्र को आते हुए देखकर प्रसन्न मन वाली वे सब उसके पास जाकर यह वचन बोलीं ॥ २६ ॥ हे सौम्य ! हमारे आश्रम पर आओ, यहाँ बहुत प्रकार के मूल और फल हैं ॥ २७ ॥ उस [हमारे आश्रम] में भी [सत्कार] विधि विशेष रूप से होगी । उन सबके हृदयंगम वचन को सुनकर [ऋष्यश्रृङ्ग ने] ॥ २८ ॥ [उनके स्थान पर] जाने की इच्छा की। तब वे स्त्रियाँ उसे वहाँ लेगईं । उस ब्राह्मण महात्मा के वहाँ लाने पर ॥ २९ ॥ देव (=मेघ) जगत् को आनन्दित करता हुआ सहसा बरसा । राजा ने अपने देश में वर्षा के साथ आए हुए विप्र के प्रति ॥ ३० ॥ आगे बढ़कर और मुनि के प्रति विनीत होकर शिर से पृथ्वी को प्राप्त किया अर्थात् साष्टांग प्रणाम किया । और एकाग्रचित्त होकर धर्मपूर्वक उसे अर्घ्य दिया ॥ ३१ ॥ विप्रेन्द्र [ऋश्यश्रृङ्ग] से प्रसन्नता की कामना की, आप क्रुद्ध न हों [ऐसी प्रार्थना की] अन्तःपुर में ले जाकर शान्त मन से यथाविधि 'शान्ता' कन्या को देकर वह राजा हर्ष को प्राप्त हुआ । इस प्रकार उस महातेजस्वी ऋष्यश्रृङ्ग ने सब प्रकार से पूजित होकर 'शान्ता' नाम की भार्या के साथ वहाँ वास किया ॥ ३२, ३३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का ऋश्यश्रृङ्ग का अंगदेशानयन-
प्रकार-विषयक यह दसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥



शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छपेगी

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार गत अंक से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) टाईप प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ कोष्ठ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ **पं० युधिष्ठिरमीमांसक** करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री **पं० अखिलानन्दजी** (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। बिना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक आप [illegible], जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ [illegible]



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०] [अङ्क ११



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

भाद्रपद २०१५ वि०, सितम्बर १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत १९७२९४९०५९

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।ः=)
,, ,, विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक हो चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

16/10 IH 9/3/75

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १० } काशी, भाद्रपद सं० २०१५ वि०, सितम्बर १९५८ ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

सब में रमनेवाला प्रभु

सोमं रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्यं इव स्व ओक्ये॥ ऋग्वेद १।६।२१।१३॥

हे "सोम" सौम्य[1] सौख्यप्रदेश्वर[2]! आप कृपा करके "आरारन्धि नो हृदि" हमारे हृदय में यथावत्[3] रमण करो[4]। (दृष्टान्त) "गावो न यवसेषु" जैसे सूर्य की किरण, विद्वानों का मन और गाय पशु अपने २ विषय[5] और घासादि में रमण करते[6] हैं, वा जैसे "मर्य इव स्व ओक्ये" मनुष्य अपने घर में रमण

अर्थबोधक टिप्पणी

१ सौम्य = अनुकूलः, मधुरः, आकर्षकः।
२ सौख्यप्रदेश्वर = सुख के देने वाले
३ यथावत् = ठीक २
४ रमण करो = Remain : stay.
५ विषय = Object of sense.
६ रमण करते हैं = प्रसन्नता अनुभव करते हैं।

करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त[७] हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिये, जिससे हमको यथार्थ सर्वज्ञान[८] और आनन्द हो ॥

दण्डान्वय-टीका

हे सोम[९]	हे प्रत्येक कार्य के सुसम्पादन से सुख अनुभव कराने वाले
नः हृदि[१०]	हमारे आत्मा में [विराजने और उसे प्रेरणा देने में]
आरारन्धि[११]	[उसी रीति से] पूरी तरह प्रीति से कार्य सम्पन्न करो
न गावः	(इव) जैसे हमारी गायें
यवसेषु	अपने [स्वभाव से प्रिय] घास में [और]
मर्य इव	जैसे मनुष्य
स्व ओक्ये[१२]	अपने घर में [सन्तोष पाते हुए अपना कार्य करते हैं] ॥

७ स्वप्रकाशयुक्त = अर्थात् परमात्मा मनुष्य की तरह दूसरों द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त करता, प्रत्युत स्वयं ही ज्ञानपूर्ण है और दूसरों को ज्ञान देता रहता है।

८ सर्वज्ञान = पूर्ण विकाररहित ज्ञान जो परमात्मा की प्रेरणा और उसकी स्वीकृति से ही प्राप्त हो सकता है।

९ सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः—उ० १ । १४० । शिल्पविद्यासम्पादितरसेनानन्देन वा—दया० यजु० १ । ४ । सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः—श० ५ । १ । २ । १०

१० व्यु०—हृ = प्रसह्यकरणे—जुहो० । हृ = हरणे भ्वा० । हरति विषयान् इति हृदयम् । मनो वा—उ० ४ । १००॥ Heart : Soul : mind : True or divine knowledge Veda : essince of anything.

११ रध् = हिंसासंराध्योः—दिवा० : hurt : Kil : destroy : subdue : cause to cook : Prepare to oppress.

१२ pleasre : Comfortable house.

उपासना-योग

[ले०—श्री० महा० आनन्दस्वामी जी महाराज, देहरादून]

[गतांक से आगे]

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल, सूक्त ५५ मं० ९ का भाष्य करते हुए महर्षि लिखते हैं—"हे मनुष्यो ! वह परमेश्वर योगी जनों को वायु के द्वारा दूत के समान दूर के समाचार तथा पदार्थों को भी जना देता है"। यहाँ भी योग-सिद्धि का वर्णन है, और 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' में महाराज के जीवन की एक घटना यह लिखी है—

एक भक्त ने स्वामी जी से निवेदन किया महाराज ! पातञ्जल शास्त्र का विभूतिपाद क्या सच है ? महाराज ने उत्तर दिया—"आप व्यर्थ ही सन्देह करते हैं, योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिये आप लोग कई वर्ष व्यय कर देते हैं। किन्तु इसके लिये यदि आप तीन मास भी मेरे पास निवास करें, और मेरे कथनानुकूल योगक्रियाएं साधें तो आप योग-शास्त्र की सिद्धियों का स्वयं साक्षात् कर लेंगे।"

इतने उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध हो जाता है कि महर्षि दयानन्द विभूतिपाद की सिद्धियों को वेदानुकूल ही समझते तथा मानते थे ? योगाभ्यास में तो उनकी अटूट श्रद्धा थी, वह स्वयं पूर्ण योगी थे और योग को लौकिक तथा पारलौकिक सफलता का एक मात्र साधन समझते थे। यजुर्वेद अध्याय सात के मंत्र २८ का भावार्थ महर्षि ने यह लिखा है।

"योग विद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता और न पूर्ण विद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी

होता है और न इसके बिना कोई न्यायाधीश सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस योग-विद्या का सेवन निरन्तर किया करें।"

ऋग्वेद १-४८-४ के भाष्य में महर्षि लिखते है?

"जो मनुष्य एकान्त, पवित्र तथा निरूपद्रव देश में भली प्रकार बैठ कर यम से लेकर संयम पर्यन्त नौ उपासनाङ्गों-योगाङ्गों का अभ्यास करते हैं, वे निर्मलात्मा हो कर प्राज्ञ, आप्त और सिद्ध बन जाते हैं। और जो इन सिद्ध योगी जनों का संग तथा सेवा करते हैं, वे भी शुद्ध अन्तःकरण हो कर आत्मयोग के जिज्ञासु बन जाते हैं।"

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इसीलिये महर्षि ने एक पृथक् तथा विशेष अध्याय इसीके सम्बन्ध में लिखने की आवश्यकता समझी, जिसका नाम महाराज ने "अथोपासनाविषयः" रखा और प्रारम्भ में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मंत्र दे कर बतलाया कि वेदों में ईश्वर—उपासना का क्या ढंग लिखा है और सब से पहली जरूरी बात उपासना के लिये यही बतलाई है कि मन को परमेश्वर में जोड़ना चाहिये, और योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य भी यही है कि चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एकत्र करके उन्हें निरुद्ध करना और फिर आत्म-दर्शन पा लेना। और वह दर्शन एक बृहद् ज्योति के रूप में होते हैं।

योग दर्शन में चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करने के कितने ही उपाय बतलाये गये हैं और अन्त में सबसे प्रबल उपाय बतलाया है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

"ईश्वर की भक्तिविशेष से समाधि की सिद्धि हो जाती है।" यही उपासना-योग है, जिसका उल्लेख महर्षि ने किया है। "ईश्वरप्रणिधान" सारे योग दर्शन में बड़ा महत्त्व रखता है, इसीलिये इसका वर्णन "नियमों" में, "क्रिया योग" में और "समाधि पाद" में भी आया है। ईश्वर प्रणिधान के सामान्य अर्थ तो यही हैं कि परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति हो, और अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि इत्यादि से जो भी कर्म किये जायें, वह सारे कर्म और उनके फल परमात्मा के अर्पण किये जायें, परन्तु इसके विशेष अर्थ भी हैं, और वह यह कि उस ईश्वर का वाचक शब्द "ओम्" है, इस ओम् का जप और ओम के अर्थ की भावना साधक के हृदय में निरन्तर बनी रहे। चित्त को सारे सांसारिक संस्कारों से निवृत्त करके केवल अपने प्रियतम प्रभु में स्थिर कर देने का नाम भावना है। केवल ईश्वर ही साधक का ध्येय रह जाये।

भूल जाऊँ मैं सभी को भूल जायें सब मुझे।
देंगे वह दर्शन मेरे हृदय में आकर तब मुझे॥

यह भावना 'ओम्' के जप द्वारा इतनी प्रबल हो कि ओम् का मानसिक उच्चारण होते ही ईश्वर का दिव्य स्वरूप अन्तरात्मा के सामने आ जाये। ओम् जप द्वारा व्यास मुनि ने आत्मदर्शन की बात लिखी है। यह जप चार प्रकार से उपनिषदों के ऋषियों ने बतलाया है। (१) ऊँची लम्बी मीठी स्वर से (२) नासिका के द्वारा भँवरे की स्वर से, (३) सूक्ष्म शरीर में (जो अंगुष्ठ मात्र है) प्रवेश करके मानसिक जप (४) समष्टि आत्मा में व्यष्टि आत्मा को प्रवेश करके केवल ध्यान से। इसकी विधि किसी जानकार से सीख लेनी चाहिये।

परन्तु, इस विधि को सीखने से पूर्व साधक के हृदय में उत्कट इच्छा और श्रद्धा होनी आवश्यक है। सर्व साधारण को जो योग के मार्ग पर चलना चाहते हैं (समाधि पाद के बीसवें सूत्र के अनुसार) पाँच उपायों को प्रयोग में लाना होता है, जिन में से "श्रद्धा" पहले नम्बर पर है, योग मार्ग श्रद्धा का मार्ग है, यह श्रद्धा माता की तरह साधक की हर पग पर रक्षा करती है। दूसरा उपाय जो साधक ने अपनाना है, वह वीर्यवान्—शक्ति और उत्साह से भरपूर होना है। वीर्यवान् होने से स्मृति दृढ़ होने लगती है, तब मन समाहित होना शुरू हो जाता है, जिस से प्रज्ञा खिल उठती है, जड़ चेतन में बुद्धि विवेक करने लगती है। (१) श्रद्धा (२) वीर्य (३) स्मृति (४) समाधि तथा (५) प्रज्ञा यह पाँच उपाय अपने अन्दर साधक को धारण करने होते हैं।

अब योग के पहले तथा दूसरे अंगों को जीवन में ढालना होता है, इसकी सरल विधि यह है कि पहले एक यम "अहिंसा" का अभ्यास शुरू किया जाये।

व्यास मुनि के कथनानुसार "अहिंसा" का तात्पर्य यह है कि "सर्व काल में सर्व प्रकार से सब प्राणियों का चित्त में भी द्रोह न करना।" साधक व्रत धारण करे, प्रतिज्ञा करे कि अब मैंने अहिंसा का व्रत ले लिया है, मेरा चित्त सदा अहिंसा की भावना से भरपूर रहेगा, अपने कमरे में साधक मोटो लगा ले—"मैं अहिंसा पर आरूढ़ रहूँगा", अहिंसा के प्रेमियों की संगति करे, पुस्तक भी ऐसी ही पढ़े। सायं तथा प्रातः आत्म-निरीक्षण करे कि आज मैं अपने व्रत से गिरा तो नहीं, यदि फिसलावट आ गई है तो प्रभु को समक्ष समझ कर फिर प्रतिज्ञा करे कि अब पुनः ऐसी गलती नहीं होगी। ऐसे प्रतिदिन करने से साधक के अन्दर अहिंसा की भावना परिपक्व हो जाती है, उसके मन से घृणा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि की भावनायें मिट जाती हैं, मन महान्, चित्त विशाल और बुद्धि निर्मल हो जाती है, और साधक का जीवन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के छठे मंत्र के अनुसार हो जाता है, जिस में कहा है कि "जो साधक सब प्राणी अप्राणियों को आत्मा में देखता है और समस्त प्राणियों में (अपनी) आत्मा को देखता है, वह (सर्वात्मदर्शी बन) किसी को घृणा नहीं करता।"

सारे यम नियमों की जान अहिंसा नियम है, इसलिये इसका अभ्यास पूर्ण रूप से साधक को कर लेना चाहिये। इस अभ्यास में एक से लेकर तीन मास लग जायेंगे। तब सत्य का अभ्यास आरम्भ कर दे, इसी प्रकार पाँचों यमों को पाँच छह मास के अन्दर जीवन में ढाला जा सकता है, तत्पश्चात् नियमों का अभ्यास दो तीन मास के भीतर परिपक्व हो जाता है।

यम नियमों को जीवन में ढालने के साथ आसन को दृढ़ बनाने का अभ्यास जारी रखना उचित है। आसन दृढ़ बनाने के लिये शरीर का स्वस्थ तथा आहार का सात्विक होना अनिवार्य है। पहले ही दिन शरीर पर बहुत बोझ डालना अच्छा नहीं, आसन का समय धीरे २ पाँच २ मिनट बढ़ाने से सुगमता रहती है, इस प्रकार छह मास या एक वर्ष में ३½ घण्टे का अचल दृढ़ आसन बना लेना चाहिये। साढ़े तीन घण्टे एक ही प्रकार से अडोल आसन रखने से मन स्वयं लय होने लगता है।

आसन दृढ़ करने का अभ्यास करते हुए साथ २ ओम् का उपांशु तथा मानसिक जप भी जारी रहना चाहिये।

कम से कम एक घण्टा का दृढ़ आसन हो जाने के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से सुगमता रहती है। केवल पुस्तक पढ़ कर प्राणायाम शुरू नहीं करना चाहिये, किसी अच्छे अनुभवी व्यक्ति ही से इसकी विधि सीखनी उचित है। रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम द्वारा ही प्राणों का वशीकार हो जाता है। अधिक तीव्र प्राणायाम विशेष रोगों को दूर करने के लिये होते हैं। मन को समाहित करने के लिये कुम्भक ही पर्याप्त है। कुम्भक दो प्रकार का है, एक बाह्य कुम्भक, दूसरा आन्तरिक कुम्भक। प्रश्वास को फैंक कर उसे अपने सामर्थ्यानुसार बाहर रोकना यह बाह्य कुम्भक है। श्वास को अन्दर ले जा कर उसे अन्दर ही शक्ति अनुसार रोकना आन्तरिक कुम्भक कहलाता है। अन्दर के कुम्भक की अवधि धीरे २ बढ़ाते चले जाना चाहिये, परन्तु शक्ति से अधिक रोकना नहीं, यदि सामर्थ्य से अधिक रोका जायगा तो हानि होगी, प्राण सिंह के समान है, जैसे खुले वन में खुले सिंह को बड़ी सावधानी से पकड़ा जाता है, ऐसे ही शरीररूपी वन में प्राण रूपी सिंह को बड़ी सावधानी तथा धैर्य ही से पकड़ना होता है। जिस साधक ने यम नियम अपने जीवन में ढाल लिये हैं और जिसने आसन दृढ़ कर लिया है वह यदि अन्दर का कुम्भक १०½ मिनट का कर ले तो प्राण उसके वश में हो जाते हैं, तब इन्द्रियों के वशीकार में अधिक समय नहीं लगता और इसी समय के अन्दर प्रत्याहार में सफलता मिल जाती है। प्रत्याहार समस्त शक्ति को केन्द्रित करने की कार्य प्रणाली ही का नाम है। फिर धारणा की सफलता तब होती है, जब कुम्भक २१½ मिनट का हो जाता है और ४३ मिनट कुम्भक

होने पर ध्यानावस्था प्राप्त हो जाती है, समाधि अवस्था के लिये ध्यान से दुगना कुम्भक आवश्यक होता है। ये अवस्थायें प्राणायाम के अतिरिक्त मंत्र जप से भी प्राप्त हो सकती हैं, अनुभवो लोगों का अनुभव यह है कि जब जप पर्याप्त संख्या तक पहुँच जाता है तो श्वास प्रश्वास की गति अत्यन्त सूक्ष्म होकर स्वयं प्राणायाम सिद्ध होने लगता है।

इन सारी साधनाओं का मतलब तो यही है कि किसी प्रकार चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायें और मन बाह्य विषयों से सर्वथा रिक्त हो जाये, ताकि आत्मज्योति जाग उठे और परमानन्द से मिलाप हो जाये। उपासना योग का विधान इसी उद्देश्य को सामने रखकर स्वामी दयानन्द ने किया है, महर्षि का यह अटल विश्वास था कि प्रभु की कृपा के बिना कुछ नहीं प्राप्त हो सकता॥ [शेष अगले अंक में]

सांख्य और योग में बन्ध और मोक्ष

[ले०—श्री माननीय स्वा० ओमानन्दजी महाराज, पुष्कर]

[गतांक से आगे]

पुरुष से प्रतिबिम्बित समष्टि चित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होते हुये भी अपने चित्त का द्रष्टा है। अर्थात् चित्त में उसके ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्तों के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम जीव है। जो संख्या में अनन्त हैं, और अल्पज्ञ हैं। समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम ईश्वर, अपर ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, और शबल ब्रह्म है, जो एक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूप से चेतन तत्त्व का नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, परब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म है। पुरुष शब्द का प्रयोग, जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थों में होता है। किस प्रकरण में पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका ठीक ठीक विवेक न रखने के कारण बहुधा विद्वान् सांख्य और योग के वास्तविक स्वरूप के समझने में धोखा खाते हैं। ❀

(२) महत्तत्त्व का विषम परिणाम अहंकार—पुरुष

(चेतन तत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्व में रज, और तम की अधिकता से विकृत होकर अहंकार रूप से व्यक्त भाव में बहिर्मुख हो रहा है। यह अहंकार ही अहंभाव से एकत्त्व बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि रूप सर्व कारक की भिन्नता उत्पन्न करने वाला है। विभाजक अहंकार ही से ग्राह्य और ग्रहण रूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं।

(३) अहंकार का विषम परिणाम ग्राह्य रूप पांच तन्मात्रायें—

❀ पुरुष शब्द का प्रयोग जीव अर्थ में:—

स य एषोऽन्तर्हृदयाकाश, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः॥

अर्थ—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें वह पुरुष है, जो मन का मालिक अमृत और ज्योतिर्मय है।

पुरुष शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

अर्थ—वह पुरुष हज़ारों सिर, हज़ारों नेत्र और हज़ारों पावों वाला है। वह इस ब्रह्माण्डको चारों ओर से घेर कर भी दस अंगुल परे खड़ा है, अर्थात् दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहा है।

पुरुष शब्द परमात्मा (शुद्ध चेतन तत्त्व) के अर्थ में—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थ—यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है, पुरुष (परमात्मा = चेतनतत्त्व) इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एक पाद हैं। इसके तीन पाद अमृत स्वरूप अपने प्रकाश (शुद्ध स्वरूप) में हैं।

विभाजक अहंकार ही सत्त्व में रज और तमकी अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली ग्राह्य रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं के रूप में व्यक्त भाव से बहिर्मुख हो रहा है।

(४) अहंकार का विषम परिणाम ग्रहण रूप एकादश इन्द्रियें—

वही अहंकार सत्त्व में रज और तम की कुछ विशेषता के साथ अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेदवाली शक्ति मात्र पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, और ग्यारहवाँ इनके नियन्ता मन के रूप में व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है।

(५) तन्मात्राओं के विषम परिणाम ग्राह्य रूप पाँच स्थूल भूत—

अहंकार से व्याप्य पांचों तन्मात्रायें ही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेदवाले आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी रूप पांचों स्थूल भूतों में व्यक्त भाव से बहिर्मुख हो रही हैं।

इस प्रकार बहिर्मुखता (अवरोहण) में महत्तत्त्व की अपेक्षा अहंकार में, अहंकार की अपेक्षा पाँचों तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों में, और तन्मात्राओं की अपेक्षा, पाँचों स्थूल भूतों में क्रमशः रज और तम की मात्रा बढ़ती जाती है और सत्व की मात्रा कम होती है। यहाँ तक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीर में रज तथा तम का ही व्यवहार चल रहा है। सत्व केवल प्रकाशमात्र ही रह रहा है। महत्तत्व में प्रतिबिम्बित चेतन तत्व भी उपरोक्त राजसी और तामसी आवरणों में आच्छादित होकर स्थूल शरीर और भौतिक जगत् में केवल झलक मात्र ही दिखाई दे रहा है।

ऊपर के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरुष अर्थात् चेतन तत्व के शुद्ध स्वरूप में तथा जड़ अर्थात् गुणों के साम्य परिणाम में न कोई कार्य हो रहा है और न हो सकता है। जड़ तत्व चूँकि त्रिगुणात्मक है, इसलिये चेतन तत्व की सन्निधि मात्र से होने वाले विषम परिणाम ही ग्राह्य और ग्रहण रूप में तीनों गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सारे भेद-भाव और कार्य तथा बन्ध और मोक्ष भी हो रहा है। कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् के सम्बन्ध से चेतन तत्व ईश्वर और कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के सम्बन्ध से चेतन तत्व जीव कहलाता है। इसलिये सारा कार्य जीव, ईश्वर और प्रकृति इन तीनों तत्वों में ही हो रहा है और हो सकता है। ईश्वर को समष्टि और जीव को व्यष्टि रूप में जड़ चेतन का सम्मिश्रण समझना चाहिये।

कारण जगत् अर्थात् समष्टि विशुद्ध सत्वमय चित्त एक है, इसलिये ईश्वर एक है चूँकि इसमें जीवों के प्रति कल्याण करने का संकल्प, वेदों का ज्ञान, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि सारी शक्तियाँ निरतिशयता को प्राप्त किये हुये हैं, इस लिये ईश्वर इन लक्षणों से युक्त है। सत्व चित्त अर्थात् कारण शरीर संख्या में अनन्त हैं, इस लिये जीव संख्या में अनन्त हैं। ये विशुद्ध सत्वमय चित्त की अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, और अल्प शक्ति वाले हैं, इस लिये जीव भी इन लक्षणों से युक्त हैं। ये सत्व चित्त चूँ कि सत्व की विशुद्धता को छोड़ हुये हैं इसलिये इनमें लेश मात्र तम है, जिस में अविद्या वर्त्तमान है। अविद्या से आत्मा और चित्त में अभिन्नता की प्रतीति वाला अस्मिता क्लेश उत्पन्न हो रहा है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (सा.पा.सू.६)

अर्थः—द्रष्टृ शक्ति आत्मा और दर्शन शक्ति चित्त का एक स्वरूप जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है।

अस्मिता क्लेश से राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्म से जन्म आयु और भोग, उनमें सुख और दुःख होते हैं। इस प्रकार बन्ध की शृंखला बढ़ती जाती है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः (यो.सा.पा.सू.१७)

अर्थः—द्रष्टा और दृश्य का संयोग "हेयहेतु" (दुःख का कारण) है।

तस्य हेतुरविद्या (यो. पा. सू. २४)

अर्थः—इस संयोग का कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्
(यो० सा. पा. सू. २५)

अर्थः—उसके (अविद्या के) अभाव से संयोग का अभाव "हान" है। वह चिति शक्ति का कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः (यो० सा. पा. सू. २६)

अर्थः—अविप्लव विवेकख्याति हान का उपाय है।

इस विवेकख्याति की अवस्था में सत्त्व चित्त में सत्त्व की विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि उसके लेश मात्र तम में जो अविद्या वर्त्तमान थी, वह अपने अस्मिता क्लेश आदि परिवारसहित दग्ध बीज भाव को प्राप्त होने लगती है और तम उस सात्त्विक वृत्ति को रोकने का काम करता रहता है। उस विवेक-ख्याति में जो आत्म-साक्षात्कार होता है, उससे सत्त्व चित्त की विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि उस वृत्ति को स्थिर रखने वाले तम को भी दबादे। तब उस अन्तिम सात्त्विक वृत्ति के भी निरुद्ध हो जाने पर आत्मा की असम्प्रज्ञात समाधिरूप परमात्मस्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। यही वास्तव में प्राकृतिक मोक्ष का नमूना है।

किन्तु विवेकख्याति की प्राप्ति का उपाय अष्टांग-योग बतलाया है।

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः। (यो. सा० पा. सू. २८)

अर्थः—योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

योग के आठ अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बतलाये गये हैं। इन में सब से अन्तिम अङ्ग (सम्प्रज्ञात) समाधि है। इस सम्प्रज्ञात समाधि की चार भूमियाँ वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दा-नुगत, और अस्मितानुगत हैं।

ऊपर हमने अवरोह क्रम बतला दिया है। इससे उलटे आरोह क्रम (Ascent) में जितनी अन्त-मुखता बढ़ती जावेगी, उतना ही रज और तम का विक्षेप तथा मल हट कर सत्व का प्रकाश बढ़ता जावेगा। और इस सत्व के प्रकाश में चेतन (आत्मस्पर्श) की अधिक स्पष्टता से प्रतीति बढ़ती जावेगी। यही क्रम बन्ध हटने और मोक्ष की प्राप्ति का है।

इस आरोह क्रम में सबसे पहली अवस्था वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें रज और तम के दबने पर सत्त्व के प्रकाश में स्थूल भूतों और उनके व्यवहार के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस भूमि का सम्बन्ध चूँ कि पाँचों स्थूल भूतों और उनसे बने हुये स्थूल पदार्थ, स्थूल शरीर और स्थूल जगत् (भूः, भुवः अर्थात् पृथ्वी और नक्षत्र लोक) से है, इसलिये इस भूमि तक वैकारिक बन्ध बतलाया गया है।

(२) दूसरी अवस्था विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें रज और तम के अधिक दबने पर सत्त्व के अधिक प्रकाश में पाँचों स्थूल भूतों के कारण पाँचों सूक्ष्म भूतों का उनकी सूक्ष्मता के तारतम्य से पाँचों तन्मात्राओं तक का साक्षात्कार होता है। और उसका सम्बन्ध पाँचों सूक्ष्म भूत, सूक्ष्म शरीर, और सूक्ष्म जगत (चन्द्रलोक, सोम-लोक अथवा स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् जो एक प्रकार से सूक्ष्मता की अवस्थायें हैं) से है, और इनमें आसक्त योगी इस पुनरावर्तिनी मुक्ति को प्राप्त होता है। इसलिये इस वैकारिक मोक्ष अर्थात जन्म, मृत्यु, जरा और रोग से तो मोक्ष हो जाता है. किन्तु इसमें दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेष आदि मानसिक विकार बने रहते हैं। इसलिये इसे दाक्षिणिक बन्ध बतलाया गया है।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य।
(सां० अ० ५ सूत्र ७६)

अर्थः—विशेष गति का प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप से निष्क्रिय है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि।
(सां० अ० ५ सूत्र ८४)

अर्थ:—संयोग वियोगान्त है, इसलिये किसी देशविशेष (चन्द्रलोक के अन्तर्गत किसी सूक्ष्म लोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है।

(३) तीसरी अवस्था आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें तन्मात्राओं के रज और तम दब जाने पर सत्त्व के प्रकाश बढ़ने पर उनके कारण अहंकार का 'अहमस्मि' वृत्ति से साक्षात्कार होता है। इस सत्त्व के आनन्द और प्रकाश में चेतन तत्त्व की इतनी स्पष्टता से प्रतीति होती है कि कुछ योगी इसी अवस्था को आत्म-स्थिति समझ कर इसी में आसक्त हो जाते हैं और शरीर त्यागने पर दिव्य लोकों से परे होकर उनके काल की अवधि से अधिक समय तक कैवल्य जैसे आनन्द को भोगते रहते हैं। ये विदेह कहलाते हैं।

(४) चौथी अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की है, जिसमें अंहकार के रज और तम के दब जाने पर सत्त्व के प्रकाश में उसके कारण चित्त का साक्षात्कार 'अस्मि' वृत्ति से होता है। इस सत्त्व के प्रकाश में चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य (आत्म-स्पर्श) की इतनी स्पष्टता से प्रतीति होती है कि कई योगी इसी अवस्था को आत्म-स्थिति समझ कर इसी में आसक्त होते हैं और शरीर त्यागने पर इस अवस्था मे दिव्य लोकों से भी अधिक अवधि तक कैवल्य जैसे आनन्द को भोगते रहते हैं। ये प्रकृति-लय कहलाते हैं।

उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् के बन्ध से तो मोक्ष हो जाता है किन्तु इसमें भी प्राकृतिक बन्ध बना रहता है। विदेहों को अहंकार का और प्रकृति-लयों को अस्मिता का। यथा

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् (सांख्य ५।७४)

अर्थ:—आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, क्योंकि वह (आत्मा का) धर्म नहीं है (किन्तु अन्तः करण का धर्म है)।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्।
(सांख्य १।५४)

अर्थ:—कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होने से पुरुष को कृतकृत्यता (स्वरूप-अवस्थिति) नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें डुबकी लगाने वाले के समान (पानी से ऊपर) आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिये उठना (मनुष्यलोक में आना) होता है।

असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य की अवस्था में केवल इतना भेद है कि असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त में निरोध के संस्कार से अन्य सब व्युत्थान के संस्कार दबे रहते हैं और वह आत्माकार प्रतीत होता है। और आत्मा की शुद्ध परमात्मा स्वरूप में अवस्थिति होती है, किन्तु कैवल्य में चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (कै.पा.सू.३४)

अर्थ:—पुरुषार्थ से शून्य हुये गुणों का अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है। अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है॥

'ईश्वरासिद्धेः'

[ले०—श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, विद्याभास्कर बनैल, बुलन्दशहर]

महर्षि कपिल के विषय में पर्याप्त समय से विद्वानों की यह भावना रही है कि वह निरीश्वरवादी था। इस वादकी पुष्टि के लिये शीर्षस्थ सूत्र को प्रस्तुत किया जाता है। कपिल-प्रोक्त सांख्यशास्त्र में अन्य अनेक ऐसे प्रसंग व सूत्र हैं, जिनको ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये सुपुष्ट प्रमाण में उपस्थित किया जा सकता है, परन्तु इतना सब देखने व विचारने का कष्ट उठाने के लिये कोई तैयार नहीं रहता। इसके विपरीत शीर्षस्थ सूत्र इतना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है, कि प्रस्तुत विषय में थोड़ी भी रुचि रखनेवाले व्यक्ति इस सूत्र से परिचित पाये जाते हैं, और प्रसंग आने पर पदे पदे कपिल की निरीश्वरवादिता को स्पष्ट प्रमाणित करने के लिये इस सूत्र की उद्घोषणा किया करते हैं। सूत्र किस प्रसंग में है, इसकी विशेष अपेक्षा न रखते हुए सूत्र के स्पष्ट और सरल पदों को देखकर बलपूर्वक कह दिया जाता है कि ईश्वर का कोई अस्तित्व है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

व्याख्याता आचार्यों के द्वारा अपनी भावनाओं व धारणाओं के अनुसार सूत्र की व्याख्या अनेक रूप में की गई है। किन्हीं व्याख्याताओं ने इसे पूर्वपक्ष सूत्र मानकर उत्तरपक्ष द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करके सन्तोष लाभ किया है, और किसी ने उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्त सूत्र मानकर ही इसे प्रौढिवादमात्र कहा है। किसी का ऐसा भी विचार है कि सृष्टिप्रक्रिया में ईश्वर के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं है, उसके विना भी सृष्टिक्रम की व्यवस्था स्पष्ट की जा सकती है—इतना ही तात्पर्य इस सूत्र के कथन में कपिल का है, इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि कपिल को ईश्वर के विषय में कोई सन्देह था, अथवा उसकी मान्यता में कोई विश्वास नहीं था। ईश्वर में विश्वास न रखने वाले तो ईश्वर के निषेध में इस सूत्र का खुला उपयोग करते ही हैं।

आवश्यकता है गंभीरतापूर्वक इस बात को विचारने की, कि इन सब भावनाओं के बीच कपिल का अपना विचार क्या रहा होगा, और उसकी सचाई को जांचने के लिये हमारे पास क्या साधन हैं? जो हैं, उनका हमें निःसंकोच प्रयोग कर लेना है। प्रथम उस प्रसंग पर विचार प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कपिल ने इस सूत्र का निर्देश किया है।

सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण और परीक्षा के प्रसंग में कपिल ने इस सूत्र का उल्लेख किया है। उस प्रकरण के अपेक्षित सूत्रों की हम अपनी समझ के अनुसार केवल व्याख्या प्रस्तुत कर देना चाहते हैं अन्य व्याख्याकारों के विचारों का खण्डन मण्डन या सन्तुलन कुछ भी यहां उपस्थित नहीं किया जायगा, जो विद्वान् इस विषय में रुचि रखते हैं, वे स्वयं इसके लिये कष्ट करें, और यदि संभव हो तो अपने विचारों को 'वेदवाणी' अथवा अन्य पत्र द्वारा लेखबद्ध प्रस्तुत करने का अनुग्रह करें। प्रत्यक्षलक्षण का सूत्र है—

यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।

जिसके साथ संबद्ध होता हुआ, उसी आकार को धारण करनेवाला विज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाह्य विषय के साथ अपना संपर्क स्थापित करती है, और तत्काल यह विषयाकार हो उठती है। बुद्धि की यह स्थिति 'बुद्धिवृत्ति' कही जाती है। सूत्र में इसी के लिये 'विज्ञान' पद का प्रयोग हुआ है। विज्ञान अथवा इसी बुद्धिवृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सूत्रकार ने यहां बुद्धिवृत्ति को प्रमाण बताकर यह स्पष्ट कर दिया है, कि पुरुष को जो बोध होता है, वह प्रमा अर्थात् प्रमाण का फल है। बुद्धिवृत्ति उस विषय को पुरुष के लिये अर्पण करती है। पुरुष उससे सुख दुःख आदि का अनुभव करता है। यही पुरुष का भोग है।

आत्मा के द्वारा विविध सुख दुःख आदि के भोग से यह न समझना चाहिये, कि आत्मा में किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की संभावना हो सकती है। परिणाम अचेतन का धर्म है, चेतन आत्मा सदा अपरिणामी है। फिर भी चेतन स्वभाव के कारण वह सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, एवं बुद्धिवृत्ति द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। उसका यह अनुभव अथवा ज्ञान

ही 'प्रमा' कहा जाता है। इसीलिये उसका सर्वोत्कृष्ट साधन बुद्धिवृत्ति, प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा की भावना से शिष्य उक्त प्रत्यक्ष लक्षण में दोष की उद्भावना करता है। वह कहता है—योगीजनों को अतीत अनागत तथा व्यवहित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, यह बात शास्त्र तथा व्यवहार-सिद्ध है। परन्तु अतीत आदि अवस्थाओं में चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि का बाह्य विषय के साथ संपर्क तो स्थापित हो नहीं सकता, क्योंकि अतीत अथवा अनागत होने से बाह्य विषय का तब अस्तित्व ही नहीं है, अथवा वह व्यवहित है। ऐसी अवस्था में योगिजनों के प्रत्यक्ष स्थल में यह लक्षण घटित नहीं होगा, और इस प्रकार उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष उपस्थित होगा। सूत्रकार ने शिष्य की इस आशंका का समाधान प्रथम यह कहकर किया, कि हमने प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण साधारण जन की दृष्टि से किया है, योगीजनों को योगज धर्म द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है, उस दृष्टि से नहीं किया गया। सूत्र इस प्रकार है—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः।

योगीजनों का प्रत्यक्ष, बाह्य प्रत्यक्ष न होने से कोई दोष नहीं।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का समझना चाहिये, एक बाह्य प्रत्यक्ष दूसरा अबाह्य प्रत्यक्ष। ग्राह्य विषय की विद्यमानता में सर्वसाधारण जनों को जो प्रत्यक्ष होता है, वह पहला है। इसमें चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाह्य विषय के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित करती है। प्रस्तुत सूत्र में ऐसे ही प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। योगियों को होने वाले प्रत्यक्ष में तो बाह्य विषय के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के सम्पर्क की अपेक्षा ही नहीं होती, इसलिये योगियों के प्रत्यक्ष में यदि प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण घटित नहीं होता, तो कोई दोष नहीं।

शिष्य के द्वारा प्रत्यक्ष के लक्षण में जो अव्याप्ति दोष उपस्थित किया गया, उसके दो समाधान सूत्रकार ने किये हैं। पहले समाधान में अव्याप्ति स्थल को प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर कर दिया है। शिष्य ने योगी के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति दोष उपस्थित किया, क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो माना गया, पर प्रत्यक्ष के लक्षण का उसमें समन्वय नहीं हो पाता। योगी के प्रत्यक्ष में बाह्य विषय के साथ बुद्धि, चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा अपना सम्पर्क स्थापित नहीं करती, पर प्रत्यक्ष के प्रस्तुत लक्षण में इस बात को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। इस स्थिति में सूत्रकार ने कहा, कि यह लक्षण योगी के प्रत्यक्ष का नहीं किया गया। इस प्रकार योगी के प्रत्यक्ष को प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर कर दिया। उपस्थित किये गये अव्याप्ति दोष का यह प्रथम समाधान है, जो इस सूत्र से प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा समाधान अगले सूत्र से किया गया है। वहाँ बताया, कि योगी के प्रत्यक्ष में भी इस लक्षण का समन्वय हो जाता है। योगी का प्रत्यक्ष, प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर नहीं रहता, इसलिये अव्याप्ति दोष की संभावना ही नहीं। कारण यह है, कि सांख्य, वस्तु की उत्पत्ति के विषय में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसका अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक कार्य अपने कारण रूप में सदा विद्यमान रहता है, किसी वस्तु का सर्वात्मना नाश नहीं होता। जो कार्य, व्यवहार में अब अतीत कहा जाता है, वह अपने कारण में उसी रूप से अब भी विद्यमान है। इसी प्रकार अनागत वस्तु भी अपने कारण में विद्यमान रहती है। योगज शक्त्यतिशय के सहयोग से योगी की बुद्धि, कार्यमात्र के मूल कारण के साथ वस्तुजिज्ञासा लेकर अपना सम्पर्क स्थापित करती है, और उस स्थिति में प्रत्येक वस्तु का साक्षात् करती है। सूत्रकार ने इसी अर्थ को इस सूत्र से स्पष्ट किया है।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः।

इस सूत्र में 'लीनवस्तु' पद मूल प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसमें समस्त वस्तु लीन हो जाती हैं, कार्य मात्र के लय का मूलस्थान। ऐसा तत्त्व त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति है। यहां 'प्रकृति' पद का प्रयोग न करके उसके लिये 'लीनवस्तु' पद का प्रयोग इसीलिये किया है, जिससे कार्य मात्र का मूल कारण में लय होना ध्वनित किया जा सके। सूत्रार्थ यह होगा—

लीनवस्तु प्रकृति के साथ (लब्ध) प्राप्त (अतिशय) योगजन्य शक्त्यतिशय द्वारा (सम्बन्धात्) संबन्ध से संपर्क से (वा) अथवा (अदोषः) प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति आदि कोई दोष नहीं। [लीनवस्तुना-प्रधानेन **मूलकारणेन सह लब्धोऽतिशयेन-योगजशक्त्यतिशयद्वारा यः सम्बन्धः तस्मात् प्रत्यक्ष-लक्षणे नाव्याप्ति-दोष इत्यर्थः**]।

योगी अतीत अनागत वस्तु को प्रत्यक्ष करने की इच्छा से योगजन्य शक्त्यतिशय द्वारा अपनी बुद्धि का सम्बन्ध मूल प्रकृति के साथ स्थापित कर लेता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति कार्यमात्र का मूल उपादान होने से कारणात्मना समस्त कार्य उसमें उपस्थित रहते हैं। जो सर्वसाधारण के लिये सर्वथा अदृश्य वस्तु है, योगी योगज शक्ति से उसका प्रत्यक्ष कर लेता है, योगी प्रकृति में जिस कार्य का प्रत्यक्ष करना चाहता है, उसकी बुद्धि तदाकार हो उठती है, इस प्रकार योगी को अतीत अनागत का प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं रहता। सर्व साधारण के प्रत्यक्ष और योगी के प्रत्यक्ष में अन्तर इतना ही है, कि पहले में विषय के साथ बुद्धि का सम्बन्ध चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है, जब कि दूसरे में योगज शक्ति द्वारा, बुद्धि का विषयाकार हो जाना दोनों में समान है, जो प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

इस प्रसंग से जगत् के मूल उपादान तत्त्व के रूप में प्रकृति का निर्देश होने पर उसकी दृढ़ता के लिये शिष्य पुनः आशंका करता है, वह कहता है, कि वैदिक साहित्य तथा उपनिषद् आदि के अनेक स्थलों में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर चेतन ईश्वर को ही जगत् का उपादान कारण मान लिया जाना चाहिये, फिर अतिरिक्त प्रकृति को उपादान मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने किया—

ईश्वरासिद्धेः।

जैसा ईश्वर तुम बताना चाहते हो, वह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है, कि जगत् का उपादानभूत ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाणों के द्वारा सिद्ध की जाती है। जगत् का उपादानभूत ईश्वर किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण संभव नहीं, क्योंकि किसी भी अवस्था में हम ईश्वर को जगत् रूप में परिणत होते हुए देख नहीं सकते।

अनुमान भी संभव नहीं है, क्योंकि—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।

किसी भी चेतन के अस्तित्व की दो अवस्था मानी जाती हैं, मुक्त अथवा बद्ध। यदि ईश्वर मुक्त है, तब जगत् उसका परिणाम कैसे होगा ? क्योंकि उस अवस्था में ईश्वर परिणामी हो जायगा। वह मुक्त नहीं रह सकता। यदि बद्ध माना जाय, तो धर्म अधर्म आदि के साथ सम्बन्ध होने से वह ईश्वर कैसे रहेगा ? इस प्रकार किसी भी अवस्था में जगत् का उपादान भूत ईश्वर अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि ईश्वर को जगत् का उपादान मानने पर उसकी बद्ध या मुक्त कोई अवस्था संभव नहीं हो सकती।

शिष्य पुनः आशंका करता है, बद्ध या मुक्त अवस्था कुछ भी हो, कार्य से कारण का अनुमान तो हो जायगा। सूत्रकार अगले सूत्र से समाधान करता है—

उभयथाप्यसत्करत्वम्।

ईश्वर को बद्ध या मुक्त कैसा भी मानने पर उसे चेतन तो मानना ही होगा। यह स्पष्ट सिद्ध है, कि समस्त दृश्य अदृश्य जगत् अचेतन है। तब चेतन ईश्वर का जगद्रूप अचेतन परिणाम कैसे होगा ? यदि वस्तुतः चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम माना जाता है, तो चाहे ईश्वर को मुक्त कहिये या बद्ध, उसे परिणामी अथवा विकारी होने से कोई बचा नहीं सकता। इस प्रकार कार्य से उपादान कारण का अनुमान करने पर ईश्वर को अचेतन मानना होगा, पर ऐसा ईश्वर कहीं शास्त्रों अथवा श्रुतियों में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव जगत् का उपादानभूत ईश्वर असिद्ध है, यही कहना होगा। सूत्र में 'असत्करत्वम्' का अर्थ—अचेतनपरिणामित्व है। मुक्त या बद्ध दोनों अवस्थाओं में चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम होना प्रमाणविरुद्ध है, ऐसा कार्यकारणभाव सर्वथा अमान्य है।

शिष्य पुनः आशंका करता है, यदि उपादानभूत ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण संभव नहीं, तो शब्द प्रमाण उसका साधक है। उपनिषद् आदि में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर ईश्वर को जगत् का उपादान कारण माना जाना चाहिये। अतः यह शब्द प्रमाण से सिद्ध है, ऐसा ईश्वर असिद्ध नहीं। सूत्रकार समाधान करता है—

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा।

नित्य मुक्त आत्मा परमात्मा है, औपनिषदिक प्रसंगों में उसकी प्रशंसा के वर्णन विविध रूप में किये गये हैं। यही आधार उसकी उपादानता के वर्णनों का है। अभिप्राय यह है, कि परमात्मा की प्रशंसा की भावना से केवल उस प्रकार के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भगवद्भक्त जब उसकी उपासना में सक्रिय होता है, तब वह केवल उसी के अस्ति-

त्व को अपने सन्मुख देखना चाहता है, और उसी को सब कुछ कल्पना कर लेता है। माता पिता बन्धु सखा विद्या धन और सर्वस्व तक। तब उसे जगत् का उपादान कह देना भी आश्चर्य नहीं। परमात्मा के ऐसे स्वरूप का उपयोग केवल उपासना आदि में होता है, वह अर्थ की वास्तविकता को प्रकट नहीं करता। इस प्रकार केवल उपासना आदि के लिए निर्धारित परमात्मा के स्वरूप की प्रशंसा में उपादानता का संकेत करने वाले वाक्यों का समन्वय किया जाना चाहिये।

अथवा सूत्र के 'उपासा' और 'सिद्धस्य' ये दोनों पृथक् पद हैं। 'सिद्ध' पद परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् आदि के कतिपय स्थलों में जो स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से परमात्मा को जगत् का उपादान बताने के संकेत मिलते हैं, वे केवल परमात्मा की उपासना की दृष्टि से लिखे गये हैं। अभिप्राय यह है, कि इस प्रकार के समस्त उल्लेखों का सामंजस्य परमात्मा की प्रशंसा अथवा उपासना आदि में ही उपयुक्त होता है, वह अर्थ की वास्तविकता के आधार पर नहीं है। फलतः परमात्मा जगत् का उपादान कारण है, इस कथन में शब्द को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ईश्वर की जगदुपादानकारणता सब प्रमाणों के आधार पर असिद्ध है।

शिष्य जिज्ञासा करता है यदि सांख्य में ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं माना गया, तो उसकी स्थिति का क्या स्वरूप माना गया है? सूत्रकार ने कहा—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।

ईश्वर के सन्निधान से (प्रकृति में सब प्रकार की प्रवृत्ति होने से, वह) अधिष्ठातृस्वरूप होता है, मणि के समान।

जगत् के मूल उपादान-अचेतन प्रकृति में कोई भी प्रवृत्ति-चेतन की अपेक्षा या प्रेरणा के विना-स्वतन्त्र रूप से नहीं होती। समस्त विश्व के सर्ग और संचालन आदि का नियन्ता एक चेतन है। जैसे अयस्कान्त मणि [चुम्बक] लोह धातु में सान्निध्य मात्र से क्रिया विशेष को उत्पन्न कर देती है, इसी प्रकार चेतन परमात्मा केवल अपने सान्निध्य से समस्त प्रकृति का संचालन करता है। प्रकृति में प्रत्येक क्रिया विकार या परिणाम चेतन की प्रेरणा से होता है। जिस प्रकार मणि में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है, कि वह लोह धातु को विचलित कर दे, इसी प्रकार चेतन का यह स्वभाव है, कि अचेतन को वह प्रेरणा दे। प्रेरणा, संकल्प या सान्निध्य चेतन की एक ही स्थिति का निर्देशन करते हैं।

मणि का केवल इतने अंश में उदाहरण है, कि वह अपने एक सामर्थ्य विशेष के कारण अन्य धातु विशेष को सक्रिय बना देती है। इस प्रकार अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन का सान्निध्य निमित्त है, यही चेतन के अधिष्ठातृत्व का स्वरूप है। फलतः चेतन, जगत् का उपादान न होकर अचेतन उपादान प्रकृति में प्रकृति का निमित्त होता है। समस्त विश्व का नियन्ता व अधिष्ठाता, अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति आदि न्यूनताओं के कारण जीवात्मा संभव नहीं, इसलिये सांख्य में समस्त प्रकृति के नियन्ता व अधिष्ठाता रूप में एक चेतन सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि जड़ जगत् का मूल उपादान ईश्वर नहीं, प्रत्युत प्रकृति है, इसलिये समस्त अतीत अनागत कार्य अपने मूल उपादान प्रकृति में कारणरूप से अवस्थित रह सकते हैं, और योगी योगज शक्ति के द्वारा प्रकृति के साथ सम्पर्क स्थापित कर अतीत अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर पाता है, इसलिये प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकरण के व्याख्यान में व्याख्याकारों ने विभिन्न विचारों का प्रदर्शन किया है। मुख्यतया उन विभिन्नताओं की दो दिशा हैं। एक है—कपिल ने यहां ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। मध्यकाल के व्याख्याकारों की मुख्य दिशा यही रही है। इसके आधार पर उन्होंने कपिल को अनीश्वरवादी तथा नास्तिक तक कहने का साहस किया है पर चिन्तनीय यही है, कि वे कपिल की आन्तरिक भावना तक पहुँचने के लिये यत्नशील नहीं रहे। कतिपय आधुनिक विद्वान् तो इस आधार पर कपिल को अनीश्वरवादी कहते हैं। कि वह ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं मानता। पर वस्तुतः थोड़ा भी गंभीरता से देखा जाय, तो वास्तविक अनीश्वरवादी वे ही विचारक हैं, जिन्होंने ईश्वर को जगत् का उपादान कारण बताया है। ऐसा कहकर वे विद्वान् वस्तुतः अचेतन प्रकृति को ईश्वर का नाम दे देते हैं, और ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को उखाड़ फेंकते हैं।

व्याख्याकारों की दूसरी दिशा यह है, कि वे इस प्रकरण में किसी रूप से भी ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान नहीं बताते। उन्होंने इन सूत्रों का अनेक रूप से मनमाना अर्थ किया है, न उनको सर्वात्मना प्रकरण में संगत कहा जा सकता है, और न वैसी व्याख्या करते, हुए सांख्य सिद्धान्तों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वस्तुतः सब व्याख्याकारों ने उक्त सूत्र [ईश्वरासिद्धेः] की अवतरणिका के सम्बन्ध में गंभीरतापूर्वक नहीं सोचा, इसी कारण वे वास्तविकता से बहुत दूर भटक गये हैं। अधिक व्याख्याकारों ने यह समझा, कि ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्ष में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हटाने के लिये यह सूत्र लिखा गया। पर इस अव्याप्ति का परिहार तो ठीक वैसे ही हो सकता है, जैसे योगी के प्रत्यक्ष में किया गया है। योगी योगज शक्ति के द्वारा प्रकृति अथवा तज्जन्य समस्त अतीत अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है, और परमात्मा में इस प्रकार की अनन्त शक्ति स्वतः वर्त्तमान रहती है। वह तो समस्त कार्य कारण जगत् व हमारी दृष्टि से बने अतीत अनागत को पूर्ण रूप में वर्त्तमान के समान देख रहा है, उसका सम्बन्ध तो प्रत्येक पदार्थ के साथ बराबर बना है। फिर ईश्वर को होनेवाले प्रत्यक्ष में अव्याप्ति की संभावना कहां ?

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि ईश्वर को होनेवाले प्रत्यक्ष की उक्त लक्षण में अव्याप्ति अथवा समन्वय के प्रश्न का उत्तर—ईश्वर की असिद्धि—कैसे होगा ? यह तो 'आम्रान् पृष्टः काविदारानाचष्टे' न्याय को चरितार्थ करता है। पूछा गया आमों के सम्बन्ध में, कथा कचनार की छेड़ दी।

यदि यह कहा जाय, कि 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' के अनुसार जब ईश्वर ही असिद्ध है, तो प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति का अवकाश ही न रहेगा, तब फिर यह प्रश्न उठाया ही क्यों गया ? यदि ईश्वर की असिद्धि को प्रकट करने के लिये, तो यह कथन सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध होगा, क्योंकि इसी प्रकरण के अन्त में समस्त जगत् के अधिष्ठाता रूप में चेतन को स्वीकार किया गया है। तथा तृतीयाध्याय में 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' तथा 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' इन सूत्रों से समस्त जगत् का नियन्ता व व अधिष्ठाता ईश्वर स्वीकार किया गया है।

पुनः आगे पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर को कर्मफलप्रदाता कहकर उस प्रकरण के अन्त में जगत् के प्रति उसकी उपादानता का निषेध करते हुये प्रकृति की उपादानता का प्रतिपादन किया है। जिन व्याख्याकारों ने प्रस्तुत प्रकरण को ईश्वर के प्रत्याख्यान में लगाया है, क्या कपिल को उन्होंने इतना भ्रान्त समझा होगा, जो एक ही सांस में ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कहा जाता। फलतः इन उल्लेखों में वास्तविकता यही है, कि सांख्य में ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन है, तथा जगत् के प्रति उसकी उपादानता का प्रतिषेध है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रसंगवश इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है उस प्रसंग-क्रम को हमने अपने व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया है।

इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वान् इस पर विचार करें, और संभव हो सके तो अपने विचारों को लिपिबद्ध कर 'वेदवाणी' द्वारा प्रकाशित कराने का कष्ट करें, जिससे शास्त्र का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो सके तथा उनसे उपर्युक्त लाभ उठाया जा सके॥

वैदिक प्रार्थना के द्वारा बुद्धि की प्राप्ति

[ले०—श्री पं० वैद्यनाथजी शास्त्री, पंचवटी नासिक]

प्रतिदिन दो समय की संध्या आर्यों के महत्तम कर्तव्यों में है। प्रत्येक प्रातः और सायं काल की संधियें इस कार्य के लिए नियत हैं। प्रार्थना के तीन कर्म हैं। ये हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। इनमें स्तुति केवल परमेश्वर के गुणों के गान और ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। प्रार्थना से मानव का मन इन गुणों के ग्रहण और धारण के योग्य बनता है। इस अवस्था में प्रार्थी परमात्मा से उसके गुणों के प्रदान करने की प्रार्थना करता है। परमेश्वरीय गुण ही मानव के वांछनीय हैं—अभिलषित हैं। विशुद्ध प्रार्थना की स्थिति में मनुष्य के मस्तिष्क का झुकाव पवित्र होता है

विविध समाचार

टंकारा में महर्षि दयानन्द का स्मारक

बड़ौदा, १८ अगस्त। महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के मन्त्री श्री पं० आनन्दप्रिय जी ने एक वक्तव्य में कहा है कि ट्रस्ट की ओर से शीघ्र ही टंकारा में महर्षि दयानन्द स्मारक का निर्माण कार्य प्रारम्भ होने वाला है।

भवन के निर्माण से पूर्व हमें डेढ़ लाख रुपया उसके निभाव के लिये एकत्रित करना है। भवनों का निर्माण इस ट्रस्ट के उत्पादक सेठ श्री नान जी भाई अपनी डेढ़ लाख की धनराशि से करने को उद्यत हैं।

इसके लिये दीपावली तक प्रत्येक नर-नारी कम से कम १० रुपये व्यक्तिगत रूप में भेजकर हमें उपकृत करें॥

अष्टाध्यायी पद्धति का सफल प्रदर्शन

वाराणसी में १९ अगस्त को नागपंचमी के अवसर पर सायं तीन बजे से नागकुआं पर श्री पं० गोपालशास्त्री की अध्यक्षता में अष्टाध्यायी पद्धति के विषय में सभा सम्पन्न हुई। उक्त अवसर पर श्री शास्त्री जी ने पाणिनिव्याकरण की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किस प्रकार अष्टाध्यायी पद्धति से पाणिनिव्याकरण का सुगमता से तथा सर्वांग रूप में ज्ञान ३–४ वर्ष में ही किया जा सकता है, जब कि कौमुदी के ढंग से उतना ज्ञान १२ वर्ष में भी नहीं हो सकता और विद्यार्थी को परिश्रम भी इसमें बहुत करना पड़ता है।

तत्पश्चात् पाणिनि महाविद्यालय के आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने विद्यालय में उपर्युक्त ढंग से पढ़ रहे छात्रों द्वारा अष्टाध्यायी पद्धति का प्रदर्शन किया और बताया कि ६ मास में बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धति द्वारा संस्कृत व्याकरण का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ४ वर्ष में अष्टाध्यायी—महाभाष्य का अध्ययन कर पूर्ण व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। छात्रों द्वारा अल्प समय में ही इतना अध्ययन किये जाने के कारण अष्टाध्यायी पद्धति से जनता बहुत प्रभावित हुई।

अन्त में उपर्युक्त विषय पर अनेक विशिष्ट विद्वानों ने प्रकाश डाला और पाणिनि विद्यालय के अनेक छात्रों ने अपना क्रियात्मक अनुभव भी बताया॥

अजमेर में ऋषि मेला का आयोजन

आर्यसमाज में यह समाचार हर्ष के साथ सुना जायगा कि परोपकारिणी सभा के तत्वावधान में आश्विन शुक्ला चतुर्दशी व पूर्णिमा तदनुसार ता० २६ वा २७ अक्टूबर के आस पास सन् ५८ को ऋषिनिर्वाण स्थली अजमेर में आनासागर के सुरम्य तट पर ऋषि उद्यान में, ऋषि मेला का आयोजन किया गया है।

इस अवसर पर ऋषि निर्वाण अर्द्ध शताब्दी पर स्थापित और संचालित यज्ञशाला में बृहद्यज्ञ का आयोजन किया गया है। दयानन्द सरस्वती भवन के विशाल प्रांगण में महर्षि की जीवनी एवम् उनके चहुँमुखी कार्यों पर विद्वानों के खोजपूर्ण भाषण तथा सुविज्ञ सङ्गीतज्ञों के सुमधुर भक्ति-रसपूर्ण भजन होंगे।

सब आर्य नर-नारी की सेवा में निवेदन है कि इस पवित्र मेला के अवसर पर पधार कर लाभ उठावें।

हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन के समाचार

देश भर में चण्डीगढ़ आर्यसमाज अपमान विरोधी दिवस का आयोजन

६ अगस्त को चण्डीगढ़ आर्यसमाज मन्दिर अपमान दिवस देश भर में बहुत उत्साहपूर्वक मनाया गया। सर्वत्र हिन्दी आन्दोलन के पुनः प्रारम्भ करने की आवश्यकता पर बल दिया गया तथा सरकार द्वारा समझौता तोड़ने और आश्वासन भंग करने की निन्दा की गई।

इसके अतिरिक्त १६ अगस्त को बहु अकबरपुर दिवस तथा २४ अगस्त को वीर सुमेरसिंह बलिदान दिवस भी बहुत उत्साहपूर्वक मनाये गये।

सभी आर्यसमाजों का हिन्दी सत्याग्रह के लिये तैयार रहने का आदेश

जालन्धर, १३ अगस्त। १० अगस्त को यहां आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की हिन्दी आन्दोलन की स्थिति के बारे में एक बैठक सम्पन्न हुई। बैठक में अनेक प्रस्ताव पारित हुए। एक प्रस्ताव के अनुसार सब आर्यसमाज के सदस्यों तथा डी. ए. वी. स्कूल व कालेजों के अध्यापकों, प्रोफेसरों व छात्रों को हिन्दी-रक्षा-सत्याग्रह के लिये तैयार रहने का आदेश दिया गया। सभा ने हिन्दी आन्दोलन में सहयोग देने के लिये एक उपसमिति भी नियुक्त कर दो है। एक और प्रस्ताव के अनुसार सरकार से मांग की गई है कि वह पंजाब की भाषासमस्या को शीघ्र सुलझाये॥

'वाल्मीकिरामायण' का भाषानुवाद

गताङ्क से आगे—पिछले अंक पर "ऋष्यश्रृङ्ग का अंगदेशानयन प्रकार" दसवां सर्ग समाप्त हो चुका। अब आगे "ऋष्यश्रृङ्ग का अयोध्या प्रवेश" ११ वां सर्ग चलेगा—

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक देहली तथा परिशोधक श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

एकादशः सर्गः

[ऋश्यश्रृङ्गस्यायोध्या–प्रवेशः]

[भूय एव हि राजेन्द्र श्रृणु मे वचनं हितम् । यथा स देवप्रवरः कथायामेवमब्रवीत् ॥ १ ॥
इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः । राजा दशरथो नाम श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः ॥ २ ॥
अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।

— रामायण सम्बन्धी विशेष सूचना —

पाठक एक बार ध्यान देकर समझ लें

"वेदवाणी" जुलाई १९५८ से १६ पृष्ठ वाल्मीकीय रामायण के हिन्दी अनुवाद सहित निकल रहे हैं। इसमें संस्कृत श्लोकों तथा उनके हिन्दी अनुवाद दोनों में प्रक्षिप्त अंश का ज्ञान तत्काल लग सके, इसके लिये हमने निम्न प्रकार ढंग रखा है—

(१) जहां से जहां तक पूरा श्लोक प्रक्षिप्त है, या बहुत से श्लोक प्रक्षिप्त हैं, वहां वहां हमने आरम्भ और अन्त में इस तरह [ ] का कोष्ठक (ब्रैकट) लगा दिया है । नीचे उन प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुवाद में सामान्य हिन्दी अनुवाद के टाइप से कुछ बारीक टाइप (सादा पैका) में रखा है । देखकर तत्काल ही संस्कृत और हिन्दी दोनों के प्रक्षेप का पता लग जाता है।

(२) यह भी ध्यान रहे कि हिन्दी अनुवाद में जहां जहां [ ] इस प्रकार का कोष्ठक (ब्रैकट) है, वह प्रक्षिप्त भाग नहीं, अपितु अनुवाद में ऊपर से अध्याहार के रूप में बढ़ाये हुये शब्द हैं, जिससे अर्थ अधिक स्पष्ट हो जावे ।

(३) जहां जहां पूरा श्लोक प्रक्षिप्त नहीं, अपि तु एक दो शब्द या आधा श्लोक ही हमने प्रक्षिप्त माना है, वहां वहां कोष्ठक (ब्रैकट) न देकर भिन्न टाइप (टेढ़ा = इटैलिक टाइप) में उतना अंश छापा है । नीचे हिन्दी पूर्ववत् बारीक टाइप में ही रखी है ।

संक्षेप में—भिन्न टाइप सब प्रक्षिप्त है । अधिक होने के कारण प्रक्षिप्त श्लोकों का टाइप न बदल कर उसके आदि और अन्त में केवल [ ] कोष्ठक (ब्रैकट) में दिया गया है ।

(४) यह भी विदित रहे कि जैसे मेरठ स्वामी प्रेस में आर्यसमाज के नेता, सुयोग्य विद्वान् श्री० पं० तुलसीराम स्वामी जी ने मनुस्मृति छापी थी, उसी प्रकार हम वाल्मीकीय रामायण का यह संस्करण निकाल रहे हैं। जो अब तक कहीं नहीं छपा ।

(५) प्रत्येक काण्ड के अन्त में प्रक्षिप्त होने के कारणों पर विवेचनात्मक लिखा जायगा ।

... उस विप्र का स्वीकार करके दुःखरहित होकर राजा प्रसन्न चित्तसे उस यज्ञ को करेंगे ॥ ७ ॥ यज्ञ की कामना करनेवाले, धर्मवित् हाथ जोड़कर राजा दशरथ उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ऋष्यश्रृङ्ग का [यज्ञ के लिए] वरण करेंगे। उस द्विजश्रेष्ठ से वह राजा अपनी इच्छा को पूर्ण करेंगे ॥ ८–९ ॥ इस राजा के महापराक्रमी, वंश को स्थिर करने वाले, सब लोक में प्रसिद्ध चार पुत्र होंगे ॥ १० ॥ इस प्रकार देवों में श्रेष्ठ भगवान् सनत्कुमार ने पहले देवयुग में यह कथा कही थी ॥ ११ ॥

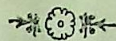
हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज! आप सेनासहित स्वयं जाकर सत्कार करके उन्हें लावें ॥ १२ ॥ सुमन्त्र के वचन सुनकर दशरथ प्रसन्न हुये। वसिष्ठ से अनुमति लेकर और सूत (सुमन्त्र) के वचन को सुनकर ॥ १३ ॥ अन्तःपुर (रानियों) तथा अमात्यों के सहित [वहाँ] गये, जहां वे

सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः । वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ॥१४॥
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुंगवः । आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ॥१५॥
ऋषिपुत्रं ददर्शादौ दीप्यमानमिवानलम् । ततो राजा यथान्यायं पूजां चक्रे विशेषतः ॥१६॥
सखित्वात्तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना । रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ॥१७॥
सख्यं संबन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् । एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ॥१८॥
सप्ताष्टदिवसान् राजा राजानमिदमब्रवीत् । शान्ता तव सुता राजन् सह भर्त्रा विशांपते ॥१९॥
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् । तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ॥२०॥
उवाच वचनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया । ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ॥२१॥
स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया । तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात् संश्लिष्य चोरसा ॥
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् । ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ॥२३॥
पौरेभ्यः प्रेषयामास दूतान् वै शीघ्रगामिनः । क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ॥२४॥
धूपितं सिक्तसंमृष्टं पताकाभिरलंकृतम् । ततः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ॥२५॥
तथा चक्रुश्च तत्सर्वं राज्ञा यत्प्रेषितं तदा । ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ॥२६॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः पुरस्कृत्य द्विजर्षभम् । ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा तं नागरा द्विजम् ॥२७॥

द्विज [ऋष्यशृङ्ग] थे। वन और नदियों को धीरे-धीरे लाँघकर राजा दशरथ ॥ १४ ॥ उस देश को प्राप्त हुये जहाँ वे मुनिश्रेष्ठ रोमपाद के समीप वर्तमान थे ॥ १५ ॥ पहले अग्नि के समान तेजस्वी ऋषिपुत्र को देखा, तत्पश्चात् राजा ने धर्मपूर्वक [उसकी] विशेष पूजा की ॥ १६ ॥ राजा [दशरथ] के मित्र होने से प्रसन्नतापूर्वक रोमपाद ने बुद्धिमान् ऋषिपुत्र [ऋष्यशृङ्ग] को अपनी मित्रता और सम्बन्ध बताया। तदनन्तर [ऋष्यशृङ्ग ने] उस [दशरथ] का सत्कार किया। इस प्रकार राजा दशरथ ने उसके साथ सात आठ दिन अच्छे प्रकार वास करके राजा [रोमपाद] से कहा—हे राजन्! तुम्हारी कन्या शान्ता अपने पति के साथ ॥ १७, १८, १९ ॥ मेरे नगर को चले। बड़ा भारी कार्य है। राजा [रोमपाद] उस बुद्धिमान् (=ऋष्यशृङ्ग) का गमन स्वीकार करके ॥ २० ॥ विप्र [ऋष्यशृङ्ग] से बोले—आप अपनी पत्नी के साथ [अयोध्या को] जावें। ऋषिपुत्र ने स्वीकार करके राजा को 'तथा' ऐसा कहा ॥ २१ ॥ वह नृप [रोमपाद] से स्वीकृति पाकर अपनी भार्या के साथ चले। वे दोनों एक दूसरे को हाथ जोड़कर [अथवा हाथ मिलाकर] तथा स्नेहपूर्वक छाती से आलिङ्गन करके ॥ २२ ॥ दशरथ और पराक्रमी रोमपाद दोनों प्रसन्न हुए। तदनन्तर मित्र से पूछकर रघुनन्दन [दशरथ] ने प्रस्थान किया ॥ २३ ॥ नगरनिवासियों के प्रति शीघ्रगामी दूतों को भेजा [और कहा] शीघ्र ही नगर को अच्छे प्रकार अलंकृत करो ॥ २४ ॥ [सुगन्धित पदार्थों के धुएँ से] धूपित, [जल से] सिंचित, शुद्ध और पताकाओं से अलंकृत [करो]। तदनन्तर राजा के आगमन को सुनकर नगरनिवासी प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥ उस समय सब कार्य वैसे ही किया जैसे राजा ने कहलवाया था। तत्पश्चात् राजा ने शंख, नगारे आदि के शब्दों के साथ द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग को आगे करके अच्छे प्रकार अलंकृत नगर में प्रवेश किया। उस द्विज [ऋष्यशृङ्ग] को देखकर सब नगरनिवासी

प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा । यथा दिवि सुरेन्द्रेण सहस्राक्षेण काश्यपम् ॥२८॥
अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा विधानतः । कृतकृत्यमिवात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥२९॥
अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तदागताम् । सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥३०॥
पूज्यमाना च ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः । उवास तत्र सुखिता कंचित् कालं सहर्त्विजा ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे ऋश्यशृङ्गस्यायोध्याप्रवेशो नाम एकादशः सर्गः ॥११॥



द्वादशः सर्गः

[अश्वमेध-संभारः]

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित् सुमनोहरे । वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत् ॥१॥
ततः प्रसाद्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम् । यज्ञार्थं वरयामास संतानार्थं कुलस्य च ॥२॥

अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २६, २७ ॥ जैसे स्वर्ग में[1] देवों के अधिपति सहस्राक्ष[2] द्वारा कश्यप पुत्र [वामन] को प्रवेश करते देखकर देवलोग प्रसन्न हुए थे, उसी प्रकार इन्द्र के समान कार्य करने वाले नरेन्द्र [दशरथसे] सत्कार को प्राप्त हुए प्रवेश करते हुए [ऋष्यश्रृङ्ग] को [देखकर प्रसन्न हुए] ॥ २८ ॥ अन्तः पुर में लेजाकर विधिपूर्वक सत्कार करके और उसके समीप में प्राप्त होने से [राजा दशरथ ने] अपने आपको कृतकृत्य समझा ॥ २९ ॥ अन्तःपुर के सब लोग विशाल नेत्रों वाली शान्ता को पति के साथ आया हुआ दखकर प्रीति से आनन्द को प्राप्त हुए ॥ ३० ॥ उस [शान्ता ने] उन अन्तःपुर की स्त्रियों से तथा विशेष रूप से राजा से पूजित होकर ऋत्विक् [ऋष्यश्रृङ्ग] के साथ सुखपूर्वक कुछ काल तक वहाँ वास किया ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का ऋश्यश्रृङ्ग का अयोध्या–प्रवेश विषयक यह ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ॥११॥



द्वादश सर्ग

[अश्वमेध-संभार]

तत्पश्चात् बहुत दिन व्यतीत होने पर सुन्दर मनोहर वसन्त ऋतु के प्राप्त होने पर राजा [दशरथ] का यज्ञ करने का मन हुआ[3] ॥ १ ॥ तदनन्तर उन देवसदृश तेजस्वी विप्र [ऋष्यश्रृङ्ग] को शिर से [नमस्कार आदि से] प्रसन्न करके यज्ञ और कुल की सन्तति के लिए वरण किया ॥ २ ॥ उन्होंने पृथिवी-

---

१. स्वर्ग लोक, जिसका इन्द्र अधिपति था, इस पृथिवी पर ही था। पुराने इतिहास के अनुसार हिमालय तथा तिब्बत का उच्चतम प्रदेश स्वर्ग कहाता था। कालिदास ने भी हिमालय को ही देवभूमि कहा है—'पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः' [कुमार संभव ५।४५]।

२. इन्द्र का एक नाम 'सहस्राक्ष' है। साधारण जन भ्रान्तिवश समझते हैं कि इन्द्र के एक हजार नेत्र थे। परन्तु यह बात मिथ्या है। इन्द्रकी दो ही आँखे थीं, फिर उसे 'सहस्राक्ष' क्यों कहते थे। इसका उत्तर आचार्य चाणक्य के कौटिल्य अर्थ शास्त्र के निम्न वचन में इस प्रकार मिलता है—"इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्। स तच्चक्षुः तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः" [अधिकरण १ अ० १५]। अर्थात्–इन्द्र की मन्त्रियों की सभा में एक सहस्र ऋषि थे। वह उन्हीं से देखता था, (उसकी वे ही आँखे थीं)। इसलिए उस दो आंखों वाले को भी 'सहस्राक्ष' (सहस्र आंखों वाला) कहते हैं।

३. यह अश्वमेध का समग्र अथवा कुछ अंश प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इसमें परस्पर विरोध और पुनरुक्तियाँ हैं। यथा—सर्ग ११ के अन्तिम श्लोक में कहा था कि शान्ता ऋष्यश्रृङ्ग के साथ कुछ काल वहां रही। इस श्लोक में 'बहुत काल' बीतने के पश्चात् राजा को यज्ञ करने की इच्छा हुई ऐसा निर्देश है। अष्टम सर्ग में ऋष्यश्रृङ्ग के आगमन

तथेति च स राजानमुवाच वसुधाधिपम् । संभाराः संभ्रियन्तां ते *तुरगश्च विमुच्यताम् ॥३॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् । ततो नृपोऽब्रवीद् वाक्यं ब्राह्मणान् वेदपारगान् ॥४॥
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः । सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ॥५॥
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः । ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ॥६॥
समानयत् स तान् विप्रान् समर्थान् वेदपारगान् । तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥७॥
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् । मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ॥८॥
पुत्रार्थं *हयमेधेन* यक्ष्यामीति मतिर्मम । तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥९॥
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान् प्राप्स्यामि चाप्यहम् । ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ॥१०॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम् । ऋश्यशृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा ॥११॥
संभाराः संभ्रियन्तां ते *तुरगश्च विमुच्यताम् । सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥१२॥
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान् । यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ॥१३॥
ततः प्रीतोऽभवद् राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम् । अमात्यांश्चाब्रवीद् राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम् ॥१४॥
गुरूणां वचनाच्छीघ्रं संभाराः संभ्रियन्तु मे । *समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम्* ॥१५॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् । शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥१६॥

पति राजा की बात को स्वीकार कर ऐसा कहा। यज्ञ की सामग्री संगृहीत करो और तुम्हारा घोड़ा खोल दिया जाए ॥ ३ ॥ सरयू के उत्तरी तट पर यज्ञभूमि बनाई जाए। तदनन्तर राजा ने कहा—हे सुमन्त्र! वेद के पारङ्गत ब्राह्मणों, ऋत्विजों, और ब्रह्मवादियों को बुलाओ—सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि तथा काश्यप, ॥ ४–५ ॥ पुरोहित वसिष्ठ और जो कोई भी श्रेष्ठ द्विज हैं [उनको]। तत्पश्चात् शीघ्र गति और पराक्रम वाले सुमन्त्र शीघ्र जाकर ॥ ६ ॥ उन समर्थ वेदपारङ्गत विद्वानों को बुला लाये। तब धर्मात्मा राजा दशरथ ने उनकी पूजा करके—॥ ७ ॥ धर्म और अर्थ से युक्त मृदु वचन कहा—'पुत्र के लिए तड़फते हुए को कोई सुख नहीं है ॥ ८ ॥ अश्वमेध से पुत्र के लिए यज्ञ करूँ, ऐसी मेरी मति है। इसलिए मैं शास्त्र दृष्ट कर्म द्वारा (विधिपूर्वक) यज्ञ करना चाहता हूँ ॥ ९ ॥ ऋषिपुत्र [ऋष्यशृङ्ग] के प्रभाव से मैं मनोरथों को प्राप्त करूँगा। राजा के मुख से निकला हुआ वचन सुन कर वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणों ने साधु [बहुत ठीक] ऐसा कहकर उनका प्रतिपूजन (अनुमोदन) किया। ऋष्यशृङ्ग आदि [ऋषियों] ने राजा से कहा—॥ १०, ११ ॥ यज्ञसामग्री संगृहीत करो, तुम्हारा [यज्ञ का] घोड़ा छोड़ा जाए और सरयू के उत्तर तट पर यज्ञभूमि बनाओ ॥ १२ ॥ सब प्रकार से अति पराक्रमी चार पुत्रों को प्राप्त करोगे, जिस तुम्हारी पुत्र-विषयक यह धार्मिक बुद्धि उत्पन्न हुई है ॥ १३ ॥ तत्पश्चात् ब्राह्मणों के वचन को सुनकर राजा प्रसन्न हुये और राजा ने मन्त्रियों से हर्षयुक्त शुभ अक्षरों वाला यह [वचन] कहा—॥ १४ ॥ गुरुलोगों के वचनानुसार मेरे यज्ञ की सामग्री को संगृहीत करो। समर्थ पुरुषों से रक्षित और उपाध्यायसहित घोड़े को छोड़ो, ॥ १५ ॥ सरयू के उत्तर तट पर यज्ञभूमि का निर्माण करो और कल्पानुसार विधिपूर्वक शान्ति कर्म किए जायँ। [जिससे] ॥ १६ ॥ सब राजाओं द्वारा यह यज्ञ प्राप्त किया जा सके (अर्थात् सब राजा इसमें उपस्थित हों)।

से पूर्व 'हयमेध' करने की इच्छा का होना, यज्ञ सामग्री का संगृहीत करना, अश्वको छोड़ना और यज्ञभूमि का निर्माण का उल्लेख है। यहां वे ही सारी बातें ऋष्यशृङ्ग के आगमन के अनन्तर कही हैं। इस प्रकार के विरोध के अतिरिक्त अष्टम और द्वादश सर्ग के अनेक श्लोक अक्षरशः समान हैं ॥

* 'सुहृदश्च निमन्त्र्यताम्' (मित्रों को निमन्त्रण दो) इति युक्ततरं स्यात् ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता। नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे ॥१७॥
छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः। विघ्नितस्य हि यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥१८॥
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते। तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥१९॥
तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन्। पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥२०॥
ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिवर्षभम्। अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥२१॥
गतानां तु द्विजातीनां मन्त्रिणस्तान्नराधिपः। विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे [अश्वमेधसंभारो] नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥



त्रयोदशः सर्गः

यज्ञशालाप्रवेशः

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत्। प्रसवार्थं गतो यष्टुं *हयमेधेन* वीर्यवान् ॥१॥
अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च। अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥२॥
यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं मुनिपुंगव। यथा न विघ्नः क्रियते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥३॥
भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान्। वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥४॥

इस यज्ञ में कोई कष्ट देने वाला अपराध न हो, ॥ १७ ॥ ब्रह्म राक्षस विद्वान् यज्ञ कर्म में छिद्र (=त्रुटि) ढूँढते रहते हैं। नष्ट हुए (=विधि रहित) यज्ञ का कर्ता शीघ्र नाश को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ इस लिए मेरा यह यज्ञ जिस प्रकार विधिपूर्वक समाप्त हो, वैसा कर्म करें। आप लोग इस कार्य में समर्थ हैं ॥ १९ ॥ सब मन्त्रियों ने पार्थिवों के स्वामी (राजाधिराज) के उस वचन को सुनकर 'तथा' ऐसा कह कर अनुमोदन किया और आज्ञानुसार कार्य किया ॥ २० ॥ तदनन्तर धर्मज्ञ राजाओं में श्रेष्ठ [दशरथ] की स्तुति करके [उनसे] अनुज्ञा (स्वीकृति) पाकर जहाँ से आए थे (अपने अपने स्थानों को) लौट गए ॥ २१ ॥ ब्राह्मणों के चले जाने पर महातेजस्वी राजा मन्त्रियों को विसर्जित करके अपने महल में गये ॥ २२ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का [अश्वमेधसंभार] विषयक यह बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ॥१२॥



त्रयोदश सर्ग

यज्ञशाला-प्रवेश

वसन्त ऋतु के पुनः प्राप्त होने पर एक वर्ष पूरा हुआ। वीर्यवान् महाराज [दशरथ] पुत्रोत्पत्ति के लिए अश्वमेध से यज्ञ करने के लिए [वसिष्ठ के समीप] उपस्थित हुये ॥ १ ॥ वसिष्ठ को अभिवादन करके और धर्मानुसार सत्कार करके पुत्रोत्पत्ति के लिए द्विज श्रेष्ठ [वसिष्ठ] से विनय युक्त वचन कहे ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् मुनि श्रेष्ठ ! मेरा यथोक्त (शास्त्रानुकूल) यज्ञ कराएं। जिस प्रकार यज्ञाङ्गों में [ब्रह्मराक्षस आदि] विघ्न न करें [वैसा] प्रबन्ध करें ॥ ३ ॥ आप मेरे प्रति स्नेह रखते हैं, मेरे मित्र और महान् गुरु हैं, इस लिए यज्ञ का उपस्थित भार आप से ही वहन करने योग्य है (आप ही इस कार्य को पूरा करें) ॥ ४ ॥

तथेति च स राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः । करिष्ये सर्वमेवैतद् भवता यत्समर्थितम् ॥५॥
ततोऽब्रवीद् द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसु निष्ठितान् । स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥६॥
कर्मान्तिकाञ्छिल्पकरान् वर्धकीन् खनकानपि । गणकाञ्छिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥७॥
तथा शुचीञ्छास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान् । यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥८॥
इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति । औपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञां बहुगुणान्विताः ॥९॥
ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः । भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेताः सुनिष्ठिताः ॥१०॥
तथा पौरजनस्यापि कर्तव्याः बहुविस्तराः । आगतानां सुदूराच्च पार्थिवानां पृथक् पृथक् ॥११॥
वाजिवारणशालाश्च तथा शय्यागृहाणि च । भटानां महदावासा वैदेशिकनिवासिनाम् ॥१२॥
आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः । पौरजानपदस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ॥१३॥
दातव्यमन्नं विधिवत् सत्कृत्य न तु लीलया । सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः ॥१४॥
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि । यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ॥१५॥
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम् । ये स्युः संपूजिताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ॥१६॥
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित् परिहीयते । तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतस्निग्धेन चेतसा ॥१७॥
ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन् । यथोक्तं तत्करिष्यामो न किंचित् परिहास्यते ॥१८॥
ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् । निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ॥१९॥

उस द्विज श्रेष्ठ [वसिष्ठ] ने राजा से ऐसा कहा कि जो आपने कहा है, उस सबको मैं करूंगा ॥ ५ ॥ तत्पश्चात् [वसिष्ठ ने] यज्ञ कर्म में कुशल वृद्ध द्विजों और गृहनिर्माण में चतुर परमधार्मिक, वृद्ध ॥ ६ ॥ कर्म को पूर्ण करने हारे शिल्पी, बढ़ई, खोदनेवाले, गणक (= ज्योतिर्विद्), चित्रादि बनानेवाले, नट, नर्तक ॥ ७ ॥ और पवित्र, शास्त्र जाननेहारे, बहुश्रुत पुरुषों को [कहा कि] आप लोग राजा के शासन से यज्ञ कार्य के लिए कर्म करें ॥ ८ ॥ कई सहस्र इष्टका (ईंट) शीघ्र लाएं, अनेक गुणों से युक्त राजाओं के महल बनावें ॥ ९ ॥ सैकड़ों ब्राह्मणों के लिए शुभ गृह बनावें, वे अन्न पान आदि से युक्त तथा सुदृढ़ हों ॥ १० ॥ और नगरवासियों के लिए भी बहुत बड़े बड़े [गृह बनावें]। बहुत दूर से आए हुए राजाओं के लिए भी पृथक् पृथक् [गृह बनावें] ॥ ११ ॥ घोड़ों और हाथियों के लिए और शयन (विश्राम आदि) के लिए गृह [बनावें]। विदेश के जो वीर हमारे यहां निवास कर रहे हैं, इनके लिए बड़े बड़े गृह [बनावें] ॥१२॥ सब गृह भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थों से पूर्ण और सब कामनाओं से युक्त हों। नगरनिवासी और [बाहर से आए हुओं] को बहुत अच्छा ॥ १३ ॥ अन्न विधिपूर्वक सत्कार करके देना चाहिए, लीला से (उत्सवमात्र बुद्धि से अनादरपूर्वक) नहीं देना। सब वर्ण अच्छे प्रकार सत्कार को प्राप्त हुए जैसे पूजित हों [वैसा यत्न करना चाहिए] ॥१४॥ काम क्रोध के वश में होकर किसी को बुरा भला नहीं कहना। जो पुरुष और शिल्पी यज्ञ कर्म में लगे हुए हैं ॥ १५ ॥ उनकी भी यथाक्रम विशेष पूजा करनी चाहिए। जो [कार्य करने वाले] धन और भोजन आदि से संपूजित होते हैं [वे सब कार्य ठीक करते हैं। इसलिए] ॥ १६ ॥ जैसे सारा कार्य अच्छे प्रकार पूर्ण हो, कुछ कमी न रहे, वैसा आप लोग प्रेम से स्निग्ध मन से कार्य करें ॥ १७ ॥

तदनन्तर सब [कार्यकर्ताओं] ने आकर वसिष्ठ से कहा—आप के कहे अनुसार सब कार्य करेंगे, कुछ कमी नहीं रहेगी ॥ १८ ॥ तदनन्तर वसिष्ठ ने सुमन्त्र को बुलाकर [यह] वचन कहा—पृथिवी पर जो भी धार्मिक राजा हैं, इनको [यज्ञमें] निमन्त्रित करो ॥ १९ ॥ सब देशों में [जो] सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्चैव सहस्रशः। समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ॥२०॥
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम्। निष्ठितं सर्वशास्त्रेषु तथा वेदेषु निष्ठितम् ॥२१॥
तमानय महाभाग स्वयमेव सुसत्कृतम्। पूर्वसंबन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ॥२२॥
तथा काशीपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम्। सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ॥२३॥
तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम्। श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं त्वमिहानय ॥२४॥
अङ्गेश्वरं महाभागं रोमपादं सुसत्कृतम्। वयस्यं राजसिंहस्य समानय यशस्विनम् ॥२५॥
प्राचीनान् सिन्धुसौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान्। दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह ॥२६॥
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले। तानानय ततः क्षिप्रं सानुगान् सहबान्धवान् ॥२७॥
एतान् दूतैर्महाभागैरानयस्व नृपाज्ञया। वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितस्तदा ॥२८॥
व्यादिशत् पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान्। स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रययौ मुनिशासनात् ॥२९॥
सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महीक्षितः। ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय च धीमते ॥३०॥
सर्वे निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम्। ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान् सर्वानिदमब्रवीत् ॥३१॥
अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा। अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः ॥३२॥
ततः कैश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः। बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य ह ॥३३॥
ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत्। उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ॥३४॥
मया च सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तमाः। यज्ञीयं च कृतं राजन् पुरुषैः सुसमाहितैः ॥३५॥

वैश्य और शूद्र हैं, उन सबको सत्कारपूर्वक बुलाओ ॥ २० ॥ वेद और सब शास्त्रों में पारङ्गत, शूर, और सत्यवादी मिथिला के स्वामी महाराज जनक को ॥ २१ ॥ हे महाभाग! अच्छे प्रकार सत्कार करके स्वयं लाओ। [उनको] पुराना संबन्धी जानकर पहले तुमसे कह रहा हूँ ॥ २२ ॥ स्नेहयुक्त, सदा प्रियवादी, उत्तम चरित्र वाले देव सदृश काशीपति को स्वयं लेकर आओ ॥ २३ ॥ तथा वृद्ध, परम धार्मिक राजसिंह [दशरथ] के श्वशुर केकय राज को पुत्रसहित तुम [स्वयं] लाओ ॥ २४ ॥ महाभाग्यवान्, यशस्वी, राजसिंह [दशरथ] के मित्र, अङ्गाधिपति रोमपाद को लाओ ॥ २५ ॥ पूर्व के, सिन्धु और सौवीर देश के, सुराष्ट्र (गुजरात) के और दक्षिण के समस्त राजाओं को बुलाओ ॥ २६ ॥ और जो कोई भी पृथिवी पर स्नेह रखने वाले राजा हैं उन सब को बन्धुओं और अनुचरों के साथ शीघ्र लाओ ॥ २७ ॥ इन सब को राजा [दशरथ] की आज्ञा से महायशस्वी दूतों के द्वारा बुलाओ। वसिष्ठ का वचन सुन कर ॥ २८ ॥ धर्मात्मा [सुमन्त्र] ने राजाओं को लाने के लिए श्रेष्ठ पुरुषों को आज्ञा दी और मुनि [वसिष्ठ] की आज्ञानुसार शीघ्रतापूर्वक राजाओं को लाने के लिए स्वयं ही प्रस्थान किया। उन समस्त कार्य करने हारों ने बुद्धिमान् वसिष्ठ को ॥२९,३०॥ बताया जो यज्ञ के लिए कार्य किया गया। तदनन्तर द्विज श्रेष्ठ [वसिष्ठ] ने प्रसन्न होकर सब [कार्य कर्त्ताओं] से यह कहा—॥ ३१ ॥ अवज्ञा (= अपमान) पूर्वक अथवा उत्सवमात्र बुद्धि से किसी को मत देना। अनादरपूर्वक दिया हुआ दाता को नष्ट कर देता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥३२॥

तदनन्तर थोड़े ही दिनों में राजा दशरथ के लिए बहुत से रत्नों को लेकर राजा लोग आ गए। ॥ ३३ ॥ तत्पश्चात् प्रसन्न हुए वसिष्ठ ने राजा [दशरथ] से कहा—हे नरश्रेष्ठ तुम्हारी आज्ञा से राजा लोग आ गए हैं ॥ ३४ ॥ और मैंने सब श्रेष्ठ राजाओं का यथायोग्य सत्कार किया है। हे राजन्! सावधान [कार्यकर्ता] पुरुषों ने यज्ञ संबन्धी कार्य कर लिया है ॥ ३५ ॥ आप उपस्थित किए गए सब साधनों से युक्त

निर्यातु च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् । सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः ॥३६॥
द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् । तथा वसिष्ठवचनाद् ऋश्यशृङ्गस्य चोभयोः ॥३७॥
दिवसे शुभनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः । ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः ॥३८॥
ऋश्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा । यज्ञवाटगताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ॥३९॥
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे यज्ञशालाप्रवेशो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

[अश्वमेध]

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते *तुरंगमे । सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥१॥
ऋश्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः । +अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥२॥
कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः । यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥३॥
प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः । चक्रुश्च विधिवत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥४॥
अभिपूज्य ततो हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि । प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुंगवाः ॥५॥
ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो राजा चाभिषुतोऽनघः । माध्यंदिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥६॥

समीपवर्ती यज्ञशाला में यज्ञ करने के लिए चलें ॥ ३६ ॥ हे राजन् चिन्तनमात्र से बनाई गई के समान शीघ्र निर्मित यज्ञशाला देखने योग्य है। वसिष्ठ और ऋष्यशृङ्ग दोनों के वचन से ॥ ३७ ॥ शुभ दिन और नक्षत्र में राजा दशरथ [यज्ञ करने के लिए] निकले। तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने ॥ ३८ ॥ यज्ञशाला में जाकर ऋश्यशृङ्ग को आगे करके (अध्यक्ष बनाकर) शास्त्र के अनुकूल विध्यनुसार यज्ञ कर्म को आरम्भ किया। श्रीमान् राजा [दशरथ] पत्नियों के साथ दीक्षित हुये ॥३९॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बाल काण्ड का यज्ञशाला-प्रवेश विषयक यह तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दश[१]-सर्ग

[अश्वमेध]

तत्पश्चात् संवत्सर के पूर्ण हो जाने और उस [मुक्त किये हुए] अश्व के लौट आने पर सरयू के उत्तरी तट पर राजा का [अश्वमेध] यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १ ॥ उस महात्मा राजा [दशरथ] के अश्वमेधनामक महायज्ञ में ऋष्यशृङ्ग को प्रधान बनाकर द्विजश्रेष्ठों ने कार्य किया ॥ २ ॥ वेद के पारङ्गत ऋत्विग् विध्यनुसार कर्म करते थे और शास्त्रानुसार यथाविधि यथोचित कार्य में प्रवृत्त थे ॥ ३ ॥ द्विजों ने शास्त्रानुसार 'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म करके तथा उसी प्रकार 'उपसद्' संज्ञक कार्य करके शास्त्र से साक्षात् कथित कर्म और अधिक (=अतिदेश से प्राप्त) सब कार्य किया ॥ ४ ॥ मुनिश्रेष्ठ [देवों की] पूजा करके प्रसन्न हुए और प्रातःसवन प्रभृति कर्म यथाविधि किए ॥ ५ ॥ इन्द्र देवता वाली हवि का विधिवत् होम किया, पापरहित राजा (=सोम) का अभिषव किया (कूट कर रस निकाला)। यथाक्रम माध्यन्दिन सवन का आरम्भ हुआ ॥ ६ ॥ उन मुनिश्रेष्ठों ने इस बड़े महात्मा राजा [दशरथ] के तृतीय सवन को शास्त्रानुसार कार्यों

---

* 'महोत्सवे' (महोत्सव में) इति युक्ततरं स्यात्। + 'वंशवृद्धिमहायज्ञे' (वंशवृद्धि महायज्ञ में) इति युक्ततरं स्यात्।

१. यह सर्ग भी पूर्व सर्गों के समान ही प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। गोविन्द राज ने इसी सर्ग के ४० वें श्लोक की व्याख्या में लिखा है कि इस सूक्त में अनेक श्लोकों का पाठ लेखक प्रमाद से उलट पुलट हो गया है।

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः । चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा कर्माणि मुनिपुंगवाः ॥७॥
आह्वयांचक्रिरे तत्र शक्रादीन् विबुधोत्तमान् । ऋश्यशृङ्गादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः ॥८॥
गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैः मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः । होतारो ददुरावाह्य हविर्भागान् दिवौकसान् ॥९॥
न चाहुतमभूत्तत्र स्खलितं वापि किंचन । दृश्यते ब्रह्मवत् सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥१०॥
न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वापि दृश्यते । नाविद्वान् ब्राह्मणस्तत्र नाशतानुचरस्तथा ॥११॥
ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते । तापसा भुंजते चापि श्रमणा भुंजते तथा ॥१२॥
वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रियो बालास्तथैव च । अनिशं भुंजमानानां न तृप्तिरुपजायते ॥१३॥
दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च । इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥१४॥
अन्नकूटाश्च बहवो दृश्यन्ते पर्वतोपमाः । दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत् तदा ॥१५॥
नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा । अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः ॥१६॥
अन्नं हि विधिवत् स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः । अहो तृप्ताः स्म भद्रं त इति शुश्राव राघवः ॥१७॥
स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान् पर्यवेषयन् । उपासते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥१८॥
कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि । प्राहुः स्म वाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया ॥१९॥
दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः । सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥२०॥
नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः । सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशला द्विजाः ॥२१॥

का जानकर किया ॥ ७ ॥ ऋश्यशृङ्ग आदि ने शिक्षाशास्त्रानुसार उपदिष्ट अक्षरों से युक्त मन्त्रों से यज्ञ में इन्द्र आदि देवों का आह्वान किया ॥ ८ ॥ गान से मधुर और स्निग्ध मन्त्ररूपी आह्वानों से बुलाकर होताओं ने देवों को यथायोग्य हविर्भाग दिए ॥ ९ ॥ उस यज्ञ में अहुत (हवन में न्यूनता) अथवा स्खलित कुछ नहीं हुआ । सब कुछ मन्त्रों से युक्त हुआ । इसलिए कल्याणकारक जैसे हो वैसे ही कर्म किया ॥ १० ॥ उन (यज्ञ के) दिनों में कोई भी प्यासा और भूखा नहीं दीखता था, न कोई ब्राह्मण अविद्वान था और न सौ शिष्यों से रहित था ॥ ११ ॥ नित्य ब्राह्मण भोजन करते थे, दास भोजन करते थे, तपस्वी भोजन करते थे और परिव्राजक[1] भी भोजन करते थे ॥ १२ ॥ वृद्ध, रोगी, स्त्रियाँ और बालकों के निरन्तर खाते रहने पर भी [यजमान] की तृप्ति नहीं होती थी ॥ १३ ॥ अन्न दो, विविध प्रकार के वस्त्र दो, इस प्रकार से प्रेरित जन अनेक प्रकार के शब्द करते थे ॥ १४ ॥ बहुत से पर्वत सदृश अन्न के समूह दिखाई पड़ते थे । तथा प्रति-दिन विधिपूर्वक सिद्ध हुए [अन्न के समूह दिखाई देते थे] ॥ १५ ॥ अनेक देशों से आए हुए स्त्री और पुरुषों के समूह इस महात्मा राजा [दशरथ] के यज्ञ में अन्न और पान से तृप्त हुए ॥ १६ ॥ द्विज श्रेष्ठ विधिवत् [निष्पन्न] स्वादु अन्न की प्रशंसा करते थे । तथा 'हम तृप्त हो गए, तुम्हारा कल्याण हो' ऐसे वचन राघव (दशरथ) ने सुने ॥१७॥ अच्छे प्रकार अलंकृत पुरुष ब्राह्मणों को भोजन परोसते थे. उन परोसने वालों की अन्य उत्तम मणियों युक्त कुण्डल वाले पुरुष सहायता करते थे ॥ १८ ॥ कर्म के मध्य में (विश्राम काल में) धीर, वाग्मी ब्राह्मण परस्पर जीतने की इच्छा से बहुत से हेतुवादों (=सर्गविषयक प्रश्नों) को कहते थे ॥ १९ ॥ उस यज्ञ में प्रतिदिन कार्य कुशल शास्त्रानुसार प्रेरित ब्राह्मण सब कार्यों को करते थे । ॥२०॥ उस राजा का कोई भी सदस्य (= यज्ञ प्रेक्षक) षडङ्गज्ञान से रहित नहीं था, न व्रतरहित. न अल्पश्रुत और न वाद में अकुशल था ॥२१॥ उस यज्ञ में यूपों का उच्छ्रयण (खड़ा करना) प्राप्त होने पर ६ यूप बिल्व

१. 'श्रमण' शब्द की व्याख्या में तिलकटीकाकार ने 'बौद्ध सन्यासी' और गोविन्द राज ने दिगम्बर (जैन साधु) अर्थ किया है, वह इतिहास विरुद्ध होने से चिन्त्य है । बुद्ध और महावीर स्वामी की उत्पत्ति से शतशः वर्ष प्राचीन शतपथ ब्राह्मण में भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है ।

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन् षड् बैल्वाः खादिरास्तथा। तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथापरे ॥२२॥
श्लेष्मातकमयस्त्वेको देवदारुमयस्तथा। द्वावेव विहितौ तत्र बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥२३॥
कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः। शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृता भवन् ॥२४॥
एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः। वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥२५॥
विन्यस्ता विधिवत् सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः। अष्टाश्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥२६॥
आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च भूषिताः। सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥२७॥
इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः। चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शुल्वकर्मणि ॥२८॥
स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः। गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥२९॥
[नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्। उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥३०॥
शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये। ऋत्विग्भिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥३१॥
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा। अश्वरत्नोत्तमं तस्य राज्ञो दशरथस्य च ॥३२॥
कौशल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥३३॥
पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥३४॥
होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन्। महिष्या परिवृक्त्या च वावातामपरां तथा ॥३५॥
पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः। ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥३६॥

के, ६ खदिर के, और उतने ही दूसरे पलाश के, ॥ २२ ॥ एक श्लेष्मातक (बहेड़ा) का, दो देवदारु के[1] फैले हुए दोनों हाथों के अन्तर वाले ॥ २३ ॥ ये सब यूप यज्ञ के जानने वाले शास्त्रज्ञ पुरुषों से बनाए गए। उस यज्ञ की शोभा के लिए [ये यूप] सुवर्ण से अलंकृत किए गए ॥ २४ ॥ वे २१ यूप २१ अरत्नि (१ अरत्नि = २४ अङ्गुल) परिमाण के २१ वस्त्रों से एक एक करके अलंकृत थे ॥ २५ ॥ शिल्पियों द्वारा अच्छे प्रकार निर्मित, दृढ़, आठ कोणों वाले तथा चिकने विधिवत् खड़े किए गए ॥ २६ ॥ वे वस्त्रों से लपेटे हुए पुष्प और धूप से उसी प्रकार सुशोभित थे जैसे आकाश में दीप्ति वाले सप्तर्षि (तारे) सुशोभित हैं ॥ २७ ॥ [वेदि के निर्माण के लिए] ईंटें शास्त्रोक्त प्रमाण के अनुसार बनवाईं। शुल्व (यज्ञ) कर्म में कुशल ब्राह्मणों द्वारा अग्नि (अग्न्याधार स्थान) का [ईंटों से] चयन किया गया ॥ २८ ॥ राजसिंह [दशरथ] का वह कुशल द्विजों से चयन किया अग्नि गरुड (श्येन) के आकार वाला, सुवर्णमय पंखों वाला [सामान्य चयन से] त्रिगुणित अर्थात् १८ प्रस्तार वाला था ॥ २९ ॥ उन यूपों में उस उस देवता को लक्षित करके पशु, उरग (=सर्पादि) और पक्षी आदि यथाशास्त्र नियुक्त किए गए (बाँधे गए) ॥ ३० ॥ हिंसा आदि कर्म में घोड़े को तथा जो जलचर थे उनको ऋत्विजों ने शास्त्रानुसार नियुक्त किया ॥ ३१ ॥ उन यूपों में ३०० पशु बांधे गए [तथा] उस राजा दशरथ का उत्तम अश्वरत्न (श्रेष्ठतम घोड़ा) भी बाँधा गया ॥ ३२ ॥ कौशल्या ने उस [श्रेष्ठतम] घोड़े का प्रोक्षण आदि संस्कार करके परम प्रसन्नता से तीन तलवारों से उसे मारा ॥ ३३ ॥ धर्म की कामना से कौशल्या ने स्थिरचित्त से उस अश्व के साथ एक रात्रि वास किया ॥ ३४ ॥ होता, अध्वर्यु और उद्गाता ने महिषी (राजकुलोत्पन्न रानी) परिवृक्ति (उपेक्षिता रानी) के साथ वावाता (भोगमात्र सम्बन्ध वाली) तथा अपरा (दासी) को उस अश्व के साथ युक्त किया। ॥ ३५ ॥ उस अश्व की वपा को निकाल कर एकाग्रचित्त परम चतुर ऋत्विक् (अध्वर्यु) ने शास्त्रानुसार पकाया ॥ ३६ ॥

१. इन यूपों के खड़े करने की विधि इस प्रकार है—अग्नि कुण्ड के सामने मध्य में श्लेष्मातक (बहेड़ा) का यूप, उसके दोनों ओर फैले हुए दोनों हाथों के अन्तर पर एक एक देवदारु का। तत्पश्चात् दोनों ओर तीन तीन बिल्व के, तदनन्तर दोनों ओर तीन तीन खदिर के, तत्पश्चात् दोनों ओर पलाश के यूप खड़े किए जाते हैं।

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः । यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥३७॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि भूसुराः । अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः॥३८॥
प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः । अश्वमेधस्य यज्ञस्य वैतसो भाग इष्यते ॥३९॥
त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः । चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥४०॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् । कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥४१॥
ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ । अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामो महाक्रतुः ॥४२॥]
प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः । अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥४३॥
उद्गात्रे च तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता । अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभुविहिते पुरा ॥४४॥
क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः । ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥४५॥
ऋत्विजस्त्वब्रुवन् सर्वे राजानं गतकल्मषम् । भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ॥४६॥
न भूम्या कार्यमस्माकं न हि सक्ताः स्म पालने । रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ॥४७॥
निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति । मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ॥४८॥
तत्प्रयच्छ नरश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् । एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥४९॥
गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः । दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ॥५०॥
ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु । ऋश्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते ॥५१॥

वह राजा [दशरथ] उस वपा के धूम और गन्ध को यथासमय यथाविधि अपने पापों को दूर करता हुआ सूँघता था ॥ ३७ ॥ अश्व के जो अङ्ग थे उनको सोलह ऋत्विग् ब्राह्मण विध्यनुसार अग्नि में डालते थे ॥ ३८ ॥ [अश्वमेध से] अन्य यज्ञों की हवि प्लक्ष की शाखाओं पर रखी जाती है, अश्वमेध यज्ञ की हवि वैतस [शाखा] का भाग माना जाता है। अर्थात् आश्वमेधिक हवि का अवदान वेत की चटाई पर किया जाता है ॥ ३९ ॥ कल्पसूत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अश्वमेध तीन दिन वाला कहा गया है। उसका प्रथम दिन चतुष्टोम (अग्निष्टोम[1]) संज्ञक है ॥ ४० ॥ दूसरा उक्थ्य तथा अगला (तीसरा) अतिरात्र संज्ञक। उस [अश्वमेध के] अनन्तर शास्त्रदर्शन के अनुसार विहित अन्य भी बहुत से यज्ञ कराए ॥ ४१ ॥ ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, दो अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित्, और आप्तोर्याम महाक्रतु किए ॥ ४२ ॥

अपने कुल को बढ़ाने वाले राजा [दशरथ] ने पूर्व दिशा होता का दी, पश्चिम अध्वर्युको, दक्षिण ब्रह्मा को ॥ ४३ ॥ तथा उत्तर उद्गाता को। पुराकाल में प्रजापतिविहित महायज्ञ अश्वमेध में यही दक्षिणा निश्चित की थी॥ ४४ ॥ कुल को बढ़ानेवाले पुरुषश्रेष्ठ राजा ने यथाविधि महायज्ञ को समाप्त करके ऋत्विजों को [सम्पूर्ण] पृथिवी दक्षिणा में दे दी ॥ ४५ ॥ सब ऋत्विजों ने निष्पाप राजा से कहा—एक आप ही सम्पूर्ण पृथिवी की रक्षा में समर्थ हैं ॥ ४६ ॥ हमारा भूमि से कोई प्रयोजन नहीं, हम [इसके] पालन में समर्थ नहीं हैं। हे पृथिवीपति हम स्वाध्याय करने में ही नित्य रत रहते हैं ॥ ४७ ॥ आप [भूमि का] कुछ भी मूल्य दे देवें। श्रेष्ठमणि, सुवर्ण, अथवा गौवें जो भी उद्यत हों ॥ ४८ ॥ वह दे दो। हे नरश्रेष्ठ [हमें] पृथिवी से कोई प्रयोजन नहीं। इस प्रकार वेदपारङ्गत ब्राह्मणों से कहे गए नरपति ने ॥ ४९ ॥ गायों की दसगुनी शतसहस्र संख्या (= १००० × १०० × १० = दस लाख गाएँ), सुवर्ण की दस करोड़ [मुद्राएँ] और चाँदी की चौगुनी अर्थात् ४० करोड़ [मुद्राएँ] दीं ॥ ५० ॥ सब ऋत्विजों ने मिलकर वह धन [बाँटने के लिए] मुनि ऋष्यशृङ्ग और बुद्धिमान् वसिष्ठ को दिया ॥ ५१ ॥ तत्पश्चात् प्रसन्न मन वाले द्विजश्रेष्ठों ने यथाविधि

१ अग्निष्टोम यज्ञ में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश ये चार स्तोम होते हैं, इसलिये इसे चतुष्टोम भी कहते हैं।

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः । सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ॥५२॥
ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः । जाम्बूनदं कोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ नृपः ॥५३॥
दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम् । कस्मैचिद् याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ॥५४॥
ततः प्रीतेषु नृपतिर्द्विजेषु द्विजवत्सलः । प्रणाममकरोत्तेषां हर्षपर्याकुलेक्षणः ॥५५॥
तस्याशिषोऽथ विधिवद् ब्राह्मणैः समुदाहृताः । उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां पतितस्य च ॥५६॥
ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् । पापापहं स्वर्नयनं दुस्तरं पार्थिवर्षभैः ॥५७॥
ततोऽब्रवीद् ऋश्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा । कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ॥५८॥
तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः । भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥५९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥



विभाग करके और पुनः मुदित होकर कहा—[हम प्रसन्न हैं = सन्तुष्ट हैं] ॥ ५२ ॥ तदनन्तर एकाग्रचित्त राजा ने प्रसर्पक (= यज्ञ देखने के लिए आए हुए) ब्राह्मणों को कोटि संख्य (= अनन्त) जाम्बूनद = जम्बू नदी में पाया जाने वाला विशिष्ट) सोना दिया ॥ ५३ ॥ किसी माँगने वाले दरिद्र ब्राह्मण को रघुनन्दन [दशरथ] ने अपने हाथ का उत्तम आभूषण ही दे दिया ॥ ५४ ॥ तत्पश्चात् द्विजों के सन्तुष्ट हो जाने पर हर्ष से गीली आँखोंवाले द्विज-वत्सल राजा ने उनको प्रणाम किया ॥ ५५ ॥ उस उदार पृथ्वी पर लेटे हुए (= साष्टांग प्रणाम करते हुए) नृवीर राजा के लिए ब्राह्मणों ने विधिवत् आशीर्वाद दिया ॥ ५६ ॥ पाप-नाशक, स्वर्गप्रापक, अन्य राजाओं से दुस्तर (= न किए जा सकने वाले) श्रेष्ठ यज्ञ को पूर्ण कर राजा प्रसन्न हुये ॥ ५७ ॥ तत्पश्चात् राजा दशरथ ने ऋश्यशृङ्ग से कहा—हे श्रेष्ठ व्रतवाले आप हमारे कुल को बढ़ाने वाले कर्म को करें[1] ॥ ५८ ॥ उस द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग ने स्वीकार करके कहा हे राजन्! तुम्हारे कुल का वहन (बढ़ाने) वाले चार पुत्र होंगे ॥ ५९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड का यह चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



१. अष्टम सर्ग के आरम्भ (१।२) में लिखा है कि पुत्रोत्पत्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करूँ ऐसी दशरथ की मति हुई । सर्ग १२ के नवम श्लोक में भी पुत्र के लिए अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है । जहाँ तक हमें ज्ञात है, पुत्रोत्पत्ति के लिए अश्वमेध का साक्षात् विधान कहीं नहीं है । अतएव टीकाकार अश्वमेध के अर्थवाद वाक्य 'तरति पाप्मानम्' का खींचातानी करके अर्थ करते हैं कि पुत्राभाव भी किसी पापकर्म का फल है, उस पाप का अश्वमेध से नाश हो जाने से पुत्रोत्पत्ति के लिए अश्वमेध का विधान है । वस्तुतः पुत्रेष्टि यज्ञ में अश्वमेध का वर्णन अप्रासंगिक तथा प्रक्षिप्त भाग है ॥

पञ्चदशः सर्गः

[रावणवधोपायः]

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किंचिदिदमुत्तरम् । लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥१॥
इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् । अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥२॥
ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात् । जुहाव चाग्नौ तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥३॥
[ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः । भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥४॥
ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः । अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं महत् ॥५॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः । सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥६॥
त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवन् पुरा । मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥७॥
उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः । शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥८॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वानसुरान् ब्राह्मणांस्तथा । अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥९॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः । चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥१०॥
सुमहन्नो भयं तस्माद् राक्षसाद्घोरदर्शनात् । वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥११॥
एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् । हन्तायं विदितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥१२॥

पञ्चदश सर्ग

[रावणवधोपाय]

तत्पश्चात् मेधावी, वेद को जानने वाले [ऋष्यश्रृङ्ग] ने कुछ [काल] विचार कर और चैतन्य होकर नृप को उत्तर दिया ॥ १ ॥ तुम्हारे पुत्र के लिए अथर्ववेद में कहे गए मन्त्रों से सिद्ध पुत्र देने वाली इष्टि (याग) को विधि के अनुसार करूंगा ॥२॥ तदनन्तर उस [ऋश्यश्रृङ्ग] ने पुत्र के लिए पुत्रोत्पादक इष्टि का आरम्भ किया और तेजस्वी [ऋश्यश्रृङ्ग] मन्त्रों में देखे गए कर्म के अनुसार अग्नि में आहुतियाँ देने लगे ॥ ३ ॥ तब देव, गन्धर्व, सिद्ध और परमर्षि सभी यथाविधि [अपना अपना] भाग लेने के लिए इकट्ठे हुए ॥ ४ ॥ उस यज्ञ में विध्यनुसार वे सब देवता इकट्ठे होकर लोककर्ता ब्रह्मा से श्रेष्ठ वचन बोले—॥ ५ ॥ हे भगवन्! आपकी प्रसन्नता से (वर से) रावण नाम का राक्षस हम सब को पीड़ित करता है, [हम] उसे वश में करने में असमर्थ हैं ॥ ६ ॥ हे भगवन्! आपने प्रसन्न होकर उसे वर दिया है । [हम] उस वर का आदर करते हुए उसको क्षमा करते हैं ॥ ७ ॥ वह दुर्गति तीनों लोकों को पीड़ित करता है, उन्नत पुरुषों से द्वेष करता है, और स्वर्ग के राजा इन्द्र को पराजित करना चाहता है ॥ ८ ॥ [आपके] वरदान से मोहित होकर दुर्धर्ष [रावण] ऋषियों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों और ब्राह्मणों को पीड़ित करता है ॥ ९ ॥ इसको सूर्य भी नहीं तपाता, वायु भी समीप में। [अधिक] नहीं बहती, चलायमान लहरों वाला समुद्र भी इसको देखकर गति नहीं करता ॥ १० ॥ उस घोर दर्शन (भयानक) राक्षस से हमें महान् भय है । हे भगवन्! उसके वध के लिए उपाय करें ॥ ११ ॥ इस प्रकार सब देवों के कहने पर विचार कर [ब्रह्मा ने] कहा—उस दुरात्मा के वध का यह उपाय जान लिया ॥ १२ ॥ उस [रावण] ने गन्धर्व,

१. यह सारा लेख अप्रासङ्गिक है, यज्ञ में देवों को तो हवि दी जाती है, उनका अपना भाग लेने को आना तो युक्त है । गन्धर्व, सिद्ध और परमर्षियों को हवि ही नहीं दीजाती, पुनः उनका भाग ग्रहणार्थ आना इसकी अप्रासङ्गिकता का द्योतक है । इतना ही नहीं, कहीं कहीं परस्पर विरोध भी है । यथा श्लोक ६ में कहा-'हम रावण को वश करने में असमर्थ हैं', अगले श्लोक में ही कहा—'हम आपके वर का मान रखते हुए उसे क्षमा करते हैं' इत्यादि ।

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवदानवरक्षसाम् । अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥१३॥
नाकीर्तयदवज्ञानात्तद्रक्षो मानुषांस्तदा ।तस्मात् स मानुषाद् वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते॥१४॥
एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् । देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवस्तदा ॥१५॥
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः । शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥१६॥
ब्रह्मणा च समागम्य तत्र तस्थौ समाहितः । तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥१७॥
त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया । राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥१८॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः । तस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥१९॥
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम् । तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥२०॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् । स हि देवान् सगन्धर्वान् सिद्धांश्च मुनिसत्तमान्॥२१॥
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योत्सेकेन बाधते । ऋषयस्तु ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥२२॥
क्रीडन्तो नन्दनवने रौद्रेण किल हिंसिताः । वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥२३॥
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः । त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप ॥२४॥
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु । एवमुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥२५॥
पितामहपुरोगांस्तान् सर्वलोकनमस्कृतः । अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान्॥२६॥
भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् । सपुत्रपौत्रं सामात्यं समित्रज्ञातिबान्धवम् ॥२७॥
हत्वा क्रूरं दुरात्मानं देवर्षीणां भयावहम् । दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥२८॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् । एवं दत्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥२९॥

यक्ष, देव, दानव, और राक्षसों से 'अवध्य होऊं' ऐसा कथन किया, और मैंने 'तथा' कह दिया ॥ १३ ॥ उस राक्षस [रावण] ने अपना अपमान समझकर [अवध्यता मांगते समय] मनुष्यों का निर्देश नहीं किया। इस लिए वह मनुष्य से वध्य है, अन्य किसी से उसकी मृत्यु नहीं है ॥ १४ ॥ ब्रह्मा के द्वारा कहे गए प्रिय वचन को सुनकर वे देव महर्षि [आदि] सब प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥ इसी समय महातेजस्वी शंख चक्र और गदा हाथ में लिए पीत वस्त्र पहने जगत्पति विष्णु उपस्थित हुए ॥ १६ ॥ ब्रह्मा से मिलकर वह एकाग्र होकर वहाँ बैठे। उसकी स्तुति करके झुककर देवों ने उस से कहा—॥ १७ ॥ हे विष्णो ! लोकों के हित की कामना से हम आप को नियुक्त करते हैं। हे विभो (=व्यापक) आप अयोध्यापति राजा दशरथ ॥ १८ ॥ जो धर्म का जानने वाला, विनीत और महर्षियों के समान तेजस्वी है, उसकी ही श्री कीर्ति उपमावली तीन पत्नियों में ॥ १९ ॥ अपने आत्मा को चार भागों में बाँट कर पुत्रभाव को प्राप्त होवो। उनमें मानुष बन कर बढ़े हुए, लोकों को पीड़ा पहुँचाने वाले ॥ २० ॥ देवों से अवध्य रावण को मारो। देवों, गन्धर्वों, सिद्धों और मुनिश्रेष्ठों को ॥ २१ ॥ वह मूर्ख राक्षस रावण पराक्रम के घमण्ड से मारता है, उसने ऋषियों, गन्धर्वों और अप्सराओं को ॥ २२ ॥ नन्दनवन में क्रीड़ा करते हुए क्रूरतापूर्वक मारा। [हम] उसके वध के लिए मुनियों के साथ आए हैं ॥ २३ ॥ सिद्ध, गन्धर्व और यक्ष तुम्हारी शरण आए हैं। हे शत्रु को नाश करने हारे देव ! आप हम सब की परम गति हैं ॥ २४ ॥ देवों के शत्रु के वध के लिए मनुष्यों के लोक में [उत्पन्न होने का] मन करो। इस प्रकार कहा गया देवों में श्रेष्ठ देवेश विष्णु ॥ २५ ॥ सब से नमस्कार किया गया पितामह (ब्रह्मा) आदि सब एकत्रित हुए धर्मात्मा देवों से बोला ॥ २६ ॥ [आप लोग] भय को छोड़ें, आप के लिये कल्याण हो। [आप लोगों के] हित के लिए युद्ध में पुत्र, पौत्र, अमात्य, मित्र ज्ञाति और बन्धुओं के सहित रावण को ॥ २७ ॥ [जो] क्रूर दुरात्मा और देवों तथा ऋषियों को भयभीत करने वाला [है, उसे] मारकर दश सहस्र वर्ष और दश शत वर्ष ॥ २८ ॥ इस पृथ्वी का पालन करता हुआ मानुष लोक में निवास करूँगा। इस प्रकार जितेन्द्रिय देव विष्णु ने देवों को वर देकर ॥ २९ ॥

मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः । ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वात्मानं चतुर्विधम् ॥३०॥
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् । ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ॥३१॥
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधुतपस्विकण्टकं तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥३२॥
तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥३३॥]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे [रावणवधोपायो] नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥



षोडशः सर्गः

पायसोत्पत्तिः

[ततो नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः । जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥१॥
उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः । यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥२॥
एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम् । मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥३॥
स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दम । येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः ॥४॥

अपने लिए मनुष्य लोक में जन्मभूमि का विचार किया । तदनन्तर पद्म पत्र के समान श्याम आँखों वाले [विष्णु] ने अपने आत्मा के चार भाग करके ॥ ३० ॥ राजा दशरथ को अपना पिता स्वीकार किया । तत्पश्चात् देव, ऋषि, गन्धर्व, रुद्र और अप्सराओं ने दिव्य रूप वाली स्तुतियों से मधुसूदन की स्तुति की ॥ ३१ ॥ उस उद्धत (मनमानी करने वाले) महातेजस्वी, बढ़े हुए अहंकार वाले, इन्द्र से द्वेष करने वाले, [तीनों लोकों को दुःखी करके] रुलाने वाले साधु और तपस्वी लोगों के शत्रु और तपस्वियों को भयप्रद रावण का नाश कर ॥ ३२ ॥ उस रुलाने वाले महापराक्रमी रावण को सेना और बन्धुओं सहित मारकर, सन्तापरहित होकर चिर काल से इन्द्र द्वारा रक्षित भयादि दोषों से रहित स्वर्ग-लोक को प्राप्त होवो ॥ ३३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का यह [रावणवधोपाय] नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

षोडश सर्ग

[पायस की उत्पत्ति]

तत्पश्चात् सुरश्रेष्ठों से नियुक्त किये हुए नारायण विष्णु ने जानते हुए भी देवों से ऐसा मनोहर वचन कहा— ॥ १ ॥ हे देवो ! उन राक्षसों के राजा [रावण] के वध का उपाय क्या है ? जिसका आश्रय करके उन ऋषियों के शत्रु को [मैं] मारूँ ॥ २ ॥ इस प्रकार कहे गए देवों ने नाशरहित विष्णु से कहा—मनुष्य का रूप धारण करके [आप] उसे युद्ध में मारें ॥ ३ ॥ हे शत्रुओं के दमन करने वाले ! उस [रावण] ने चिरकाल तक तीव्र तप किया था । उस से लोकों से पूर्व विद्यमान, लोकों के रचने वाले ब्रह्मा प्रसन्न हुए और ॥ ४ ॥ [उस] प्रभु ने प्रसन्न होकर

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः । नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥५॥
अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः । एवं पितामहात्तस्माद् वरं प्राप्य स गर्वितः ॥६॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्यपकर्षति । तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप ॥७॥
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान् । पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥८॥
स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन् काले महाद्युतिः । अजयत् पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः ॥९॥
स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम् । अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥१०॥
ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम् । प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम् ॥११॥
कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम् । स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम् ॥१२॥
शुभलक्षणसंपन्नं दिव्याभरणभूषितम् । शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम् ॥१३॥
दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम् । तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम् ॥१४॥
दिव्यपायससंपूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम् । प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव ॥१५॥
समवेक्ष्याब्रवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम् । प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ॥१६॥
ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः । भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥१७॥
अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीत् । राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥१८॥

उस राक्षस को 'मनुष्यों से भिन्न नाना प्रकार के भूतों से अभय का वर दिया ॥ ५ ॥ उस [रावण] ने वरदान के समय मनुष्यों का तिरस्कार किया (अर्थात् उनको निर्बल मानकर उनसे अभय नहीं माँगा)। इस प्रकार पितामह [ब्रह्मा] से वर पाकर [रावण] अहंकार से गर्वित होकर ॥ ६ ॥ तीनों लोकों को पीड़ित कर रहा है और स्त्रियों का हरण करता है । इसलिए हे परन्तप ! उसका मनुष्य द्वारा ही वध समझा गया है [क्योंकि मनुष्य से अभय का वर नहीं माँगा है] ॥ ७ ॥ देवों का ऐसा वचन सुनकर जितेन्द्रिय विष्णु ने राजा दशरथ को 'पिता' [बनाना] पसन्द किया। ॥ ८ ॥ उस काल में वह पुत्र-रहित, पुत्र की इच्छा वाले, शत्रुओं के दमन करने वाले महा तेजस्वी राजा [दशरथ] 'पुत्रेष्टि' यज्ञ कर रहे थे ॥ ९ ॥ [पूर्व (श्लोक ८ में) निर्दिष्ट] निश्चय करके और पितामह (ब्रह्मा) को कहकर महर्षियों से पूजित विष्णु देवों के साथ अन्तर्ध्यान हो गए ॥ १० ॥ तदनन्तर यज्ञ करते हुए अग्नि अनुपम प्रभाववाला महा अद्भुत, महा पराक्रमी, महाबली, कृष्णवर्ण, लाल वस्त्र पहने, लालमुँह वाला, दुन्दुभी के समान गम्भीर ध्वनि वाला, सिंह के बालों के समान डाढ़ी-मूंछ और सिर के चिकने बालों वाला, अच्छे बालों वाला, दिव्य आभूषणों से सुशोभित, पहाड़ की चोटी के समान ऊंचा, गर्वित, व्याघ्र के समान पराक्रम वाला, सूर्य के समान आकार वाला प्रदीप्त अग्नि की शिखा के वर्ण वाला, तपे हुए सुवर्ण से निर्मित, चान्दी से बने ढक्कन वाले, दिव्य खीर से पूर्ण, पत्नी के समान प्रिय, माया से बने हुए के समान पात्र को विशाल भुजाओं से स्वयं पकड़े हुए प्रकट हुए [व्यक्ति को देखा ।] ॥ ११—१५ ॥ [उसने राजा दशरथ को देखकर यह वचन कहा—हे नृप ! मुझे यहाँ आए हुए को प्रजापति से भेजा गया नर जानो ॥ १६ ॥ तत्पश्चात् हाथ जोड़कर राजा ने प्रत्युत्तर दिया—हे भगवन् ! आप की [क्या सेवा करूं ॥१७॥ तदनन्तर वह प्राजापत्य नर बोला—हे राजन् ! देवों की अर्चना करते हुए तुमने आज यह पायस (खीर प्राप्त किया है ॥ १८ ॥

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छपेगी

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार अंक ९ से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) टाईप प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ कोष्ठ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। विना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

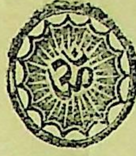
यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित



वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]  [अङ्क १२

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आश्विन २०१५ वि०, अक्टूबर १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५९

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
” ” विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छपेगी

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार अंक ९ से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) टाईप प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ कोष्ठ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ **श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया)** द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। विना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

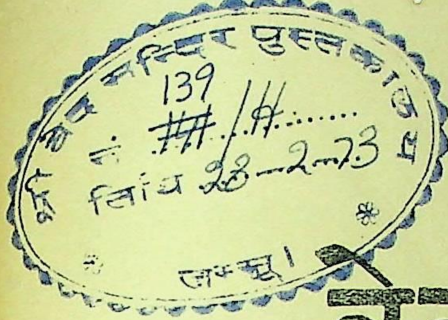
यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

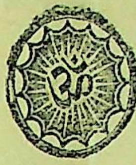
पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक

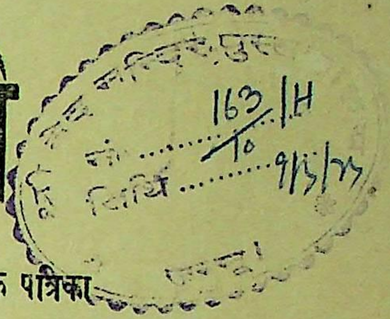
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥





वेदवाणी



श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १०]



[अङ्क १२

इस अङ्क के लेख

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

आश्विन २०१५ वि०, अक्टूबर १९५८ ई०
दयानन्दाब्द १३४
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५९

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य–भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश से ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालो को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) न० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १० } काशी, आश्विन सं० २०१५ वि०, अक्टूबर १९५८ ई० { अङ्क १२

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

सर्वव्यापक हमारे पाप हरो।

त्वम् हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम् ॥ ३६ ॥

हे अग्ने[1] परमात्मन! "त्वम् हि" तू ही निश्चित "विश्वतः परिभूरसि" सब जगत् में सब ठिकानों में व्याप्त हो, अतएव आप "विश्वतोमुख" विश्वतोमुख हो। सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वमुख नाम[2] स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो। वही आप का मुख है। हे कृपालो! "अप नः शोशुचदघम्" आप की इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट होजाय, जिससे हम लोग निष्पाप हो के आप की भक्ति और आज्ञापालन में नित्य तत्पर रहें ॥ ३९ ॥

दण्डान्वय-टीका

त्वम हि[3] तुम ही अकेले

विश्वतः[4] परिभूः असि सब जगह व्याप्त हो

[तथा] विश्वतः मुखः[5] [असि] और मूल कारण होते हुये सदा ही सर्वत्र मनुष्यों के हृदयों में उपदेश देने में समर्थ हो

[इससे प्रार्थना है कि अपने उपदेश द्वारा]

नः अघम्[6] भविष्य में होनेवाले हमारे बुरे ज्ञान और कर्म

अप[7] अत्यधिक

शोशुचत[8] भस्म करदो

अर्थ-बोधक टिप्पणी

(१) अग्ने = अगुआ, आगे ले जाने वाला।
(२) नाम = Called अर्थात्
(३) only: alone: Surely.
(४) evrywhere: on all sides.
(५) original couse: uttrance.
(६) evil: mishaps: misfortune: inguiry:* harm.
(७) away: away.
(८) ईशुचिर् = पूतीभावे—दिवा० to be sorry, to be wet, to shine: to be pure, to decay: to brighten: to burn.

उपासना-योग

[ले०—श्री स्वा० आनन्दस्वामी जी महाराज, देहरादून]

[गतांक से आगे]

महाराज ने यजुर्वेद भाष्य अध्याय सात के ४३वें मंत्र "अग्ने नय सुपथा..." का भावार्थ यह लिखा है—

"कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के बिना योग सिद्धि को प्राप्त नहीं होता और जो प्रेम-भक्ति-युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है, उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योग-सिद्धि देता है।" प्रयोजन यही है कि योग के अंगों को जीवन में धारण करते हुए "ईश्वरप्रणिधान" प्रभु की विशेष भक्ति द्वारा ओम् का निरन्तर जप करते रहना चाहिये, और साथ ही ओम के जो गुण हैं, उन गुणों में से कुछ गुण तो साधक को अपने अन्दर ले ही आने चाहियें। साधक साधना करता हुआ साध्य तक तभी पहुँच सकता है, जब साध्य का प्यारा बनने की कुछ योग्यता उसमें आ जाये। आत्मसमर्पण तभी हो सकेगा, तभी साधक अधिकारी बन कर अपने प्यारे प्रभु से कह सकेगा—

दर पर तेरे आन खड़े हैं बने सवाली नाथ।
तुझ बिन और न कोई सहारा लाज तिहारे हाथ॥

और क्या प्रभु फिर ऐसे साधक पर कृपा नहीं करते? करते हैं और निश्चित रूप से करते हैं, वह प्रभु तो दयामय, स्नेहमय प्रेममय प्रभु हैं, वह तो भक्तवत्सल प्रभु हैं, वह तो करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, और प्रेममय कान्त हैं, हां हां वह ऐसी मां है जिसका हृदय अपनी सन्तान के कल्याण के लिये सदा द्रवीभूत रहता है। बिना संकोच के अपनी कथा और व्यथा उसे सुनाओ, वह सुनता है और अन्तर्ध्यान हुआ सुनता है और अपने प्यारे को सन्मार्ग पर ले चलता है—

ऋग्वेद २-२३ का यह चौथा मंत्र देखिये—

ओं—सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।

"हे प्रभु! तू मनुष्यों को अच्छे मार्ग से ले जाता और उसकी रक्षा करता है, जो साधक अपने आप को तेरे आगे समर्पण करता है, उस साधक को पाप नहीं प्राप्त होता।" यह अनन्य भक्ति साधक के सब कार्य संवारती रहती है, अथर्ववेद ६-४१-१ में बतलाया भी है—

ओम्—मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्ये श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥

"हम सब मन के लिये, चित्त के लिये बुद्धि के लिये, शुभ संकल्प के लिये, और ज्ञान के लिये, मनन के लिये, श्रवण के लिये, दर्शनादि शक्तियों के लिये भक्ति द्वारा भगवान् की आराधना करें।"

अनन्य भक्ति द्वारा क्या कुछ प्राप्त नहीं हो जाता और इसकी सरल सुन्दर विधि उपासनायोग में बतलाई गई है। ओम् सारे वेदों का सार है। यह अक्षर सब से उत्तम सहारा है, इसी का पल्लु पकड़ कर ब्रह्मलोक तक पहुँचा जा सकता है, जिस साधक के अन्तःकरण पर यम नियमों का गूढ़ा रंग चढ़ गया है, वह ओम् द्वारा सब कुछ पा लेता है, भक्ति का सब से सुन्दर साधन ओम् ही है। गोपथ ब्राह्मण में कहा भी है—

आत्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोङ्कारः।

ओंकार आत्मा की चिकित्सा और आत्मा को मोक्ष दिलाने वाला है।"

और गोपथ ब्राह्मण ही में यह भी कहा है—

अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति।

"प्रणव ओम् अमृत (जीवन) है, इस अमृत के द्वारा मृत्यु को पार करता है।"

और योगी याज्ञवल्क्य का यह आदेश है कि—

मङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारं परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥
प्रजापतेर्मुखोत्पन्नं तपः सिद्धस्य वै पुरा ।
जपेन दहते पापं प्राणायामैस्तथाऽसमम् ॥

ओम् मंगलमय है, पवित्र, धर्म कार्य रूप सर्वकामनासिद्धि का हेतु है। यह ओम् परम ब्रह्म और सब मंत्रों में शिरोमणि है। यह ओम् सर्व प्रथम प्रजापति के मुख से उत्पन्न अर्थात् उच्चारित हुआ, तपस्या से सिद्ध हुआ, ओम के जप और प्राणायाम द्वारा सब पाप दग्ध हो जाते हैं।"

एक कवि ने भी कहा है—

जब हि नाम हृदय धरयो भयो पाप को नास ।
जैसे चिन्गी आग की पड़ी पुराने घास ॥

और मुण्डकोपनिषत् के ऋषि ने आत्मा का ध्यान ओम् द्वारा ही बतलाया है—

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ।

"उस आत्मा का ओंकार (ओम्-ॐ) के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गाढ़ान्धकार के भी परले पार ले जाने का यही साधन है।"

ओम् ही वह नाव है, जिसका सहारा ले कर भव सागर से सरलता से पार हो सकते हैं। अथर्ववेद १५-३-६ में आया है—

उद्गीथ उपाश्रयः ।

"ओंकार—ॐ—ओम् टेक (सहारा) है"।

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी यही आज्ञा दी है कि मृत्यु समय जो ओम् का जप और प्रभु का ध्यान करता हुआ प्राण देगा वह परम गति को प्राप्त होगा। और तो और अग्निपुराण (२१५-१) में भी ओम् ही को सार बतलाया है—

ओंकारं यो विजानाति स योगी स हरिः पुमान्।
ओंकारमभ्यसेत्तस्मान्मन्त्रसारन्तु सर्वदम् ॥

"जो ओंकार को जानता है, वही योगी और वही हरि है, यह ॐकार सारे मंत्रों का सार है, इसीलिये इसीका सदा प्रयोग करना चाहिये।"

और योगशिखोपनिषद् में इसके जप तथा ध्यान की यह विधि बतलाई है—

मनः सर्वत्र संयम्य ॐकारं तत्र चिन्तयेत् ।
ध्यायेत् सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमेष्ठिनम् ॥

"सारे विषयों से मन को संयम करके ज्ञानी साधक मन में ॐ का ध्यान करते हैं और परमात्मा को हृदय में स्थापन करके सर्वदा उसीका चिन्तन करते है।"

परन्तु झगड़ा तो मन के संयम का है, इसे ॐ के जप में कैसे लगाया जाये। अनुभव द्वारा जो ढंग लाभ पहुँचाता है वह यह है—

प्रातः ३ या ४ बजे निद्रा त्याग कर नहा कर या हाथ मुँह धोकर, गुदगुदे आसन पर स्वस्तिका, पद्म, सिद्ध अथवा सुखासन से बैठिये, धूप या अगरबत्ती जला लीजिये, तब आँखें खुली रख कर पाँच बार गायत्री मंत्र का उच्चारण ऐसी ध्वनि से कीजिये कि अपने ही कान सुन सकें। फिर आँखें बन्द करके यह संकल्प कीजिये—

"इस समय इस दुनियां के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, जिस परिवार में हूँ, इसके साथ भी मेरा इस समय कोई सम्बन्ध नहीं, जो कार्य करता हूँ, उसके साथ भी इस समय मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरा सम्बन्ध इस समय अपने परम पिता और सच्ची माता के साथ है, मैं उसी से बात करूँगा।"

यह संकल्प करके अब श्वास के द्वारा ओम् का जप शुरू कीजिये, जब श्वास अन्दर जाये तो हृदय में "ओ" कहिये, जब श्वास बाहर आये तो "म्" कहिये। श्वास को अपने स्वभावानुसार चलते रहने दीजिये, उसे न धीरा करें न तीव्र। इस प्रकार जप करते जब २० मिनट हो जायें तो श्वास द्वारा जप छोड़ दीजिये, अर्थात् अब श्वास का ध्यान छोड़ कर, हृदय में या भ्रुकुटि में अपने ध्यान को ले जाइये, और वहां अपने ध्यान से ॐ लिखिये, संकल्प या ध्यान द्वारा ॐ लिखा जायेगा, और फिर मिट भी जायगा, मिटने पर पुनः ॐ लिख लीजिये, यह अभ्यास आधा घण्टा कीजिये, चाहो तो ओम् का जप भी करते रहिये, ऐसा अभ्यास करते करते २

तीन मास के पश्चात् ॐ का अक्षर वहीं टिक जायगा, मिटेगा नहीं, जब यह अवस्था हो तो आभ्यन्तर त्राटक उसी ॐ अक्षर पर कीजिये, स्थूल चक्षु से किसी प्रकार का कार्य नहीं लेना, अन्दर का त्राटक करते कुछ समय के पश्चात् वह ॐ ज्योति के रूप में बदल जायगा, जब ऐसा हो तो समझ लीजिये कि आप ध्यान की पहली अवस्था में पहुँच गये हैं।

इस सारी साधना में जब भी यह ज्ञात हो कि मन खिसक गया है, तब तत्काल मन को अपना संकल्प याद कराईये, "अरे मन! तू कहां भागा जाता है, अभी तो तू ने संकल्प किया था कि दुनिया, परिवार, तथा कारोबार से कोई सम्बन्ध नहीं, तब कहां जा रहा है, यहीं बैठ कर जप कर"। तब मन फिर जप में लग जायगा, जब भी मनको भागता देखें, तभी उसे पकड़ कर फिर जप में लगा दीजिये, बार-बार ऐसा करने पर मन फिर जप ही में लगा रहेगा।

ज्ञान द्वारा, प्राण द्वारा और ध्यान द्वारा मन, बुद्धि और चित्त का वशीकार होने लगता है। ज्ञान द्वारा मन को समझाओ, इस नश्वर जगत् की अस्थिरता बतला कर मन में वैराग्य की भावना ले आओ, और एकरस रहने वाले परमात्मा के गुण वर्णन करके मन को माया से हटाकर आत्मा की ओर चलने की प्रेरणा करो। प्राणायाम द्वारा प्राण को वश में करने से मन स्वयमेव वश में हो जाता है। और ध्यान तो मन, बुद्धि, चित्त को स्थिर करने का अमोघ साधन है—

ध्यान-सिन्धु मुक्ता घने जो खोजे सो पाये।
चञ्चलता मन की मिटे सहज शान्ति मिल जाये॥

यही नहीं अपितु "ध्यान" आत्मा का बहुमूल्य उपहार है, एक ऋषि ने कहा भी है—

ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महर्चनम्।
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो॥

"आत्मा का उपहार (भेंट) ध्यान ही है और ध्यान ही इसका महा अर्चन (पूजा) है उसके बिना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता।" इसीलिये महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में यह आज्ञा दी है कि—

"न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही संध्योपासन भी किया करें।"

योग दर्शन साधन पाद में ऋषि ने यह बतलाया है कि "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" = "उन क्लेश वृत्तियों को ध्यान से हटाना चाहिये।" जो लोग पाँच मिनट में ही संध्या समाप्त कर देते हैं, उनके क्लेश कैसे मिट सकेंगे और उनके आत्मा की भूख प्यास कैसे मिटेगी।

आत्मा परमात्मा के दर्शन तभी पा सकेगा, जब ध्यानावस्था परिपक्व होगी, मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट यह घोषणा है कि—

तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। (मु० ३-१-८)

"उस कलारहित ब्रह्म को ध्यान द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है।"

परन्तु ध्यान कहने किस को हैं, योग दर्शन में तो ध्यान के सम्बन्ध में यह लिखा है कि—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

"उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा बना रहना ध्यान कहा जाता है।"

यदि ज्योति की या ॐ अक्षर की धारणा की है तो निरन्तर उसी का ज्ञान बना रहे तो वह ध्यान कहलाता है। परन्तु सांख्य ने यह कहा है कि—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

"मन सर्वथा निर्विषय हो जाये तो ध्यान कहाता है।" परन्तु, जब मन से सारे बाह्य विषय निकाल दिये जायेंगे तब मन में ब्रह्म विषय तो विद्यमान रहेगा ही, ब्रह्म का वहां से कहां निकाला जायगा। इसलिये योग दर्शन और सांख्य की शिक्षा में कोई भेद नहीं। दोनों ध्यानावस्था में ले जाकर आत्मा को परमात्मा में जोड़ने की बात कह रहे हैं। इसकी सुन्दर विधि महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास सात में यह लिखी है—

"जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियां को रोक, मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा को विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो

जाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ा कर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ पहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता जाता है।"

और "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" में और भी अधिक विस्तार से महर्षि ने उपासना तथा ध्यान की विधि वेद, योगदर्शन तथा अपने अनुभव से लिखी है। महाराज उपासना विषय में लिखते हैं।

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है। और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी, व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारंबार मग्न करना चाहिये।"

इस विधि पर आचरण करने से क्या होता है, इसका उत्तर महाराज ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'मुक्ति विषय' में यह दिया है—

"इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।"

और यह मानव चोला मिलता भी इसलिये है ताकि पूर्वजन्मों के किये कर्मों के भोग भोगे जा सकें, और इसके साथ प्रभु-मिलाप की तैय्यारी की जा सके। नर तन पा कर जो केवल दुःख सुख भोगने ही में जीवन गुजार देते हैं, उनका जीवन पशुवत् है, हां जो भोग भोगने के साथ योग साधना द्वारा प्यारे प्रभु के मिलन की तैय्यारी करते रहते हैं, उनका जीवन सफल होता है। बाल काल से लेकर युवा काल तक योग साधनायें बड़े उत्तम ढंग से होती हैं, वृद्धावस्था में तो शरीर तथा शरीर के अंग हो रूठे रहते हैं, इन्हीं के मनाने में दिन रात लगा रहना होता है, फिर भी कुछ साधना तो वृद्धावस्था में भी हो ही सकती है। प्रभु के नाम ॐ का जप तथा तदनुकूल आचरण तो बनाया ही जा सकता है, अतएव आप चाहे जिस भी अवस्था में हैं, उपासना-योग द्वारा आप का कल्याण ही होगा। महर्षि ने उपासना विषय में जो आदेश दिये हैं, उन्हें दत्त-चित्त हो कर बार बार पढ़िये और उन पर आचरण कीजिये, और फिर देखिये आप के जीवन में माधुर्य और सौंदर्य आता है या नहीं, और हर प्रकार के कार्य में सफल होने की योग्यता बढ़ती है या नहीं।

यजुर्वेद में परमात्मा हमें आदेश देता है कि—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। (य० ११-५)

"हे अमृत—मोक्षमार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इसलिये मैं तुम को उपासना योग में युक्त करता हूं।"

आओ आज दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि हम प्यारे प्रभु के आदेश पर चलते हुए अपना जीवन सफल बनायेंगे॥

सर्व-श्रेष्ठ

[ले०—श्री डा० मुंशीरामजी शर्मा, एम. ए., पी एच. डी. डी. लि० कानपुर]

वरुण शब्द वैदिक वाङ्मय में प्रकरण के अनुसार वरणीय, वर्णन करने के योग्य, सर्वश्रेष्ठ, पाप-निवारक आदि कई अर्थ देता है। जो सर्वश्रेष्ठ है, वही निश्चित रूप से वरण करने योग्य है। वाणी उसी के गुण-गान से सार्थक बनती है। उसके निकट पहुँचना, समीप बैठना स्वतः साधक को पाप से पृथक् करने वाला है। सर्वश्रेष्ठ का चिन्तन और मनन, गुण-कीर्तन और स्मरण मन में श्रेष्ठता का संचार करते हैं। सर्वश्रेष्ठ का सामीप्य निश्चित रूप से पाप का विध्वंस करने वाला है।

सर्वश्रेष्ठ, वरुण या वरेण्य कौन है ? धन, अन्न, गृह, वस्त्र। नहीं, इनमें से एक भी नहीं। इन सब का महत्व मेरे शरीर की दृष्टि से है। इनके द्वारा मेरे शरीर की रक्षा होती है। शरीर साध्य है, ये सब साधन। साधन का महत्व साध्य की अपेक्षा गौण है। अतः प्रमुखता धन आदि बाह्य पदार्थों की नहीं, शरीर की है। शरीर है, तो ये भी सहायक होंगे, अन्यथा नहीं।

राज्य, साम्राज्य और वैराज्य एक दृष्टि से वरणीय हैं। इनके द्वारा इनका अधिपति स्वाधीन भाव की घोषणा करता है। यदि राजा, सम्राट् या विराट् कहलाने वाला व्यक्ति स्वाधीन है, तो निस्संदेह यह पद वांछनीय है। स्वतंत्र अवस्था स्पृहणीय है। पर स्वतंत्रता राज्य के इन विविध रूपों में है नहीं। वहां पराधीनता ही पराधीनता है। पद पद पर अधिकर्ता को प्रजानुरंजन की चिन्ता लगी रहती है। वह आत्मानुरंजन नहीं कर पाता। बाह्योन्मुख दृष्टि के समक्ष समाज रहता है, आत्मतत्व नहीं। समाज का हित सिद्ध हो गया, तो संतोष की सांस ली, अन्यथा प्रमाद और असावधानी से कहीं अहित हो गया, तो जान के लाले पड़ गये। पहली अवस्था आत्म-निरपेक्ष है, दूसरी आत्मा के लिये क्लेशबहुल, दोनों ही अवांछनीय, अतः अश्रेयस्कर हैं।

धन-राज्य आदि की अपेक्षा शरीर मेरे निकटतर है। पर कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस निकटतर वस्तु की सार-संभाल विशेषरूप से करते हों? अधिकतर मन दूर रखी वस्तुओं की ओर दौड़ लगाता है। वह ऐसी वस्तुओं की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील होता है, जो उसकी पहुँच में भी नहीं हैं। पर जो उसकी पहुँच में ही नहीं, अधिकार में भी है, उनकी उपेक्षा करता है। शरीर उसके पास है, उसकी बहुमूल्य सम्पत्ति है, उसके अधिकार में भी है, पर उसे स्वस्थ रखने की ओर ध्यान भी नहीं जाता। चिन्ता ९९ के चक्र की रहती है, जो स्वर्ण कान्ति के समान देदीप्यमान शरीर को भी खा जाती है।

शारीरिक स्वास्थ्य निस्संदेह एक वरदान है। शरीर स्वस्थ है, तो धन आदि का भी उपयोग हो जाता है, नहीं तो वे विषवत् त्याज्य हैं। त्याज्य शब्द सार्थक है। एक तो रोग-शमनार्थ तथा नीरोग बनने के लिये उनका ओषधियों की प्राप्ति में त्याग करना पड़ता है, दूसरे उपयोग में नहीं आये तो त्यक्तवत् किसी कोने में पड़े रहते हैं। शरीर का स्वस्थ रहना इसीलिये वरणीय है।

शरीर में सबसे ऊपर का ढांचा चर्म, मांस, हड्डी, मज्जा, आदि का है। इन सब का स्वस्थ बना रहना शिराओं एवं नाड़ियों में प्रधावित रक्त के स्वस्थ संचरण पर अवलम्बित है। रक्त को शरीर के समस्त अवयवों तक पहुँचाना प्राण का काम है। नासिका के छिद्रों से जिस वायु को मैं अन्दर ले जाता हूँ, वह हृदयस्थ वायु की शुद्धि करती है। इस शुद्धि की क्रिया से जो मल छंटता है, उसे मैं नासिका के छिद्रों से बाहर जाने वाली वायु के साथ बाहर कर देता हूँ। प्रथम वायु को प्राण और दूसरी को अपान कहा जाता है। अपान का एक अन्य इसी प्रकार का कार्य नाभि से नीचे की दो इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होता है, जो उत्सर्जन या निष्कासन की इन्द्रियां कहलाती हैं तथा जो दूषित जलीय भाग और निरर्थक द्रव्य को शरीर से बाहर करती रहती

हैं। नाभि में स्थित प्राण समान कहलाता है। इसका कार्य रोटी, दाल, हलुआ, दूध, दही आदि को समान रस रूप में परिणत कर देना है। यह रस-परिपाक की भट्टी में पकता और छनता हुआ क्रमशः रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र का रूप धारण करता है। व्यान प्राण का कार्य समग्र शरीर में व्याप्त है। उदान प्राण मृत्यु के समय समग्र प्राण शक्ति को कण्ठ के ऊपर ले जाता है। योगी जन अपनी सामान्य जीवन-चर्या में भी यह कार्य कर लेते हैं और शरीर को निःपन्द अर्थात् मृतवत् बना लेते हैं। इस प्रकार शरीर के अवयवों का संचालन प्राण तत्व के हाथ में है। यह प्राण शरीर की भी अपेक्षा वरणीय है। प्राण न हो, तो शरीर मिट्टी के ढेले से भी अधिक मूल्य नहीं रखता। अतः शरीर से भी बढ़ कर श्रेष्ठ तत्व प्राण है।

शरीर से श्रेष्ठ प्राण है, तो प्राण से भी श्रेष्ठ मनस्तत्व है। मन के संबंध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' अथवा 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन यदि शुभ संकल्प वाला है, शिवत्व की ओर प्रेरित तथा उत्साह-सम्पन्न है, तो प्राण भी अपना कार्य सुचारु रूप से संपादित करता रहता है। यदि ऐसा न हुआ, तो अशिव और असत् की कल्पना प्राण के कार्य को भी दूषित कर देती है। निरुत्साह की दशा में प्राण की गति भी मन्द पड़ जाती है और कभी-कभी मन की अत्यन्त हीन अवस्था हृदय की धड़कन को बन्द करके मृत्यु का कारण भी बनती है। महा-प्राण आचार्य द्रोण के निधन का कारण मन के अन्दर निहित शोक का भाव ही तो था, जो अश्वत्थामा जैसे पुत्र के मिथ्या-निधन-संवाद से उत्पन्न हुआ था। गांडीवधारी वीर अर्जुन के हाथ से धनुषबाण गिर पड़े थे, शरीर में कंपकंपी और जलन उत्पन्न होने लगी थी, जब उन्होंने अपने सम्मुख स्थित अपने ही बंधु-बांधवों के युद्ध-जनित भीषण हत्याकांड का मन में अनुभव किया। मन के मर जाने से बड़े से बड़े प्राणधनी बलवान् व्यक्ति तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो धराशायी हो जाते हैं। इसके विपरीत निर्बल व्यक्ति मन को उमंग में आशातीत कार्य कर जाते हैं। अतः मनस्तत्व प्राणतत्व की अपेक्षा अधिक वरणीय है। मन की महत्ता प्राण की महत्ता से बढ़ कर है।

मन के शिव एवं अशिव संकल्प निश्चयात्मिका बुद्धि पर आश्रित हैं। बुद्धि जैसा निर्णय देती है, मन वैसा ही करता है। मन को आदेश बुद्धि से ही प्राप्त होते हैं। निर्मल बुद्धि निर्मल चिन्तन को जन्म देती है और निर्मल चिन्तन से पुण्य कार्य सम्पादित होते हैं। दुष्ट बुद्धि हीन विचारों की जननी है जो परिणामतः पापकर्मों के प्रेरक हैं। वेद ने कई स्थानों पर पापीयसी बुद्धि को हटाने तथा सद्बुद्धि को जगाने का आदेश दिया है।[1] दुर्योधन की दुर्मति ही महाभारत का कारण बनी थी। कैकेयी की दुष्ट बुद्धि ने राम जैसे शीलपरायण पुत्र को वनवास दिलाया था। दूसरी ओर मंदालसा की सद्बुद्धि ने पुत्र को कर्तव्यपथ पर आरूढ़ कर दिया। पन्ना धात्री के विवेक से उदयसिंह के प्राण बचे। सुमति समृद्धि की हेतु है, तो दुर्मति दुखों की उत्पादिका है। मन के समस्त संकल्प विकल्प, उसकी जोड़-तोड़ की निखिल क्रियायें, संश्लेषण-विश्लेषण के समग्र प्रयत्न इसी बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। अतः मनस्तत्व की भी अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है।

मन इन्द्रियरूपी ज्योतियों की ज्योति है, तो बुद्धि मनरूपी प्रकाश की प्रकाशिका है। पर बुद्धि का प्रकाश स्वतः एक अन्य प्रकार के स्रोत की ओर संकेत करता है। यह स्रोत आत्मतत्व है। उपनिषदों के ऋषियों ने बार-बार इसी आत्मतत्व का गुणगान किया है। आत्मप्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है। इस प्रकाश के समक्ष न बुद्धि का प्रकाश ठहरता है, न मन का, न सूर्य की ज्योति ठहरती है, न विद्युत् की चकाचौंध, अग्नि की तो बिसात ही कितनी? आत्मतत्व ही बुद्धि को दर्शन-शान्ति देता है, इसी के सहारे बुद्धि अर्थों को एकत्र और मन को इन्द्रियों के साथ संयुक्त करती है। शरीर, प्राण, मन और बुद्धि आत्मारूपी सम्राट् के ही शासित प्रदेश हैं। ये कभी-कभी विप्लव का झंडा खड़ा कर देते हैं। पर आत्मशक्ति से शून्य हो बुरी तरह मुँह की खाते हैं। केनोपनिषद् के देवता अपनी-अपनी शक्ति रखते हुए भी आत्मा के अभाव में अशक्ति

(१) अन्यत्र पापीरपवेशया धियः। अथर्व० ९-२-२५, आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु। यजु० २५-१४

का अनुभव करते हैं। अतः आत्मा ही श्रेष्ठ है, आत्मा ही वरेण्य है, आत्मा ही उपास्य है। इसकी समक्षता में अन्य किसी को भी वरणीय नहीं माना जा सकता।

आत्मा और परमात्मा में मात्रा का अन्तर है। आत्मा अणुरूप है, तो परमात्मा विभुरूप। आत्मा चिनगारी है, तो परमात्मा अग्निरूप। आत्मा बिन्दु है, तो परमात्मा समुद्र। आत्मा अल्प है, तो परमात्मा भूमा। दोनों सयुजा और सखा हैं। दोनों चेतन तथा प्रकाश के निधि हैं। आत्मा शरीर का शासक है, तो परमात्मा विश्वभर का। एक पिंड में व्याप्त है, तो दूसरा ब्रह्माण्ड में। परमात्मा आत्मा का माता-पिता-गुरु-धाता-बन्धु-सखा आदि सब कुछ है। आत्मा श्रेष्ठ है, तो परमात्मा श्रेष्ठतम ऋग्वेद का मन्त्र कहता है:—

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः। न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्धः॥ (१-१६५-९)

प्रभु से बढ़ कर यहाँ कोई भी उत्तम या श्रेष्ठ नहीं है। वह सर्वोत्तम है। उसके जैसा कोई ज्ञानी भी नहीं है। वह जो कुछ कर रहा है और जो कुछ करेगा, उसे ये जन्म-मरणधर्मा प्राणी नहीं समझ सकते। वह वृद्ध है, प्रवृद्ध है, शाश्वत है, सनातन है, नित्य है, अमृत है। उसकी समता यहाँ कौन कर सकता है?

अष्टोत्तर-शतनाम-मालिका

'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित ईश्वर के १०८ नामों की व्याख्या

[ले०—श्री पं० विद्यासागरजी शास्त्री एम. ए. उन्नाव]

[अंक ८ से आगे]

अग्नि

श्री महाराज ने इस शब्द की रचना अञ्चु, अग, अगि और इण् धातु से मानी है। आप लिखते हैं—

(क) १. 'अन्चू गतिपूजनयोः'—इस धातु से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। "गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः, 'अञ्चति अच्यते वा सोऽयमग्निः" जो ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ जानने प्राप्त होने और पूजा के योग्य है उसका नाम अग्नि है। (स. प्र. प्र. सं.)

२. अञ्चु गतिपूजनयोः अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं। इनसे अग्नि शब्द सिद्ध होता है। "गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः 'योऽञ्चत्यच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः" जो ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ जानने प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि हैं।

(ख) निरुक्तकार ने अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन किये हैं। वे आधिभौतिक तथा अधिदैविक पक्ष के समर्थक हैं। अतएव उनके निर्वचनभी उसी दृष्टिकोण से हैं। प्रथम निर्वचन है **'अग्रणीर्भवति'** इसका स्पष्टीकरण **'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'** इस वाक्य द्वारा किया गया है। यज्ञमात्र में अग्न्याधान प्रथम कर्तव्य है। द्वितीय निर्वचन साधारण अग्नि की दृष्टि से किया गया है **'अङ्गं नयति सन्नममानः'** अर्थात् अग्नि जिस स्थान पर रक्खी जाती है, उसे आत्मसात् कर लेती है। आचार्य स्थौलाष्ठीवि का निर्वचन है **'न क्नोपयति = न स्नेहयति'** इसका अर्थ है, अग्नि शोषक है। आचार्य शाकपूणि इसे तीन धातुओं से बनाते हैं। उन्होंने इसके दो समूह कर लिये हैं—

१. इण् अञ्चु नी

२. इण् दह नी

इनका आशय यह है कि अग्नि दाहक, प्रकाशक, प्रापक तथा वस्तु के रूप को व्यक्त करने वाला है।

इनमें से 'अग्रणीर्भवति' यह निर्वचन भगवान् में भी सुसङ्गत होता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य में श्रीभगवान् का सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है।

(ग) १. श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह में एक सुन्दर निर्वचन दिया गया है। वह है 'न गच्छति स्वतो न प्रवर्तते इत्यगं विश्वम्, अगं नयतीत्यग्निः'—अर्थात् जगत् का संचालन करने से भगवान् अग्नि कहाते हैं। (श्रु. सि. सं. पृ.१०२)

२. वैयाकरण अगि धातु से ही अग्नि शब्द बनाते हैं। वे लिखते हैं **'अङ्गेर्नलोपश्च'** (उणादि) अङ्गतीत्यग्निः।

निम्न मन्त्र में अग्नि शब्द भगवान् का वाचक है—

अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम्। ऋ० १. १. १

पुरोहितम् = प्रत्येक कार्य में सबसे पहले (लेखन कीर्तन आदि द्वारा) जिनका स्थापन किया जाता है। यज्ञस्य देवम् = जो पूजनीय के पूजनीय हैं। ऋत्विजम् = प्रत्येक प्राप्तव्य वस्तु के लिये जिनका आश्रय अपेक्षित है। होतारम् = जिनको सब पुकारते हैं। रत्नधातमम् = रमणीयतम पदार्थ अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रदाता। अग्निम् = तेजस्वी, न्यायकारी तथा अग्रणी, सर्वगत् सर्वजगद्वन्द्य भगवान् से ईडे = याचना करता हूँ॥

इस मन्त्र में आये अग्नि के विशेषण तथा मन्त्रान्तर्गत क्रिया यह व्यक्त करती है कि अग्निवाच्य एक चेतन है, और वह ईश्वर है।

अग्नि शब्द भगवान् का वाचक है, इसमें निम्न प्रमाण हैं—'ब्रह्म वा अग्निः' (कौ. ब्रा. ९. १. ५) 'अग्निर्ब्रह्म' (शत० ३. २. २. ७)॥

पृथिवी

श्री महाराज इस शब्द को पृथु या प्रथ विस्तारे धातु से बना मानते हैं। आप लिखते हैं—

(क) १. पृथु विस्तारे इस धातु से पृथिवी शब्द सिद्ध हुआ। जो आकाशादि देवों से विस्तृत है, उसका नाम पृथिवी है। इससे परमेश्वर का नाम पृथिवी है (स. प्र. प्र. सं० पृ० ११)

२. प्रथ विस्तारे इस धातु से पृथिवी शब्द सिद्ध होता है। 'यः प्रथते सर्वं जगत् विस्तृणाति स पृथिवी'—जो विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है, इसलिये परमेश्वर का नाम पृथिवी है। (स० प्र० पृ० स्तं०)

३. (ख) उणादि सूत्र **'प्रथिम्रदिभ्रस्जाम्'०** की व्याख्या करते हुए फिर लिखा है **'प्रथते कीर्तिं वा ख्यापयति पृथुः राजविशेषः प्रख्यातपदार्थो वा'**

(ग) इसीके एक दूसरे सूत्र **'प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च'** की व्याख्या करते हुए फिर लिखते हैं **'प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी'**।

यहां एक स्थल पर प्रथ का अर्थ 'प्रख्यान' लिया है दूसरे स्थलपर 'विस्तार'। प्रथम सूत्रमें निर्वचन राजा विशेष नाम मानकर किया है। द्वितीय में भूमि का वाचक पृथिवी शब्द माना है और निर्वचन भी उसी प्रकार का किया है।

दो आपत्ति और उनका समाधान

महाराज के उल्लिखित लेख पर दो आपत्ति उठती हैं। एक यह कि वर्तमान धातुपाठ में प्रथ धातु का अर्थ विस्तार नहीं लिखा है, अपितु प्रख्यान लिखा है। दूसरी यह कि धातु का पाठ प्रथ है न कि पृथु, अत एव उणादिकारने 'प्रथेः षिवन् षवन्' आदि सूत्र द्वारा धातु को सम्प्रसारण करने का कष्ट स्वीकार किया है।

प्रथम आपत्ति प्रायः वे ही लोग करते हैं, जिनका अध्ययन अत्यन्त न्यून है। प्रथ धातु का विस्तार अर्थ कभी-न-कभी धातुपाठ में विद्यमान था। उपलब्ध संस्करणों में न मिलने से उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, जब कि अन्य दिग्गज वैयाकरण इस अर्थ की सत्ता का समर्थन करते हैं। क्रमशः इसका निदर्शन कराया जाता है।

(अ) वैयाकरणश्रेष्ठ भानुजीदीक्षित अपनी अमरकोश की व्याख्या व्याख्या सुधा में पृथिवी शब्द का निर्वचन करते हुए इस शब्द का मूल धातु 'प्रथ विस्तारे' बताते हैं।

(सव्याख्य अमरकोश पृ० १११ स्तं० १। सन् १९२९ का निर्णयसागर मुद्रित संस्करण)

(ब) क्रियाकलाप के कर्ता विजयानन्द लिखते हैं—

विस्तरणे तनोति प्रस्तारयति प्रपञ्चयत्यपि च।
प्रथयति विस्फारयति विस्तारयति च॥

क्रियाकलाप अ० २ श्लो० ३॥

(स) महावैयाकरण महाकवि वासुदेव स्वकृत धातुकाव्य २ य सर्ग के ४ श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं **'प्रथ प्रख्याने विस्तारेऽप्यस्ति'** अर्थात् प्रथका अर्थ जहां प्रख्यान है, वहां विस्तार भी है। श्री महाराज धातु के दोनों अर्थों से परिचित थे। जैसा कि उनकी पूर्वनिर्दिष्ट उणादि सूत्रों की व्याख्या से प्रतीत होता है।

(द) निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री वनमालिमिश्र प्रथ धातु का अर्थ विस्तार स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं **'प्रथयति विस्तारयतीति पृथिवी'**। (श्रु० सि० पृ०१०२)

द्वितीय आपत्ति करने वालों का भी अध्ययन अत्यन्त विस्तृत नहीं है। ऐसे भी आचार्य हैं जो इस धातु को ऋकारोपध भी मानते हैं। आचार्य माधव अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ धातुवृत्ति में लिखते हैं **'अत्र केचित् पृथेति ऋकारोपधमपि पठन्ति'** (मा० धा० वृ० पृ० ३४ चौखम्बा संस्करण) इस प्रकार पृथिवी के सम्बन्ध में श्री महाराज के लेख सर्वथा उपपन्न हैं। श्री महाराजका आशय यही है 'विस्तृत आकाशादि से भी विस्तृत होने से तथा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने से भगवान् का नाम पृथिवी है। गीता भी कहती है **'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'** (गी. ११.३८) अर्थात् आप इस सम्पूर्ण संसारका विस्तार करने वाले हैं।

(ग) आचार्य यास्क ने प्रसंगवश निरुक्तमें पृथिवी शब्द का व्याख्यान किया है। वे लिखते हैं **"प्रथनात् पृथिवीत्याहुः।......अथ वै दर्शनेन पृथु"** (निरु० १.१४) आशय वही 'यतः पृथुः ततः पृथिवी' यद्यपि निर्वचन भौतिक पृथिवी की दृष्टि से किया गया है, तथापि सर्वव्यापक होनेसे परम पृथु भगवान् ही वास्तवमें पृथिवी नामके अधिकारी हैं।

(ङ) श्रुतिसिद्धन्तसंग्रहकार लिखते हैं **"प्रथयति विस्तारयतीति पृथिवी"** अर्थात् इस जगत् का विस्तार करने के कारण भगवान को पृथिवी कहते हैं।

निम्न स्थल पर पृथिवी शब्द भगवान् का वाचक है—

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशिनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथः॥ अथर्व १८.२.१९

हे पृथिवी = सबसे महान् होने, सबसे प्रख्यात होने एवं इस सम्पूर्ण जगत् का अव्यक्त से व्यक्त रूप में विस्तार करने से पृथिवी कहाने वाले भगवन्! अस्मै = इस उपासक के लिये, अनृक्षरा = अकण्टकित हो, अर्थात् भवभीतिरूपी कांटों से इसकी रक्षा करिये। निवेशनी भव = इसको निवेश अर्थात् स्थान दीजिये। अर्थात् आपके हृदय में इस भक्त उपासक के लिये भी कुछ स्थान हो तथा अस्मै शर्म यच्छ = और इस प्रकार इसका कल्याण करिये।

आशय यह कि आप सबसे प्रख्यात एवं महान् हैं, अतः आप से प्रार्थना है इस भक्त उपासक की भवभीतिको आप दूर करिये तथा इसका कल्याण करिये॥

प्राण

श्री महाराजने भगवान् के लिये इस शब्द का प्रयोग लाक्षणिक माना है। वे लिखते हैं—

(क) अ. सबका जीवन मूल होने से प्राण (स. प्र. पृ. ३ सं० २।

(ब) जैसे प्राणके वश में सब शरीर और इन्द्रियां होती हैं, वैसे ही परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है। (स. प्र. पृ. ४ सं० १) इन दृष्टियों से निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(अ) 'प्राणानां मूलत्वात् परमात्मा प्राणः' इस निर्वचन का मूल 'यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा' (अथर्व १३.३.३) यह आथर्वणी श्रुति है। इस शब्द का इसी प्रकार का 'ब्रह्मपरक निर्वचन' अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों को भी अभीष्ट है! कठोपनिषद् के **'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्'** (कठ) इस मंत्रके शांकरभाष्य की व्याख्या करते हुए आनन्द गिरि लिखते हैं **"सद्रूपं वस्तु जगतो मूलम्। तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वात्'** आशय यह कि सत् वस्तु ब्रह्म जगत् का मूल है। वही प्राणप्रवृत्तिका हेतु होने से प्राण कहाता है।

(ब) 'प्राण ह व वशकर्ता प्राणः' इस निर्वचन का मूल भी निम्न वाक्य में है—**तान् ह वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथ अहमेवैतत् पंचधात्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति** (प्रश्न २.३) आशय यह कि प्राण बोला कि मैं ही इस शरीर को धारण करता हूँ, यह मेरे ही वश में है। इस प्रकार यह त्रिलोकी भगवान् के वश में है। उपनिषत् कहती है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि॥
प्रश्न २.१३

अर्थात्–यह सब सब में जीवनी शक्ति का आधान करने से प्राण कहाने वाले भगवान् के वश में हैं।

(घ) विष्णुसहस्रनाम के—

१. शांकर सम्प्रदायानुसारीभाष्य में **'सूत्रात्मना प्रजाः प्राणयतीति प्राणः'** ऐसा लिखा है, क्योंकि वे सूत्रात्मा बन कर प्रजाओं को जीवन देते हैं, अतः वे प्राण कहाते हैं।

(ङ) निम्न निर्वचन भी प्राण शब्द के अत्यन्त सुन्दर हैं।

१. प्राणिति सर्वं जगदनेन स प्राणः।

२. प्राणयति प्रीणते वा सर्वं जगत् यः स प्राणः'
इस अवस्था में जगत्कर्तृत्व भगवान् में अवेगा।

निम्न मन्त्र में प्राण शब्द भगवान् का वाचक है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथर्व ११.४.१)

"यः सर्वस्य ईश्वरः भूतः" = जो सबके ईश्वर करके प्रसिद्ध हैं, **"यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्"** = यह सम्पूर्ण जगत् जिनपर आश्रित है, जिनकी मुठ्ठी में है, जो इसके उत्पत्ति, संहार कर्ता हैं, ऐसे **"प्राणाय"** = प्राणदा होने से, प्राण के समान जगन्नियन्ता होने से, सूत्रात्मना जगत् रूपी शरीर के प्राण होने से अथवा जगत् का प्रणयन करने से 'प्राण' नाम धारण करने वाले भगवान् को नमः = मेरा नमस्कार हो॥

रुद्र

इस शब्द को श्रीमहाराजने णिजन्त रुदिर् धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) १. रुदिर् अश्रुविमोचने—'रोदेर्णिलोपश्च' इस धातु और इस सूत्र से रुद्र शब्द सिद्ध होता है **'रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् रुद्रः'** रुलाता है दुष्ट कर्म करने वाले जीवों को जो, उसका नाम रुद्र है (स. प्र. प्र० सं०)

(अ) २. दुष्टों को दण्ड दिलाने से रुद्र (स. प्र. पृ. ३ सं० २)

(ब) रुदिर् अश्रुविमोचने इस धातु से णिच् प्रत्यय होने से रुद्र शब्द सिद्ध होता है **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करने वालों को रुलाता है, इससे परमेश्वर का नाम रुद्र है। (स. प्र. पृ. सं० २)

३. उणादिसूत्र 'रोदेर्णिलुक् च' की व्याख्या में श्री महाराजने फिर लिखा है **'पापिनो रोदयतीति रुद्रः'** सर्वत्र निर्वचन का साधारण रूप है 'रोदयतीति रुद्रः'।

(ख) अथर्वशिरा उपनिषत् में भी इस शब्द का एक निर्वचन दिया है। वहां वचन है **'अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मात् ऋषिभिर्वान्यैर्भक्तैः द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः'**। आशय यह कि भक्त तथा ऋषिगण इसके रूप को शीघ्र पा लेते हैं, इसलिये भगवान् को रुद्र कहते हैं। इस दृष्टि से निर्वचन होगा **'रूपं द्रुतमुपलभ्यते यस्य स रुद्रः'**

(ग) १. निरुक्तकारने रुद्र शब्द के निर्वचन दिये हैं। वे लिखते हैं—**'रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणोऽद्रवतीति वा, रोदयतेर्वा, 'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम्' 'यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्'** (निरु० १०-६)। प्रथम निर्वचन में 'रु शब्दे' धातु है। द्वितीय में रु तथा द्रु दो धातुयें हैं। ये दोनों निर्वचन रुद्र शब्द का अर्थ मेघ मानकर किये गये हैं। तीसरे निर्वचन में यद्यपि धातु वही णिजन्त रुदिर् है तथापि अर्थमें भेद है। यहां रुद्रका अर्थ प्राण है। इस अर्थ तथा निर्वचन का मूल है **कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा......ते यदा अस्मात् शरीरात् मर्त्यात् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति तद् यत् रोदयन्ति तस्मात् रुद्रा इति'** (बृ. ३. ९. ४) यह उपनिषत् वाक्य। शाखा वाक्यान्तर्गत निर्वचनों का प्रकृत में कोई विशेष मूल्य नहीं है। हां, इन वाक्यों के आधार पर एक चौथा निर्वचन **'रोदितीति रुद्रः'** और किया जा सकता है, जिसका प्रकृत में कोई उपयोग नहीं होगा।

२. आचार्य सायण ने ऋक् १. ११४. १ के भाष्य में रुद्र शब्द के अनेक निर्वचनों का उल्लेख किया है, जिनमें से दो निम्न हैं—

(अ) **रुतः शब्दरूपा उपनिषदः, ताभिर्द्रूयते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः।** अर्थात् रुत् का अर्थ है उपनिषद्-वचन, इनके द्वारा प्रतिपाद्य होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। इसका मूल है **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** यह उपनिषत् वचन।

(ब) **रुत् शब्दात्मिका वाणी, तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा ताम् उपासकेभ्यो ददातीति रुद्रः।** अर्थात् वेदादि शब्दों से आत्मविद्या को प्रदान करने से भगवान् रुद्र कहाते हैं।

(घ) विष्णु सहस्रनाम के

१. शांकरमतानुसारी भाष्य में निर्वचन किया है **'प्रजाः संहरन् रोदयतीति रुद्रः'** अर्थात् प्रजाओं का विनाश करके रुलाने से भगवान् रुद्र हैं। परिणाम वही 'रोदयतीति रुद्रः'।

२. विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं **'एवंविधरूपविविधचेष्टितद्रुतहृदयान् सानन्दबाष्पान् कुर्वन् रोदयतीति रुद्रः'**। सार यह है कि—

ईदृक्रूपैश्चेष्टितैश्च भक्तानानन्दबाष्पयन्
रोदयन् रुद्र उद्दिष्टः'

भेद इतना ही है कि यहां आंसू आनन्द के हैं, दुःख के नहीं। परिणाम वही 'रोदयतीति रुद्रः'।

(ङ) १. (क) लिङ्गपुराण में इस शब्द का प्रकारान्तर से निर्वचन किया गया है। पुराण का पाठ है—

रुर्दुःखं दुःखहेतुर्वा विद्रावयति यः प्रभुः।
रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्॥

दुःख तथा दुःख के कारण को 'रु' कहते हैं। उसका विद्रावण करने से, विनाश करने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। निर्वचन का रूप होगा **'रुं द्रावयतीति रुद्रः'**।

(ख) वाल्मीकिरामायण के तिलकव्याख्याकार लिखते हैं—**'रुत् दुःखं, तन्मूलौ रागद्वेषौ तन्मूलाज्ञानं च विद्रावयतीति रुद्रः'**—अर्थात् दुःख के कारण राग-द्वेष तथा अज्ञान के नाशक होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। इस निर्वचन तथा उक्त पुराण के निर्वचन में विस्तार-संक्षेप के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है।

२. कुछ अन्य भी निर्वचन इस शब्द के मिलते हैं, जो भगवान् की नाना प्रकार की शक्तिओं और उनके गुणों का निदर्शन कराते हैं। वे इस प्रकार है—

(अ) **'रोधिका बन्धका च शक्तिः रुत्, तस्या द्रावयिता रुद्रः**

अर्थात्—ज्ञानोत्पत्ति की प्रतिबन्धक शक्तिओं का नाश करने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। यहां भगवान् का 'ज्ञानदातृत्व' बताया गया है।

(ब) 'तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुक् तं द्रावयतीति रुद्रः' संसार के त्रिविध तापही रुक् हैं, उनके नाशक होने से भगवान् रुद्र हैं। इससे भगवान् का त्रिविधतापहर्तृत्व' प्रकट होता है।

(स) रुदन्ति जना अस्मिन्निति रुत्=स्थावरजंगमात्मकं जगत्, तं राति आदत्ते प्रलयकाल इति रुद्रः' इस संसारका प्रलय करने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। यहां भगवान् का 'संहारकर्तृत्व' व्यक्त होता है।

(द) रुत्=शब्दराशिर्वेदः तं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः'

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को वेदों का प्रदान करने से भगवान् रुद्र हैं। इस निर्वचन का मूल 'यो ब्रह्म णं विदध्धाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६-१८)। इस निर्वचन से भगवान् का वेदप्रकाशकत्व कथित हुआ।

(थ) रुत्या प्रणवरूपया स्वात्मानं द्रावयतीति=प्रापयतीति रुद्रा'। अर्थात् ओंकार रूप शब्द द्वारा जिनकी प्राप्ति होती है, इसलिये वे रुद्र कहाते हैं। इस निर्वचन के मूल में 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इत्यादि योगसूत्र हैं।

निम्न मन्त्र रुद्र की ईश्वरवाचकता प्रतिपादन करता है—
योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तः य ओषधीः वीरुध आविवेश। य इमा विश्व भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये ॥ अथर्व ७।७।१

यः रुद्रः=जो स्थावर जंगमात्मक जगत् में व्यापक भगवान् अग्नौ, अन्तः, अप्सु अन्तः, ओषधीः वीरुधः अन्तः आविवेश=अग्नि, जल ओषधि आदिकों में प्रविष्ट हो रहे हैं। य इमा विश्वा भुवनानि=और जिसने ये सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर चक्लृपे=अपने सामर्थ्य से बनाये हैं। तस्मै रुद्राय=उस दुःख, अज्ञान आदि का नाश करने वाले, सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान के प्रदाता भगवान् को नमोऽस्तु=हमारा नमस्कार हो॥

इसके पश्चात् दूसरा वर्ग नवग्रह वाचक शब्दों का है। लोक में यह शब्द भिन्न-भिन्न ग्रहों के नाम करके प्रसिद्ध हैं और उन ग्रहों को स्वतन्त्र देवता मानकर या उनका एक एक स्वतन्त्र निग्रहानुग्रहसमर्थ अधिष्ठातृदेवता मानकर लोक में उनकी पूजा प्रचलित है, विशेषतः विवाहादि शुभ अवसरों पर। महाराज की दृष्टि स्पष्ट है, उनका कथन है कि ये नाम ग्रहों के भी हैं, किन्तु ग्रह जड़ होने से न तो वे निग्रहानुग्रहसमर्थ हैं और न पूजित होने योग्य ही हैं। रही अधिष्ठातृदेवता वाली बात सो सबका वास्तविक अधिष्ठातृदेवता परमात्मा ही है। अत एव जहां जहां पूजा प्रतिष्ठा आदिका संबन्ध है, वहां वहां ये नाम भगवान् के ही वाचक हैं जड़पदार्थों के नहीं। इसी दृष्टि से महाराजने इनका उल्लेख किया है। यहां इनमें से ८ शब्दों का व्याख्यान किया जावेगा। नवें बृहस्पति शब्द का व्याख्यान पहले किया जा चुका है। वे ये हैं—

सूर्य चन्द्र मंगल बुध
शुक्र शनिश्चर राहु केतु

सूर्य

श्री महाराजने इसका निर्वचन तो नहीं किया है, किन्तु इसके ईश्वरपरक निर्वचन के लिये निर्देश अवश्य दिया है।

(यजु० ७

(क) १. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

यह यजुर्वेद का वचन है। जगत् नाम प्राणियों का जो कि चलते हैं, तस्थुष अप्राणी नाम स्थावर जो कि पर्वत वृक्षादि हैं, उन सभों का जो आत्मा होय, उसका नाम सूर्य है (स. प्र. पृ० १०)

२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस यजुर्वेद के वचन से जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम जो चलते फिरते हैं 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़पदार्थ पृथ्वी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने और स्वप्रकाशस्वरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य है (स. प्र. पृ. ७ सं० १)

इन लेखों में 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' यह लिङ्ग है। इसमें सूर्य का अर्थ परमेश्वर है। 'स्वप्रकाशस्वरूप सबका प्रकाश करने से' यह भगवान् का स्वतः प्राप्त स्वरूप तथा कार्य बताया गया है, निर्वचन से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। शब्द के प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध में यहां कुछ नहीं कहा है। यहां पर मन्त्र में भगवान् की सर्वात्मकता बताई गई है। इस दृष्टि से निर्वचन होगा 'सरतीति सूर्यः' यहां धातु सृ गतौ है और गति के 'ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति त्रयोऽर्थाः' अर्थात् गति के तीन अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। प्राप्ति कहते हैं 'प्रकृष्टा आप्ति' प्रकृष्ट आप्ति को, आप्ति में प्रकर्ष है सर्वव्यापकता। तब आशय है सर्व व्यापक होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

(ख) १. निरुक्तकार सूर्य का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं 'सूर्यः सर्तर्वा, सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा' (निरु. १२. १४) इन धातुओं से निम्न निर्वचन होंगे—

(अ) सरतीति सूर्यः' अर्थात् चलने गति करने से इसे सूर्य कहते हैं। इस निर्वचन में धातु सृ गतौ है।

(ब) सुवति = प्रेरयति चराचरं जगत् कर्मसु इति सूर्यः–सूर्योदय होने पर सम्पूर्ण जगत् अपने अपने कामों में लगही जाता है। यह निर्वचन षू प्रेरणे से किया गया है।

(स) सुष्ठु ईर्यते सञ्चाल्यते स्वमण्डलमनेनेति, स्वीर्यते उपताप्यते वा जगदनेनेति सूर्यः' जो अपने मण्डल का सञ्चालन करता है तथा इस संसार को गर्म करता है इससे उसे सूर्य कहते हैं। यहां सु उपपद ईर गतौ कम्पने च, तथा स्वृ शब्दोपतापयोः धातु हैं।

निरुक्तकार ने निर्वचन आधिदैविक एवं आधिभौतिक दृष्टि से किये हैं उनका वाच्य भौतिक सूर्य है। किन्तु यही निर्वचन भगवत्परक भी हो सकते हैं—

'सरति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् इति सूर्यः' सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् सूर्य हैं 'सुवते = प्रेरयति चराचरं जगत् स्वस्वकर्मसु इति सूर्यः' सम्पूर्ण जगत् के प्रेरक होने से भगवान् सूर्य हैं। गीता में कहा है अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी. १०-८) सुष्ठु ईर्यन्ते कम्पन्ते यद्वा स्वीर्यन्ते = उपताप्यन्ते दुष्टा अनेनेति सूर्यः' दुष्टों का कम्पन या उपतापन करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

२. निघण्टु टीकाकार देवराज यज्वा महोदय ने दो अन्य निर्वचनों का निर्देश सूर्य शब्द की व्याख्या में किया किया है। आप लिखते हैं—

(अ) सूरयो मेधाविनस्तानर्हतीति सूर्यः।

(ब) सूरिषु साधुरिति सूर्यः

यह दोनों निर्वचन परमेश्वर में सुसंगत हो जाते हैं। भगवान् को मेधावी पुरुष ही पा सकते हैं तथा मेधावियों के प्रति वे साधु भी हैं। सूरि का लक्षण एक स्थल पर किया गया है—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले।
ते सूरा इति व्याख्याताः सूरयश्चापि ते मताः॥

आशय यह कि सूर और सूरि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। और जो अविचल भाव से भगवान् का ध्यान करने वाले हैं। अथवा जिन्होंने स्वात्मदर्शन कर लिया है, वे सूर अथवा सूरि कहे जाते हैं।

(ग) आचार्य वररुचि निरुक्तसमुच्चय में इस शब्द का निर्वचन एक दूसरे प्रकार से करते हैं वे लिखते हैं 'सु अर्यः स्वामी सर्वस्य' (नि. स. पृ. १८) अर्थात् शोभनस्वामी होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

(घ) विष्णुसहस्रनामके—

१. शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में इस शब्द का निर्वचन किया है 'सूते 'श्रियम्' इति सूर्यः' अर्थात् विभूति के उत्पादक होने से भगवान् सूर्य हैं। इस निर्वचन का मूल है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (१०-४१)

यह गीता वाक्य है।

२. विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्य में आचार्य रङ्गनाथ लिखते हैं 'सरत्यस्मादिति सूर्यः', क्योंकि उनके भय से यह जगत् चल रहा है, अतः उन्हें सूर्य कहते हैं। इस निर्वचन का मूल 'भीषास्मात्पवते वातः भीषोदेति सूर्यः' (तै. ३-२-८) यह श्रुति वचन है।

(ङ) सूर्य शब्द के निम्न निर्वचन ईश्वरपरक हैं—

१. सुवति प्रेरयति पुरुषादृष्टम् इति सूर्यः' जीवों के अदृष्टों को फलोन्मुख होने की प्रेरणा करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

२. निघण्टु में स्वृ धातु पूजार्थक भी पढ़ी है, 'स्वरतिरर्चतिकर्मा' निघण्टु ३-१) अब निर्वचन होगा 'स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः' अर्थात् भक्तजनों द्वारा पूजित होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

निम्न स्थल में सूर्य शब्द ईश्वर का वाचक है

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचनम्। अथर्व १३-३-१९

सूर्यः—सर्वप्रेरक भगवान्, त्वं तरणिः असि = आप बुद्धियोगरूपी नौका प्रदान करके हमारे तारक हो, संसार सागर से हमें पार करने वाले हो। गीता में कहा है 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी० १०-१०) अतएव आप विश्वदर्शनः = सब के साक्षात्करणीय हैं, अर्थात् सबको आपका साक्षात्कार करना चाहिये। ज्योतिष्कृदसि = आपही सब ज्योतिर्मय पिण्डों के रचयिता हैं। श्रुति कहती है ' चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्योऽजायत' (यजुः० ३१-१२) अथवा हृदय में ज्योतिः प्रदीप्त करके सब इन्द्रियों को बल देते हो। श्रुति कहती है।

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ केन।

अर्थात् वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र तथा प्राण उसकी शक्ति से अपने अपने कार्यका निर्वाह करते हैं। श्रुति के स्वर में स्वर मिला कर भागवत भी कहती है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिला शक्तिधरः स्वनाम ॥
अन्यांश्च हस्ताचरणाश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ भाग० ४-९-३

आशय यह कि जो भगवान् हृदय में प्रवृष्ट होकर इस प्रसुप्त वाणी का संजीवन करते हैं तथा अन्यान्य अङ्गों और प्राणों का संचालन करते हैं, उनको मेरा प्रणाम हो।

त्वं विश्वं रोचनमाभासि = सम्पूर्ण दृश्य जगत् के रोचक अर्थात् प्रकाशक भी आप ही हैं। उपनिषत् कहती है **'तमेव भान्तमनुभाति सवम्'** (कठ, ५-११) अर्थात् उन्हीं के प्रकाश से यह सब प्रकाशित है ॥

सम्पादकीय

भारतरत्न डा० भगवान्दास जी का निधन

१८ सितम्बर १९५८ बृहस्पतिवार रात्रि में ७ बज कर ५६ मिनट पर काशी के ही नहीं, अपितु समस्त भारत के एक उच्चकोटि के मनस्वी, दार्शनिक, भारतीय संस्कृति के प्रतीक, गम्भीर विचारक विद्वान् डा० भगवान्दास जी अपने विनश्वर भौतिक शरीर को छोड़ गये। सारी काशी तथा देश के प्रमुख नेताओं ने गहरा शोक प्रकट किया। आप की आयु लगभग ९० वर्ष थी। आपका जन्म काशी में १२ जनवरी सन् १८६९ ई० को हुआ था। आप सन् १८९० से १८९८ तक सरकारी नौकरी में तहसीलदार और डिप्टी कलक्टर पदों पर रहे। १८९७ ई० में पिता की मृत्यु के पश्चात् सरकारी नौकरी छोड़ श्रीमती एनी बीसेन्ट के नेतृत्व में सैण्ट्रल हिन्दूकालेज बनारस के कार्य में लग गये, जिसके लिये भारत भर में भ्रमण कर मासिक वा वार्षिक सहायता में जुट गये। सन् १८९८ से १९१४ तक इसमें रहे। पीछे ऐनी बीसेन्ट से मतभेद हो गया था। आप विचारों में थियोसाफिस्ट थे। संस्कृति के बहुत अच्छे विद्वान् थे। काशी के पण्डितों की रूढियों के विरुद्ध आप सदा डट कर विरोध करते रहे। जन्मगत जातिपाति के आप सदा विरुद्ध रहे। आप कई मास से हृद्रोग से पीड़ित चले आ रहे थे। पर इस पर भी इन पङ्क्तियों के लेखक ने आप को रुग्णावस्था में खाट पर लेटे २ भी पुस्तक पढ़ते देखा, इतने स्वाध्यायशील आप थे। पूछने पर कहा कि जब मेरी पुस्तक छूट जायगी तो शरीर भी छूठ जायगा। मृत्यु से ३६ घण्टे पहिले हृद्आक्रमण हुआ।

आपके बड़े सुपुत्र बम्बई के राज्यपाल श्री बा० श्री प्रकाशजी देश की एक अनुपम विभूति हैं। दूसरे पुत्र श्री चन्द्रभाल जी हैं, आप उत्तर प्रदेश असैम्बली के अध्यक्ष रहे हैं।

डा० भगवान् दास जी भारत के विशेषकर काशी के गत ८० वर्ष के इतिहास की एक पुरानी और मुख्य कड़ी थे, जो अब टूट गई।

भारतवासी उनके जीवन से अनेक प्रेरणायें प्राप्त कर सकते हैं ॥

रामायण विषय में निवेदन

इस अंक के साथ वेदवाणी का दशम वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्ष के जुलाई ५८ अर्थात् ९ वें अङ्क से वाल्मीकीय रामायण हिन्दी भाषार्थ सहित नया आरम्भ किया गया। जिस पर अनेक ग्राहकों ने बहुत अधिक प्रसन्नता प्रकट की है। कुछ महानुभावों ने यह भी लिखा है कि "वेदवाणी" वेद की मुख्य पत्रिका है, इसे तो उसी रूप में रहना चाहिये। रामायण का पृथक् मासिक या त्रैमासिक अङ्क प्रकाशित किया जावे। पर हमने लिखा था कि ५०० नये ग्राहक हो जानं पर रामायण का पृथक् अंक मासिक या त्रैमासिक निकाला जा सकता है। पर १०० ग्राहक भी नये नहीं हुये। सो यदि कोई सज्जन रामायणाङ्क का भार अपने ऊपर कम से कम ५ वर्ष के लिये ले लें, लाभ या हानि जो कुछ हो वह उठा लें, तब पृथक् अंक निकाला जा सकता है। क्योंकि श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट तो प्रायः वर्ष में एक हजार रुपये अधिक घाटा डालता चला आ रहा है। या फिर ५०० ग्राहक हो जावें ॥

एक नया विचार

एटा के माननीय पं० विद्याभूषण आयुर्वेदाचार्य (गुरुकुल वृन्दावन के पुराने स्नातक) आर्य समाज एटा के नेता जी का एक सुझाव यह है कि प्रक्षिप्तांश को सर्वथा

निकाल कर रामायण छापी जावे, इस पर वेदवाणी के संचालक गम्भीरता से विचार कर रहे हैं। पाठक भी अपने विचार लिखें।

वर्त्तमान जो ढंग चल रहा है वह यह है कि स्वर्गीय श्री पं० तुलसीराम जी स्वामी मेरठ ने स्वामी प्रेस से जो मनुस्मृति छपी थी, उनमें प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाला नहीं गया, उनको अलग दीखने के विचार से भिन्न टाइप में छाप दिया गया था और कोष्ठक (ब्रैकट) में दिया गया था। जिससे हर एक पढ़ने वाले को देखते ही तत्काल पता लग जाता है कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस संस्करण का बड़ा लाभ यह हुआ कि यह पुस्तक आर्यसमाजी परिवारों में ही नहीं, अपितु पौराणिक परिवारों में भी बड़ी मात्रा में पहुँची और उन्हें भी प्रक्षिप्त और अप्रक्षिप्त का विवेचन करने का अवसर मिला। बहुत से पौराणिक आर्य समाज में इसको देख कर आये, जब कि पहिले उन्हें पता तक न था कि इसमें प्रक्षिप्त श्लोक भी हैं। वेदवाणी के संचालकों ने इसी बात को ध्यान में रख कर निश्चय किया कि रामायण छापी जावे पूरी, प्रक्षिप्तांश को कोष्ठक (ब्रैकट) तथा भिन्न टाइप में छाप दिया जावे। ऐसा ही हम छाप रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं ऐसा करने से कुछ गन्दे बीभत्स प्रकरण के श्लोक और हिन्दी सबके सामने आती है, जिसमें गन्दे विचार सामने आते हैं। दोनों प्रकार से छापने में हानि लाभ है। हां! यह हो सकता है कि एक दूसरा संस्करण भी छापा जावे, जिसमें से प्रक्षिप्त अंश निकाल ही दिया जावे।

सो इस विषय पर 'वेदवाणी' के पाठक गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपनी सम्मति लिखें। हर एक सम्मति मानी ही जावे यह कठिन है। हां! जहां तक हो सके उस पर पूरा विचार कर कार्यान्वित किया जावे। यदि अपने साधनों से बाहिर हो तो विवशता है।

आशा है इस विषय पर प्रेमपूर्वक और गम्भीरता से विचार किया जायगा॥

विविध-समाचार

पेड़ के फल से घी निकलेगा

उत्तर प्रदेश की सरकार ने राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों में 'चेउरा' नामक वृक्ष लगाने का प्रोत्साहन देने के लिये ५ लाख रुपये की योजना चलाई है। यह वृक्ष महुआकी भाँति होता है और इसके फल से घी की भाँति एक पदार्थ निकलता है, जो खाद्य है। इसको मनुष्य खा सकता है और इससे प्रसाधन के सामान बनाये जा सकते हैं। इसको असली घी में भी मिलाया जा सकता है।

उपदेशक महाविद्यालय वैदिक साधन आश्रम यमुनानगर

श्री माननीय स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के आचार्यत्व में वैदिक साधन आश्रम यमुनानगर (पंजाब) में चल रहे दयानन्द उपदेशक विद्यालय में आर्यसमाज के लिये उपदेशक तैयार किये जाते हैं। इस में मध्यमा-प्राज्ञ-विशारद-तथा मट्रिक के योग्यता के छात्र प्रविष्ट किये जाते हैं। इस विद्यालय के छात्रों ने हिन्दी सत्याग्रह में बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है। इस विद्यालय की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है कि इस उपयोगी संस्था की तन, मन और धन से सहायता करें। दान आचार्य जी के नाम उपर्युक्त पते से जाना चाहिये।

पाणिनिविद्यालय में संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति जी का अभिनन्दन

८ सितम्बर को सायं ५ बजे संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा पाणिनिमहाविद्यालय मोतीझील में पधारे।

सर्वप्रथम पाणिनिविद्यालय के व्यवस्थापक श्री गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी ने विद्यालय की ओर से स्वागत किया एवं अभिनन्दनपत्र भेंट किया।

अभिनन्दनपत्र देने के पश्चात् शास्त्री जी ने अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत-व्याकरण की सरलता पर प्रकाश डाला और बताया कि किस प्रकार इस पद्धति से—४ वर्ष में पूर्ण व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो कि कौमुदी के ढंग से १२ वर्ष में भी नहीं होता।

इसके पश्चात् विद्यालय के आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने विद्यालय के छात्रों द्वारा इस पद्धति का क्रियात्मक प्रदर्शन किया और बताया कि बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धतिसे ६ मास में संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्त में उपकुलपति जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में अष्टाध्यायी पद्धति के पुनरुज्जीवन के लिये शुभ कामना प्रकट की।

'वाल्मीकिरामायण' का भाषानुवाद

गताङ्क से आगे—पिछले अंक पर 'पायस की उत्पत्ति' सोलहवां सर्ग प्रारम्भ हो चुका, वही सर्ग इसमें चल रहा है—

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक देहली तथा परिशोधक श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् । प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥१९॥
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै । तासु त्वं प्राप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप ॥२०॥
तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् । पात्रीं देवान्नसंपूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥२१॥
अभिवाद्य च तद्भुतमद्भुतं प्रियदर्शनम् । मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥२२॥

— रामायण-सम्बन्धी विशेष सूचना —

पाठक एक बार ध्यान देकर समझ लें

"वेदवाणी" जुलाई १९५८ से १६ पृष्ठ वाल्मीकीय रामायण के हिन्दी अनुवाद सहित निकल रही है। इसमें संस्कृत श्लोकों तथा उनके हिन्दी अनुवाद दोनों में प्रक्षिप्त अंश का ज्ञान तत्काल लग सके, इसके लिये हमने निम्न प्रकार का ढंग रखा है—

(१) जहां से जहां तक पूरा श्लोक प्रक्षिप्त है, या बहुत से श्लोक प्रक्षिप्त हैं, वहां वहां हमने आरम्भ और अन्त में इस तरह [ ] का कोष्ठक (ब्रैकट) लगा दिया है। नीचे उन प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुवाद में सामान्य हिन्दी अनुवाद के टाइप से भिन्न कुछ बारीक टाइप (सादा पैका) में रखा है। देखकर तत्काल ही संस्कृत और हिन्दी दोनों के प्रक्षेप का पता लग जाता है।

(२) यह भी ध्यान रहे कि हिन्दी अनुवाद में जहां जहां [ ] इस प्रकार का कोष्ठक (ब्रैकट) है, वह प्रक्षिप्त भाग नहीं, अपितु अनुवाद में ऊपर से अध्याहार के रूप में बढ़ाये हुये शब्द हैं, जिससे अर्थ अधिक स्पष्ट हो जावे।

(३) जहां जहां पूरा श्लोक प्रक्षिप्त नहीं, अपि तु एक दो शब्द या आधा श्लोक ही हमने प्रक्षिप्त माना है, वहां वहां कोष्ठक (ब्रैकट) न देकर भिन्न टाइप (टेढ़ा = इटैलिक टाइप) में उतना अंश छापा है। नीचे हिन्दी पूर्ववत् भिन्न बारीक टाइप में ही रखी है।

संक्षेप में—भिन्न टाइप सब प्रक्षिप्त है। अधिक होने के कारण प्रक्षिप्त श्लोकों का टाइप न बदल कर उसके आदि और अन्त में केवल [ ] कोष्ठक (ब्रैकट) में दिया गया है।

(४) यह भी विदित रहे कि जैसे स्वामी प्रेस मेरठ में आर्यसमाज के नेता, सुयोग्य विद्वान् श्री० पं० तुलसीराम स्वामी जी ने मनुस्मृति छापी थी, उसी प्रकार हम वाल्मीकीय रामायण का यह संस्करण निकाल रहे हैं। जो अब तक कहीं नहीं छपा।

(५) प्रत्येक काण्ड के अन्त में प्रक्षिप्त होने के कारणों पर विवेचनात्मक लिखा जायगा।

सम्पादक

... (आनन्द में ही) छिप गया ॥ २४ ॥ प्रसन्नता के कारण से उस [दशरथ] ने अन्तःपुर में प्रवेश
करके कौसल्या से यह कहा ॥ २५ ॥ अपने पुत्र को देने वाले [इस] पायस को ग्रहण करो। राजा ने
कौसल्या को आधी खीर दी ॥ २६ ॥ आधी से आधी (चौथाई) खीर राजा ने सुमित्रा को दी और शेष
(चौथाई) में आधी (आठवाँ भाग) पुत्र के लिए कैकेयी को दी ॥ २७ ॥ उस खीर के बचे हुए अमृत
समान आधे भाग को राजा ने कुछ विचार कर पुनः सुमित्रा को दिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार राजा ने
पत्नियों को पृथक् पृथक् खीर का भाग दिया। नरेन्द्र की उन श्रेष्ठ पत्नियों ने उस पायस के भाग को हर्ष से
प्रेरित चित्त वालियों ने सबने समान (व्यवहार) माना ॥ २९ ॥ उन उत्तम स्त्रियों ने पायस को पृथक्
पृथक् खाकर अग्नि और सूर्य के समान तेजवाले गर्भों को राजा से शीघ्र ही धारण किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात्

१ श्लोक २६–२८ तक पायस (खीर) के बँटवारे के विषय में मूल शब्दों का जो अर्थ हो सकता है, वही हमने दर्शाया है। टीकाकारों ने अनेकविध कल्पनाएँ की हैं।

निकाल कर रामायण छापी जावे, इस पर वेदवाणी के संचालक गम्भीरता से विचार कर रहे हैं। पाठक भी अपने विचार लिखें।

वर्त्तमान जो ढंग चल रहा है वह यह है कि स्वर्गीय श्री पं० तुलसीराम जी स्वामी मेरठ ने स्वामी प्रेस से जो मनुस्मृति छपी थी, उनमें प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाला नहीं भी हैं। वेदवाणी के संचालकों ने इसी बात को ध्यान में रख कर निश्चय किया कि रामायण छापी जावे पूरी, प्रक्षिप्तांश को कोष्ठक (ब्रैकट) तथा भिन्न टाइप में छाप दिया जावे। ऐसा ही हम छाप रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं ऐसा करने से कुछ गन्दे बीभत्स प्रकरण के श्लोक और हिन्दी सबके सामने आती है, जिसमें

चल रहे दयानन्द उपदेशक विद्यालय में आर्यसमाज के लिये उपदेशक तैयार किये जाते हैं। इस में मध्यमा-प्राज्ञ-विशारद-तथा मट्रिक के योग्यता के छात्र प्रविष्ट किये जाते हैं। इस विद्यालय के छात्रों ने हिन्दी सत्याग्रह में बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है। इस विद्यालय की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है कि इस उपयोगी संस्था की तन, मन और धन से सहायता

के ढंग से १२ वर्ष में भी नहीं होता।

इसके पश्चात् विद्यालय के आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने विद्यालय के छात्रों द्वारा इस पद्धति का क्रियात्मक प्रदर्शन किया और बताया कि बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धति से ६ मास में संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्त में उपकुलपति जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में अष्टाध्यायी पद्धति के पुनरुज्जीवन के लिये शुभ कामना प्रकट की।

'वाल्मीकिरामायण' का भाषानुवाद

गताङ्क से आगे—पिछले अंक पर 'पायस की उत्पत्ति' सोलहवां सर्ग प्रारम्भ हो चुका, वही सर्ग इसमें चल रहा है—

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक देहली तथा परिशोधक श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् । प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥१९॥
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै । तासु त्वं प्राप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप ॥२०॥
तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् । पात्रीं देवान्नसंपूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥२१॥
अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम् । मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥२२॥
ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् । बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥२३॥
[ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम् । संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥२४॥]
हर्षरश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमाबभौ । सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥२५॥
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयमिदमात्मनः । कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा ॥२६॥
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः । कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात् ॥२७॥
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् । अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महीपतिः ॥२८॥
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ।तास्त्वेतत् पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमाः स्त्रियः॥२९॥
संमानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तदुत्तमस्त्रियो महीपतेरुत्तमपायसं पृथक् ।
हुताशनादित्यसमानतेजसोऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा ॥ ३० ॥

हे राज श्रेष्ठ ! इस देवों से बनाई गई, सन्तति को देनेवाली, उत्तम आरोग्य को बढ़ाने वाली खीर (पायस) को ग्रहण करो' ॥ १९ ॥ 'भक्षण करो' ऐसा कह कर [अपनी] अनुरूप पत्नियों को दो। हे राजन् ! उनसे तुम पुत्रों को प्राप्त करोगे, जिन [की प्राप्ति] के लिए तुम यज्ञ कर रहे हो ॥ २० ॥ 'तथा' (ऐसा ही होगा) कह कर प्रसन्न हुए राजा ने सिर झुकाकर देवों के अन्न से पूर्ण, देवों से दिए गए सुवर्णनिर्मित उस पात्र को लेकर ॥ २१ ॥ और उस अद्भुत तथा प्रिय दर्शन वाले व्यक्ति को नमस्कार करके परम प्रसन्न होकर [उसकी] प्रदक्षिणा की ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् उस देवनिर्मित पायस को पाकर [वह राजा दशरथ] उसी प्रकार प्रसन्न हुआ, जैसे निर्धन धन को प्राप्त करके होता है ॥ २३ ॥ तदनन्तर वह अद्भुत आकार वाला परम तेजस्वी [अग्नि से] उत्पन्न उस [पायस देने के] कर्म को समाप्त करके वहीं (अग्नि में ही) छिप गया ॥ २४ ॥ प्रसन्नता की किरणों से उस [दशरथ] ने अन्तःपुर में प्रवेश करके कौसल्या से यह कहा ॥ २५ ॥ अपने पुत्र को देने वाले [इस] पायस को ग्रहण करो। राजा ने कौसल्या को आधी खीर दी ॥ २६ ॥ आधी से आधी (चौथाई) खीर राजा ने सुमित्रा को दी और शेष (चौथाई) में आधी (आठवाँ भाग) पुत्र के लिए कैकेयी को दी ॥ २७ ॥ उस खीर के बचे हुए अमृत समान आधे भाग को[1] राजा ने कुछ विचार कर पुनः सुमित्रा को दिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार राजा ने पत्नियों को पृथक् पृथक् खीर का भाग दिया। नरेन्द्र की उन श्रेष्ठ पत्नियों ने उस पायस के भाग को हर्ष से प्रेरित चित्त वालियों ने सबने समान (व्यवहार) माना ॥ २९ ॥ उन उत्तम स्त्रियों ने पायस को पृथक् पृथक् खाकर अग्नि और सूर्य के समान तेजवाले गर्भों को राजा से शीघ्र ही धारण किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात्

---

१ श्लोक २६–२८ तक पायस (खीर) के बँटवारे के विषय में मूल शब्दों का जो अर्थ हो सकता है, वही हमने दर्शाया है। टीकाकारों ने अनेकविध कल्पनाएँ की हैं।

ततस्तु राजा प्रसमीक्ष्य ताः स्त्रियः प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसाः ।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पायसोत्पत्तिर्नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥



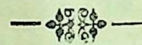
सप्तदशः सर्गः

[ऋक्षवानरोत्पत्तिः]

[पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः । उवाच देवताः सर्वाः स्वयंभूर्भगवानिदम् ॥१॥
सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः । विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः॥२॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे । नयज्ञान् बुद्धिसंपन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान्॥३॥
असंहार्यानुपायज्ञान् सिंहसंहननान्वितान् । सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव ॥४॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च । किंनरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ॥५॥
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षिविद्याधरीषु च । सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥६॥
पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः । जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥७॥
ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्य शासनम् । जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥८॥
ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः । चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः ॥९॥

इन्द्र, सिद्धों ऋषियों के गणों से पूजित राजा उन स्त्रियों को पूर्ण मनोरथ और गर्भ धारण किया हुआ जानकर उसी प्रकार हर्षित हुआ जैसे स्वर्ग में इन्द्र हर्षित होता है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का यह सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥



सप्तदश सर्ग

[ऋक्ष वानर की उत्पत्ति]

विष्णु के उस महात्मा राजा [दशरथ] के पुत्रभाव को प्राप्त होने पर भगवान् स्वयंभू [ब्रह्मा] ने सब देवताओं को यह कहा—॥ १ ॥ हम सबके हितैषी सत्यप्रतिज्ञ, वीर, विष्णु के कामरूपी बलवान् सहायक तुम लोग उत्पन्न करो। ॥ २ ॥ माया (राक्षसों के कपटों) को जानने वाले, शूरवीर, वेग में वायु के समान, नीति को जानने वाले, बुद्धिमान्, विष्णु के समान पराक्रमी, ॥ ३ ॥ [शत्रुओं से जो] मारे न जा सकें, उपायों को जानने वाले, सिंह के समान [फुर्तीले] शरीर वाले, सब अस्त्रों के गुणों (प्रयोग और संहार के ज्ञान) से युक्त, देवों के समान, ॥ ४ ॥ मुख्य अप्सराओं, गन्धर्वियों, किन्नरिओं और वानरियों के शरीरों में, ॥ ५ ॥ यक्षों और सर्पों की कन्याओं, रीछियों और विद्याधरियों में [विष्णु के] समान पराक्रम वाले वानररूप वाले पुत्रों को उत्पन्न करो ॥ ६ ॥ मैंने पहले ही ऋक्षश्रेष्ठ जाम्बवान् को उत्पन्न किया है । वह अचानक मेरे जमाई लेते हुए मुँह से उत्पन्न हुआ था ॥ ७ ॥ भगवान् [ब्रह्मा से] इस प्रकार कहे गए उन [देवों ने] आज्ञा स्वीकार कर वानररूप वाले उस प्रकार के पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ ८ ॥ ऋषियों, महात्माओं, सिद्धों, विद्याधरों, उरगों (नागों) और चारणों ने वनचारी वीर सुतों को उत्पन्न किया ॥९॥ इन्द्र ने महेन्द्र सदृश

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम् । सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥१०॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत्तारं नाम महाहरिम् । सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥११॥
धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः । विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाहरिम् ॥१२॥
पावकस्य सुतः श्रीमान्नीलोऽग्निसदृशप्रभः । तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान् ॥१३॥
रूपद्रविणसंपन्नावश्विनौ रूपसंमतौ । मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ।१४।
वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् । शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलम् ॥१५॥
मारुतस्यात्मजः श्रीमान् हनुमान्नाम वानरः । वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥१६॥
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि । ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधे रताः ॥१७॥
अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः । ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥१८॥
ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे । यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः ॥१९॥
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक् । गोलाङ्गूलीषु चोत्पन्नाः केचित् संमतविक्रमाः॥२०॥
ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किंनरीषु च । देवा महर्षिगन्धर्वास्ताक्ष्या यक्षा यशस्विनः ॥२१॥
नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः । बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः ॥२२॥
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः । वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः॥२३॥
अप्सरःसु च मुख्यासु तथा विद्याधरीषु च । नागकन्यासु च तथा गन्धर्वीणां तनूषु च॥२४॥
कामरूपबलोपेता यथाकामं विचारिणः । सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च ॥२५॥
शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पादपयोधिनः । नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥२६॥

वानरेन्द्र वाली नामक पुत्र को उत्पन्न किया, तपने वालों में श्रेष्ठ सूर्य ने सुग्रीव को उत्पन्न किया ॥ १० ॥ बृहस्पति ने सब वानरों में श्रेष्ठ बुद्धिमान् 'तार' नामक महावानर को [उत्पन्न किया] ॥ ११ ॥ कुबेर का पुत्र श्रीमान् गन्धमादन वानर [हुआ]। विश्वकर्मा ने नल नाम के महावानर को उत्पन्न किया ॥ १२ ॥ अग्निका अग्नितुल्य श्रीमान् नल नामक पुत्र [हुआ] । जिस पराक्रमी ने तेज, यश, और पराक्रम से सब को [पीछे] छोड़ दिया (अर्थात् सबसे बढ़गया) ॥ १३ ॥ रूप और धन से युक्त, प्रसिद्ध रूप वाले अश्विनियों ने स्वयं मैन्द और द्विविद को उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ वरुण ने सुषेण नामक वानर को उत्पन्न किया । पर्जन्य ने शरभ नाम के महाबली को [उत्पन्न किया]॥ १५ ॥ मारुत का पुत्र श्रीमान् हनुमान् नामक वानर [उत्पन्न हुआ, जो] वज्र समान [कठोर] शरीरवाला, वेग में गरुड़ के समान, और ॥ १६ ॥ सब श्रेष्ठ वानरों में बुद्धिमान् और बलवान् था । रावण के वध में लगने वाले ऐसे कई सहस्र वानर उत्पन्न किए ॥ १७ ॥ वे अतुलबलवाले, वीर, पराक्रमी कामरूपी हाथी और पहाड़ के समान शरीर वाले, महाबली ॥ १८ ॥ ऋक्ष, वानर और गोपुच्छ (वानरों की एक जाति) शीघ्र ही उत्पन्न हुए । जिस-जिस देव का जैसा रूप, शरीर की बनावट और पराक्रम [था]॥ १९ ॥ उसके समान पृथक्-पृथक् [उत्पन्न हुए]। कई महापराक्रमी गोलाङ्गूलियों में उत्पन्न हुए ॥ २० ॥ उसी प्रकार [कई] वानर ऋक्षियों (रीछनियों) और किन्नरियों में उत्पन्न हुए । देवों, महर्षियों, गन्धर्वों ताक्ष्यों (गरुडादि) यशस्वी यक्षों, ॥ २१ ॥ दिग्गजों, किम्पुरुषों, सिद्धों, विद्याधरों, और बहुत से सर्पों ने [वानरों को] उत्पन्न किया । वहाँ प्रसन्न हुए सहस्रों ॥ २२ ॥ [प्रमोद] वन में विचरने वाले चारणों (देवों की स्तुति करने वालों) ने मुख्य अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं तथा गन्धर्वियों के शरीरो में सब वीर, महान् शरीरवाले वनचारी सुतों वानरों को उत्पन्न किया ॥ २३-२४ ॥ इच्छानुसार रूप बदलने रूप बल से युक्त, इच्छानुसार विचरनेवाले सिंह और चीते के समान दर्प और बल से [युक्त]॥ २५ ॥ सब शिला से प्रहार करनेवाले, वृक्ष उखाड़ कर लड़नेवाले नख और डाढ़ रूपी शस्त्रों वाले, सब अस्त्रों को जानने वाले ॥ २६ ॥ महान् पर्वतों को कम्पित करने, स्थिर वृक्षों को

विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान् । क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम् ॥२७॥
दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवम् । नभःस्थलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान् ॥२८॥
गृह्णीयुरपि मातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने । नर्दमानाश्च नादेन पातयेयुर्विहंगमान् ॥२९॥
ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम् । शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम् ॥३०॥
ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः । बभूवुर्यूथपश्रेष्ठा वीरांश्चाजनयन् हरीन् ॥३१॥
अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः । अन्ये नानाविधाञ्छैलान् भेजिरे काननानि च ॥
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् । भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्वे च हरियूथपाः ॥३३॥
नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान् । ते तार्क्ष्यबलसंपन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥३४॥
विचरन्तोऽर्दयन् दर्पात् सिंहव्याघ्रमहोरगान् । तांश्च सर्वान् महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः ॥३५॥
जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान् । तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा ॥३६॥
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः ॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटकल्पैर्महाबलैर्वानरयूथपालैः ।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः समावृता रामसहायहेतोः ॥ ॥३७॥]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे [ऋक्षवानरोत्पत्तिर्नाम] सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥



उखाड़ने, नदियों के स्वामी समुद्र को वेग से क्षुब्ध करने में समर्थ ॥ २७ ॥ पैरों से पृथिवी को टुकड़े करने, महार्णव (समुद्र) को तैरने, मेघों को ग्रहण करने में समर्थ ॥ २८ ॥ वन में घूमते हुए मत्त हाथियों को पकड़ने और गर्जना करते [अपनी] गर्जना से [उड़ते हुए] पक्षियों को गिराने में समर्थ ॥ २९ ॥ इस प्रकार के कामरूपी महात्मा वानरों के एक करोड़ झुण्ड उत्पन्न किए ॥ ३० ॥ वानरों के प्रधान यूथों (झुण्डों) के अधिपति हुए । उन झुण्डों के श्रेष्ठ अधिपतियों ने [अन्य] वीर वानरों को उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥ अन्य सहस्रों वानर ऋक्षवान् पर्वत के शिखरों को प्राप्त हुए । अन्यों ने नाना प्रकार के पर्वतों और वनों का सेवन किया ॥ ३२ ॥ सूर्यपुत्र सुग्रीव और इन्द्रपुत्र वाली नाम के भाइयों नल, नील, हनुमान्, और अन्य हरियूथपों को वे सब वानरों के यूथाधिपति प्राप्त हुए । उन सब गरुड़ के समान बलवालों और युद्धविशारदों ने ॥ ३३–३४ ॥ विचरते हुए दर्प से सिंह व्याघ्र (बाघ), अजगर आदि को पीड़ित किया । उन सब ऋक्ष गोपुच्छ और वानरों की महाबली महान् पराक्रमी बाली ने अपनी भुजाओं के बल से रक्षा की । उन शूर और अनेक प्रकार के शरीर वालों तथा अनेक प्रकार के चिह्न वालों से यह पर्वत, और वन और समुद्र युक्त सम्पूर्ण पृथिवी व्याप्त हो गई ॥ ३५–३६ ॥ राम की सहायता के लिये उन मेघ समूहों और पर्वतशैलों के समान महाबलवान्, भयानक शरीरधारी वानर यूथाधिपतियों से यह पृथिवी भर गई थी ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का [ऋक्षवानरोत्पत्तिविषयक] यह सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥



अष्टादशः सर्गः

[श्रीरामाद्यवतारः]

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन् हयमेधे महात्मनः । प्रतिगृह्य सुरा भागान् प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥१॥
समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः । प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥२॥
यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा वै पृथिवीश्वराः । मुदिताः प्रययुर्देशान् प्रणम्य मुनिपुंगवम् ॥३॥
श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वपुराणि पुरात्ततः । बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥४॥
गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथस्तदा । प्रविवेश पुरीं श्रीमान् पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥५॥
शान्तया प्रययौ सार्धमृश्यश्रृङ्गः सुपूजितः । अन्वीयमानो राज्ञाथ सानुयात्रेण धीमता ॥६॥
एवं विसृज्य तान् सर्वान् राजा संपूर्णमानसः । उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥७॥
ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः । ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥८॥
नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु । ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥९॥
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् । कौसल्याजनयद्रामं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥१०॥
विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकवर्धनम् । कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ॥११॥

अष्टादश सर्ग

[रामादि की उत्पत्ति]

महात्मा [दशरथ] के उस अश्वमेध यज्ञ के समाप्त होने पर देव लोग अपने-अपने भागों को ग्रहण करके जहाँ से आए थे, वहां लौट गए ॥ १ ॥ [यज्ञ की] दीक्षा के नियम समाप्त हो गए हैं जिसके. ऐसे राजा दशरथ ने स्त्रियों, नौकरों, सेनाओं और सवारियों के साथ [अयोध्या] पुरी में प्रवेश किया ॥ २ ॥ राजा [दशरथ] के द्वारा यथायोग्य पूजित हुए राजा लोग प्रसन्न होकर मुनिश्रेष्ठ [वसिष्ठ] को प्रणाम करके [अपने-अपने] देशों को लौट गए ॥ ३ ॥ उस [अयोध्या] नगरी से अपने नगरों को जाते हुए शोभायुक्त राजाओं की उज्ज्वल और प्रसन्न सेनाएँ प्रकाश को प्राप्त हुईं [अर्थात राजा दशरथ से वस्त्राभूषण आदि पाकर परम प्रसन्न हुईं] ॥ ४ ॥ [बाहर से आए हुए] राजाओं के चले जाने पर राजा दशरथ ने द्विज-श्रेष्ठों (= ब्राह्मणों) को आगे करके नगर में प्रवेश किया ॥ ५ ॥ अच्छे प्रकार पूजित और भृत्यवर्ग सहित बुद्धिमान् राजा[1] से अनुगमन[2] किये हुए ऋष्यश्रृङ्ग [अपनी भार्या] शान्ता के साथ [अपने आश्रम को] गये ॥ ६ ॥ इस प्रकार उन सब को विदा करके पूर्णमनोरथ राजा ने पुत्रोत्पत्ति का विचार करते हुए अयोध्या में सुखपूर्वक वास किया ॥ ७ ॥ तदनन्तर यज्ञ के समाप्त होने पर छह ऋतुएँ (= १२ मास) बीत गईं बारहवें मास में चैत्र की नवमी तिथि में ॥ ८ ॥ अदिति देवता वाले [पुनर्वसु] नक्षत्र में पांच [सूर्य, मंगल, शनि गुरु, शुक्र,][3] ग्रहों के उच्च स्थानों [मेष, मकर, तुला, कर्क मीन राशियों][3] में स्थित होने और कर्क लग्न में चन्द्र के साथ बृहस्पति के उदय होने पर जगत् के स्वामी सब लोकों से नमस्कृत (= पूजित) सब [अच्छे] लक्षणों से युक्त विष्णु के अर्धभाग, महायशस्वी, इक्ष्वाकु कुल को बढ़ानेवाले राम को कौशल्या ने उत्पन्न किया। उस महा तेजस्वी पुत्र से कौशल्या उसी प्रकार सुशोभित हुई ॥ ९-११ ॥ जैसे देवों में श्रेष्ठ

---

१. कुछ टीकाकार यहाँ 'राजा' पद से 'दशरथ' का ग्रहण करते हैं, दूसरे अंगदेश के रोमपाद का।

२. शास्त्रोंकी आज्ञा है कि घर पर आए श्रेष्ठ अतिथिके लौटने पर नगरसे बाहर उदकस्थानपर्यन्त अनुगमन करना चाहिए।

३. यह व्याख्या टीकाकारों के अनुसार है।

यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना । भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ॥१२॥
साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः । पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ॥१३॥
सार्पे जातौ च सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ । राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ॥१४॥
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः । जगुः कलं च गन्धर्वा *ननृतुश्चाप्सरोगणाः* ॥१५॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता । उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः ॥१६॥
रथ्याश्च जनसंबाधा नटनर्तकसंकुलाः । गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः ॥१७॥
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः । प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम् ॥१८॥
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः । अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत् ॥१९॥
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् । सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ॥२०॥
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कृतवांस्तदा । ब्राह्मणान् भोजयामास पौरान् जानपदानपि ॥२१॥

वज्रपाणि इन्द्र से अदिति सुशोभित हुई थी । कैकेयी में विष्णु का साक्षात् चतुर्थभाग, सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी भरत नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । [भरत के पश्चात् सुमित्रा ने सब अङ्गों में कुशल विष्णु के भागों से युक्त वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक पुत्रों को उत्पन्न किया[1] ।] निर्मल बुद्धिवाला भरत पुष्यनक्षत्र मीनलग्न में उत्पन्न हुआ ॥ १२, १३ ॥ सर्प देवता वाले [आश्लेषा] नक्षत्र में कर्क लग्न में सूर्य के बढ़ने पर (= मध्याह्न में) सुमित्रा के दोनों पुत्र उत्पन्न हुए । राजा के चारों महात्मा पुत्र पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥ वे गुणवान् श्रेष्ठ रूपवाले, कान्ति में प्रोष्ठपद नक्षत्र[2] के समान [थे] । गन्धर्व मधुर ध्वनि करने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ १५ ॥ देवों की दुन्दुभियां बजने लगीं और आकाश से पुष्पवृष्टि हुई । अयोध्या में प्रजाओं से व्याप्त महान् उत्सव हुआ ॥ १६ ॥ सड़कें मनुष्यों की भीड़ और नट तथा नर्तकों से व्याप्त, गाने और बजाने के शब्दोंसे युक्त [थीं] ॥१७॥ सब प्रकार के रत्नों से युक्त चौड़ी [सड़कें] अत्यन्त शोभित हुईं । राजाने सूत (= पुराणों के जानने वाले) मागध (= वंशावलियों के जानने वाले) [और] बन्दियों (= स्तुति करने वालों) को पारितोषिक दिए ॥ १८ ॥ ब्राह्मणों को धन और सहस्रों गाएँ दीं, [राम की उत्पत्ति से] ग्यारहवें दिन बीतने पर उनका नामकर्म संस्कार[3] किया ॥ १९ ॥ महात्मा ज्येष्ठ का राम, कैकेयी के पुत्र का भरत, सुमित्रा के पुत्रों के लक्ष्मण और शत्रुघ्न ॥ २० ॥ नाम परम प्रसन्न वसिष्ठ ने रखे । नगर और जनपद के ब्राह्मणों को भाजन कराया ॥ २१ ॥ ब्राह्मणों को रत्नों के अपरिमित समूह दिए । [वसिष्ठ ने] जातकर्म

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ ऐसे श्लोक की व्याख्यारूप है, जो सब प्रतियों में नहीं मिलता, परन्तु पूर्वापर की संगति के लिए आवश्यक है ।

२. प्रोष्ठपदा में पूर्वा भाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा दो नक्षत्र गिने जाते हैं । प्रत्येक में दो दो तारे हैं । इस प्रकार प्रोष्ठपदा में ४ तारे होते हैं ॥

३. शास्त्रों में दसवीं रात्रि के पश्चात् ग्यारहवें दिन प्रातः नामकरण का विधान है ['दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात्' (महाभाष्य के आरम्भ में) दशम्यामुत्थाप्य···(पारस्कर गृह्य)] यहाँ ग्यारह दिन बीतने पर नामकरण का उल्लेख है । भरत आदि राम से एक दिन पश्चात् चैत्र शु० को पैदा हुए थे । अतः भरत आदि की उत्पत्ति की दसवीं रात बीतने अर्थात् राम के जन्मदिन से १२ वें दिन नामकरण किया गया । टीकाकारों ने इस श्लोक में क्षत्रियों का बारह दिन आशौच मानकर ''ग्यारह दिन बीतने पर'' का अर्थ राम जन्म के तेरहवें दिन किया है । यह मूलार्थ से विपरीत है । यदि क्षत्रियों का आशौच १२ दिन का ही माना जाय तो भरत आदि के जन्म से १२ दिन बीतने पर नामकरण करना होगा । इस प्रकार रामजन्म से १४ वें दिन नामकरण मानना होगा । अतः टीकाकारों की यह कल्पना मात्र है ॥

अददाद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममितं बहु । तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ॥२२॥
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः । बभूव भूयो भूतानां स्वयंभूरिव संमतः ॥२३॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः । सर्वे ज्ञानोपसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥२४॥
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः । इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः ॥२५॥
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु संमतः । धनुर्वेदे च निरतः पितृशुश्रूषणे रतः ॥२६॥
बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः । रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः॥२७॥
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः । लक्ष्मणो लक्ष्मिसंपन्नो बहिः प्राण इवापरः॥२८॥
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः । मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ॥२९॥
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः । तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन् ॥३०॥
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः । प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः ॥
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः । बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः ॥३२॥
ते यदा ज्ञानसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः । ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ॥३३॥
तेषामेवंप्रभावाणां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् । पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा ॥३४॥
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः । पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ॥३५॥
अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति । चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ॥

संस्कार से लेकर [उपनयन पर्यन्त] सब कर्म कराए ॥ २२ ॥ उन में ध्वजा के समान ज्येष्ठ राम पिता को प्रसन्नता करनेवाले हुए और स्वयम्भू के समान प्रजाओं से अत्यधिक पूजित हुये ॥ २३ ॥ सब [भाई] वेद के जानने वाले, शूरवीर, प्रजा के हित में लगे हुए, ज्ञान से युक्त और [शुभ] गुणों से युक्त थे ॥ २४ ॥ उन में भी महातेजस्वी, सत्यपराक्रमी राम निर्मल [शरत् के] चन्द्र के समान सब लोगों को प्रिय थे। ॥ २५ ॥ हाथी की सवारी, घोड़े की सवारी, और रथ की गति में अत्यन्त प्रशंसित, धनुर्वेद में पारङ्गत तथा पिता की सेवा में प्रवृत्त थे ॥ २६ ॥ लक्ष्मी को बढाने वाले लक्ष्मण जन्म से ही लोगों को प्रसन्न करने वाले ज्येष्ठ भ्राता राम से अति प्रीति रखनेवाले थे ॥ २७ ॥ सब [प्रकार] प्रिय करने वाले = लक्ष्मीयुक्त लक्ष्मण भी राम के शरीर से बहिर्भूत प्राण के समान थे ॥ २८ ॥ पुरुषोत्तम [राम] लक्ष्मण के बिना निद्रा को भी नहीं पाते थे (= नहीं सोते थे) और न ही उसके बिना [कौशल्या से] दिया हुआ विशिष्ट भक्ष्य पदार्थ खाते थे ॥ २९ ॥ जब राघव (= राम) अश्व पर चढ़कर आखेट (= शिकार) के लिये जाते थे, तब [लक्ष्मण] धनुष धारण कर उनकी रक्षा करते हुये पीछे चलते थे ॥ ३० ॥ लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न भरत के भी प्राणों से अधिक प्यारे थे। उसी प्रकार भरत भी शत्रुघ्न के प्राणों से अधिक प्रिय थे ॥ ३१ ॥ वे दशरथ चारों महायशस्वी प्रिय पुत्रों से वैसे ही प्रसन्न थे, जैसे ब्रह्मा [चारों वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव नाम के] देवों से ॥ ३२ ॥ जब वे सब ज्ञान से युक्त, गुणों से प्रकाशित, लज्जाशील, यशस्वी, सर्वज्ञ, दीर्घदर्शी [हुए तब] ॥ ३३ ॥ उक्त प्रकार के प्रभावों वाले उन अति तेजस्वियों के पिता दशरथ उसी प्रकार प्रसन्न हुये, जैसे लोकों के स्वामी ब्रह्मा [पूर्व कहे देवों से प्रसन्न हुये थे] ॥ ३४ ॥ वे पुरुष-श्रेष्ठ [चारों भाई] भी वेद के अध्ययन में प्रवृत्त, पिता की सेवा में लगे हुए और धनुर्वेद में पारङ्गत थे ॥ ३५ ॥ तत्पश्चात् उपाध्याय और बन्धुओं सहित राजा दशरथ ने उन राम आदि के विवाह के लिए विचार किया ॥ ३६ ॥ उस महात्मा [दशरथ] के मन्त्रियों के संग विचार करते हुए महातेजस्वी महामुनि विश्वा-

तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः । अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह । शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं त्रासाद्राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः । संभ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ॥३९॥
ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा । प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायेक्ष्वाकवे तदा ॥४०॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः । प्रत्युज्जगाम तं हृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ॥४१॥
तं दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् । प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत् ॥४२॥
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा । कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ॥४३॥
पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च । कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत् सुधार्मिकः ॥४४॥
अपि ते संनताः सर्वे सामन्ता रिपवो जिताः । दैवं च मानुषं चापि कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ॥
वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुंगवः । ऋषींश्चान्यान् यथान्यायं महाभागानुवाच ह ॥
ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् । विविशुः पूजितास्तत्र निषेदुश्च यथार्हतः ॥४७॥
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् । उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ॥४८॥
यथामृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके । यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ॥४९॥
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः । तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ॥५०॥

मित्र उपस्थित हुए ॥ ३७ ॥ राजा के दर्शन की इच्छावाले उस [मुनि विश्वामित्र] ने द्वारपालों को कहा—कौशिक गोत्रवाले गाधि के पुत्र मुझ आए हुए को शीघ्र [राजा से] कहो ॥ ३८ ॥ विश्वामित्र के वचन सुनकर और भयभीत होकर द्वारपाल राजा के महल की ओर दौड़ा [विश्वामित्र के] उस वचन से प्रेरित, अत्यादर से युक्त मन वाले उन सबने ॥ ३९ ॥ राजमहल में जाकर 'ऋषि विश्वामित्र आए हैं' [ऐसा] इक्ष्वाकुवंशीय राजा दशरथ को कहा ॥ ४० ॥ उन [द्वारपालों] के वचन सुनकर एकाग्रचित्त वाले और प्रसन्न हुए राजा पुरोहित के साथ उस [विश्वामित्र] ऋषि के सन्मुख राजा दशरथ उसी प्रकार गये, जैसे ब्रह्मा के सामने इन्द्र गये थे ॥ ४१ ॥ उस तीक्ष्ण व्रत वाले, तेज से प्रकाशित तपस्वी को देख कर प्रसन्न मुख राजा ने अर्घ्य दिया ॥ ४२ ॥ उस [विश्वामित्र] ने राजा के दिए अर्घ्य को शास्त्र में वर्णित कर्म के अनुसार स्वीकार करके कुशल मंगल पूछा ॥ ४३ ॥ धर्मात्मा कौशिक (=कुशिक के पौत्र विश्वामित्र) ने नगर, कोश (=संपत्ति), देश, बन्धु वर्ग और मित्रों के विषय में राजा से कुशल पूछा ॥ ४४ ॥ क्या तुम्हारे सामन्त (अधीनस्थ छोटे राजा) झुके हुए हैं ? शत्रु जीत लिए गये हैं ? देव और मनुष्य सम्बन्धी कर्म तो अच्छे प्रकार अनुष्ठित होते हैं ? ॥ ४५ ॥ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने [महर्षि] वसिष्ठ से मिल कर अन्य अति भाग्यशाली ऋषियों से [मिलकर] यथायोग्य कुशल पूछा ॥ ४६ ॥ वे सब प्रसन्न मन वाले राजा की सभा में उपस्थित हुए और यथायोग्य पूजित होकर यथा-स्थान बैठे ॥ ४७ ॥ तत्पश्चात् प्रसन्न मन वाले परम उदार (=महादानी) और प्रसन्न राजा [दशरथ] ने महामुनि विश्वामित्र की स्तुति करते हुए कहा—॥ ४८ ॥ जैसे अमृत की प्राप्ति हो, जैसे मरुस्थल में वृष्टि हो, जैसे पुत्ररहित पुरुष की अपनी समान वर्ण वाली भार्या में पुत्रजन्म हो, जैसे नष्ट हुए [धन] की प्राप्ति हो और जैसे महान् हर्ष की प्राप्ति हो, वैसे ही हे महामुनि आप का आगमन समझता हूँ। आप का आगमन शुभ है ॥ ४९-५० ॥ मैं प्रसन्न हुआ आपके

१. पाणिनीय नियम (अष्टा० ४ । १ । १६१) के अनुसार अपत्य अर्थ में ही षुक् का आगम होता है। यहाँ अपत्य अर्थ नहीं है, यह स्पष्ट है। ऐसा ही एक प्रयोग 'मानुष ह वा ते यज्ञे कुर्वन्ति' शत० १ । ४ । १ । ३५ में उपलब्ध होता है। यहाँ उभयत्र 'तस्येदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय है। यह वस्तुतः षकारान्त 'मनुष्' शब्द का रूप है। इसी षकारान्त प्रकृति का निरूपण पाणिनि ने अ० ४ । १ । १६१ में षुक् का आगम करके दर्शाया है।

कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः । पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धार्मिक ॥
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् । पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥५२॥
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया । तदद्भुतमिदं ब्रह्मन् पवित्रं परमं मम ॥५३॥
शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो । ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ॥५४॥
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थपरिवृद्धये । कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक ॥५५॥
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम । मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ॥५६॥
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो मम ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥५७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे श्रीरामाद्यवतारो नाम अष्टादशः सर्गः ॥१८॥



एकोनविंशः सर्गः

विश्वामित्र-वाक्यम्

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् । हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
सदृशं राजशार्दूल तवैतद्भुवि नान्यथा । महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥

किस आवश्यक कार्य को करूं । हे धर्मात्मा ब्रह्मन् ! आप सब प्रकार से सेवा करने योग्य हैं, बड़े भाग्य से प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥ आज मेरा जन्म सफल है, आज मेरा जीवन सफल है, पहले राजर्षि शब्द से पुकारे जाने वाले [आपने] तप से प्रकाशित तेज वाले होकर ब्रह्मर्षिपन को प्राप्त किया है । मेरे द्वारा आप अनेक प्रकार से पूज्य हैं । हे ब्रह्मन् ! यह [आगमन] आश्चर्यजनक और मुझे अत्यन्त पवित्र करने वाला है ॥ ५२-५३ ॥ हे प्रभो ! आपके शुभ दर्शन से मैं सब क्षेत्रों (=तीर्थों) को प्राप्त हुआ हूं (अर्थात् आपके आगमन से मेरा स्थान ही तीर्थ बन गया है), [इसलिए] मेरी प्रार्थना है आप अपने आने का जो प्रयोजन है, वह कहिए ॥ ५४ ॥ आपके प्रयोजन की वृद्धि (=सिद्धि) के लिए मैं आप से अनुगृहीत होना चाहता हूँ । हे कौशिक ! आप कार्य के [पूरा होगा या नहीं ऐसे] विचार में न पड़ें ॥ ५५ ॥ मैं आपका कार्य पूर्ण करूंगा, आप मेरे इष्ट देव हैं । हे ब्रह्मन् ! मैंने यह महान् अभ्युदय [का हेतु] प्राप्त किया है । आपके आगमन से उत्पन्न सम्पूर्ण श्रेष्ठ धर्म मैंने [प्राप्त किया है] ॥ ५६ ॥ इस प्रकार जितेन्द्रिय राजा से विनयपूर्वक कहे हुए, हृदय को सुखी करने वाले सुन्दर वाक्य सुनकर प्रसिद्ध गुण और यश वाले, महा गुणवान् परमर्षि विश्वामित्र अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ ५७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का रामाद्युत्पत्ति-विषयक यह अठारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥



एकोनविंश सर्ग

विश्वामित्र-वाक्य

राजसिंह [दशरथ] के उस अद्भुत विस्तार वाले वाक्य को सुनकर पुलकित शरीर वाले महातेजस्वी विश्वामित्र बोले ॥ १ ॥ हे राजशार्दूल ! महाकुल में उत्पन्न हुए वसिष्ठ की आज्ञानुसार कार्य करनेवाले तुम्हारे ही अनुरूप [यह कथन है] यह सर्वथा सत्य है ॥ २ ॥ हे राजशार्दूल ! जो मेरे हृदय में वाक्य

यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् । कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥
अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ । तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥
व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ । मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ ५ ॥
समांसरुधिरौघेन वेदिं तामभ्यवर्षताम् । अवधूते तथाभूते तस्मिन्नियमनिश्चये ॥ ६ ॥
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादपाक्रमे । न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ ७ ॥
तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते । तत्पुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८ ॥
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि । शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ॥ ९ ॥
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने । श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥१०॥
त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति । न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ॥
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् । वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ॥
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः । न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ॥१३॥
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ । अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥१४॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः । यदि ते धर्मलाभं च यशश्च परमं भुवि ॥१५॥

है, उसके करने का निश्चय करो और सत्यप्रतिज्ञ होवो [अर्थात् अपने वचन को सत्य करो] ॥ ३ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैं सिद्धि के लिए नियम का पालन कर रहा हूँ, (=दीक्षा को प्राप्त हुआ हूँ), उसमें दो कामरूपी राक्षस विघ्न डालने वाले हैं ॥ ४ ॥ मेरे व्रत के बहुत बार पालन करने पर समाप्ति के समय बलवान् और सुशिक्षित मारीच और सुबाहु ॥ ५ ॥ उस [यज्ञ] वेदि को मांस और रुधिर के समूह से भर देते हैं। उस नियम (व्रत) के नाश हो जाने पर ॥ ६ ॥ श्रम करके भी निरुत्साहित होकर उस देश से हट कर यहाँ आया हूं। हे राजन् ! क्रोध करने की मेरी बुद्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥ इस व्रत का आचरण ही ऐसा है कि इसमें शाप नहीं दिया जा सकता (अर्थात् शाप से व्रत नष्ट हो जाता है) । इसलिए हे राजशार्दूल ! [अपने] सत्यपराक्रमी पुत्र राम को ॥ ८ ॥ जो काक के परों के समान शिर पर केश रखने वाले,[1] शूरवीर और ज्येष्ठ हैं, उन्हें आप देवें। वे मेरे द्वारा रक्षित अपने दिव्य तेज से विघ्न करने वाले राक्षसों के नाश में [समर्थ हैं], इसमें कुछ संशय नहीं। मैं इसे अनेक प्रकार का श्रेय प्रदान करूँगा ॥ ९-१० ॥ जिससे यह तीनों लोकों में प्रसिद्धि को प्राप्त करेगा। [युद्ध में] राम को प्राप्त होकर ठहरने में किसी का सामर्थ्य नहीं है ॥ ११ ॥ उन दोनों [राक्षसों] को राम के अतिरिक्त कोई पुरुष नहीं मार सकता। वे दोनों पापी पराक्रम से गर्वित हुए मृत्यु के पाश में बंधे हुए हैं ॥ १२ ॥ हे राजशार्दूल [वे दोनों राक्षस] महात्मा राम के बराबर नहीं हैं। हे राजन् [आपको] पुत्र का स्नेह करना युक्त नहीं ॥ १३ ॥ मैं आप से प्रतिज्ञा करता हूँ, उन दोनों राक्षसों को मरा हुआ समझो। मैं महात्मा सत्यपराक्रमी राम को [अच्छे प्रकार] जानता हूँ ॥ १४ ॥ और ये महातेजस्वी वसिष्ठ तथा ये तपस्वी लोग [जानते हैं]। यदि तुम संसार में धर्म की वृद्धि और उत्तम यश ॥ १५ ॥ स्थिर करना चाहते हो तो हे राजेन्द्र ! राम को मेरे

१. टीकाकारों ने 'काकपक्षधर' का अर्थ 'कपोल के समीपवर्ती शिखा को धारण करने वाला' किया है। प्राचीन मूर्तियों के साथ तुलना करने से पूर्व का अर्थ उसी प्रकार के केशों का धारण करना हो सकता है, जैसा आज कल शौकीन लोग बाल बनाते हैं।

स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि। यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ॥१६॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय। अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ॥१७॥
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम्। नात्येति कालो यज्ञस्य यथायं मम राघव ॥१८॥
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः। इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ॥१९॥
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः। स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ॥
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च। लब्धसंज्ञस्तथोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः ॥२१॥

इति हृदयमनोविदारणं मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान्।
नरपतिरगमन्महान् महात्मा व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे विश्वामित्रवाक्यं नाम एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥



विंशः सर्गः

दशरथवाक्यम्

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम्। मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
[ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः। न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥]

साथ भेजना चाहिए। हे काकुत्स्थ! यदि तुम्हारे वसिष्ठ आदि सब मन्त्री लोग अनुज्ञा देते हैं तो राम को [मेरे साथ] भेजो। अपने प्रिय पुत्र राम को शीघ्र देओ॥ १६–१७॥ यज्ञ का केवल दस रात का काल ही कमल के समान नेत्र वाले राम की [अपेक्षा रखता है]। हे राघव! जैसे मेरा यह काल समाप्त न हो वैसा करो। तुम्हारे लिए कल्याण [हो], शोक में मन को मत डालो[1]। इस प्रकार धर्मयुक्त वचन को कह कर धर्मात्मा महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो गए। वह राजेन्द्र [दशरथ] विश्वामित्र के उत्तम वचन को सुनकर॥ १८–२०॥ महान् शोक से युक्त होकर चलायमान (=कम्पित) और मोह को प्राप्त हुए= [अर्थात् मूर्च्छित हो गये=]। होश में आकर और उठ कर भय से युक्त तथा दुःखी हुए॥२१॥ इस प्रकार हृदय और मन को विदीर्ण करने वाले मुनि के वचनों को अत्यन्त [धैर्य से] सुना। महात्मा महान् राजा दुःखी मन वाले आसन से चलायमान हो गये (=अर्थात् मूर्च्छित होकर राजसिंहासन से गिर पड़े)॥२२॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड का विश्वामित्रवाक्यविषयक यह उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ॥ १९॥



विंश सर्ग

दशरथ-वाक्य

राजशार्दूल [दशरथ] ने विश्वामित्र का वचन सुनकर थोड़ी देर के लिए मूर्च्छित होकर और पुनः चेतन होकर कहा॥ १॥ मेरा कमल के समान नेत्रवाला राम सोलह वर्ष से कम का है। मैं राक्षसों के साथ इसके युद्ध की योग्यता नहीं देखता हूँ॥ २॥

---

१. गोविन्द राज ने 'असंसक्तमविलम्बितम्' अर्थ किया है।

इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याहं पतिरीश्वरः । अनया संवृतो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥
इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः । योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥
अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि । यावत् प्राणान् धरिष्यामि तावद्योत्स्ये निशाचरैः ॥५॥
निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता । अहं तत्रागमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥ ६ ॥
बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम् । न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥
न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि ते ध्रुवम् । विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ॥ ८ ॥
जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि । यदि वा राघवं ब्रह्मन्नेतुमिच्छसि सुव्रत ॥ ९ ॥
चतुरङ्गसमायुक्तं मया च सहितं नय । षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥१०॥
दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि । चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥११॥
ज्येष्ठं धर्मप्रधानं च न रामं नेतुमर्हसि । किंवीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च केचते ॥१२॥
कथंप्रमाणाः के चैतान् रक्षन्ति मुनिपुंगव । कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम् ॥१३॥
मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनाम् । सर्वं मे शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे ॥१४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥१५॥

यह पूरी अक्षौहिणी[1] सेना, जिसका मैं स्वामी हूँ, इस [सेना] से रक्षित हुआ मैं वहां जाकर उन राक्षसों से युद्ध करूंगा ॥ ३ ॥ ये मेरे आश्रित शूर, पराक्रमी, अस्त्रों में कुशल, राक्षसों से युद्ध करने में समर्थ हैं। राम को न ले जाएं ॥ ४ ॥ युद्धभूमि में हाथ में धनुष लेकर मैं रक्षक [हाऊँगा] और जब तक प्राणों को धारण करूंगा राक्षसों से युद्ध करूंगा ॥ ५ ॥ मैं [स्वयं] वहाँ चलूगा, [आपकी] वह व्रतचर्या सुरक्षित हुई निर्विघ्न पूरी होगी। राम को न ले जाएं ॥ ६ ॥ [यह राम अभी] बालक है, धनुर्विद्या से रहित है, बलाबल नहीं जानता, अस्त्र बल से भी युक्त नहीं है और न युद्ध में निपुण है ॥ ७ ॥ यह राक्षसों [के साथ युद्ध] के योग्य भी नहीं है। राक्षस निश्चय ही कूट युद्ध करने वाले हैं। हे मुनिशार्दूल ! मैं राम से वियुक्त हुआ एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकता। राम को न ले जाएं। हे उत्तम व्रत वाले ब्रह्मन् ! यदि राम को ले जाना चाहते हैं ॥ ८-९ ॥ तो चतुरङ्ग[2] सेना और मेरे साथ ले जाएं। हे कौशिक ! मुझ उत्पन्न हुए के लगभग ६० वर्ष[3] [व्यतीत होने पर] ॥ १० ॥ इसे बड़े दुःख से उत्पन्न किया। राम को न ले जाएं। मेरी चारों पुत्रों में अत्यन्त प्रीति है ॥ ११ ॥ ज्येष्ठ धर्मात्मा राम को न ले जाएं। वे राक्षस कितनी सामर्थ्य वाले हैं ? और किसके पुत्र हैं ? ॥ १२ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! वे किस प्रमाण वाले हैं ? उनकी कौन रक्षा करते हैं ? उन राक्षसों का राम को किस प्रकार प्रतिकार करना होगा ? ॥ १३ ॥ हे ब्रह्मन् ! उन कूटयोधी राक्षसों का मेरी सेना वा मुझे [किस प्रकार प्रतिकार करना होगा ?]। हे ब्रह्मन् ! यह सब कहो। कैसे मुझे उन दुष्टों के साथ रण में खड़ा होना होगा ? वे राक्षसबल से गर्वित हैं। उस दशरथ के वचन सुनकर विश्वामित्र बोले ॥ १४-१५ ॥

---

१. महाभारत आदि पर्व के अनुसार एक अक्षौहिणी सेना में २१८१० रथ, २१८१० हाथी, ६५६१० घोड़े, और १०९३५० पैदल होते हैं। महाभारत मीमांसा, पृष्ठ ३६३ कालम १।

२. हस्ती, अश्व, रथ और पदाति ये चार सेना के अंग कहाते हैं।

३. सहस्र पद के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठ २३ की टिप्पणी २ देखो।

पौलस्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः । स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम् ॥१६॥
महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः । श्रूयते हि महावीर्यो रावणो राक्षसाधिपः ॥१७॥
साक्षाद् वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः । यदा स्वयं न यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥१८॥
तेन संचोदितौ द्वौ तु राक्षसौ सुमहाबलौ । मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥१९॥
इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनिं तदा । न हि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः॥
स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके । मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान् गुरुः ॥२१॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः । न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥२२॥
स हि वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः । तेन चाहं न शक्नामि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥
सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा समात्मजैः । कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥२४॥
बालं मे तनयं ब्रह्मन्नैव दास्यामि पुत्रकम् । अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥२५॥
यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् । तयोरन्यतरेणाहं योद्धा स्यां ससुहृद्गणः ॥२६॥
अन्यथा त्वनुनेष्यामि भवन्तं सह बान्धवैः ॥ ॥२७॥

इति नरपतिजल्पनाद्द्विजेन्द्रं कुशिकसुतं सुमहान् विवेश मन्युः ।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे दशरथवाक्यं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥



पौलस्त्य वंश में उत्पन्न रावण नाम का राक्षस है। वह महाबलवान्, अति पराक्रमी ब्रह्मा से वर पाकर बहुत से राक्षसों से घिरा हुआ तीनों लोकों को अत्यन्त पीड़ित करता है। सुना जाता है—वह महापराक्रमी, राक्षसों का स्वामी रावण ॥ १६–१७ ॥ विश्रवा [नाम के] मुनि का साक्षात् पुत्र और वैश्रवण (कुवेर) का भाई है। जब वह महाबल स्वयं यज्ञ का विघ्नकर्त्ता नहीं [होता तब] ॥ १८ ॥ उससे प्रेरित मारीच सुबाहु नाम के दो महा बलवान् राक्षस यज्ञ में विघ्न करते हैं ॥ १९ ॥ मुनि [विश्वामित्र] के इस प्रकार कहने पर राजा ने मुनि से कहा—उस दुरात्मा के साथ युद्ध में खड़े होने में मैं असमर्थ हूँ ॥ २० ॥ हे धर्मज्ञ ! आप मेरे दयनीय पुत्र पर कृपा करें। मुझे अल्पभाग्य वाले के आप ही गुरु और इष्ट देव हैं ॥ २१ ॥ देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और पन्नग (नाग) उस रावण को युद्ध में सहने (पराजित करने) में असमर्थ हैं, फिर मानवों का क्या कहना ॥ २२ ॥ वह राक्षस युद्ध में पराक्रमियों के पराक्रम को हर लेता है। मैं उसके अथवा उसकी सेना के साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ २३ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ उस अमरतुल्य संग्रामों के अनुभवी रावण के साथ [अपनी] सेना अथवा पुत्रों के साथ [युद्ध करने में असमर्थ हूँ] ॥ २४ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं अपने बालक दयनीय पुत्र को नहीं दूंगा। वे सुन्द और उपसुन्द के काल के समान [पराक्रमी] पुत्र ॥ २५ ॥ आप के यज्ञ के विघ्न करने वाले हैं। तुम्हें दयनीय पुत्र को नहीं दूंगा। उन दोनों में से किसी के साथ भी मित्रों से युक्त [हुआ] मैं युद्ध करूंगा ॥ २६ ॥ अथवा बान्धवों के सहित तुम्हारे साथ चलूंगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार राजा के वचनों से कुशिकपुत्र द्विजेन्द्र [विश्वामित्र] को बहुत क्रोध आया। जैसे यज्ञ में [समिधाओं से] अच्छे प्रकार हुत और घृत से सींचा हुआ अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे ही महर्षिरूपी वह्नि अत्यन्त प्रदीप्त हुई अर्थात् क्रुद्ध हुए ॥ २८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड का दशरथवाक्यविषयक यह बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥



एकविंशः सर्गः

वसिष्ठवाक्यम्

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् । समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥
पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि । राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः ॥ २ ॥
यदीदं ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम् । मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सबान्धवः ॥ ३ ॥
तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः । चचाल वसुधा कृत्स्ना विवेश च भयं सुरान् ॥ ४ ॥
त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत्सर्वं महानृषिः । नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥
इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवापरः । धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि ॥ ६ ॥
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः । स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥
संश्रुत्यैवं करिष्यामीत्यकुर्वाणस्य राघव । इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय ॥ ८ ॥
कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः । गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥
एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः । एष बुद्ध्याधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥१०॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे । नैनमन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥११॥

एकविंश सर्ग

वसिष्ठवाक्य

उस [दशरथ] के [पुत्र] स्नेह से स्खलित अक्षरों वाले (लड़खड़ाते हुए) वचन को सुन कर क्रोधयुक्त कौशिक [विश्वामित्र] ने राजा से कहा ॥१॥ पहले [मांगे हुए] पदार्थ को देने की प्रतिज्ञा करके उसे छोड़ना चाहता है ? राघवों के इस कुल का यह विपर्यय (= विपरीत व्यवहार) अयुक्त है ॥ २ ॥ हे राजन् ! यदि यह [विपरीत व्यवहार = प्रतिज्ञा हानि] युक्त है तो जैसे आया हूँ, वैसे ही लौट जाऊंगा । हे काकुत्स्थ ! मिथ्या प्रतिज्ञा वाले होकर बन्धुओं के सहित सुखी होवो ॥३॥ उस धैर्यवाले विश्वामित्र के क्रोध-युक्त होने पर सारी पृथिवी कांप उठी, और देव भी भयभीत हुए ॥४॥ सारे जगत् को अत्यन्त भयभीत जान कर अच्छे व्रतों वाले, धीर, महान् ऋषि वसिष्ठ ने नृपति को यह वचन कहा ॥ ५ ॥ [तुम] इक्ष्वाकुओं के कुल में उत्पन्न, साक्षात् धर्मरूप, धैर्ययुक्त, सब प्रकार की सम्पत्ति से युक्त होकर धर्म को छोड़ने के योग्य नहीं हो ॥ ६ ॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध है कि राघव [दशरथ] धर्मात्मा है, [इसलिए तुम] अपने धर्म का पालन करो, अधर्म को ग्रहण करने योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥ हे राघव ! 'करूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके न करने वाले पुरुष के इष्ट = यागादि कर्म और पूत = कूप आदि निर्माण कर्म का नाश हो जाता है । इसलिए राम को [विश्वामित्र के साथ] भेज दो ॥ ८ ॥ कुशिकपुत्र [विश्वामित्र] से रक्षित [राम को] चाहे वह शिक्षितास्त्र है अथवा अशिक्षितास्त्र, राक्षस [वश में] नहीं कर सकेंगे । जैसे अग्नि से रक्षित अमृत को राक्षस नहीं पीसके[1] ॥ ९ ॥ यह [विश्वामित्र] साक्षात् शरीरधारी धर्म है, यह पराक्रमियों में श्रेष्ठ है, ये बुद्धि से लोक में सबसे अधिक हैं, ये तप के परम स्थान हैं (अर्थात् परम तपस्वी हैं) ॥ १० ॥ ये विविध प्रकार के अस्त्रों को जानते हैं, जिन अस्त्रों को चराचर तीनों लोकों में अन्य पुरुष नहीं जानता और न कोई जानेंगे ॥ ११ ॥ न देव, न ऋषि, न कोई असुर, न राक्षस

१. अग्नि के चक्र से अमृत की रक्षा की थी, यह आख्यायिका महाभारत में लिखी है, ऐसा रामायणशिरोमणि टीका के रचयिता ने लिखा है । हमें महाभारत में नहीं मिली ।

न देवा नर्षयः केचिन्नासुरा न च राक्षसाः । गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ॥१२॥
सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकाः । कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥१३॥
तेऽपि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः । नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥१४॥
जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे । ते सुवातेऽस्त्रशस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥१५॥
पञ्चाशतं सुतांल्लेभे जया नाम वराङ्गना । वधायासुरसैन्यानाममेयान् कामरूपिणः ॥१६॥
सुप्रभा जनयामास पुत्रान् पञ्चशतं पुनः । संहारान्नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः ॥१॥
तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत्कुशिकात्मजः । अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयः स धर्मवित् ॥१८॥
तेनास्य मुनिमुख्यस्य सर्वज्ञस्य महात्मनः । न किंचिदप्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥१९॥
एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महायशाः । न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि ॥२०॥
तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः । तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥२१॥

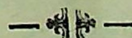
इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो रघुवृषभश्च मुमोद भास्वराङ्गः ।
गमनमभिरुरोच राघवस्य प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे वसिष्ठवाक्यं नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥



[और न] किन्नर और नागों से युक्त श्रेष्ठ गन्धर्व और यक्ष [जानते हैं] ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण अस्त्र कृशाश्व के परम धार्मिक पुत्र हैं[1]। पुरा काल में [जब कौशिक] राज्य कर रहे थे, तब [कृशाश्व ने] विश्वामित्र को दे दिए थे ॥ १३ ॥ वे कृशाश्व के पुत्र [दक्ष] प्रजापति की कन्या से उत्पन्न अनेक रूप वाले, महा-पराक्रमी दीप्तियुक्त और जय को प्राप्त कराने वाले हैं ॥ १४ ॥ जया और सुप्रभा नाम की सुमध्यमा (रूपवती) दो कन्याएं थीं। उन्होंने परम प्रकाश वाले १०० अस्त्रों को उत्पन्न किया ॥ १५ ॥ जया नाम वाली श्रेष्ठ स्त्री ने असुर सेना के नाश के लिए अपरिमित बलवाले कामरूपी पचास पुत्रों को प्राप्त किया ॥ १६ ॥ पुनः सुप्रभा ने भी संहार नाम वाले दुर्धर्ष दुराक्रम (जिनके आक्रमण को रोका न जासके) और अत्यन्त बलवान् ५० पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ १७ ॥ ये कुशिक पुत्र [विश्वामित्र] उन अस्त्रों को यथार्थ रूप से जानते हैं और वे धर्म को जानने वाले नए अस्त्रों को उत्पन्न करने में भी समर्थ हैं ॥ १८ ॥ इसलिए हे राघव ! इस सर्वज्ञ मुनि श्रेष्ठ महात्मा भूत और भव्य (भविष्यत् काल में होने वाला) कुछ भी अविदित नहीं है (अर्थात् सब कुछ जानते हैं) ॥ १९ ॥ महा तेजस्वी और महा यशस्वी विश्वामित्र इस प्रकार के पराक्रम वाले हैं [इसलिए] हे राजन् ! राम के जाने में संशय नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥ उन [राक्षसों] को वश में करने में विश्वामित्र स्वयं समर्थ हैं, [परन्तु] तुम्हारे पुत्र के हित के लिए तुम्हारे पास आकर मांग रहे हैं ॥ २१ ॥ इस प्रकार [वसिष्ठ] मुनि के वचन से प्रसन्न चित्त और प्रसन्न मुख वाले रघुकुल श्रेष्ठ [दशरथ] अति प्रसन्न हुये । और बुद्धि से = सोच विचार कर विस्तृत यश वाले [दशरथ] ने विश्वामित्र की प्रसन्नता के लिए राम का जाना स्वीकार किया ॥ २२ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का वसिष्ठ-वाक्य-विषयक यह इक्कीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥



१. यहां से अगला वर्णन आलंकारिक है । दक्षकन्या जया और सुप्रभा ने कृशाश्व के सहयोग से १०० अस्त्रों का आविष्कार किया था, अत एव वे उनके पुत्रवत् कहे गए हैं ।

द्वाविंशः सर्गः

विद्याप्रदानम्

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् । प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥
कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च । पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ २ ॥
स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम् । ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥
ततो वायुः सुखस्पर्शो विरजस्को ववौ तदा । विश्वामित्रगतं दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः । शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥
विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः । काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥ ६ ॥
कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश । विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥ ७ ॥
अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ । तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ॥ ८ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती । कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ९ ॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी । अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ १० ॥
रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत । गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ ११ ॥
मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा । न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १२ ॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः । न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १३ ॥

द्वाविंश सर्ग

विद्या-प्रदान

वसिष्ठ के इस प्रकार कहने पर प्रसन्नमुख राजा दशरथ ने लक्ष्मण सहित राम को बुलाया ॥ १ ॥ माता और पिता दशरथ से स्वस्तिवाचन किया हुआ [तथा] पुरोहित वसिष्ठ से मङ्गलयुक्त वचनों से अभिमन्त्रित ॥ २ ॥ प्रिय पुत्र को उस राजा दशरथ ने शिर सूंघ कर प्रीतियुक्त मन से विश्वामित्र को दिया ॥ ३ ॥ विश्वामित्र को प्राप्त हुए कमलनेत्र राम को देखकर वायु धूल से रहित स्पर्श सुख वाला बहने लगा ॥ ४ ॥ महात्मा विश्वामित्र के लौटते समय देवों की दुन्दुभियों के शब्दों के साथ महती पुष्पवृष्टि हुई [और] शङ्ख तथा दुन्दुभिके शब्द हुए ॥ ५ ॥ आगे विश्वामित्र, उसके पीछे महायशस्वी राम चले और राम के पीछे धनुष धारण किये काकपक्षधर लक्ष्मण चले ॥ ६ ॥ कलाप (= तूणीर) से युक्त, हाथ में धनुष लिए दशों दिशाओं को सुशोभित करते हुए तीन शिरों वाले (दो तूणीर + १ सिर) सर्प के समान महात्मा विश्वामित्र के ॥ ७ ॥ पीछे शक्तिसम्पन्न राम लक्ष्मण वैसे ही चले जैसे दोनों अश्विनी कुमार पितामह के पीछे गए थे ॥ ८ ॥ गोधा (गोह) के चर्म से निर्मित दस्ताने बांधे हुए, तलवार लिए, महातेजस्वी, बालक, सुन्दर शरीर वाले दोनों भाई राम और लक्ष्मण उस समय कुशिकपुत्र के पीछे, धनुर्धारी, अच्छे अलंकार-युक्त ॥ ९ ॥ [उसी प्रकार चले] जैसे अग्निपुत्र [स्कन्द और विशाख नामक] दो कुमार अचिन्त्य स्थाणु = महादेव के पीछे गए थे । सरयू के दक्षिण तट पर डेढ़ योजन (= ६ कोस) जाकर ॥ १० ॥ विश्वामित्र ने 'राम' ऐसी मधुर वाणी उच्चारण की । हे वत्स ! जल को ग्रहण करो (= आचमन करो), समय का उल्लङ्घन न हो ॥ ११ ॥ तुम बला और अतिबला नाम की विद्यासंबन्धी मन्त्रसमूहों को ग्रहण करो । [इससे] न थकावट होगी, न ज्वर, और न तुम्हारे रूप का विपर्यय होगा ॥ १२ ॥ न तुम्हें सोए हुए अथवा प्रमाद में राक्षस पराजित कर सकेंगे और न बाहुबल में तुम्हारे सदृश कोई पृथिवी पर होगा ॥ १३ ॥

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास दो फार्म वाल्मीकीय रामायण छप रही है

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार अंक ९ से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका टाईप में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। बिना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

शुभ समाचार-नयी योजना

वेदवाणी में प्रतिमास २ फार्म वाल्मीकीय रामायण छप रही है

वेदवाणी के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि चिरकाल से अनेक विद्वानों, विशेषकर वेदवाणी के बहुत से पाठकों की प्रबल इच्छा और अनुरोध का आदर करते हुये ट्रस्ट ने यह निश्चय किया है कि वेदवाणी में जुलाई १९५८ (वर्ष १० अङ्क ९) से १६ पृष्ठ (दो फार्म) वाल्मीकीय रामायण भाषानुवाद सहित प्रतिमास प्रकाशित किया जाय। २ फार्म रामायण भाषानुवाद इसी योजना के अनुसार अंक ९ से प्रतिमास छापना प्रारम्भ कर दिया गया है।

इस संस्करण की विशेषतायें—

(१) प्रक्षिप्त श्लोक [ ] कोष्ठ में रहेंगे। जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों का पता तत्काल लग सके।

(२) नीचे भाषार्थ इंगलिश पैका टाईप में रहेगा। और प्रक्षिप्त श्लोकों का भाषार्थ सादा पैका टाइप में रहेगा। टिप्पणी नाटा पैका में रहेगी।

ऐसा करने से भाषार्थ में भी पाठकों को तत्काल अनायास बिना कुछ भी कष्ट उठाये ज्ञात हो जायगा कि कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त है, कौन सा नहीं। इस विषय की विवेचना काण्ड के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रहेगी।

(३) तत् तत् स्थानों पर मार्मिक विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों से पाठक वाल्मीकीय रामायण के विषय में शास्त्र तथा धार्मिक दृष्टि से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

(४) रामायण के विषय में फैली हुई भ्रांतियां इस संस्करण से अवश्य दूर होंगी।

(५) इसे हम वैदिक धर्म की दृष्टि से रामायण का प्रामाणिक संस्करण कह सकेंगे।

(६) जो पाठक रामायण का पाठ अबाध गति से चाहेंगे, उन्हें भी यह संस्करण बहुत उपयोगी होगा।

(७) जो प्रक्षिप्त नहीं मानते, उन्हें भी प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करने से महान् लाभ होगा और ग्रन्थ भी पूरा मिलेगा।

इसका भाषार्थ पाठकों के सुपरिचित सुयोग्य वैदिक विद्वान् तपोनिष्ठ पं० युधिष्ठिरमीमांसक करेंगे। श्लोकों के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त का निर्णय वा इस सम्बन्ध में विवेचन तथा उत्तरदायित्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् वाग्मी, तपस्वी और रामायण महाभारत के विशेषज्ञ श्री पं० अखिलानन्दजी (झरिया) द्वारा होगा। इस संस्करण की योजना वा नीति इनके परामर्श से निर्धारित हुई है। जहां तहां मेरे द्वारा भी इसमें परामर्श हुआ है और होता रहेगा।

वेदवाणी के अनेक ग्राहक यह लिखते थे या मिलने पर कहते थे कि वेदवाणी के लेख अधिक मात्रा में हमारी समझ में नहीं आते, उनकी दृष्टि से ही यह योजना मुख्यतया बनाई गई है। उन्हें रामायण से शनैः शनैः लाभ प्राप्त होता रहेगा। रामायण एक आर्षग्रन्थ है। बिना संस्कृत जाननेवालों को भी या संस्कृतपठनपाठन की इच्छा वा प्रयत्न करने वालों को भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है॥

५०० नये ग्राहक बनने पर नया मासिक

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया और चाहा तो ५०० ग्राहक हो जाने पर हम इसको "वाल्मीकीय रामायण" मासिकपत्रिका या त्रैमासिक रूप में (१०० पृष्ठ वा वर्ष में ४०० पृष्ठ) देते रहेंगे। सो अब यह विचारशील ग्राहकों पर निर्भर है। वेदवाणी में १६ पृष्ठ निकलने से यद्यपि वर्ष भर में १९२ पृष्ठ पाठकों को वेदवाणी के साथ मिलेगा, पर धीरे २ शीघ्र ही एक काण्ड पूरा होने पर एक उपयोगी संस्करण बन जायगा। पर यदि रामायण का ही अङ्क प्रतिमास या त्रैमासिक निकाला जाये तो निस्सन्देह ग्रन्थ शीघ्र पूरा हो सकता है। आगे की योजना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है॥

पाठक सुझाव दें, जो सुझाव देंगे उन पर प्रेमपूर्वक अवश्य ध्यान दिया जायगा।

वैदिकधर्म का सेवक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक—वेदवाणी)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) में मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

